जो जीवित हैं हमारे जेहन में

(संस्मरणात्मक निबंध संग्रह)

भाग–2

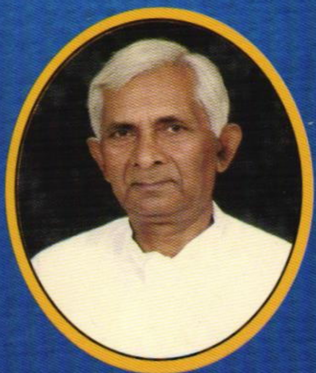

लेखक – सिद्धेश्वर

जो जीवित हैं हमारे जेहन में

लेखक - सिद्धेश्वर

जो जीवित हैं हमारे जेहन में

(संस्मरणात्मक निबंध संग्रह)

भाग–2

लेखक

सिद्धेश्वर

प्रकाशक
सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन
दिल्ली- 92

जो जीवित हैं हमारे जेहन में

(संस्मरणात्मक निबंध संग्रह)

भाग–2

लेखक : **सिद्धेश्वर**, पूर्व अध्यक्ष, बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड
'संस्कृति', ए–164, ए.जी. कॉलोनी, पार्क रोड,
पत्रा.–आशियाना नगर, शेखपुरा, पटना–25

मो.–9431037221

प्रकाशक : सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन,
'दृष्टि', यू॰ 207, शकरपुर, विकास मार्ग,
दिल्ली–110092
दूरभाष सं॰– 011– 22530652/ 22059410
E_mail : sidheshwar 66 @ yahoo.com.

स्वात्वाधिकार : प्रकाशक

प्रथम संस्करण : वर्ष 2018

शब्द–संयोजन : अमित कुमार, सुशीला सदन, रोड नं.–17,
राजीव नगर, पटना–24

मो.–7870408334

मुद्रक :

पृष्ठ संख्या : 400

मूल्य : 1000/–रुपये मात्र(Rs. One Thousand Only)

Jo Jeevit Hein Hamare Jehen Mein :

A memoir- part-2 written by Sidheshwar

Rs 1000/-

सिद्धेश्वर : एक नज़र

पूरा नाम : सिद्धेश्वर प्रसाद
संक्षिप्त नाम : सिद्धेश्वर
पिता का नाम : स्व. इन्द्रदेव प्रसाद
माता का नाम : स्व. फूलझार प्रसाद
पत्नी का नाम : श्रीमति बच्ची प्रसाद
जन्म तिथि : 18 मई, 1941
जन्म स्थान : ग्राम+पत्रा.-बसनियावाँ, भाया-हरनौत, जिला-नालंदा, बिहार(भारत)
शैक्षिक योग्यता : सन् 1962 में पटना विश्वविद्यालय से श्रम एवं समाज कल्याण विषय में स्नातकोत्तर
तकनीकी शिक्षा : सन् 1973 में भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग से एस.ए.एस. (Subordinate Accounts Service)
सरकारी सेवा : भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग के कार्यालय, महालेखाकार, राँची एवं पटना में लेखा परीक्षक से प्रोन्नति प्राप्त करते हुए वरिष्ठ लेखा परीक्षा अधिकारी के पद पर छतीस वर्षों तक सेवा प्रदान करने के पश्चात् सन् 2000 के 31 मई से स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति लेकर वृहतर एवं व्यापक समाज व राष्ट्रहित में सार्वजनिक जीवन में प्रवेश।
सार्वजनिक सेवा : 1.भारतीय रेलवे के रेलवे हिंदी सलाहकार समिति के सदस्य
2. बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड के राज्यमंत्री का दर्जा प्राप्त अध्यक्ष पद पर 15 सितंबर, 2008 से 14 सितंबर, 2011 तक कार्यरत।
अभिरुचि : समाज व साहित्य सेवा तथा पत्रकारिता, राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए संघर्षशील तथा रचनात्मक लेखन से जुड़ाव।
रचनाएँ प्रकाशित :1.सामाजिक-'आरक्षण','कल हमारा है', 'समता के सपने', 'आत्ममंथन', 'बिहार के कुर्मी (निबंध संग्रह)' एवं 'बिहार के कुर्मी (निर्देशिका)'
2.स्मृति-'यादें'(भोला प्र. सिंह 'तोमर' की स्मृति में)
3.हाइकु काव्य संग्रह-'पतझड़ की सांझ', 'सुर नहीं सुरीले', 'कवि और कविता'

4. सेन्र्यु काव्य संग्रह-'जागरण के स्वर', 'बुजुर्गों की जिंदगी'

5. काव्य संग्रह-'यह सच है'

6. जीवनी- 'एक स्वप्नद्रष्टा की अंतर्कथा',
'डॉ. मोहन सिंह: एक तपस्वी मन'

7. शैक्षिक-'समकालीन यथार्थबोध'एवं 'समकालीन संपादकीय'

जीवनी-साहित्य : 1.'सिद्धेश्वर:व्यक्तित्व और विचार'-प्रो. रामबुझावन सिंह
2.'सिद्धेश्वर:अंकों से अक्षर तक' डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार

रचनाएँ प्रकाश्य:साक्षात्कार-1.'हिंदी के जीवंत हस्ताक्षर', डॉ. बलराम तिवारी द्वारा संपादित
2. 'इंसानियत की धुँआती आँखें'
3. 'राष्ट्रीय राजनीति'
4. 'उम्मीद जताते न्यायिक एवं आर्थिक फैसले'
5.'वैश्विक कूटनीति'

भारतीय राजनीति : 'आम आदमी की आवाज'

यात्रा-वृतांत : 'मेरी यादगार यात्राएँ'

आत्मकथा-'जीवन-रागिनी' तथा हाइकु में 'मेरी जीवन-यात्रा'

संस्मरण-1.'हमें अलविदा ना कहें' 2.'जो जीवित हैं हमारे जेहन में'

संपादन- 'राष्ट्रीयता के विविध आयाम' भाग-एक और भाग-दो

सम्मान : देश के विभिन्न सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संगठनों द्वारा पुरस्कृत एवं सम्मानित।

विदेश यात्रा : 13-15 जुलाई, 2007 तक अमेरिका के न्यूयॉर्क में आयोजित 8वें विश्व हिंदी सम्मेलन में बिहार सरकार की ओर से भारतीय प्रतिनिधिमंडल में शामिल होकर सम्मेलन के शैक्षिक सत्र में 'वैश्वीकरण, मीडिया और हिंदी' विषय पर आलेख पाठ एवं परिचर्या में सक्रिय भागीदारी।

संप्रति : राष्ट्रीय महासचिव, राष्ट्रीय विचांर मंच, दिल्ली
संस्थापक संपादक, 'विचार दृष्टि', दिल्ली

संपर्क : 'दृष्टि', यू. 207, शकरपुर, विकास मार्ग, दिल्ली-92
दूरभाष: 011-22530652, मो.-9431037221
'संस्कृति' ए-164, पार्क रोड, ए.जी. कॉलोनी, शेखपुरा, पत्रा.-आशियाना नगर, पटना-800025,
मो.-9431037221, मो.-9472243949

अनुक्रम

पृष्ठ

सिद्धेश्वर : एक नजर......3
अनुक्रम......5
प्राक्कथन......11
अभिमत : 1. डॉ. हरि सिंह पाल......17
2. प्रो.(डॉ.) साधु शरण......21
3. आचार्य रामविलास मेहता......23
4. प्रो.(डॉ.) पी. लता......25
5. डॉ. शाहिद जमील......27
शुभाशंसा : प्रो.(डॉ.) नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'......29
पूरोवाक् : डॉ. बालशौरि रेड्डी......32
प्रकाशकीय: सुधीर रंजन......36

खंड : एक

साहित्यकार

1. **गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर :**
जिन्होंने भारतीय संस्कृति को नया रूप दिया......40
2. **महाकवि कालिदास :**
जो संस्कृत साहित्य के-क्रांतदर्शी महाकवि थे......50
3. **माखन लाल चतुर्वेदी :**
जिनकी साहित्य-साधना बेमिसाल है......58
4. **सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' :**
जिनके सम्मान के पीछे उनकी दान प्रवृत्ति बड़ा कारण था 64
5. **आचार्य नलिन विलोचन शर्मा :**
जिन्होंने हिंदी आलोचना का नया मानदंड निर्मित किया......68
6. **प्रो. रामेश्वर सिंह कश्यप :**
जो 'लोहा सिंह' के नाम से प्रसिद्ध थे......74
7. **डॉ. प्रभा खेतान :**
जिनके अंदर की स्त्री ने भी बहुत दर्द सहा......76
8. **डॉ. कुमार विमल :**
जो हिंदी साहित्य में सौंदर्य शास्त्रीय आलोचना के जनक थे 80

9. **खुशवंत सिंह :**
बेबाकी से बात कहना जिनकी ख़ाशियत थी..........................83
10. **प्रो. रामबुझावन सिंह :**
जो निश्छल स्वभाव, विनम्रता और सहजता की प्रतिमूर्ति थे.......89
11. **रामकृष्ण मेहता :**
जिन्होंने एक से बढ़कर एक हीरे को तलाशा है........................98
12. **प्रो.(डॉ.) ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार :**
जो संस्कृत भाषा एवं भाषा विज्ञान के गहन अध्येता थे............107
13. **कवि कुंवर नारायण :**
जिनकी कविताएँ मनुष्यता के पक्ष में सदैव सन्नद्ध रही............113
14. **इंदिरा राइसम गोस्वामी :**
जिन्होंने लेखकीय के साथ सामाजिक जिम्मेदारी भी निभाई.......120
15. **भीष्म साहनी :**
जो आमजन के हिमायती लेखक थे 125
16. **भवानी प्रसाद मिश्र :**
जो अपनी कविताओं में युगीन यथार्थ को सामने लाते रहे 132
17. **परमानंद दोषी :**
जो अकथनीय स्मृतियों के दोराहे पर खड़ा जीवनीकार थे.......135
18. **कमलेश्वर :**
जो आम आदमी के दर्द को आवाज लगाने वाले कथाकार थे..140
19. **मधुकर सिंह :**
जिन्होंने ग्रामीण समाज में बदलाव के लिए
संघर्षरत लोगों को सदैव प्रेरित किया 145
20. **डॉ. बालशौरि रेड्डी :**
जिनका जीवन हिंदी लेखन के प्रति समर्पित रहा...................150
21. **महाश्वेता देवी :**
जो दलितों व आदिवासियों की आवाज थी..........................157
22. **विशुद्धानन्द :**
जिनकी मधुर कंठ से पढ़ना सबसे बड़ी विशेषता थी............164

23. **डॉ. महीप सिंह :**
जिन्होंने अपनी कलम से कभी भी समझौता नहीं किया.........170
24. **निदा फाजली :**
अपनी जिंदादिली से कायल बना लेना जिनका मिजाज था 174
25. **प्रो.(डॉ.) दीनानाथ शरण :**
जो निर्भीक एवं जुझारू साहित्यकार थे 181
26. **दूधनाथ सिंह :**
जो कहानियों में कविता-शिल्प की मदद लेते रहे 184
27. **पाण्डेय कपिल :**
जो पुरबिया लोकमानस का अद्‌भुत चितेरा था......................188
28. **डॉ. सुरेन्द्र प्रसाद जमुआर :**
जिन्होंने बहुतों पर संस्मरण लिखा उन्हें मैंने याद किया.........191
29. **केदारनाथ सिंह :**
जिनकी कविताओं में लोक जीवन की मार्मिक अभिव्यंजना है..193
30. **बाबूराम सिंह 'लमगोड़ा' :**
जो हिंदी एवं मगही नाट्य साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर थे.......199
31. **कथाकर सुरेन्द्र प्रसाद सिंह :**
जिनकी यादें पटना के साहित्यकार सँजोए रखेंगे.....................202

खंड : दो

पत्रकार

32. **राजेन्द्र यादव :**
जिनका साहित्य हाशिए के लोगों की आवाज बनी.................204
33. **चन्देश्वर प्र. विद्यार्थी :**
जो संपादकीय को वैचारिक लेखन मानना ठीक समझते थे......209
34. **डॉ. धर्मवीर भारती :**
जिनकी संवेदनशीलता अंत:सलिला थी.............................213
35. **बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' :**
जो पत्रकारिता की कला-साधना के वरद् पुत्र थे...................219
36. **उदय राज सिंह :**
जिन्होंने जीवन के हर मोड़ पर नए दृश्य देखे......................224

37. **आत्माराम फोन्दणी 'कमल' :**
जिनके निधन से हिंदी पत्रकारिता का एक ज्योतिर्मय
दीप बुझ गया..228

खंड : तीन
कलाकार

38. **शमशाद बेगम :**
जिनके इंतकाम से गुजर गया पुराना जमाना........................235
39. **गिरिजा देवी उर्फ अप्पा जी :**
जिनकी ठुमरी व कजरी युगों-युगों तक गूँजती रहेंगी...........237
40. **सईद जाफरी :**
विविधतापूर्ण किरदार को पूरी शिद्दत से निभाना जिनकी
खासियत थी 243
41. **राजेश खन्ना :**
जिन्होंने राजनीति के आखाड़े में भी आडवाणी जैसे दिग्गज
को दी थी कड़ी टक्कर..246
42. **तबला वादक पं. लच्छू महाराज :**
जो हिन्दुस्तानी संगीत परंपरा को अपने तबले की ताल और
थाप से नयी ऊँचाइयाँ दीं 249
43. **शशि कपूर :**
जो रूपहले पर्दे पर अपनी रूमानी अदाओं से लोगों को
दीवाना बना देने वाले सदाबहार अभिनेता थे 252
44. **हबीब तनवीर :**
जिन्होंने भारतीय रंगमंच का चरित्र निर्माण किया..............257
45. **साधना :**
जिनकी अदायगी के दीवाने थे दर्शक...............................262
46. **मदवूर वासूदेवन नायर :**
जिनका कथकली नृत्य को शीर्ष पर ले जाने के अलावा नवाचार
करने में भी योगदान था..264
47. **अभिनेत्री श्रीदेवी :**
मासूमियत जिसकी लोकप्रियता का रहस्य रहा है...............266

खंड : चार

राजनीतिज्ञ

48. **मौलाना अबुल कलाम आजाद :** **पृष्ठ**

जो हिंदू मुस्लिम एकता क प्रतीक थे..............................273

49. **नेताजी सुभाष चंद्र बोस :**

जो एक क्रांतिकारी स्वतंत्रता सेनानी थे..............................278

50. **भारतरत्न डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम :**

जिन्होंने आजन्म अविवाहित रहकर देश सेवा का व्रत लिया था..292

51. **जननायक कर्पूरी ठाकुर :**

जिनमें जनता आज भी अपनी आकांक्षा का प्रतिरूप देखती है..299

52. **युगल किशोर चतुर्वेदी :**

जो जीवनपर्यंत जीवन मूल्यों के लिए संघर्षरत रहे..............305

53. **विश्वनाथ प्रताप सिंह :**

जिन्होंने राजनीति में पारदर्शिता लाने की कोशिश की............310

54. **राजनारायण :**

जिनका नारा था–'मारेंगे नहीं, पर मानेंगे नहीं'......................314

55. **पी. ए. संगमा :**

संघर्ष करना जिनकी रग–रग में था 317

56. **जे. जयललिता :**

जिन्होंने राजनीति में अपने परिश्रम व मेधा का लोहा मनवाया..319

57. **प्रियरंजन दास्स मुंशी :**

जिन्होंने हमेशा जनता की राजनीति की..............................330

58. **भोला प्रसाद सिंह :**

जो समाजवादी आंदोलन के शीर्षस्थ राजनेताओं में से एक थे....333

59. **पी. के. सिन्हा :**

जिन्होंने कभी मूल्यों से समझौता नहीं किया 336

60. **शाहिद अली खान :**

जो एक कुशल राजनेता और सरल–सौम्य व्यक्ति के तौर पर जाने जाते थे 339

61. **माधव राव सिंधिया :**

जो काँग्रेस की एक बुलंद आवाज़ थें 340

62. **प्रमोद महाजन :**
जिनका निधन पारिवारिक मूल्यों के टूटने का प्रतीक बना.........342
63. **गुरुसहाय लाल :**
जो सामाजिक व राजनीतिक चेतना के प्रहरी थे.......................347
64. **किशन पटनायक :**
जो समाजवाद के समर्पित चिंतक थे.......................................353

खंड : पाँच
समाजसेवी

65. **स्वामी सहजानंद सरस्वती :**
जो मजदूरों के रहनुमा और वर्ग-संघर्ष के सच्चे हिमायती थे......358
66. **गुरु गोविंद सिंह :**
जिन्होंने सिख ग्रंथ की दशम खंड की रचना कर खुद को अमर कर दिया 366
67. **न्यायमूर्ति बी.एल. यादव :**
जिन्होंने प्रवहमान धारा को नई दिशा में मोड़ने का प्रयास किया..369
68. **शरद जोशी :**
जो किसानों को फसल का लाभकारी मूल्य दिलाने के लिए देश भर में कई आंदोलन का नेतृत्व करने वाले किसान नेता थे...........375
69. **एस.एन. तिवारी :**
जिसने अपनी मस्ती से आसपास को जीवन्त बनाया................377
70. **जैनसंत आचार्यश्री महाप्रज्ञ :**
जिनकी सर्जनात्मकता से संपूर्ण मानवता लाभान्वित हुई...........379
71. **सिद्धेश्वर प्रसाद :**
जो न सिर्फ हमारे हमनाम थे, बल्कि हमसफ़र भी 384
72. **आचार्य बनारसी सिंह 'विजयी' :**
जिन्होंने आजीवन अपनी भावनाओं एवं विचारों को महत्व दिया..388
73. **प्रो. विनय कंठ :**
जो बिहार में नागरिक अधिकार आंदोलन के स्तंभ थे...............393
74. **मथुरा प्रसाद सिन्हा :**
सौम्यता एवं सरलता जिनके रग-रग में बसी थी.....................396

प्राक्कथन

जीवन और मरण किसी इंसान के हाथ की बात तो होती नहीं, यह तो ऊपरवाले के हाथों में है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि मनुष्य का इस पृथ्वी पर आना और उसका यहाँ से परलोक चले जाना भी निश्चित होता है। इस तरह लोगों का आना-जाना लगा रहता है, फिर भी किसी के निधन का हादसा परिवार के लिए असहनीय तो होता ही है, मित्रों, शुभेच्छुओं, सगे-संबंधियों, हितैषियों तथा आम जनों के लिए भी यह दुःखद होता है। यह बात ठीक है कि किसी के निधन के बाद समय के साथ-साथ घाव अवश्य भर जाते हैं, पर उनकी टीस नहीं जाती। वह तो स्मृतियों के पंख पर बैठकर, निराशा के नीड़ में घुसकर, रह-रहकर अपनी चोंच मारती रहती है।

जब कोई इस संसार से विदा होता है, तो उसके साथ बिताया गया समय, गुज़रे पल-क्षण, उसकी बातें, उसके कार्यकलाप और उसके द्वारा किए गए समाज व देश हित में योगदान चलचित्र की रील की तरह मानस-पटल की आँखों के समक्ष घूमने लगते हैं। आदमी अतीत के गर्भ में पहुँच जाता है और मरण दुःख देता रहता है। किंतु जैसा कि मैंने पूर्व में कहा कि कोई भी अमर तो रहता नहीं, जन्म जीवन, मृत्यु में परिणत होता रहता है। फिर भी मृत्यु होने पर दुःख होता है और जन्म लेने पर सुख। दरअसल दुःख अधिक संग्रह और सुख केवल सुख के केंद्रीकरण के विरुद्ध एक चेतावनी है। इसीलिए अतीत का वर्तमान में पुनः स्मरण करने से हममें हिम्मत आती है और स्मृति हमें नीति-मार्ग पर चलने की सत्प्रेरणा देती है। भारतीय चिंतन में भी ज्ञान के प्रतिकल्प 'स्मृति' को विशेष मूल्य इसलिए प्रदान किया गया है कि इससे अनिष्टकारी तत्त्वों का अभिज्ञान होता है जिसके परिमाणस्वरूप व्यक्ति अनिष्ट छोड़कर इष्ट की ओर प्रवृत्त होता है। यही नहीं, संस्मरणीय व्यक्तित्व के स्वस्थ निरूपण, उनकी कृतियों के आकलन, उनके पुनर्मूल्याँकन से हमारा दृष्टिकोण भी स्पष्ट होता है और तब हमें वर्त्तमान से जूझते हुए अपने भविष्य का रास्ता तय कर पाने में आसानी होती है।

इसी के मद्देनज़र मौत से विचलित होकर परिवारवाले उनकी याद और प्यार को चिरस्थाई बनाने के लिए कोई न कोई उपाय करते हैं। कोई मृत व्यक्ति की प्रतिमा बनाता है, तो कोई वृक्ष भी लगाता है। राष्ट्र के कर्णधारों तथा महापुरुषों के निधन के बाद उनके स्मारक बनाए जाते हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के चले जाने के बाद कृतज्ञ राष्ट्र द्वारा नई दिल्ली के राजघाट पर बापू की समाधि बनाई गई, जिस पर हम अपना शीश झुकाकर उनकी स्मृति को नमन करते हैं। इसी

प्रकार राजघाट के पास ही नेहरू जी, शास्त्री जी, जगजीवन बाबू तथा चौधरी चरण सिंह के स्मारक-स्थल भी बने हैं, जिनसे उनकी याद को देशवासी ताजा रखते हैं।

इसी ख़्याल से अपने हितैषी, शुभेच्छु, समानधर्मी, मार्गदर्शक तथा देश व समाज के हितचिंतक आदि की स्मृति को ताज़ा रखने और उनके साथ अपने संबंधों को चिरस्थाई बनाने के लिए मैंने भी एक उपाय ढूँढ़ा और 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' नाम्नी पुस्तक रूपी स्मृतियों का हमने दो पेड़ लगाये। इन दो पुस्तकों में हमने अनेक साहित्यकार, पत्रकार, राजनीतिज्ञ, संगीतकार एवं कला के मर्मज्ञ, चिकित्सक तथा समाज-सेवी के अनेक हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी संस्मरण संजोए हैं। एक ओर इन संस्मरणों में हमने लोगों से जुड़े अपने नितांत निजी अनुभवों की सरल एवं सहज रूप में अभिव्यक्ति दी है, तो दूसरी ओर सामूहिक अनुभवों और सरोकारों का भी समावेश किया है जो अपनी सरलता और सहजता में बड़ा अर्थ-व्यंजना से भरे हुए हैं। कई संस्मरणों में अत्यंत सहज भाव से साधारण में साधारण की अंतःछवि को दर्शाते हुए प्रस्तुत किया गया है। कई संस्मरणीय लोगों की ज़िंदगी को, उनके संघर्षों को, उनकी ज़िंदादिली को और उनके समर्पण को रेखांकित करने का मैंने प्रयत्न किया है, ताकि पाठक अपने अंदर एक नई ऊर्जा महसूस कर सकें। नेपोलियन ने कहा है, ''क़ानून, संस्थाएँ, स्मारक चिह्न, राष्ट्र सभी अदृश्य हो जाते हैं, परंतु उनकी प्रतिध्वनि होती है।'' इस पुस्तक के सभी संस्मरणीय व्यक्तित्वों ने अपने अस्तित्व के चिह्नों को छोड़ा है। इसीलिए उनके जीवन ऊर्जस्वी और स्मरणीय हैं। ''यदि कोई अपने अस्तित्व के चिह्नों को नहीं छोड़ता, तो बेहतर है कि वह व्यक्ति जीवनहीन रहे।''

स्मृति रूपी पेड़ लगाने की हमारी कल्पना एक संस्मरणात्मक पुस्तक की सूरत में आपके हाथों में है। संस्मरणीय व्यक्तित्व की हमारी यह जानकारी आप पाठकों के लिए शायद विस्मयकारी होगी। यह बात ठीक है कि संस्मरणीय व्यक्तित्व अब हमारे बीच नहीं हैं, मगर हमारे स्मृति-पटल पर वे सदा-सर्वदा अंकित रहेंगे। ऐसे ही चित्रों का रेखांकन किया गया है इस पुस्तक में। सच कहा जाए तो संस्मरण लिखना तलवार की धार पर चलने के समान है, क्योंकि हम वास्तव में जो हैं वह दिखने के आदी नहीं हैं, तथापि हमने यथासंभव उनके वास्तविक रूप को शब्द देने का प्रयत्न किया है, लेकिन पूरी संवेदना के साथ। आक्रामक होना मेरे स्वभाव के प्रतिकूल है। वैसे भी व्यक्ति का सही अध्ययन दोनों पक्षों को लेकर ही हो सकता है, लेकिन अपने को दूसरों की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति हममें नहीं है। यह भूल जाते हैं कि कमज़ोरियों से कटकर कोई महान

नहीं हो सकता। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि अतिरिक्त दोष-दर्शन या अतिरिक्त प्रशंसा को व्यक्ति की पहचान मान लें।

आत्मकथा के पश्चात् संस्मरण एक ऐसी विधा है, जो लेखन के समक्ष चुनौती प्रस्तुत करती है पहली तो पाठक को साथ लेकर चलने की यानी वे संस्मरण जिसमें पाठकों की दिलचस्पी से वह वर्णन और ब्योरों में रम सके। दूसरी यह कि संस्मरण के लेखक दूसरों के बारे में वर्णन करते वक्त प्राय: अतिरंजना से काम लेते हैं। इसलिए अपनी कमजोरियों का वर्णन करने से प्राय: वह गुरेज करता है।

सच कहा जाए तो संस्मरण, पत्र, डायरी अपनी तरह की विशिष्ट विधाएँ हैं, जो कई मायनों में कविता, कहानी तथा उपन्यास आदि से अधिक कठिन भी है। कठिन इस अर्थ में कि कविता अथवा कहानी में तथ्य और संदर्भों की प्राथमिकता की बंदिश नहीं होती, जबकि संस्मरण, पत्र या डायरी में तथ्यों और संदर्भों के आलोक में कविता और कथा का आस्वाद संभव करना होता है।

संस्मरण में सिर्फ़ जीवन से जुड़ी घटनाओं और क्रियाकलापों को क्रम से लाया ही नहीं जाता, बल्कि अनेक चित्रों, रीति-रिवाजों, मध्यवर्गीय जीवन की मान्यताओं, जीविका से जुड़े प्रश्नों को पार करते हुए एक ख़ास तरह से जीवन के उतार-चढ़ाव को संस्मरण के रूप में प्रस्तुत करना होता है। पाठक अगर किसी प्रकार के पूर्वाग्रह से ग्रस्त नहीं है या स्वयं अपनी महान प्रतिभा से आक्रांत नहीं है, तो कहा जा सकता है कि संस्मरण का एक-एक पृष्ठ आत्मीयता का कुछ इस प्रकार परिचय देता है कि मन अपनत्व से भर जाता है।

इस संस्मरणात्मक कृति के माध्यम से रचनात्मक व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू सामने आए हैं। हो सकता है इनमें से किसी व्यक्तित्व का जिस तरह मूल्याँकन किया जाना चाहिए उस तरह हमने नहीं किया। बेशक उनकी कमज़ोरियों पर चर्चा होनी चाहिए, लेकिन निश्चय ही उनकी ताक़त कमज़ोरियों से कई-कई गुणा अधिक है। फिर भी यह कहना चाहूँगा कि जिस तीव्र संवेदनशीलता के साथ हमने उनके जीवन को खंगाला है उससे निश्चित रूप से पाठकों की समझ विकसित होगी और संस्मरणीय व्यक्तित्व के बारे में जो संशय और विभ्रम की स्थिति रही है वह भी साफ़ होगी, क्योंकि यह संस्मरण उनको असली रूप में देखने की तलाश है।

प्रस्तुत पुस्तक में सम्मिलित संस्मरणों को मैंने इस ढंग से पेश करने का प्रयास किया है कि ये व्यक्ति के भाव-संस्मरण को उकेरने के साथ-साथ आधुनिकता बोध की चेतना से भी संबोंधित हैं। संस्मरण की पंक्ति-दर-पंक्ति में

उनके जीवन की कहानी छिपी है। साथ ही संस्मरणों के माध्यम से इस पुस्तक में हमारी अनेक अंतरंग छवियाँ तो उभरकर आई ही हैं, हमारे रचनात्मक व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू भी पाठक के सामने आए हैं। इन संस्मरणों में एक ओर वर्णन, विवरण एवं चिंतात्मक टिप्पणियाँ हैं, तो दूसरी ओर भविष्य की चिंता। नायकों के व्यक्तित्व और उनके प्रति मेरी भावना और विचार इनमें खुलकर आए हैं। इन संस्मरणात्मक निबंधों में कहीं मेरे अपने सुख-दुःख व्यक्त हुए हैं, तो कहीं संस्मरणीय व्यक्ति के जीवन और व्यक्तित्व के अपने विशिष्ट पक्ष। इन संस्मरणों के प्रसंग से उनके शीर्षकों की सार्थकता प्रदान करने का मेरा प्रयास रहा है। जिन तथ्यों को मैंने इनमें कहा है उनमें बहुत-सी चीज़ें ऐसी हैं जो मुझे भावपूर्ण और विचारमग्न भी करती हैं। इसीलिए इनमें निश्छलता, आत्मीयता और भावप्रणता हैं- पूर्णतः निष्कपट। मुझे ऐसा लगता है कि जो भी पाठक इन संस्मरणों को पढ़ेंगे वे उनके व्यक्तित्व व कृतित्व से प्रभावित होकर मानसिक स्तर पर संस्मरणीय व्यक्ति के साथ आत्मीयता भी स्थापित कर लेंगे।

इन संस्मरणों के माध्यम से मैंने जो कुछ स्मृतियाँ संजोकर रखी हैं वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। दरअसल किसी चीज़ की प्राप्ति उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि उसे स्थाई रूप से सुरक्षित रखना। सच तो यह है कि संस्मरण लिखने के पीछे मेरा जो मानना है वह यह कि संस्मरणीय व्यक्तित्व से जुड़े अपने अनुभवों और पूर्व-मिलन की स्मृतियों को कहीं पीछे छोड़ आना मैं नहीं चाहता था। इसी का प्रतिफल है यह पुस्तक। सच कहा जाए, तो प्रारंभ से ही हमारा यह प्रयास रहा है कि पत्रकारिता को साहित्य से जोड़ा जाए। संस्मरण और डायरी जैसी विधाएँ अपनी यथार्थता के चलते साहित्य में ऊँचा स्थान पा सकती हैं, क्योंकि इनमें यथार्थ का भ्रम नहीं, बल्कि यथार्थ का क्रम होता है, जो पाठकों को रचनाकार से तादात्म्य स्थापित कर देता है। इस संदर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि स्मृतियाँ सहेजकर रखी जाती हैं, पर जब तक उन्हें लिपिबद्ध कर किसी संग्रह में सम्मिलित न कर लिया जाए, तो ये मानस-पटल से खिसक भी सकती हैं। कुछ इसी ख़्याल से संस्मरणीय व्यक्तित्व से जुड़ी स्मृतियों को शब्दबद्ध किया गया है।

यह बात ठीक है कि अतीत में वापस नहीं लौटा जा सकता, किंतु झाँका तो जा ही सकता है और झरोखे से झाँकती अतीत की गाथा को पुनः पाठकों तक पहुँचाया जा सकता है। यह पुस्तक अपने सही और स्वस्थ रूप में पाठकों को अतीत में झाँकने का अवसर देती है वरना विस्मरण हावी रहता है, जो बुद्धि का विनाश करता है और अंतःकरण को धूमिल करता है। इसी से बचने के लिए इस पुस्तक की रचना की गई है। यूँ तो अतीत के आदर्शों पर वर्तमान पग-पग पर मुँह

चिढ़ाता है, मगर वर्तमान का शंकास्पद होना स्वाभाविक है। पुरातन की गुहार में कितना कुछ प्रामाणिक आत्मालोचन और संस्मरणीय व्यक्तित्व का कितना खुला और बारीक विश्लेषण हो पाया है, साथ ही भविष्य की दृष्टि से यह कितना हितकर होगा, यह तो पाठक ही बता पाएँगे या फिर आलोचक जिनके हाथ में यह पुस्तक है, पर इतना अवश्य है कि इस पुस्तक में जो विश्लेषण किए गए हैं, वे संश्लिष्ट, भावपूर्ण और विचारपूर्ण हैं। इस लिहाज़ से इसकी संश्लिष्टता ही यह माँग करती है कि उनके अतीत को वर्तमान के झरोखे से बारीक तौर पर देखा-परखा जाए।

इस पुस्तक में सम्मिलित संस्मरण छिट-पुट ढंग से विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं, किंतु इसके अधिकांश संस्मरण दिल्ली से प्रकाशित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हैं, जिनकी देश भर के सुधी पाठकों ने मुक्त कंठ से सराहना की है, क्योंकि हमारे ये संस्मरण सृजनशीलता का सौष्ठव विश्लेषण करते हैं और संस्मरणीय व्यक्तित्व के निश्छल पक्ष को बेबाकी से रेखांकित करते हैं। उनके बारे में हमने जो देखा-जाना और समझा है उसे सामने लाकर फिर रूबरू उनसे होने का अवसर प्रदान करता है।

यह पुस्तक चौहत्तर दिवगंत साहित्यकारों, पत्रकारों, कलाकारों, राजनीतिज्ञों और समाजसेवियों की स्मृतियों के गवाक्षों में झाँक उनकी यादों को पुनः ताजा करने का मैं दम नहीं भरता, पर एक प्रयास है उनके प्रति एक याद, एक श्रद्धांजलि, उनके व्यक्तित्व व कृतित्व के तमाम तथ्य पर जानकारी प्रस्तुत कर इसे एक दस्तावेज बनाने की मेरी कोशिश रही है। भावी पीढ़ी को इन संस्मरणों से एक नई दृष्टि मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

'मुझे अलविदा ना कहें' के संस्मरणात्मक निबंध संग्रह में संस्मरणात्मक व्यक्तित्वों की संख्या में वृद्धि हो जाने की वजह से निबंध संग्रह को दो भागों में किया गया है जिसके 'मुझे अलविदा ना कहें' नाम्नी संस्मरणात्मक निबंध संग्रह के भाग-1 में जहाँ कुल ..... संस्मरण हैं, वहीं 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' नाम्नी संस्मरणात्मक निबंध संग्रह भाग-2 में कुल......संस्मरण हैं। वो तमाम नामवर लोग, जिन्होंने साहित्य, समाज, राजनीति और संस्कृति के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा, मौलिकता और मिजाज़ से राज किया, कैसे अपने दुर्दिनों में हताश, बेचैन और तन्हा छूट गए, कैसे उनका राज-पाट खंडहर की मानिंद यहीं रह गया, किस तरह वे खुद एक ध्वस्त इमारत में बदल गए, इन सबका मार्मिक रेखांकन इस पुस्तकों में है। उनके व्यक्तित्व, कृतित्व, जीवन जीने के अंदाज़

और अपने समय से उनके सरोकारों की झलक पेश करने का मेरा प्रयास रहा है। पुस्तक में कुछ व्यक्तित्व ऐसे हैं, जिनके ज़रिए उस दौर का पूरा सामाजिक, साहित्यिक और राजनीतिक यथार्थ उसकी संपूर्ण जटिलता, विरोधाभासों और अचरजों के साथ प्रस्तुत किया गया है।

वक़्त की बेरहम आँधी में कितने उजड़कर चले गए, मगर समय की शिला पर दर्ज व्यक्तियों पर केंद्रित इन संस्मरणात्मक निबंधों में हमने अपनी आलोचकीय टिप्पणियाँ भी दर्ज की हैं, जो संभवत: हमारे पाठकों को पसंद आएँ।

जिन मित्रों, शुभेच्छुओं, लेखकों, सहयोगियों एवं साहित्यकारों का अपेक्षित सहयोग इसके संकलन और प्रकाशन में मिला है, उनमें डॉ॰ शाहिद जमील, अखिलेश्वर प्रसाद, मनोज कुमार, सुरेश कुमार सिन्हा आदि के नाम उल्लेखनीय है। मैं हृदय से इन सभी शुभेच्छुओं के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। शब्द-संयोजन में गंगा-यमुना प्रकाशन, पटना के साथ भाई अमित कुमार का योगदान रहा है, वे धन्यवाद के हक़दार हैं।

हम कृतज्ञ हैं उन सभी सहृदय साहित्यकारों के जिन्होंने इस कृति पर अपना अभिमत, शुभाशंसा तथा पुरोवाक् लिखने की कृपा प्रदान कर हमें कृतार्थ किया है।

(सिद्धेश्वर)

संपर्क:
पूर्व अध्यक्ष, बिहार संस्कृत बोर्ड
'संस्कृति', ए-164, ए.जी.कॉलोनी,
शेखपुरा, पटना-25
मो. 9431037221, 9472243949

'दृष्टि', यू॰ 207, शकरपुर,
विकास मार्ग, दिल्ली-92
दूरभाष संख्या: 011-22530652
22059410

E_mail : sidheshwar 66 @ yahoo.com.

अभिमत

बहुत क़रीने से संजोयी जीवन से जुड़ी कथा-स्मृतियाँ

डॉ. हरि सिंह पाल

बीते दिनों की यादें इंसान का पीछा नहीं छोड़तीं और फिर जब यादें जाने-माने शख़्सियत से जुड़ी हों, तो उन्हें भुलाना आसान नहीं होता। 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' इन दो पुस्तकों के माध्यम से देश के कुछ चुनिंदे साहित्यकारों, पत्रकारों, कलाकारों, राजनेताओं तथा समाज सेवियों से जुड़ी अपनी यादें पाठकों के समक्ष ताज़ा की हैं लेखक सिद्धेश्वर ने अपने नए अंदाज़ और ओजपूर्ण शैली में। संस्मरण लेखक के रूप में अपनी अलग पहचान बनाने वाले चर्चित पत्रकार सिद्धेश्वर ने उन व्यक्तित्वों से जुड़ी ऐसी आपबीती घटनाओं की चर्चा की है इन संस्मरणात्मक निबंधों में, जो पाठकों के मानसिक पटल पर सहसा रेखांकित हो आते हैं इनसे गुज़रने के बाद।

प्रत्येक मनुष्य का जीवन इंद्रधनुषी है। यह रंगों से सजा हुआ एक पुष्प-गुच्छ है। यह मुरझाता है और फिर टूटकर गिर जाता है। फिर भी हवाओं में अपनी रंग-स्मृति और गंधमयता विसर्जित कर जाता है और उसके जीवन से जुड़ी कथा-स्मृतियाँ रह जाती हैं। इन्हीं स्मृतियों को बहुत क़रीने से संजोया है संस्मरणात्मक निबंध संग्रह के इन दोनों पुस्तकों के माध्यम से लेखक ने इन संस्मरणों में। ये कथा स्मृतियाँ उस चुंबकत्व को जागृत करती हैं जिससे पाठकों के जीवन-जगत में प्रेम और ज्ञान की प्रवृत्ति का संचार होता है। आज के भौतिकवादी समय में तनाव और कुंठा के मूल कारण हमारे अंतरंग का धूमिल होना है। इसे खोजना होगा। संस्मरणात्मक निबंधों के इन दोनों पुस्तकों से हमारे भीतर के सूखते रसों और रंगों को चटख किया जा सकता है और मनुष्य उत्सवोन्मुखी हो सकता है बशर्ते कि पाठक इसकी गहराई में जाकर इसका रसास्वादन करें।

विगत कई दशकों में साहित्यकार, पत्रकार एवं सामाजिक चिंतक के रूप में अपना विशिष्ट स्थान बनाने वाले सिद्धेश्वर जी के द्वारा विरचित इन दोनों पुस्तकों के संस्मरणात्मक निबंधों में मानव-मन तथा आपसी संबंधों के ऐसे आयाम दिखाई देते हैं, जो पाठक को मात्र पढ़ने का ही सुख नहीं देते, अपितु बहुत कुछ सोचने-समझने के लिए भी विवश करते हैं। संस्मरणात्मक निबंधों के ये दोनों नवीनतम संग्रह 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे

जेहन में' एक अद्भुत बोन्साई गाथा है। बरगद का पेड़ देखने के हम कितने ही अभ्यस्त क्यों न हों, उसका बोन्साई रूप हमें चमत्कृत किए बिना नहीं रहता। हमें दाद देनी होगी लेखक द्वारा की गई किसी बड़े से बड़े हस्ताक्षर के जीवन-आयामों की संक्षिप्तता का जिसमें गागर में सागर भरने का साहित्यिक कौशल उन्होंने दिखाया है और जो मानवीय समीकरणों और संवेदनाओं को न्यूनतम शब्दों में समेटकर पाठकों के हृदय तक पहुँचने की सामर्थ्य रखते हैं। यह संस्मरण पाठकों के मन में कौतूहल जगाते हुए आह्लादित करते हैं। यह बात ठीक है कि आर्थिक उपलब्धियों के पीछे दीवानगी की हद तक भागते आदमी के पास साहित्य के लिए वक़्त घटता जा रहा है। अधिकांश पाठकों की रुचि सिमटकर फ़िल्मी गप्पों, दूरदर्शन धारावाहिकों तथा अख़बार की सुर्ख़ियों तक सीमित हो गई हैं, किसी भी क्षेत्र में लोग हल्का-फुल्का मनोरंजन ही चाहते हैं, लेखक की इन नवीनतम कृतियों में कुछ ऐसी सामग्री है, जो पाठकों को कुछ सोचने-समझने के लिए विवश तो करती ही है, मानवीय संबंधों के कई नए आयाम भी खोलती है। ये सभी संस्मरण अलग-अलग मूड में लिखे गए हैं, लेकिन इनका केंद्रीय स्वर एक ही है और वह है अपने पाठकों से सीधा संवाद स्थापित करना। इसमें लेखक को जबर्दस्त कामयाबी हासिल हुई है। संस्मरण-लेखक के रूप में निश्चित रूप से इसके लेखक की एक अलग पहचान बनती है।

संस्मरणात्मक निबंध की इन दोनों पुस्तकों के लेखक की यह विशेषता है कि न केवल ये अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सतर्क हैं, बल्कि अपने लेखन से ये दूसरों को भी सहभागी बना लेते हैं और कुछ आदर्शों, मूल्यों और मान्यताओं को महत्त्व देते हैं। भले ही वे पूरी तरह साकार नहीं हो पाते, लेकिन उनकी प्राप्ति के लिए हर क़दम पर नए-नए उपाय खोजते रहते हैं। इनकी पुस्तक 'मुझे अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' के माध्यम से पाठकों को दिवंगत साहित्यकारों, पत्रकारों, कलाकारों, राजनेताओं तथा समाजसेवियों के जीवन के ऐसे पक्षों को भी निकट से देखने-पढ़ने का अवसर मिलता है, जो अपने आप में प्रेरक और उत्साहवर्द्धक हैं। इसी प्रकार उनके संस्मरणों में कई प्रसंग ऐसे भी आए हैं, जो उन व्यक्तित्वों के बदरंग पहलुओं को उजागर करते हैं। कहीं-कहीं उन विभूतियों के जीवन के एक खंड का सजीव और प्रामाणिक चित्रण भी किया गया है जिससे पता चलता है कि उन्हें प्रस्तुत करने का कौशल भी संस्मरण-लेखक के पास है। इसलिए लेखक के ये संस्मरण पठनीयता से परिपूर्ण हैं; हमें बाँधते हैं और काफ़ी हद तक प्रभावित भी करते हैं।

संस्मरणीय व्यक्तित्वों के जीवन का इतना व्यापक रूप प्रस्तुत किया गया है कि हमें अभिभूत करते हैं। इनके संस्मरणों में व्यक्ति केंद्रस्थ है। इसीलिए वे व्यक्ति की मनोवृत्तियों का जितना उद्घाटन करते हैं, उतना ही उनकी सामाजिक क्रियाओं और सरोकारों का भी। मानव जीवन के बड़े सरोकारों की अभिव्यक्ति के चलते ही इनके संस्मरण के आस्वादन में दरार नहीं पड़ता है। लेखक संस्मरणीय व्यक्तित्वों के जीवन की मार्मिक घटनाओं का चित्रण करने में सफल हुआ है। ये प्रभावशाली चित्रों का निर्माण करने में भी सफल रहे हैं।

सच तो यह है कि लेखक ने स्वयं भी अपनी ज़िंदगी की अनेक चुनौतियों का जोशोख़रोश से मुकाबला कर व्यक्तित्व के विभिन्न गुणों का सहजता से अपनी शानदार ज़िंदगी में समाविष्ट किया है। इनकी खुद की ज़िंदगी का सफ़रनामा इस बात का साक्षी है। आज भी ये जिस तरह से ज़िंदगी बसर कर रहे हैं, उस पर गर्व किया जा सकता है। जब हम इन दोनों पुस्तकों के संस्मरणों से गुज़रते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि इन संस्मरणीय व्यक्तित्वों ने लेखक को समाज और साहित्य सेवा करने के लिए इनके मन में मानवीय भावों को जाग्रत किया। यही नहीं, उन्होंने न केवल उन्हें संस्कार दिए, बल्कि इनके मन में उपलब्धियों को साकार करने का जज़्बा भी जगाया, जिसे आज भी ये भुलाए नहीं भूलते। उनकी सक्रियता का राज़ यह भी है कि इनकी राय में समाज उन व्यक्तियों का सम्मान करता है, जो शारीरिक व मानसिक रूप से सक्रिय रहते हैं। मैं लेखक की इसी सोच का सम्मान करता हूँ। पुस्तक के संस्मरणीय व्यक्तित्व के साथ-साथ जब मैं लेखक के व्यक्तित्व पर एक नज़र डालता हूँ, तो पाता हूँ कि समझदार और हर स्थति में साथ निभाने वाले मनमाफिक इन्हें बच्ची प्रसाद जैसी जीवन-संगिनी भी मिली हैं, जिनके सहयोग के बल पर बग़ैर किसी दबाव के सिद्धेश्वर जी अपने कार्य करते आ रहे हैं। जिस तरह से इनकी अर्द्धांगिनी घर-गृहस्थी की देखभाल करती रही हैं, उससे इनके मन में परिवार को लेकर कभी भी असुविधा नहीं जाग्रत हुई। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इनकी कामयाबी का श्रेय इनकी जीवन-संगिनी को जाता है। आख़िर तभी तो वर्ष 2006 में प्रो॰ राम बुझावन सिंह जी प्रणीत पुस्तक 'सिद्धेश्वर : व्यक्तित्व और विचार' में इसके संपादक डॉ॰ शाहिद जमील ने भी अपने संपादकीय में इसी बात पर अपनी सहमति जताते हुए लिखा है कि ''यहाँ इस राज़ को फ़ाश करना यथोचित होगा कि भाई सिद्धेश्वर जी के समस्त क्रियाकलापों के भव्य महल की बुनियाद की ईंट भाभी जी हैं। हर सफल पुरुष के पीछे नारी होती

है इसे इन्होंने सिद्धेश्वर जी के साथ पूर्णरूपेण चरितार्थ किया है।''

उक्त पुस्तक के लेखक प्रो॰ राम बुझावन सिंह जी ने स्वयं भी अपने प्राक्कथन में लिखा है, ''यद्यपि इनके लेखन के संदर्भ में पत्नी की प्रत्यक्ष भूमिका नहीं रही है, लेकिन इनकी पत्नी ने इन्हें ऐसे अनेक पारिवारिक दायित्वों से मुक्त कर रखा है, जो गृहस्थ जीवन में सामान्यतया पति के हिस्से में आते हैं।'' इसी बात को सिद्धेश्वर जी खुद स्वीकार करते हैं और अपनी कृति 'समकालीन यथार्थबोध' अपनी जीवन संगिनी को समर्पित करते हुए कहते हैं, ''अर्द्धांगिनी श्रीमति बच्ची प्रसाद को, जिन्होंने एकाकी वार्धक्य एवं सुदृढ़ आर्थिक संबल के अभाव में व्यवधान-व्याघातों के बीच पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों का कुशलतापूर्वक निर्वहण करते हुए मुझे घर-परिवार की चिंता से मुक्त रखकर मेरी सृजन-साधना को सहज बनाए रखा।'' सिद्धेश्वर जी की ये दोनों पुस्तकें एक और मायने में उल्लेखनीय हैं और वह यह कि ये संस्मरण अपने आप में संपूर्ण हैं, क्योंकि जिस किसी व्यक्तित्व की स्मृतियों को इन्होंने संजोया है उनमें उनके व्यक्तित्व व कृतित्व के प्रायः सभी आयामों को इन्होंने समेटने का प्रयास किया है। जहाँ इन्होंने कृतियों की चर्चा की है, वहाँ साहित्य की अलग-अलग विधाओं में उन व्यक्तित्वों द्वारा की गई समग्र रचनाओं को गिनाया है और वह भी वर्षवार। इस प्रकार ये दोनों संकलन शोध-ग्रंथ-सा बन पड़े हैं जो शोधार्थियों के लिए काफ़ी उपयोगी साबित होंगे, क्योंकि एक ही पुस्तक में समग्र रूप से उन्हें सारे तथ्य मिल जाएँगे। इस दृष्टि से देखा जाए, तो लेखक सिद्धेश्वर जी ने इस पुस्तक की रचना कर छात्र-छात्राओं तथा शोधार्थियों का बड़ा कल्याण किया है, जिसके लिए उन्हें हार्दिक बधाई।

कुल मिलाकर यह संस्मरण काल-विशिष्ट है, ऐतिहासिक संस्मरण ही नहीं, वरन् अन्य अनेक दृष्टियों से भी विशिष्ट संस्मरण हैं। संस्मरण-लेखक के रूप में सिद्धेश्वर जी की प्रतिष्ठा को ये दोनों पुस्तक बढ़ाएँगी, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कारण कि इन संस्मरणों में सिद्धेश्वर जी का नया रूप और नया अंदाज़ मिलता है, जो अपनी विशिष्ट शैली की वजह से पाठकों को नई ताज़गी का एहसास कराता है। हिंदी साहित्य जगत में इस पुस्तक का खुले दिल से स्वागत किया जा सकेगा, इसी विश्वास के साथ लेखक को एक बार पुनः बधाई देता हूँ।

डॉ॰ हरि सिंह पाल
अकाशवाणी, दिल्ली

संपर्क सूत्र :
684, इन्द्रा पार्क, पालम मार्ग
नई दिल्ली - 110045, दूरभाष : 01125039559

अभिमत

यशस्वी शख्सियत के प्रति लेखक की गहरी आत्मीयता की झलक

प्रो.(डॉ.) साधु शरण

'हमें अलविदा ना कहें' भाग-1 और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' भाग-2 'विचार दृष्टि' के संस्थापक-संपादक एवं साहित्यकार सिद्धेश्वर जी के संस्मरणात्मक निबंधों के दो विशिष्ट और संग्रहणीय संकलन हैं। कलेवर और साज-सज्जा में नयनाभिराम तथा तथ्यों से भरपूर यह दोनों किताब एक महत्त्वपूर्ण लेखक की संस्मरण-यात्रा की दास्तान मात्र नहीं, अपितु हिंदी साहित्य के विशिष्ट काल-खंड का विश्वसनीय ऐतिहासिक दस्तावेज भी हैं।

सिद्धेश्वर जी मूलत: एक संपादक और लेखक हैं, इसलिए आलेखों के विचार-प्रधान बाड़े में यादों को समेटे ये संस्मरण सरल और सरस हैं, जो पाठकों को उपन्यास और कहानी की तरह शुरू से अंत तक पढ़ने के लिए विवश करते हैं। पटना विश्वविद्यालय से इंटरमेडियट, स्नातक तथा स्नातकोत्तर करने के पश्चात् लगभग एक दशक तक राँची के महालेखाकार कार्यालय में इन्होंने अपनी सेवाएँ दीं और फिर पटना में तबादला होने पर अभी अपनी सेवा पूरी भी नहीं कर पाए थे कि सन् 2000 के एक जून से इन्होंने व्यापक एवं वृहतर राष्ट्र व समाज हित में स्वैच्छिक सेवा-निवृत्ति ले ली और फिर हिंदी साहित्य की सेवा और पत्रकारिता में ये अपना सारा समय दे रहे हैं। कुछ ही वर्षों में इन्होंने अपने कार्यों का इतना विस्तार दिया कि इन्हें अपना राष्ट्रीय कार्यालय राष्ट्रीय राजधानी नई दिल्ली ले जाना पड़ा और इधर तकरीबन पन्द्रह वर्षों से लगातार पटना और दिल्ली के कार्यक्रमों में व्यस्त रहकर हिंदी साहित्य को ये समृद्ध कर रहे हैं।

हिंदी के प्रख्यात लेखक-कवियों के सानिन्ध्य में रहकर इन्होंने बहुत-कुछ सीखा और पाया। प्रो०(डॉ०) शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव, रजनीकांत सिन्हा, डॉ० मोहन सिंह, मनोहर श्याम जोशी, बिसमिल्ला खाँ, आर.पी. सिन्हा, किशन पटनायक, सीताशरण शर्मा, बाबूराम सिंह लमगोड़ा, प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त', रामकृष्ण मेहता, परमानंद दोषी, डॉ. पी.एन. सिन्हा, डॉ. रंगी प्र. सिंह 'रंगम', डॉ. लक्ष्मीमल. सिंधवी, न्यायमूर्ति बी.एल. यादव, बासुदेव नारायण,

सरदार पटेल, जयप्रकाश नारायण, आत्माराम फोन्दणी 'कमल' आदि इनकी आत्मीय स्मृतियों के अंग हैं। इनके अतिरिक्त भी शायद ही कोई रचनाकार, पत्रकार, राजनीतिज्ञ, कलाकार अथवा समाजसेवी ऐसा होगा, जो इनकी आत्मीय यादों से अछूता रहा हो। इन सब हस्ताक्षरों के प्रति इनमें गहरी आत्मीयता झलकती है। जिस प्रकार हिमालय शानदार ऊँचाई के बावजूद अपने विनम्र झुकाव में पंजाब, बंगाल, बीच के मैदान सबको जोड़ता है, वैसे ही सिद्धेश्वर भी संस्मरणीय व्यक्तित्वों के अनेक कारनामों को याद करके वे खुद को तरोताजा महसूस करते हैं और अनगिनत संस्मरणों को जीवंतता प्रदान करते हैं।

सिद्धेश्वर जी लेखक की असली ताकत जनता को मानते हैं और विशिष्ट में सामान्य की तलाश को ही रचना मानते हैं। इन्हीं मानदंडों को सामने रखकर वे इतने सारे संस्मरण एक साथ लिख गए। दरअसल, इनकी पीढ़ी में जितने भी लोग हैं उनमें सिद्धेश्वर जी का नाम आए बगैर नहीं रह सकता, क्योंकि इनकी वैयक्तिक और बौद्धिक सरोकारों की आश्चर्यजनक विविधता तो काबिलेतारीफ है ही, वह एक अत्यंत सक्रिय, प्रतिबद्ध और कर्मठ प्रबुद्धजन भी हैं। सिद्धेश्वर जी की शख्सियत यह है कि जिन जगहों पर भी वह कुछ अरसे के लिए मौजूद होते हैं, वे जगह बाद में इनके बगैर सूनी और प्रकाशहीन लगती हैं। इनके सोचने, बोलने और लिखने के पीछे हमेशा वर्तमान की कोई चिंता एक लौ की तरह मौजूद होती है। वह किसी भी ज्ञानात्मक चर्चा को वर्तमान समाज या राजनीति के संदर्भ में प्रासंगिक बनाने और हमारे वर्तमान को समझने के लिए उसकी अनिवार्यता सिद्ध करने की अद्‌भुत क्षमता रखते हैं। सिद्धेश्वर जी ज्ञान और कर्म के जैसे प्रतीक हो गए हैं। आखिर तभी तो समाज के प्राय: कई क्षेत्र के जाने-माने व्यक्तित्वों के उन्होंने संस्मरण लिख डाले, यह अपने आप में एक अदभुत उपलब्धि है साहित्य की संस्मरण विधा के क्षेत्र में।

इसके अलावा हाल ही इनकी दो किताबें आई हैं- 'यह सच है' इनकी इक्कावन कविताओं का संग्रह और 'समकालीन संपादकीय' इनके अबतक लिखे संपादकीयों का संकलन। सिद्धेश्वर की जिन विशिष्टताओं का हमने ऊपर जिक्र किया, वे तमाम इनकी इन किताबों में देखने को मिलती हैं। लेखक को इतनी अच्छी कृतियों के लिए हार्दिक बधाई।

'गीतिका', आदित्य नगर
पो॰-केसरीनगर, पटना-800024
मो.-8800672508

प्रो॰ (डॉ.) साधुशरण
पूर्व विभागाध्यक्ष,राजनीति शास्त्र
जैंतपुर कॉलेज, मुजफ्फरपुर(बिहार)

अभिमत

संस्मरणात्मक निबंधों में घिसे-पिटे ढर्रे को तोड़ने का प्रयास

आचार्य रामविलास मेहता

समाज में बदलाव लाने के लिए निरंतर प्रयासरत सिद्धेश्वर जी मामूली सुविधाओं के होते हुए भी 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' जैसी संस्मरण विधा की दो किताबे लिखकर घिसे-पिटे ढर्रे को उन्होंने तोड़ने की कोशिश की है और उन तमाम लोगों को यह उम्मीद दिला सके हैं कि बदलाव का सपना उसके लिए भी सच हो सकता है। मुश्किलों के बाद भी लगातार हिंदी-लेखन तथा पत्रकारिता की राह पर ईमानदारी से ये चल रहे हैं और इनके मन में यह दृढ़ विश्वास है कि आज न कल शायद शुभेच्छु इनके दर्द को समझेंगे, जिसे वह अपने सीने में छिपा रखे हैं। ये खुद को खुशनसीब इसलिए मानते हैं कि समाज के सभी तबकों के लोग इन्हें समुचित सम्मान देते हैं जिसे वे संबल समझ सदैव आगे बढ़ते जाते हैं और कठिनाईयाँ खुद-ब-खुद दूर होती जाती हैं। इनकी साहित्य-साधना का हम इसलिए मनन करते हैं कि आजकल हिंदी को जिस प्रकार लोग अर्थ का साधन मात्र मानकर चल रहे हैं, सिद्धेश्वर जी, वैसे लोगों की पंक्ति में नहीं हैं, बल्कि सच तो यह है कि लोक-कल्याण, देश-प्रेम और भाषा-सेवा का भाव रखते हुए ये अपने आचरण में भी आत्मगत करने में रुचि रखते हैं और साहित्य, संस्कृति, कला, पत्रकारिता, संगठन एवं सामाजिक स्तर के हर आयाम को अपने में समेटने का प्रयास इनके जेहन में है।

संस्मरणात्मक निबंध संग्रह के इन दोनों पुस्तकों के संस्मरणों के माध्यम से इसके लेखक ने अपनी दरियादिली और अपनापन का परिचय तो दिया ही है, दिल खोलकर अपनी लेखनी का इस्तेमाल भी किया है और इस प्रकार ये सारस्वत क्षेत्र में ठोस कदम रखते हुए निरंतर आगे बढ़ते जा रहे हैं। सभा-संगोष्ठियों में इनकी भागीदारी अवश्यंभावी आकर्षण बन जाती है।

इन संस्मरणों से गुजरने के बाद मैंने पाया है कि इसके लेखक की दृष्टि संस्मरणीय व्यक्तित्वों के अनुभव, जुगुप्सा और उनके स्वाभाविक मानवीय सोच पर तो गई ही है, उनकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातों को बड़े सहज और सरल ढंग से प्रस्तुत करने की उन्होंने कोशिश की है। भाषा, संवेदना,

तेवर आदि सभी स्तरों पर सिद्धेश्वर जी की इस कृति में ताजगी देखने को मिलती है। निश्चित रूप से इसके संस्मरण समयनिष्ठ के साथ-साथ आत्मनिष्ठ संवेदनाओं एवं समाजनिष्ठ आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। संस्मरण के रचनात्मक रूप पाठकों पर गहरे असर डालने में समर्थ होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। संस्मरणीय व्यक्तित्वों ने जिस प्रकार जीवन की विसंगतियों से जूझते हुए समाज, साहित्य और राजनीति के समक्ष जो आदर्श प्रस्तुत किए हैं उससे प्रेरित एवं प्रभावित हुए बिना पाठक नहीं रह सकते। इसमें कतई संदेह नहीं कि इस संकलन का हर संस्मरण मानव जीवन की एक समस्या से टकराता है और उसका सामना करते हुए पाठकों को एक महान संदेश देता है, जो अपने-आप में अद्‌भुत है। इसलिए इस संग्रह का विशेष महत्त्व है खासकर छात्रों एवं शोधार्थिओं के लिए यह विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होगा। कहा गया है कि - Personality is to man that perfume is to the flower. मानव में व्यक्तित्व फूल की तरह सुगन्ध के समान है। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि A man is known by the works he does. Good deeds are neither burnt nor burried. सिद्धेश्वर जी निश्चित रूप से समाज, साहित्य और राजनीति में नैतिकता के प्रतीक के रूप में तथा उदाहरण के तौर पर जाने जाते रहेंगे। आपने अपने सामाजिक, साहित्यिक और राजनीतिक श्रोतों में पल रही विकृत्तियों का समय-समय पर समाज और राष्ट्र का ध्यान अपने लेखन के माध्यम से किया है। यह पुस्तक उसी अभिव्यक्ति का प्रतिफल है। सफल कृति के लिए लेखक को बधाई तथा उनके दीर्घायु होने की मंगलकामना।

आचार्य रामविलास मेहता
ग्राम-बचन चकला
पत्रालय-रेतनपुर, जिला-सुपौल
मो॰9801772413

अभिमत

रचनात्मकता की नई उर्वराभूमि की तलाश

प्रो.(डॉ.) पी. लता

संस्मरणात्मक निबंध संग्रह की ये दोनों पुस्तकें 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' समय-समय पर लेखक सिद्धेश्वर जी द्वारा 'विचार दृष्टि' पत्रिका में लिखे गए संस्मरणों के संकलन हैं। उपन्यास सरीखी रोचक शैली में लिखे गए संस्मरणात्मक निबंधों से जहाँ साहित्यिकता का स्वाद मिलता है, वहीं साहित्य, समाज, राजनीति, शिक्षा तथा कला-संस्कृति की राह से गुज़रे अनेक जाने-माने हस्ताक्षरों के व्यक्तित्व से ये संग्रह परिचित भी कराते हैं। संग्रह बहुश्रुत और बहुप्रचारित रचनात्मकता की सतही तार्किकता के साथ प्रस्तुत नहीं, बल्कि तेज़ी से बदलती हुई दुनिया में नए शिल्प का वह आवरण लिए हुए हैं, जो न केवल रचनात्मकता की नई उर्वरा भूमि की तलाश करते हैं, अपितु एक गंभीर पाठक की कल्पनाशीलता को परिमार्जित करने का दुस्साहस भी।

इन संस्मरणात्मक निबंधों से गुज़रने पर ऐसा लगता है कि सिद्धेश्वर जी के पास यादों का सरमाया है और वर्तमान से जूझने की कुव्वत भी। उनमें एक ओर जहाँ मुड़-मुड़कर अतीत की ओर देखने वाला एक संवेदनशील शख़्स है, तो दूसरी ओर उनके शख़्सियतों से संबंधित अनुभव भी। ये संकलन अपनी सहजता और सरलता की वजह से प्रभावित करते हैं, क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों के नामी-गिरामी हस्ताक्षरों से जुड़ी स्मृतियाँ, जो इनकी सोच और संवेदना को कचोटती रहीं उनकी अभिव्यक्ति इन्होंने बड़े सरल और सहज ढंग से की है। इन संस्मरणों में विभिन्न व्यक्तित्व की परतें जैसे-जैसे खुलती हैं वैसे-वैसे पूरा परिवेश प्याज़ के छिलकों की तरह उतरने लगता है। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि परिवेश के महानद प्रवाह में सिद्धेश्वर जी डूबकर जब उतारते हैं, तो उनके व्यक्तित्व को एक नई परिभाषा प्रस्तुत कर जाते हैं और उनका यही दृष्टिकोण संकलन की सार्थकता को भी सिद्ध करता है।

यह विभिन्न क्षेत्रों के महत्त्वपूर्ण लोगों की वही स्मृतियाँ हैं, जो किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को बेचैन कर देती हैं, उनकी धड़कनों को बढ़ा देती हैं और उन्हें आंदोलित करने की प्रेरणा देती हैं। इन्हीं संस्मरणों को पढ़कर वे ज़िंदा रह सकते हैं, कारण कि संस्मरणों के लेखक सिद्धेश्वर जी संस्मरणीय

व्यक्तित्व और विचार को महज़ किताबी जामा पहनाने की बजाय उसे संघर्ष और विकास का प्रतीक बनाना चाहते हैं। उनका गहरा सरोकार उन व्यक्तित्वों से जुड़े तरह-तरह के सवाल खड़े करते हैं, उनसे उलझते हैं और उनका पर्दाफ़ाश करते हैं। कहीं-कहीं पुरानी ग़लत परंपरा तोड़ते हुए स्वाधीनताबोध को आधुनिकता के आइने में रखकर अपने राष्ट्र को अन्य विकसित मुल्कों के समक्ष खड़ा करना चाहते हैं। कहीं-कहीं तो उन व्यक्तित्वों के जीवन के माध्यम से बुद्धिजीवियों को भी कठघरे में खड़ा करते हैं, जो तटस्थता तथा यथास्थितिवाद के चलते देश की धार्मिक बर्बरता की ओर धकेलने में मदद करते हैं जिससे 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामया' की अवधारणा उनके आचरण और व्यवहार से धूमिल न हो पाए, क्योंकि इन्हीं मान्यताओं और मूल्यों के आधार पर हमारी भारतीय संस्कृति और सभ्यता विश्व स्तर पर सराही गई है और जिसे आज भी लोग सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। सच तो यह है कि जिन महानुभावों के संस्मरण सिद्धेश्वर जी ने लिखे हैं, उन्होंने सदैव मानव मूल्यों का संरक्षण किया है जिससे हमारा गौरव बढ़ा है। लेखक ने संस्मरणीय व्यक्तित्वों को बड़ी गहराई और ईमानदारी से देखा है और उनके साथ उनके संबंधों की निकटता रही है। यह निकटता इनके विश्वास से हुई है, कारण कि अहंकार रहित होकर वे विनम्र भाव से उनके सुख-दुःख में शामिल होते रहे हैं। सिद्धेश्वर जी ने इन पुस्तकों के संस्मरणों में सदाचार, श्रद्धा, विश्वास, समर्पण आदि उनके व्यक्तित्व के आभूषणों को बहुत मार्मिक ढंग से चित्रित किया है जिनकी बराबरी धन से नहीं की जा सकती।

सिद्धेश्वर जी को हार्दिक बधाई!

'आरती' टी.सी., 14/1592
पो. लेन, ई-28 बबन्कट
तिरूवनतपुरम-14
फोन: 0471-2332468

प्रो॰ (डॉ.) पी. लता
प्रध्यापक, हिंदी विभाग
राजकीय महाविद्यालय
तिरूवनंतपुरम, केरल

अभिमत

संस्मरणों में खुदरेपन के साथ खूबसूरत मानवीय भावबोध

डॉ. शाहिद जमील

सिद्धेश्वर जी ने अपने संस्मरणात्मक निबंधों में नायकों के जीवन-संघर्ष को बड़ी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है जिनमें समय की धड़कन सुनी जा सकती है। लेखक ने संस्मरणों की अभिव्यक्ति में दृष्टिकोण के स्तर पर भी जो ईमानदारी बरती है, वह काबिलेतारीफ है। लेखक की दृष्टि बहुत दूर तक तक गई है। इसलिए यह सिर्फ नायकों की जीवन गाथा के दृश्यों का संग्रह भर नहीं है, बल्कि पूरा समाज उनसे अपनी धड़कने पाता है। भविष्य की कोई भी कल्पना अतीत और वर्तमान से निरपेक्ष होकर नहीं की जा सकती। इसलिए 'हमें अलविदा ना कहे' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' संस्मरणात्मक निबंध जितने अतीत के संबंध में मूल्यवान हैं, उससे कहीं अधिक भविष्य निर्माण के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण भी। बचपन की स्मृतियों से लेकर एक उम्र पहुँचने तक लेखक का लगाव सामाजिक सजगता और राष्ट्रीय चेतना उनकी संस्मरण-भाषा के संदर्भ में बेहद आकृष्ट करते हैं।

इन दोनों पुस्तकों में सम्मिलित संस्मरणात्मक निबंधों के पीछे लेखक के चिंतन में सामाजिक भावना के साथ-साथ प्रबल राष्ट्रीय भावना छिपी है। आज जीवन की आपाधापी में संबंधों की गरिमा का जिस तेज़ी से ह्रास होता जा रहा है, ऐसी स्थिति में सिद्धेश्वर जी ने हमें अपने साथ-साथ सामाजिकता को भी विस्तार दिया है और इन्होंने इन संस्मरणों के माध्यम से यह साबित किया है कि केवल धन-दौलत, रुपया-पैसा, यश-कीर्ति, प्रतिष्ठा एवं सुख-सुविध ाओं के संसाधन एकत्र करना ही जीवन का उद्देश्य नहीं, बल्कि हमारी संवेदना ही हमारे जीवन की पहचान है। बिना संवेदना के जीवन का कोई महत्त्व नहीं। सिद्धेश्वर जी अत्यंत प्रतिबद्ध और निरंतर विचारमग्न लेखक व संपादक हैं। इनके संस्मरणों में देशज का जीवन-ठाठ बेहद संभव संशिलिष्टता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इन संस्मरणों में उनकी कलम अपनी कलात्मक सजगता का विकास करती हुई दिखती है। चूंकि सिद्धेश्वर जी एक रचनाकार के साथ-साथ पत्रकार भी हैं, तो इन्होंने संस्मरणों में अपने इन दोनों रूपों की प्रतिभाओं का समुचित इस्तेमाल किया है। इनके संस्मरण अपनी सादगी की

वजह से अलग और उल्लेखनीय हैं। कहीं-कहीं संस्मरण उन चुस्त बिंबों से निर्मित हैं जिनका प्रभाव हमारी आत्मा को बेचैन कर देती है। इसमें साधारण का विराट जद्दोजहद साँस लेता हुआ और आवाज़ देता हुआ उभरा है। इसके साथ ही उनके सरोकारों के विस्तार का साक्ष्य भी प्रकट करता है। इन संस्मरणों में अपने खुरदरेपन के साथ खूबसूरत मानवीय भावबोध अभिव्यक्त हुआ है। लेखक सरल आशावादी हैं। वे विचलित कर देने वाली स्थितियों के संबंध में मार्मिक पीड़ा और उत्तेजना को उभार देते हैं। पुस्तक में शामिल संस्मरणात्मक निबंधों में सिद्धेश्वर जी के जीवन के वे अनुभव भी हैं जिनसे कुछ लोग सायास बचते हैं।

इन पुस्तकों को पढ़ने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि संस्मरण के क्षेत्र में ये दोनों महत्त्वपूर्ण कृतियाँ सामने आई हैं जिसमें 'डॉ॰ रामविलास शर्मा: जो हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष थे', डॉ॰ शिवमंगल सिंह 'सुमन': जो ग्रामीण सौंदर्य के कुशल चितेरे थे', 'निर्मल वर्मा: जिन्हें महारत हासिल थी संवेदना उकेरने में', 'डॉ॰ फ़ादर कामिल बुल्के: विदेशी, जिसे हिंदी ने अपना बना लिया', 'डॉ॰ शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव, जिनकी साहित्य और राजनीति में वरेण्यता सदैव बनी रही', डॉ॰ धर्मवीर भारती: जिनकी संवेदनशीलता अंत: सलिला थी', 'फणीश्वरनाथ रेणु: जो ज़िंदा हैं अपनी ज़िंदादिली और क्रांतिकारी विचारों के लिए', 'गोपाल सिंह नेपाली: जो हिंदी साहित्य में स्वाधीन क़लम के अकेले सिपाही थे', 'शंकरदयाल सिंह: जो हँसी और ठहाकों से लबालब एक ज़िंदादिल इंसान थे', 'महाकवि कालिदास: जो भारत के शेक्सपियर और संस्कृत साहित्य के-क्रांतदर्शी महाकवि थे', 'माखन लाल चतुर्वेदी: जिनकी साहित्य-साधना बेमिसाल है', 'डॉ. कुमार विमल: जो हिंदी साहित्य में सौंदर्य शास्त्रीय आलोचना के जनक थे' और 'डॉ. बालशौरि रेड्डी: जिनका जीवन हिंदी लेखन के प्रति समर्पित रहा' काफ़ी रोचक और पठनीय संस्मरण बन पड़े हैं। इस लिहाज़ से साहित्येतर विधाओं में श्रेष्ठ पुस्तकों के प्रकाशक को लेकर जो उत्साह इधर हिंदी में देखा जा रहा है, संस्मरण विधा में सिद्धेश्वर जी की सद्य: प्रकाशित पुस्तकें 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' एक शुभ और स्वस्थ परिघटना है, जिसका हिंदी जगत में स्वागत किया जाएगा। इतनी अच्छी पुस्तक के लिए एक बार पुन: लेखक को साधुवाद देते हुए उनके दीर्घायु जीवन की मैं कामना करता हूँ।

डॉ॰ शाहिद जमील
आलोचक-समीक्षक एवं पत्रकार
पूर्व राजभाषा पदाधिकारी, बिहार, पटना

संपर्क सूत्र :
आवास सं॰ 278,
पाटलिपुत्र कॉलोनी, पटना

शुभाशंसा

अमूल्य विभूतियों की रचनात्मकता को ऊँचाइयाँ प्रदान करने का सफल प्रयास

डॉ. नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'

लेखक के संपादन में दिल्ली से प्रकाशित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' तथा उसके पूर्व भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग के कार्यालय, प्रधान महालेखाकार (लेखा परीक्षा), बिहार, पटना से प्रकाशित 'प्रहरी' के प्रायः प्रत्येक अंक के माध्यम से संपादक सिद्धेश्वर जी ने अपने पाठकों को देश की उन अमूल्य विभूतियों पर संस्मरण लिखकर उनसे परिचित कराने की कोशिश की है जिनकी रचनात्मकता, क्रियाशीलता तथा सर्जनात्मकता ने समाज और साहित्य अथवा राजनीति एवं संस्कृति को ऊँचाइयाँ प्रदान की हैं और जो हमारे इतिहास और साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। इन महान विभूतियों का संस्मरण, हमारी अपनी बहुमूल्य परंपरा की ओर वापस होना है। संस्मरणात्मक निबंध संग्रह की इन दो पुस्तकों 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' में लेखक के सभी संस्मरणात्मक निबंधों को संकलित किया गया है और इस प्रकार उन्होंने एक बार फिर अपनी गौरवशाली परंपरा को आगे बढ़ाने में अपना रचनात्मक सहयोग प्रदान किया है। मैं समझता हूँ कि इनका प्रयास काफ़ी हद तक सफल रहा है और देश के विभिन्न क्षेत्रों की विभूतियों को ये बहुत हद तक स्मरण कर पाए हैं।

दरअसल, सिद्धेश्वर जी स्वयं भी सदा सार्थक जीवन जीते रहे हैं और जो काम एक बार मन से ठान लेते हैं उसे बेहतरीन तरीके से पूरी ईमानदारी के साथ पूरा करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं। यही कारण है कि विभिन्न क्षेत्रों के सार्थक जीवन जीने वालों पर जब इन्होंने संस्मरणात्मक निबंध लिखकर उन्हें दो पुस्तकों में संकलित करने का संकल्प लिया, तो उसे पूरा करके ही दम लिया। ये दो पुस्तकें उनके उसी संकल्प का प्रतिफल है। इन दो पुस्तकों में हमें दो बातें देखने को मिली हैं। पहली यह कि लेखक ने इन पुस्तकों के संस्मरणात्मक निबंधों में संस्मरणीय व्यक्तित्व के सुख-दुःख, दर्द-पीड़ा, प्यार-व्यथा तथा वेदना को सबका सुख-दुःख, दर्द-पीड़ा, प्यार-व्यथा

तथा वेदना बना दिया है। यही रचनाकार की सबसे बड़ी विशेषता इसमें देखने को मिलती है और सच तो यह है कि जो रचनाकार व्यक्ति अथवा समाज के यथार्थ को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है वही महान लेखक है। यथार्थ से कटकर तो लेखक ही नहीं हो सकता, महान तो क़तई नहीं। दूसरी बात यह है कि सिद्धेश्वर जी निरंतर तलाश में रहते हैं, चाहे पहरुए की तलाश हो अथवा समाज के यथार्थ की तलाश, वे इसके लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। उन्हें हमेशा यह चिंता लगी रहती है कि वह दूसरों के काम आएँ। दूसरे के काम आने की यह चिंता और उसके लिए निरंतर प्रयत्न करते रहना इस लेखक की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। आख़िरकार तभी तो इतने सारे साहित्यकारों, पत्रकारों, राजनीतिज्ञों तथा समाजसेवियों, जिनमें से बहुत सी विभूतियों को इन्होंने पास से देखा, कई लोगों के संपर्क में आए, पर अपने संस्मरण लिखकर पाठकों के सामने प्रस्तुत करना इन्होंने लाज़मी समझा। लेखक स्वयं भी मानते हैं कि इन विभूतियों की भावनाओं का उनके खुद के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा और उनके जीवन को ही पलट दिया और उनसे इन्होंने जीवन जीना सीखा। यही कारण है कि हर विषम, कठिन और विषादपूर्ण निराशाजनक स्थिति में भी लोगों ने सिद्धेश्वर जी को अविचल और आत्मसंयमी ही पाया। इन संस्मरणात्मक निबंधों के लेखक साहित्यकार होने के साथ पत्रकार भी हैं, किंतु साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र में विचरने वाले आज जिस प्रकार अपने महत्त्वपूर्ण होने का भ्रम पालते हैं, उनमें सिद्धेश्वर जी नहीं हैं। बहुत से औपचारिक आयोजनों एवं कार्यक्रमों का अनेक बार हिस्सा बनने के बावजूद वे अपने को भीड़ का ही एक हिस्सा रहने का प्रयास करते हैं, न कि विशिष्ट अतिथियों के बीच रहकर वीआईपी कहलाने का। यही कारण है कि आयोजनकर्ता भी इनका बड़ा सम्मान करते हैं। इनके शुभेच्छु इस बात से पूर्णतः अवगत हैं कि सिद्धेश्वर जी हर अच्छे कार्य के समर्थक हैं और हर ग़लत कार्य के विरोधी। इसके मद्देनज़र कोई भी इनके सामने ग़लत प्रस्ताव रखने में संकोच करता है। सदा उच्च विचारों के ये हिमायती हैं और भारतीय संस्कृति के प्रबल समर्थक। वे अनुशासनप्रिय, चरित्रवान, स्वच्छ एवं निर्मल व्यक्तित्व के धनी हैं। हिंदी प्रचार आंदोलन, हिंदी साहित्य की समृद्धि, सामाजिक समरसता तथा राष्ट्रीय सद्भावना के लिए सिद्धेश्वर जी का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

सिद्धेश्वर जी की इन दोनों पुस्तकों को आँकना सहज-सुलभ कार्य नहीं है। फिर भी मेरी जानकारी की लघु सीमा में ही आँकना संभव है। बेमना

ने कहा भी है कि पहाड़ दर्पण में छोटा ही दिखाई देगा, किंतु उसकी समग्रता का आभास तो देगा ही। 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' के लेखक सिद्धेश्वर जी ने अपने इस संस्मरणात्मक निबंधों को साहित्यकार, पत्रकार, कलाकार, राजनीतिज्ञ तथा समाजसेवी के पाँच खंडों में विभक्त कर बड़ी ईमानदारी और शिद्दत के साथ सार्थकता प्रदान की है। उनके दायरे और अनुभव में जो कुछ भी इन्होंने संस्मरणीय व्यक्तित्व में देखा, समझा उसे हूबहू इन्होंने शब्दबद्ध करने का प्रयास किया है। किसी भी इंसान की विकास-यात्रा के लिए आज की भावी पीढ़ी के लिए ये कृतियाँ उपयोगी सिद्ध होंगी, क्योंकि लेखक ने बड़े मनोवैज्ञानिक और सहज ढंग से विभिन्न विभूतियों के व्यक्तित्व और कृतित्व को प्रस्तुत किया है जो अपने आप में अनूठा बन पड़ा है। दरअसल, किसी भी व्यक्ति के बेबाक चित्रण के लिए निष्पक्ष और निष्कपट मन की ज़रूरत होती है। यही मन लेखक की प्रकृति है। लेखक ने साहित्यकारों की साहित्यिक संदर्भों की सार्थक प्रस्तुतियों का जो समावेश किया है वे भी बेहतरीन हैं। संस्मरणीय व्यक्तित्व के तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि संदर्भों को बड़े मज़ेदार ढंग से उकेरा है जो अपने आप में स्वत: ही बहुत कुछ रेखांकित कर जाता है। वस्तुत: जो ऊपर से जितना सैद्धांतिक और कठोर होता है वह अंदर से उतना ही व्यावहारिक और संवेदनशील भी।

इस पुस्तक में सम्मिलित जीवन-गाथा से भावी पीढ़ी को अपने जीवन को सजाने-सँवारने की प्रेरणा के साथ-साथ आज की नई पीढ़ी के लिए दिशा-निर्देश और ऊर्जा मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। साहित्य-जगत को अर्पित ऐसी कृतियाँ पाठकों को पढ़ने के लिए मैं शुभाशंसा करता हूँ, क्योंकि इतने विस्तृत रूप में चरित्र की ऐतिहासिक सच्चाई उसके जीवन के घटनाक्रम उपन्यास की तरह पाठकों को बाँधते हैं। इसीलिए इन ग्रंथों का साहित्य-संसार में तहेदिल से स्वागत होगा। भविष्य में स्वस्थ-प्रसन्न रहकर लेखक कई नए कीर्तिमान स्थापित करें, यही मेरी शुभकामना है।

डॉ॰ नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'
पूर्व प्राचार्य
7 च-2, जयपुर-4(राजस्थान)

पूरोवाक्

शीततप्त उच्छ्वासों से सहलाते संस्मरण

डॉ. बालशौरि रेड्डी

जीवन का क्षण-प्रतिक्षण बंद मुट्ठी से फिसलती रेत की तरह बीता जा रहा है। अतीत जो व्यतीत हो चुका है आज भूत है, इतिहास है, जिसे सिर्फ़ कुरेदा जा सकता है, शीततप्त उच्छ्वासों से सहलाया जा सकता है, मगर लौटाया नहीं जा सकता है। संस्मरणात्मक निबंध संग्रहों के संकलन के लेखक सिद्धेश्वर ने अपने इन संस्मरणों में संस्मरणीय व्यक्तित्व को अपने शीततप्त उच्छ्वासों से सहलाया है। इनके पात्र दिवंगत होते हुए भी जीते-जागते तथा चलते-फिरते प्रतीत होते हैं, क्योंकि संस्मरणों में लेखक ने स्वयं की अपेक्षा उस व्यक्ति को महत्त्व दिया है, जिसके संबंध में संस्मरणीय व्यक्तित्व लिखा गया है। वस्तुतः स्मृति वह धागा है जो काल के चक्र पर निरंतर लिपटता ही चला जाता है, कभी जब वह टूट जाता है, तो हम कोई नई रूई रूपी भाव से उसे पुनः जोड़कर एक निराले अंदाज़ का अनुभव करते हैं। सिद्धेश्वर जी ने संस्मरणीय व्यक्तित्व के नहीं रहने पर जो धागे टूट चुके थे, उसे अपनी अनुभूतियों के अक्षर से जोड़ने का सफल प्रयास किया है इन संस्मरणों के माध्यम से।

'मुझे अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' के संस्मरणों में संस्मरणीय व्यक्तित्व के आकार-प्रकार, भाव-भंगिमा, व्यवहार, आचार, जीवन के प्रति दृष्टिकोण, स्वभाव, समकालीन व्यक्तियों से संबंध आदि का यथातथ्य रूप प्रदर्शित होता है और ये संस्मरण अंतर्मन को भी छूते हुए प्रतीत होते हैं।

अपने संस्मरणों में लेखक ने संस्मरणीय व्यक्तित्व के प्रति अत्यंत आत्मीयता का परिचय तो दिया ही है, इन संस्मरणों में अत्यधिक आत्मनिष्ठा भी देखने को मिलती है। इस संबंध में मात्र दो संस्मरणों का उल्लेख करना मैं चाहूँगा। पहला संस्मरण 'गीतकार शैलेन्द्र: जो आज भी ज़िंदा हैं संघर्षशील जीवन में' शीर्षक से लिखा गया है जिसमें लोक ने तहे दिल से उनके गीतों को कंठहार बनाया, की वास्तविकता का लेखक ने चित्रित किया है।

दूसरा संस्मरण 'डॉ॰ शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव: जिनकी साहित्य और राजनीति में वरेण्यता बनी रही' शीर्षक से है जो बहुत प्रभावशाली शैली में

लिखा गया है।

इसमें तनिक संदेह नहीं कि सिद्धेश्वर जी ने अपनी संस्मरणीय रचनाओं को संवेदनात्मक तथा पठनीय बनाने का सराहनीय प्रयास किया है, कारण कि लेखक ने संस्मरणीय व्यक्ति के सान्निध्य में बिताए गए क्षणों को बड़े कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है, जो रोचक होने के साथ-साथ वैचारिक भी हो गया है। सिद्धेश्वर जी ने संस्मरणों में न केवल अतीत में घुली-मिली अनुभूतियों की सशक्त अभिव्यक्ति की है, बल्कि मानसिक मनोभावों को भली-भाँति उकेरने में भी सफल रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप इनमें जहाँ लेखक के व्यक्तित्व सहित संस्मरणीय व्यक्तियों के अंतरंग व्यक्तित्व उजागर हुए हैं, वहीं सर्वत्र सत्यता नज़र आती है। यह कहना यथोचित होगा कि वैयक्तिकता पर आधारित भावनाओं के द्वारा इन संस्मरणों में नई रूह का संचार करने का सफल प्रयास किया गया है। साथ ही मर्मस्पर्शी तथा कोमल अनुभूतियों ने लेखक के इन संस्मरणों को सशक्तता प्रदान की है। इसकी भाषा अति प्रांजल और चित्रात्मक है जो पाठकों को पढ़ने के लिए विवश करती है।

कहना नहीं होगा कि संस्मरणों का ये संकलन साहित्यकारों, पत्रकारों, कलाकारों, राजनेताओं तथा समाजसेवियों के जीवनानुभव, विचारधारा, रचनाधर्मिता, जीवन मूल्यों के प्रति उनकी दृष्टि, रचना प्रक्रिया इत्यादि के संबंध में विवरण प्रस्तुत करते हैं। दिवंगत साहित्यकारों, मनीषियों और महान चिंतकों-विचारकों पर लेखक ने जो संस्मरण लिखे हैं, उनका साहित्यिक महत्त्व तो है ही, रचनाकार की उस गहरी अंतर्दृष्टि से भी ये संस्मरण साक्षात्कार करते हैं, जो अपने परिवेशगत यथार्थ का छिद्रान्वेषण कर उसकी मार्मिक संवेदना को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

संकलन के पूरे संस्मरण को पढ़कर ऐसा लगता है कि अतीत की स्मृतियों को यथार्थ एवं भावुकता का पुट लिए इनमें से अधिकतर संस्मरण व्यक्तिपरक संस्मरण हैं जिनमें किसी व्यक्ति विशेष के प्रति श्रद्धा व सम्मान की भावना व्यक्त की गई है। यदि संबंधित व्यक्तित्व की विराटता देखनी है, तो इस संकलन के संस्मरण 'बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन': जो पत्रकारिता की कला साधना के वरदपुत्र थे' में देखे जा सकते हैं जिसमें लेखक ने बड़े मार्मिक ढंग से संस्मरणीय व्यक्तित्व के द्वारा देशवासियों में राष्ट्रीय चेतना का बीजारोपन करने के प्रयास का चित्रण किया है तथा देश, काल एवं पात्रों का प्रशंसनीय सामंजस्य करने की कोशिश की है। यह कहने की आवश्यकता

नहीं कि अधिकांश संस्मरणों में मानवतावादी स्वर मुखरित होता है और जो सूक्ष्मता तथा शब्द चयन की कला से परिपूर्ण हैं।

यद्यपि आत्मपरक अनुभूतियों को कुरेदने तथा उद्वेलित करने वाली घटनाएँ संस्मरण का आधार बन जाती हैं तथापि इन संस्मरणों में चिंतन की सूक्ष्मता, कल्पना का लालित्य, विचारों की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी इसका मूलाधार है। अधिकतर संस्मरण बिंबात्मक संबोधन से परिपूर्ण हैं और प्रामाणिक साक्ष्यों पर आधारित हैं। दूसरी बात यह है कि संस्मरण-लेखन में व्यक्तिगत, सामुदायिक और राष्ट्रीय पहचान की छटपटाहट महसूस की जाती है।

हिंदी के प्रबल समर्थक सिद्धेश्वर जी में निर्भयता, आत्मविश्वास कूट-कूटकर भरा है जिसका प्रभाव उनके संस्मरण-लेखन में भी देखने को मिलता है। खरी से खरी बात कहने में भी उन्हें कोई हिचकिचाहट नहीं होती है। उनकी निर्भीकता और स्पष्टवादिता की झलक उनके द्वारा संपादित पत्रिका 'विचार दृष्टि' के प्रायः सभी संपादकीयों में भी देखी जा सकती है। प्रस्तुत पुस्तकों में संकलित इनके संस्मरण उनकी प्रतिभा के परिचायक हैं। यह पुस्तक अतीत में वर्तमान की स्थापना है और उस वर्तमान के चित्र और पीड़ा के ऐश्वर्यमय रूप-रंग हैं। संस्मरणीय व्यक्तित्व को लेखक ने एक माध्यम बनाया है और अपनी अनुभूतियों से वर्तमान पीढ़ी को परितोषित तथा अनुप्राणित किया है। यह पुस्तक उनकी साहित्य साधना का अन्यतम उपहार और मानवता का उच्चतम पुरस्कार है, क्योंकि उन्होंने संस्मरणीय व्यक्तित्व के जीवन-जगत से संबंधित प्रगाढ़ चिंतन किया है। इनके लेखन से ऐसा जान पड़ता है कि साहित्य, पत्रकारिता और लेखन इनका पेशा बन गया है और इनके जीवन की शर्त भी। मौजूदा दौर में राजनीति के बदलते रंगढंग, आतंक, हिंसा और अस्थिरता के माहौल में सिद्धेश्वर जी जिस प्रकार अपने संस्मरण के ज़रिए लोगों के ज़ख़्मों पर रूई का फाहा रखने का प्रयास किया है उसकी संपुष्टि कश्मीरी साहित्य के रहमान राही की इन पंक्तियों से की जा सकती है;

'अपने भाग्य पर सवाल न करो, न अमृत की आस
जितने भी लम्हें मिलें हैं, खुशी से जिओ
मेरे शब्दों का कल कोई अर्थ हो न हो, कल ही तय करेगा
तुम्हारे जलते घावों को ठंढक पहुँचाए,
वे शीतल जल धाराएँ मैं लाता ही रहूँगा'

इस प्रकार कुल मिलाकर देखा जाए तो लेखक ने इसके माध्यम से

समाज के विभिन्न क्षेत्रों के उन व्यक्तित्वों से पाठकों को रूबरू कराया है, जो आज उनके आसपास नज़र नहीं आते। लेखक ने उनके जीवन से संबंधित घटनाओं को महसूस किया और उनका ताना-बाना बुनकर शब्दों में पिरोया है। संस्मरणीय व्यक्तित्व की विचारधारा को अपने शब्दों में पिरोने के क्रम में उनकी मान्यता रही है कि किसी भी विचारधारा में आरूढ़ निरंकुश तत्त्व ही उसे ले डूबते हैं। किसी भी विचारधारा को जब निजी महत्त्वाकांक्षा के दीमक चाटने लगते हैं, तो उसके अप्रासंगिक होने में समय ही नहीं लगता। ये यह भी मानते हैं कि श्रेष्ठता ग्रंथि से पीड़ित व्यक्ति आसानी से किसी को अपने सामने खड़ा स्वीकार नहीं कर पाते हैं।

सिद्धेश्वर जी यह भी मानते हैं कि जितने साहित्यकारों व पत्रकारों के संस्मरंण इन्होंने लिखे हैं, उनमें से अनेक लेखकों की समाज-सापेक्ष कृतियों का प्रभाव इनके जीवन पर पड़ा है और उन कृतियों के किसी एक बिंदु से यदि ये अत्यधिक प्रभावित हुए हैं, तो वह यह है कि जड़ता से मुक्ति में ही व्यक्ति की मुक्ति है। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक के लेखक दिल से स्वीकारते हैं कि इन संस्मरणीय व्यक्तित्वों ने इनकी चेतना, विवेक और संवेदना को अपने बड़प्पन और चारित्रिक दृढ़ता से सींचा है। प्रायः सभी संस्मरणात्मक निबंधों में इतनी सारी व्यापक सामग्री परोसने से यह पुस्तक इतनी महत्त्वपूर्ण हो गई है कि पढ़ने के पश्चात् पाठक इसे सहेजकर जमीन-जायदाद के दस्तावेजों की तरह रखेगा, ताकि उसकी अगली पीढ़ी इन्हें जानने हेतु कहीं और नहीं भटके। मैं सिद्धेश्वर जी के इस योगदान के प्रति हृदय से आभारी हूँ।

संस्मरणीय व्यक्तित्व की स्मृतियाँ प्रस्तुत पुस्तक में ताज़ा हवा के झोंके की तरह निर्मल हैं जिसको लेखक सिद्धेश्वर जी ने ज़ेहन में जगा दिया है। पुस्तक संस्मरणीय व्यक्तित्व की जीवनी ही नहीं, लेखक की ओर से उन्हें सच्ची श्रद्धाँजलि भी है। पाठक इस पुस्तक को बड़े मनोयोग से पढ़ेंगे और उनके लिए यह ख़ासी उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इतनी आकर्षक और उपयोगी पुस्तक के लिए लेखक को हमारी हार्दिक बधाई और दीर्घायु होने की कामना।

संपर्क:
27,वडिवेलिपुरम, वेस्ट माम्बलम्,
चेन्नई (तमिलनाडु)
दूरभाष : 044-24893095

डॉ. बालशौरि रेड्डी
अध्यक्ष, तमिलनाडु हिंदी अकादमी
पूर्व संपादक, 'चंदा मामा'
चेन्नई

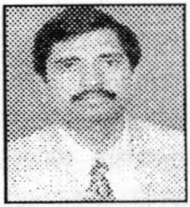

प्रकाशकीय

'हमें हलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' शीर्षक की इन दोनों पुस्तकों में कुल .... संस्मरणात्मक निबंध हैं, जो सब के सब सिद्धेश्वर जी के द्वारा ही लिखे गए हैं। साहित्य, पत्रकारिता, कला-संस्कृति, राजनीति तथा समाज-सेवा के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्यरत ऐसे अनेक व्यक्तियों की जीवन-झाँकी यहाँ प्रस्तुत की गई है, जिनसे लेखक का समय-समय पर साक्षात्कार होता रहा है। इनमें से कुछ विभूतियों से तो लेखक एक-दो बार ही भेंट कर पाए हैं, फिर भी उनकी अध्ययनशीलता, मेधा और उदारता की प्रशंसा लेखक ने की है। कई विभूतियों से तो लेखक की बड़ी अँतरंगता और आत्मीयता रही है और लेखक के अपने भावभीनी संबंधों का विवरण उक्त पुस्तकों में वर्णित हैं। इन पुस्तकों में जिन विभूतियों से लेखक के अँतरंग संबंधों का पता चलता है उनमें डॉ॰ शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव, बाबूराम सिंह 'लमगोड़ा',रजनीकांत सिंहा, शंकरदयाल सिंह, फणीश्वर नाथ रेणु, प्रो॰ श्यामनंदन शास्त्री, गोपी वल्लभ सहाय, भोला प्रसाद सिंह 'तोमर', डॉ॰ लक्ष्मीनारायण दुबे, डॉ॰ सहदेव सिंह 'पाचर', सुरेन्द्र प्रसाद सिंह, डॉ॰ रंगी प्रसाद सिंह 'रंगम', आत्माराम फौन्दणी, किशन पटनायक, वी. पी. सिंह, विशुद्धानन्द, डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार, डॉ. कुमार विमल, भोला प्रसाद सिंह, डॉ. बालशौरि रेड्डी तथा पी. के. सिन्हा आदि प्रमुख हैं। इन संस्मरणों को लेखक ने संवादपरक भाषा में लिखा है जो अपनी पठनीयता अंत तक बनाए रखते हैं।

इन पुस्तकों में सिद्धेश्वर जी संस्मरण-लेखक के साथ-साथ एक पत्रकार के रूप में भी दिखाई देते हैं। पत्रकार का काम दोधारी तलवार -सा होता है। वह समाज के समक्ष दर्पण रखता है। वह सत्य को यथार्थ की नग्न आँखों से देखने का साहस और सामर्थ्य लिए रहता है। उसका क्षेत्र अत्यंत व्यापक होता है। पुस्तक में सम्मिलित संस्मरणीय व्यक्तित्व के जीवन की सच्चाइयों को पाठक के सामने रखकर इन्होंने सराहनीय कार्य किया है, क्योंकि समाज के विभिन्न क्षेत्रों की विभूतियों को जन-जन तक पहुँचाकर उन्हें व्यवस्थित भविष्य दिया है। लेखक के पास चिंतन है और उसकी अभिव्यक्ति की शक्ति भी। इसलिए वे एक सुलझे साहित्यकार भी हैं। पत्रकार और

साहित्यकार का संबंध जितना पुराना है उतना ही गहरा भी है। अतीत में झाँककर देखें, तो जहाँ प्रेमचंद 'हंस' से, 'निराला' समन्वय, 'मतवाला' और 'रंगीला' से, शिवपूजन सहाय तथा नलिन विलोचन शर्मा 'साहित्य' से, अज्ञेय 'दिनमान' से मोहन राकेश 'नई कहानियों' से, कमलेश्वर 'सारिका' से, धर्मवीर भारती 'धर्मयुग' से तथा ज्ञान रंजन 'पहल' से जुड़े रहे। महीप सिंह 'संचेतना' से, रवीन्द्र कालिया और ममता कालिया 'वागर्थ' से, नमिता सिंह 'वर्तमान साहित्य' से तथा राजेन्द्र यादव 'हंस' से जुड़े रहे हैं। इसी प्रकार संस्मरण के लेखक सिद्धेश्वर जी ने दिल्ली से प्रकाशित 'विचार दृष्टि' का संपादन कर उसे नई ऊँचाई दी है और उसके माध्यम से जन-चेतना के साथ-साथ देशवासियों में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने के लिए वैचारिक पहल की है। उन्होंने समाज की नब्ज़ को पहचाना है। उनकी बौद्धिक-सामाजिक-क्रांति ने नि:संदेह समकालीन समाज के समक्ष प्रकाश-स्तंभ का कार्य किया है। संस्मरणात्मक निबंध संग्रह की ये दोनों पुस्तकें 'हमें अलविदा ना कहें' और 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में' उसी की एक कड़ी है। इन पुस्तकों के संस्मरणीय व्यक्तित्वों के जीवन के बल पर जनमानस को दर्पण में प्रतिबिंबित होने का अवसर प्रदान करता है। सामान्य जन में लेखक ने आत्मविश्वास का संचार करने का सफल प्रयास किया है। उन्होंने इन संस्मरणीयों के ज़रिए यह बताने की चेष्टा की है कि यदि आचार, शील, निष्ठा जैसी संपदा हमारे पास है तो फिर पाखंडी आडंबर के पीछे भटकने से क्या फ़ायदा? मानव-जीवन की दुर्लभता बताते हुए उसे सार्थक करने पर लेखक ने काफ़ी ज़ोर दिया है। जाति-धर्म के निरर्थक बाह्याचार की निंदा करते हुए लेखक ने जीवन के मर्म को पहचाना है। पुस्तक में सम्मिलित संस्मरणीय व्यक्तित्व के जीवन से भ्रमित समाज के कर्त्तव्याकर्त्तव्य, औचित्य-अनौचित्य का पूरा पाठ पढ़ाते हुए लेखक ने समाज के विघटन, विचारहीनता तथा आचारहीनता को समाज के लिए कोढ़ माना है। पारदर्शिता और साफ़गोई से भरी जनचेतना की बातें हमें तुरंत स्वत्वबोध कराती हैं, सावधान कर देती हैं। वे मात्र आदर्शमयी नहीं, बल्कि याथर्थ चेतना से समन्वित हैं, सदाचारप्रेरित हैं।

सूक्ष्म निरीक्षण में लेखक माहिर हैं। संस्मरण में शामिल व्यक्तियों के जीवन की छोटी-से-छोटी बात और छोटी-से-छोटी घटना को इस गहराई और सुंदरता के साथ उन्होंने प्रस्तुत किया है कि पढ़ते बनता है। उनके घर की पारिवारिक समस्याएँ तथा उनके ऊपर अत्याचार और शोषण आदि अनेक समस्याओं का सफल और मार्मिक चित्रण किया गया है। इस पुस्तक की

भाषा का अपना महत्त्व है। भाषा पूरी तरह साहित्यिक तो है ही इसकी शब्दावली भी सहज और सरल है। लेखक ने अलंकारों को बड़ी ख़ूबसूरती के साथ संजोया है। वह नगीने की तरह जड़े नज़र आते हैं। इस पुस्तक से एक जुझारू लेखक के लेखन और सरोकार का पता चलता है। इस संकलन में संकलित संस्मरणात्मक निबंधों के माध्यम से लेखक ने साहित्य, संस्कृति, राजनीति तथा समाज से जुड़ी महान हस्तियों के वैचारिक-साहित्यिक एवं सांस्कृतिक पक्ष की जबर्दस्त पड़ताल की है। टिप्पणियों से गुज़रते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के पास एक दुर्लभ क़िस्म का सिविक सेंस है, जो न केवल इसकी हैसियतों के गिरेबां में झाँकता है, बल्कि पाठक को भी अपने गिरेबां में झाँकने को प्रेरित करता है।

एक आम धारणा है कि साहित्यकार और पत्रकार अतिसंवेदनशील प्रकृति के होते हैं, उनका एक मात्र धर्म इंसानियत होता है। इस पुस्तक के संस्मरणात्मक निबंधों को पढ़ने से ऐसा लगता है कि कहीं-न-कहीं संस्मरणीय व्यक्तियों के संघर्ष इस कठोर सत्य की पुष्टि करते दिखते हैं। कारण कि राजनीति, साहित्य और कला के क्षेत्र में संपन्न इनके कार्यकलापों में जहाँ अनेक उद्यम गहराई और कुशलता के नए पैमाने मिलते हैं, वहीं उनके व्यक्तित्व में आत्मविश्वास और महत्त्वाकांक्षाओं का समुद्र भी ठाठें मारता नज़र आता है। इन विभूतियों ने हमेशा अपने जीवन में चुनौतीपूर्ण निर्णय लिए और सफल हुए।

दरअसल लेखक ने संस्मरणीय व्यक्तित्वों के माध्यम से यह बताने का सफल प्रयास किया है कि अपने लिए जीवन जीना ही सर्वस्व नहीं है, दूसरों के लिए समाज व देश हित में जीवन जीने की अलग-अलग ही सार्थकता है। जैसा कि इस पुस्तक में शामिल कई हस्तियों के जीवन से यह स्पष्ट होता है कि विपरीत परिस्थितियों में भी अपने आदर्शों पर अडिग रहने वालों ने इतिहास बनाए और बँधुता, समता एवं अपनेपन के आधार पर वे सामाजिक संरचना तथा सबल राष्ट्र के निर्माण में लगे रहे। इस दृष्टि से देखा जाए तो लेखक की संस्मरण परंपरा का यह ऐसा विश्वसनीय दस्तावेज़ बन पड़ा है जो तथ्यों और संस्मरणीय हस्ताक्षरों के जीवन से जुड़ी सामग्रियों का संग्रह तो है ही, मूल्याँकन का नया मानदण्ड भी है। लेखक ने भारत की महान विभूतियों की न केवल मूल्य-मीमांसा की है, बल्कि उनके साहित्य, सांस्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक संदर्भ में प्रासंगिक मूल्यों की व्याख्या भी की है। इसमें युग यथार्थ और सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थिति का

प्रतिबिंब है। इसलिए यह रचना निश्चय ही यथार्थवादी और महत्त्वपूर्ण है।

कला पक्ष की दृष्टि से भी ये दोनों पुस्तकें सफल कही जा सकती हैं, क्योंकि भाषा सरल और प्रवाहमान है। उसमें भाव संप्रेषणीय है। इसे आम पाठक भी समझ सकता है। हमें अच्छी और सशक्त भाषा के जो दर्शन होते हैं, उनमें से कुछ इन पंक्तियों में दृष्टव्य है –

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि संस्मरण में एक ओर ओजस्वी वर्णन में जहाँ पूर्ण समरसता है, तो सामान्य वर्णन में पूर्णत: सम रसमयता का वातावरण निर्मित हुआ है। वर्णन में कहीं असमंजस नहीं है, जिसके कारण पाठक-वृंद संस्मरण का रसास्वादन करने में समर्थ हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि रचना सहृदयों को हृदयग्राही लगेगी और हृदयग्रही भी जिसके परिमाणस्वरूप यह संपूर्ण राष्ट्र के लिए उन्नायक सिद्ध होगी। लेखक की सरसता, सहृदयता एवं सरलता से युक्त उनका यह साहित्य 'हमें अलविदा ना कहें' उनके नाम 'सिद्धेश्वर' को अक्षरश: चरितार्थ करता है और इसकी सार्थकता भी सिद्ध होती है। इन पुस्तकों में जिन विद्वत्जनों और सम्मानीयों के संस्मरण है उन सबके प्रति नत हो हम इसे प्रकाशित करने को इसलिए अग्रसर हुए कि हमारे वह विद्वान जो इतिहास में विस्मृत हैं उनकी स्मृति में कम-से-कम इस पुस्तकों के द्वारा उन्हें विस्मृति के गहर से बाहर जा कर हम दीप जलाएँ उनकी स्मृति का और उनकी सीख पाथ्य बने हम सबके जीवन पथ का। हमने यह महसूस किया कि मानवता के नाते हमारा दायित्व है कि हम अपने श्रेष्ठजनों के लिए कुछ करें चाहे उन पर पुस्तक प्रकाशित कर ही सही। इन पुस्तकों में लेखक के द्वारा सहेजी गई उनकी भूली-बिसरी स्मृतियों को प्रकाशित कर हम उन महानुभावों के प्रति श्रद्धावनत् हो सकते हैं, इसके प्रकाशन के पीछे यही कोशिश रही है।

सुधीर रंजन

प्रकाशक

सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन

गली नं.-55, लक्ष्मीनगर, दिल्ली-110092

खंड-एक

साहित्यकार

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर : जिन्होंने भारतीय संस्कृति को नया रूप दिया

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की वर्ष 2010 में 150वीं जयंती के अवसर पर जब हम उन्हें याद करते हैं, तो उनके बचपन से लेकर महाप्रयाण तक की सारी स्मृतियाँ जीवंत हो जाती है। शांति निकेतन के निर्माण संबंध ी उनकी भावनाएँ विश्वभारती के विश्वविद्यालय के रूप में स्थापित होने की घटना सभी एक साथ मानस-पटल पर उभर आते है।

वेदना से कविता का आदिकालीन रिश्ता कविगुरु के साथ भी दुहराया गया है। सन् 1902 में पत्नी मृणालिनी व अगले साल जवान पुत्री रेणुका की मौत से उपजी दु:खद मन: स्थिति में कवि टैगोर ने सन् 1903 में सुप्रसिद्ध गीत 'केनो रे एई दुआर टुकु पार होते संशय............' लिखा। गीत की चर्चा के वक्त रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजली' की चर्चा हम न करें तो यह चर्चा अधूरी रहेगी। इस अमरकृति के लिए उन्हें सन् 1913 में साहित्य का नोबेल पुरस्कार मिला। इस संबंध में खास बात यह है। कि 2010 में 'गीतांजली' की रचना के सौ साल पूरे हुए है।

जहाँ तक गुरुदेव के नाटकों, लघु कथाओं, लेखों व उपन्यासों का संबंध है, 'बौ ठाकुरानीर हाट' में चाहे पारिवारिक जीवन हो, 'चोखेर बाली' में मानव संबंधों की जटिलता चाहे 'गोरा' में अँग्रेज-भारतीय संघर्ष हो या 'शेषेर कविता' की सामाजिक अखंडता, गुरुदेव की कलम जीवन के समस्त आयामों को समेटने में सफल रही। उन्होंने अपनी पहली रचना 16 साल की उम्र में लिखी जो 'भिखारिनी' कहानी थी। उन्हों 'चंडालिका', 'विसर्जन', 'वाल्मीकी प्रतिमा' आदि नाटक भी लिखे। उनकी अपनी मृत्यु की आशंका से प्रेरित एक नाटक 'डाक तो 'विसर्जन' की मंच प्रस्तुति में उन्होंने स्वयं अभिनय भी किया १

दृष्टि से उपर भी देखने की एक धारा है जो हमारी चेतना को जगाता है। यह है चित्र जगत। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर का मानना था कि अधिकांश लोग ठीक से देख नहीं सकते। उन्हें प्रत्यक्ष देखने का आनंद का देने के लिए चित्रकारों का जन्म होता है। भतीजे अवनिद्रनाथ ठाकुर के चित्रों को देख गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर रेखाओं के संसार की ओर आकर्षित हुए। वे एक दिन में तीन-चार चित्र बना लेते थे, ठीक उसी तरह जैसे तीन-चार गीत तैयार कर लेते थे। इस प्रकार भारतीय संस्कृति को उनके द्वारा एक नया रूप मिला।

सन् 1941 के जुलाई में स्वास्थ्य खराब होने पर गुरुदेव को बेलापुर से कोलकाता स्थिति जोड़ा सांकी के ठाकुरबाड़ी लाया गया। बचपन में जिस बेलापुर आने के लिए उन्होंने पहली बार रेलगाड़ी में सफ़र किया, उसी बेलापुर से कोलकाता का यह सफ़र उनकी अंतिम रेलयात्र साबित हुई। 7 अर्गस्त 1941 को उन्होंने यही अपनी साँस ली। लेकिन जाते-जाते इस महान रचनाकार ने उखड़ती साँसों के सहारे ही एक रचना 'तोमार सृष्टिर पथ रेखोछे आकीर्ण' कर दी।

गुरुदेव का पटना से पुराना रिश्ता रहा है। पहली बार वे यहाँ 16 मार्च, 1936 को आए थ। उन्होंने भागलपुर, मुँगेर, गया, मुजफ़रपुर एवं गिरीडीह की यात्र की थी। सन् 1948 में ही राजधानी पटना में उनकी स्मृति में रविन्द्र परिषद् की स्थापना की गई थी। तब से आजतक यह गुरुदेव के बताए रास्ते पर चलकर रविन्द्र संस्कृति बिखेर रही है।

गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर इस देश के एक ऐसे साहित्यकार हुए, जिन्होंने भारतीय साहित्य, संस्कृति, कला और समाज को अनुकरणीय दिशा-दृष्टि दी। इसलिए उन्हें केवल बांग्ला का साहित्यकार मानना उनके प्रभाव और योगदान को कम करके देखना है। हाँ, इतना जरुर है कि गुरुदेव ने बंगाल के नवजागरण को अखिल भारतीय नवजागरण की प्रक्रिया से जोड़ने का प्रयास कर उसे विस्तार दिया। बंगाल नवजागरण को हिंदू नवजागरण से जातीय नवजागरण की ओर उन्मुख करने में उनकी इस मायने में महती भूमिका रही है कि टैगोर से पहले के नवजागरण में भारतमाता की जगह बंग माता का प्रयोग होता था। बंगाल के सुप्रसिद्ध साहित्कार बंकिमचन्द्र चटर्जी भी प्राय: बंगाल चेतना तक सीमित थे। बंगाल नवजागरण अपने आरंभिक दौर में हिंदू नवजागरण अधिक था। 19वीं सदी के मधय में बंगाल में आयोजित मेला को पहले हिंदू मेला कहा जाता था। जिसे टैगोर के आने के बाद जातीय

मेला कहा जाने लगा। यही नहीं उन्होंने समाज के सवालों से राष्ट्रीय नवजागरण को जोड़ा मुसलमानों को जोड़ने का प्रयास किया और अपनी रचनाओं के माध्यम से किसानों, स्त्रियों और दलितों की समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया तथा इस रूप में राष्ट्रीय आंदोलन की दृष्टि का विस्तार किया।

रवीन्द्रनाथ टैगोर जनता के कवि थे। पराधीन भारत में उन्होंने गरीब किसानों के जीवन स्तर को बेहतर बनाने के सोच को जिस प्राकर कार्यान्वित किया, वैसा कार्य उस समय किसी ने नहीं किया। इस कार्य ने उनकी प्रतिभा को ऊर्जस्वित किया। टैगोर भारतीय परंपरा के अनुरुप शिक्षा को बहुत महत्त्व देते थे। भारतीय परंपरा और शिक्षा को बहुत महत्त्व देते थे। भारतीय परंपरा के अनुरूप शिक्षा को विकसित करना उनका महान उद्देश्य और सपना था। इसके लिए उन्होंने प0 बंगाल में शांति निकेतन की स्थापना की जहाँ शिक्षा को लेकर उन्होंने सिर्फ-सैद्धांतिक बातें नहीं की बल्कि व्यावहारिक धरातल पर उसे ठोस रूप देने का प्रयास भी किया।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बांग्ला साहित्य को भारतीय साहित्य से जोड़ने का प्रयास किया। वस्तुत: वे भारतीय साहित्य और बांग्ला साहित्य के बीच महत्त्वपूर्ण कड़ी थे। उन्होंने कबीर की कविताओं का अँग्रेजी अनुवाद किया। सूर और तुलसी पर कविताएँ भी लिखीं। विद्यापति से भी वे काफी जुड़े रहे। उस वक्त विद्यापति मैथिली से अधिक बांग्ला के ही कवि माने जाते थौ टैगोर ने कुछ कविताएँ ब्रजबोली में भी लिखी। हिंदी को बांग्ला से जोड़कर एक तरह से उन्होंने हिंदी के महत्त्व को नए सिरे से रेखांकित किया।

कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर भारतीय अस्मिता, प्रखरता एवं सांस्कृतिक गरिमा के कवि थे। मानवीयता, राष्ट्रीयता एवं सहजता उनके काव्य का प्रमुख स्वर है। जीवन के प्रति उनकी आश्वस्ति सूर्योदयी तेजस्विता की प्रतीति है। भारतीय स्वाधीनता संग्रामियों को प्रेरण और प्रोत्साहन देने वाले विश्वकवियों में वह अकेले और अद्विती है। वह अति सहज भाव से निम्न पंक्तियों में उन्हें बार-बार स्मरण दिलाते है:-

इस अभागे देश में, हे नाथ मंगलमय
करो तुम दूर सब भवजाल ओछे
छिन्न कर दो लोक से, रुद्र, वह पाषाण का-सा भार
दुर्बल-दीन स्कंधारुढ़ चिर वेषणव्यथा की मार

गुरुदेव को मानव की जय यात्रा पर अखंड विश्वास है। वह

युग द्रष्टा हैं और जीवन की उच्छल प्राणधारा में अडिग विश्वास की छवि देखते हैं। उनकी देशभक्ति असंदिग्ध रूप से भारतमाता की शाश्वत अभिनंदन है। कवि की 'दिव्य स्वातंत्र्य' शीर्षक रचना में जागरण का निम्न स्वर प्रस्फुटित हुआ है:-

जहाँ हृदय में निर्भयता है, और मस्तक अन्याय के,
सामने नहीं झुकता, जहाँ ज्ञान का मूल्य नहीं लगता।

'माटी-मंदिर' टैगोर की सर्वाधिक चर्चित रचना है जिसमें वह भक्त के पूजन-आराधन से अलग हटकर कृषक एवं श्रमिक में भगवान के दर्शन पाते है:-

प्रभु तो वहाँ जहाँ मिट्टी को कृषक स्वेद से सींच रहा,
शिला तोड़कर श्रमिक जहाँ पर पथ की रेखा खींच रहा।

कवि गुरुदेव ने हिंदी के उत्कर्ष के लिए शांति निकेतन में हिंदी भवन की स्थापना की। हिंदी के प्रति उनका गहरा अनुराग था, क्योंकि वह जानते थे कि यह भारत के कोटि-कोटि निवासियों के सुख-दुख की भाषा है जिसे संस्कृत, प्राकृत, अरबी-फारसी और अँग्रेजी भाषाओं की सान्निध्य-शक्ति मिली, लोकवाणी है। वह अपने जीवन में बहुत दुखी थे, क्योंकि शासकों ने हिंदी को आदरपूर्वक विश्वविद्यालय शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया था। उन्होंने बड़े दुखी मन से कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपाधि वितरण समारोह पर प्रार्थना की थी:--'मैं अपनी प्यासी मातृभाषा की तरफ से अपने ही देश के विश्वविद्यालय के द्वार पर खड़ा चातक के समान उत्कंठित वेदना के साथ प्रार्थना करता हूँ। तुम्हारे ब्रजभेदी शिखर को घेरे हुए जो पुंज के पुंज श्यामल मेघ घूम रहे हैं, उनका प्रसाद आज फलों और शस्यों पर बरसने दो, पुष्पों और पल्लवों से वसुंधरा सुंदर हो उठे मातृभाषा का अपमान दूर हो। युग शिक्षा की उमड़ती हुई धारा हमारे चिंतन की सूखी नदी के रेतीले मार्ग से बाढ़ के समान बह निकले। दोनों तट पूर्व चेतना से जाग उठें, घाट-धाट पर आनंद ध्वनि मुखरित हो उठें।'

दरअसल, रवीन्द्रनाथ टैगोर का व्यक्तित्व जितना बड़ा था उनकी कविताओं का उतना ही व्यापक प्रभाव पड़ा। उनकी रचना 'घरेल बाहरे' से बहुत समय तक जैनेन्द्र की सुनीता से तुलना होती रही। उनके पचास से अधिक कहानी संग्रह सौ से अधिाक लघु कहानियाँ, बारह उपन्यास, तीस से अधिक नाटक, दो सौ से अधिक निबंध और तकरीबन दो हजार कविताएँ आज भी जींवत स्त्रोत के रूप में हमारा मार्ग दर्शन कर रही है। रचनाकारों को उन्हें इस रूप में भी याद करना चाहिए कि बड़ा रचनाकार

वही होता है जो अपने समय की समस्याओं, चुनौतियों, विसंगतियों विद्रुपताओं, दुविधाओं तथा दबावों आदि से जूझते हुए अपनी चेतना निरंतर विकसित करता है। हिंदी साहित्य के महान कवि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर की प्रतिभा को रेखांकित करते हुए लिखा:-''रवीन्द्रनाथ अपने भाव की नि:स्वार्थ प्रेरणा से संसार को पुकार कर जागरण का संगीत सुन रहे है। यदि कुछ और तह तक पहुँच कर कवि की इस पुकार की छान-बीन की जाए, तो हम देखेंगे कि यह कवि की उसी प्रतिभा की पुकार है....

यह निर्जीवों को जिला देने के लिए पद-दलितों में उत्साह की आग भड़काने के लिए नग्न हृदयों को आशा की सुनहरी छटा दिखाने के लिए सदा ही ज्यों कि त्यों बनी रहेगी। यह अपने आनंद की ध्वनि है, किंतु इसमें दूसरें भी अपना प्रतिबिंब देख लेते हैं।...............इससे देश का भी कल्याण होता है और विश्व का भी। यही इसकी विचित्रता है और यही इसका सौंदर्य-अनूठापन।''

भारतीय आकाश में विजय शब्द को गूँजने का स्वप्न कवि गुरु रवीन्द्रनाथ ने देखा। इसी स्वप्न ने उन्हें विश्व स्तर पर उत्पीड़ितों-वंचितों के पक्ष में खड़ा किया। मानवतावाद का इतना बड़ा आह्वान और कहीं दूसरी जगह देखने को नहीं मिलता है। लेखकीय कर्त्तव्य के संबंध में रवीन्द्रनाथ का आह्वान अपने आप में बेमिसाल और अतुलनीय है। उनकी रचनाएँ साम्राज्यवाद, फासीवाद और सामंतवाद के खिलाफ शंखनाद करती है। इस महान कवि ने जापान के फासिस्ट नागची की सिर्फ कड़ी भर्त्सना ही नहीं की बल्कि उन्होंने फासिस्ट आतंक के विरुद्ध विश्व प्रेम का संदेश दिया। वे न तो शुद्ध राष्ट्रवाद के समर्थक थे और न उग्र राष्ट्रवाद के। वे सभ्यताओं और राष्ट्रों के बीच संघर्ष की जगह सहयोग के पक्षधर थे। इस मसले पर महात्मा गाँधी के साथ उनकी मतभिन्नता जगजाहिर है। राष्ट्रवाद पर उनके वक्तव्यों का संग्रह पुस्तक के रूप में आ चुका है। उनका गोरा उपन्यास राष्ट्रीय नवजागरण के दौरान शुद्धता और अशुद्धता के प्रश्न को जोरदार ढंग से उठाता है। उनका मानना है कि शुद्धता के आधार पर कभी-भी बेहतर राष्ट्र का निर्माण संभव नहीं है।

कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें सच और अनुभव को कहने का ऐसा साहस था जो बहुत कम लोगों में होता है। वे अपने विचारों को अभिवक्त करने में कभी पीछे नहीं रहें। इस संदर्भ में गाँधी के साथ उनका मतभेद सबसे सुंदर उदाहरण है, हालांकि गाँधी के प्रति उनके मन में काफी सम्मान था। गाँधीजी को महत्मा

कहकर टैगोर ने ही संबोधित किया था। बावजूद इसके उन्होंने असहयोग, अवज्ञा जैसे राष्ट्रवाद की गाँधीवाद अवधारण के प्रति अपने असंतोष जैसे राष्ट्रवाद की गाँधीवादी अवधारणा के प्रति अपने असंतोष और असहमति को बिना संकोच अभिव्यक्त किया।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जिस संग्राम का उद्घोष किया है उस संग्राम में अशांति नहीं शांति नजर आती है। यह बिना अस्त्रों की लड़ाई और सत्य की विजय है। इससे अमीरों का धन-दर्प चूर्ण हो जाता है। उन्होंने हमेशा जनता से अटूट संबंध स्थापित करने पर जोर दिया, तभी तो उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ के दूसरे अधिवेशन में लिखित संदेश में कहा था:-"जनता से अलग रहकर हम बिल्कुल अजनबी बन जाएँगे, साहित्यकारों को मनुष्यों से मिलजुल कर उन्हें पहचानना है।. मेरी चेतना का तकाजा है कि मानवता और समाज से लगाव रखना चाहिए और प्रेम करना चाहिए। अगर साहित्य मानवता से तादात्मय स्थापित न कर सका, तो वह अपने तक्ष्य और आकांक्षओं को पाने में विफल रहेगा। यह सत्य मेरे दिल में उस चिराग की तरह रोशन है, जिसे कोई दलील या तर्क-वितर्क बुझा नहीं सकता।" कवि रविन्द्र का वाणी का यही ओज है जिसने साम्राज्यवाद के विरुद्ध आम लोगों में जागरूकता उत्पन्न की। उनकी राष्ट्र भावना और विश्वभावना के अंतर्गत विश्व मानव का दर्शन होता है। उनकी संवेदनशीलता असीम है। मानव के प्रति अपरिसीम स्नेह उनके हर शब्द में संचित है। अत्याचार चाहे अपने देश में हो या विदेश में उनकी लेखनी प्रश्न उठाने को बाध्य हुई और उत्पीड़ितों के पक्ष में वे उठ खड़े हुए। यही कारण है कि उन्होंने उपनिवेशवाद, वर्णविद्वेष अँधराष्ट्रवाद, युद्ध और हमलावार नीतियों के विरुद्ध न केवल संघर्ष की घोषणा की, बल्कि पूरी दुनियाँ में मानव सभ्यता विरोधी और इस तरह की असंख्य प्रवृत्तियों के विरुद्ध अनवरत संघर्ष की घोषणा की, बल्कि पूरी दुनियाँ में मानव सभ्यता विरोधी और इस तरह की असंख्य प्रवृतियों के विरुद्ध अनवरत संघर्ष करने की एक ऐसी फौज तैनात की, जिसकी जय यात्रा कभी नहीं रूकेगी। उल्लेख्य है जिस वक्त स्पेन, चीन, असीसीनिया और चेकोस्लोवाकिया में जिस प्रकार फासिस्टों के हमले हो रहे था, उन हमलों के खिलाफ विश्व स्तर पर मानवता एकजुट होने की आवाज दे रही थी, महान चिंतक रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उस समय 'लीग एगेन्स्ट फासिज्म एंड वार' की भारतीय शाखा की अध्यक्षता करते हुए फासीवाद के खिलाफ आम लोगों से एकजुट होने का आह्वान किया। अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न, लूट-शोषण और आतंक के

विरुद्ध रवीन्द्रनाथ ने जो समझौताहीन संग्राम शुरू किया था, आज जब पूरी दुनिया में आतंकवाद और नक्सलवाद का साम्राज्य है, उनकी इस पहल को बार-बार याद करने की आवश्यकता है। उनका मानना थाकि पूँजीवाद से ही वर्गीय विषमता फैलती है इसलिए पूँजीगत वर्गीय विषमता दूर होने से ही सही रूप में मानव-मर्यादा की स्थापना होगी। स्वदेश की कल्याण-कामना ही उनकी महत्ता है। जालियाँवाला बाग की वजह से उन्होंने नाईट की पदवी लौटा दी। इस अवसर पर 29 मई, 1919 को एक खुली चिट्ठी लिखते हुए उन्होंने कहा:-"मैं अपने संबंध में यह कहना चाहता हूँ कि जो स्वदेशवासी असहाय, अकिंचित और असम्मान बर्दाश्त कर रहे हैं, मैं उनके साथ सारे सम्मान को त्याग कर खड़ा हूँ।" इसी तरह जब अक्टूबर, 1924 में सुभाष चंद्र की गिरफ्तारी होती है, तब कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने दिजेन्द्रनाथ को पत्र लिखते हुए कहा था कि जो भय को मानता वही भय को जिंदा रखता है। जो मृत्यु से बचना चाहता है, मृत्यु भी उसे खींचती है। जो मृत्यु के लिए अपना हृदय खोल देता है, वही बचना जानता है। 'सच का आह्वान' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा-"मनुष्य के अंत:करण का धर्म यही है किं वह परिश्रम से केवल सफलता नहीं, बल्कि आनंद भी प्राप्त. करता है।" आज के दौर में कवि व चिंतक रवीन्द्रनाथ टैगोर का मूल्याँकन संघर्षशील व्यक्यिों को एक नई दिशा देगा। इसलिए समय की माँग है कि उनकी वाणी और अभिव्यक्ति को जन-जन तक पहुँचाया जाए तथा उनके साहित्य की चर्चा में अधिक से अधिक लोगों को शामिल करने का प्रयास किया जाए, क्योंकि आज विश्व मानवता खतरे में है जिसकी रक्षा के लिए कवि रवीन्द्र के बताए रास्ते पर चलना समीचीन होगा।

कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का लिख गीत 'जन गण मन अधि नायक जय हे, भारत भाग्य विधाता..........को इस देश की संसद ने बहुमत से राष्ट्रगान ने रूप में स्वीकार किया। अनेक सांसदों का मत था कि 'वंदे मातरम' गीत, जो बांग्ला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार बंकिमचंद्र चटर्जी के बहुचर्चित उपन्यास 'आनंदमठ' में आया है, को राष्ट्रगीत का स्थान दिया जाए। इस गीत को राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बंग-भंग आंदोलन के समय प्राप्त हुई। देश के मुस्लिम समुदाय के द्वारा 'वंदे मातरम' गीत का प्रारंभ से विरोधा होने लगा था। उनका तर्क यह था कि इस गीत में दुर्गा, सरस्वती और लक्ष्मी आदि देवियों की स्तुति की गई है जो इस्लामी सिद्धांतों के अनुकूल नहीं है। इन्हीं अनेक कारणों से कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर लिखित गीत 'जन गण मन........' को

राष्ट्रगान के रूप में स्वीकार किया गया। इस गीत की रचना कवि गुरु टैगोर ने सन् 1911 में की थी। टैगोर ने इसे भारत की विविध सांस्कृतिक इकाइयों के रूप में देखा था, न कि बाद में बनी भौगोलिक इकाइयों के रूप में।

यह धारणा भी बहुप्रचलित है कि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने यह गीत सम्राट जार्ज पंचम की दिल्ली आने पर उनकी प्रशस्ति में लिखा था। टैगोर के जीवन काल में ही उनसे यह प्रश्न पूछा गया था। उसे समय उन्होंने इसका पूरी तरह प्रतिवाद किया था। उसे समय शब्दों में:-''जो लोग मुझे इतना बड़ा मूर्ख समझते हैं कि मैं जार्ज चतुर्थ या पंचम की स्तुति करूँगा, यदि मैं उन लोगों को उत्तर देने की चिंता करूँ तो यह मेरा अपमान होगा।''

'तत्वबोधिनी' पत्रिका में, जिसके संपादक रवीन्द्रनाथ टैगोर स्वयं थे, 'भारत भाग्य विधाता' शीर्षक से यह गीत जनवरी, 1912 के अंक में पहली बार प्रकाशित हुआ था। सच तो यह है कि राष्ट्रगीत को संपूर्ण राष्ट्र का बहुविध प्रतिनिधित्व करना चाहिए। उसकी भैगोलिक व्यापकता के साथ उसमें संपूर्ण जनता की भावनाओं का प्रतिबिंब झलकना अपेक्षित होता है। 'जन गण मन' में बड़ी सीमा तक इस अपेक्षा की पूर्ति होती है। देश का जन गण ही देश का अधिनायक है, वही इसके भाग्य का निर्माता है। यह जन सारे राष्ट्र में व्याप्त है-पंजाब, सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र, द्रविड़ प्रदेश देश के तीन ओर समुद्र की तरंगों से भरा हुआ, इस संपूर्ण राष्ट्र की सदा जय हो। इस राष्ट्र की संपूर्ण चिंता में एकता की आकांश तो है, पर एकरूपता को यहाँ प्रश्रय नहीं है। हमारा राष्ट्रगान इसी विविधता को व्यंजित करता है। हमारी राष्ट्रीयता की अवधारणा में इसकी विविधता मूल मंत्र है। यही उसकी वास्तविकता है। इस वस्तुस्थिति को जितना हम आत्मसात करेंगे, उतना ही राष्ट्र की अवधारण को सुदृढ़ करेंगे।

भारतीय रेल ने कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर को श्रद्धांजलि अर्पित करने के ख्याल में पिछले 9 मई, 2010 से प्रदर्शनी गाड़ी 'संस्कृत एक्सप्रेस' चलाकर एक सराहनीय कार्य किया है। गुरुदेव के जीवन से संबंधि त अनेक दुर्लभ तस्वीरों से सुसज्जित प्रथम कोच का नाम 'जीवन स्मृति' गुरुदेव द्वारा लिखित कविताओं एवं गीतों को विशिष्ट अंदाज में दूसरे कोच 'गीतांजलि' में प्रस्तुत किया गया तथा तीसरे कोच 'मुक्तोधारा' में कविगुरु के उपन्यास एवं कहानियों का संसार और चौथे कोच 'चित्ररेखा' में रवीन्द्रनाथ टैगोर पेंटिग रखे गए। पाँचवें कोच 'चित्ररेखा' में रवीन्द्रनाथ टैगोर पेंटिंग रखे गए। पाँचवें कोच 'शेष कथा' में कविगुरु की अंतिम यात्रा से संबंधित तस्वीरें

रखी गई जिसके लिए रेल मंत्री ममता बनर्जी बधाई की पात्र हैं। इसी प्रकार भारत सरकार ने नई दिल्ली के राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय में 'द मास्टर्स स्ट्रोक्स आर्ट रवीन्द्रनाथ टैगोर' शीर्षक प्रदर्शनी का आयोजन कर उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना श्रेयष्कर माना जाएगा।

कवि, नाटककार, दार्शनिक, शिक्षाविद् और संगीतकार के रूप में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगौर की ख्याति तो पहले से ही थी, लेकिन उन्होंने पेंटिंग 60 साल की उम्र के बाद शुरु की और जीवन के आखिरी 17 वर्षो में 3000 से ज्यादा तैलचित्र और रेखाचित्र बनाए। टैगोर ने पेंटिंग को अपने बेचैन और कल्पनाशील मन को अभिव्यक्ति करने का एक और माध्यम बनाया। उन्होंने पेंटिंग की कोई औपचारिक शिक्षा नहीं ली, मगर उनके चित्रों में बेजोड़ लयात्मकता और सूक्ष्म कल्पनाशीलता दिखाई देती है। भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय के सहयोग से विश्व भारती टैगोर के तैलचित्रों और रेखाचित्रों के एक संकलन का प्रकाशन उनकी 150वीं जयंती पर तथा विश्व भारती, संस्कृति मंत्रालय और राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय के संयुक्त तत्वावधान में अगले साल यानी 2011 में गुरुदेव की पेंटिंग की प्रदर्शनी का आयोजन पेरिस में करने की योजना को प्रशंसनीय कहा जाएगा।

कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर साहित्य के एक ऐसे महामानव थे जिनके द्वारा साहित्य, राजनीति, गायन और व्याख्यान के क्षेत्र में किए गए कार्य से न केवल बंगाल, बल्कि भारत भी दुनिया के सांस्कृतिक नक्शे पर स्थापित हो गया। राजनीति में वे महात्मा गाँधी के समकक्ष थे। वे एशिया मूल के पहले व्यक्ति थे, जिन्हें गीतांजी साहित्य के लिए नोबल पुरस्कार से नवाजा गया। विश्व कवि की रचनाओं में समता और समानता के लिए प्रतिबद्धता जाहिर होती है।सच तो यह है किवे समूचे विश्व सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक रहे हैं। यह कोई सामान्य बात नहीं है कि एक ब्रिटिश उपनिवेश के रचनाकार ने पूरी दुनिया में अपनी अमिट पहचान बनाई और पूरे विश्व ने उनकी रचनाओं को सराहा। 'जहाँ चित्त भय से शून्य हो, जहाँ हम गर्व से सिर उठाकर चल सकें, जहाँ ज्ञान मुक्त हो' कर उद्घोष करनेवाले नोबल पुरस्कार विजेता गुरुदेव टैगोर के जन्म के 150 वर्ष बाद भी इस महाद्वीप में उनके कद का कोई शख्स सामने नहीं आया है।

गुरुदेव टैगोर की पत्नी मृणालनी से पाँच संताने थी। जिसमें तीन सुपुत्र और सुपुत्रियाँ थीं। पेट संबंधी बीमारी की वजह से मृणालनी का देहांत वर्ष 1902 में हो गया। कहा जाता है कि कवि गुरु टैगोर स्वयं कोई

विशेष स्कूली शिक्षा ग्रहण नहीं कर सके थे, परंतु अपने आस-पास के जीवन व्यवहार से उन्होंने जो शिक्षा ग्रहण की थी, उसने उनके हृदय को सच्चा मनुष्य हृदय बना दिया था। उनके समस्त चिंतन का मूल है उनका धर्मबोध और सौंदर्यबोध। धर्म को उन्होंने किसी प्रकार के बाह्य क्रिया-कलापों अथवा तीर्थव्रतों में नहीं समझा, बल्कि अपनी व्यापक मानवीय वैश्विक दृष्टि के अनुसार उन्होंने धर्म के अर्थ को मनुष्य की चेतना के भीतर चिन्हित किया। सौंदर्य को भी उन्होंने सभी मनुष्यों की आंतरिक एकता का बोध कराने वाले तत्व के रूप में ग्रहण किया।

कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर को 150वीं जयंती पर आज भारतीय मानीषा और भारतीय साहित्यकारों को पुन: उस चिंतन से परिचित होने की आवश्यकता है। आज के भौतिकवादी युग में जब जीवन-मूल्यों को तेजी से क्षरण हो रहा है हमें उन्हें बचाने के रास्ते तलाशने होंगे। साहित्य, धर्म, सौंदर्य और सबसे ऊपर मनुष्य इन सबके प्रति कविगुरु के उसी उदात्त चिंतन को ग्रहण करना होगा। यह हमारा सामाजिक दायित्व है कि हम गुरुदेव के प्रति श्रद्धा निवेदित करें और उनकी चेतना के उन तत्त्वों की चर्चा करें जो उन्हें विश्व कवि के साथ-साथ ऋषि कवि के रूप में स्थापित करते है।

महाकवि कालिदास : जो भारत के शेक्सपीयर और संस्कृत साहित्य के-क्रांतदर्शी महाकवि थे

संस्कृत साहित्य के क्रांतदर्शी महाकवि कालिदास का भारतीय साहित्य में एक अप्रतिम स्थान है। भारतीय संस्कृति से परिचित कराती उनकी रचनाएँ हमारी अमूल्य निधि हैं। अभिज्ञान शाकुंतलम्, मेघदूत, मालविकाग्निमित्र, रघुवंश, कुमारसंभव, विक्रमोर्यशीयम् जैसी उनकी कृतियों से न केवल भारतीय साहित्य समृद्ध हुआ है, बल्कि विश्व साहित्य जगत् को भी नाट्य जैसी अनेक शैलियों से जिसने परिचित कराया। स्वयं कालिदास का जीवन भी उनकी रचनाओं की तरह उतार-चढ़ाव और नाटकीयता से भरा तो रहा ही है, अपना खुद का जीवन भी विविधताओं से भरपूर रहा है।

यों तो कालिदास के जन्म स्थान और तिथि को लेकर विद्वत्जन एकमत नहीं हैं, किंतु 'कथा कालिदास के' के लेखक हरिदत्त भट्ट 'शैलेश' ने उनके साहित्य से संदर्भ लेकर यह साबित करने का प्रयास किया है कि कालिदास का जन्म गढ़वाल के 'आसम' नामक गाँव में हुआ था। आसम मंदाकिनी नदी के किनारे गुप्त काशी से नीचे चमोली विद्यापीठ के पास है। कालिदास ने मंदाकिनी नदी की महिमा, सुषमा और वैभव का जिस अनुभूति अनुराग और श्रद्धा के साथ चित्रण किया है उससे पता चलता है कि इस घाटी से उनका घनिष्ठ संबंध था। 'मेघदूत' में अलकापुरी का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है 'वहाँ की कन्याएँ इतनी सुंदर होती हैं कि देवता भी उन्हें पाने को तरसते हैं। वे कन्याएँ मंदाकिनी के जल की फुहारों से शीतल हुई पवन में तथा तट पर खड़े कल्पवृक्षों की छाया में तपन मिटाती हुई अपनी मुट्ठियों में रत्न लेकर उनको सुनहरी रेत में छिपाने और ढूँढ़ने का खेल खेलती हैं।'

इसी प्रकार कुमारसंभव में भी कालिदास ने लिखा है-'पार्वती, मंदाकिनी के तट की रेत पर अपनी सखियों के साथ खेलती और गुड़ियों को सजाती।' इसी तरह के उदाहरण प्रस्तुत कर लेखक 'शैलेश' ने कालिदास का गढ़वाल क्षेत्र में पैदा होना प्रमाणित करने की कोशिश की है। लेखक ने कालिदास के नाम को लेकर भी स्पष्ट करने की कोशिश की है कि वे गढ़वाल क्षेत्र के ही थे। वे लिखते हैं कि 'गढ़वाली भाषा में काली का

उच्चारण 'कालि' किया जाता है। कहा जाता है कि अपने गाँव से कालिमठ जाने पर देवी ने उन्हें बोलने की शक्ति प्रदान की थी। काली माँ की कृपा के परिणामस्वरूप उन्हें कालिदास कहा जाने लगा। वे कालिमठ के बाहर बैठे रहते या आसपास के पर्वतों अथवा मंदाकिनी की सहायक नदी कालिगंगा के किनारे घूमते रहते थे।'

कालिदास जब बहुत ही कम उम्र के थे, तब उनके माता-पिता का देहावसान हो गया था। गाँव के मुखिया ने उन्हें पाला-पोसा। कालिदास स्वयं तीखे नयन-नक्श वाले सुंदर युवक थे। वे मुखिया की बेटी से प्रेम करते थे, जिसके डाकू द्वारा उठाकर ले जाने के बाद कालिदास तब से उदास और व्याकुल रहने लगे। फिर इसी बीच रत्नावलि से कालिदास की मुलाकात हुई और बाद में फिर उसकी राजकुमारी रत्नावली से उनका विवाह हुआ, मगर वह भी अधिक दिनों तक जीवित नहीं रही।

कालिदास की विश्व प्रसिद्ध पुस्तक 'अभिज्ञान-शांकुतलम्' में राजा दुष्यंत और शकुंतला की प्रेम कथा है जिनके पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा। इसी तरह 'विक्रमोर्वशीय' उनकी पुस्तक में उर्वशी और पुरवा की कथा है और मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र और मालविका की। कालिदास ने अपनी पुस्तक 'मेघदूत' में प्रेम को आधार बनाकर पूरा महाकाव्य रच डाला। इसी प्रकार 'कुमारसंभव' पुस्तक में शिव-पार्वती के प्रेम की कथा है, जिसमें देवताओं और दानवों का संघर्ष है। इनकी पुस्तक 'रघुवंश' में महाराजा रघु द्वारा स्थापित रघुवंश के राजाओं का वर्णन है।

कालिदास के जीवन के प्रसंग में एक कथा यह भी है कि काशी की राजकुमारी विद्योत्तमा को कालिदास ने मौन रहकर परास्त करने के बाद उससे विवाह किया, मगर जैसे ही राजकुमारी को कालिदास के अपढ़ गंवार होने का पता चला, तो वह उन्हें महल से निकाल देती है। इसी तरह भटकते-भटकते जब कालिदास बंगाल पहुँचे, तो दुष्चक्र में फिर उनका विवाह वहाँ की राजकुमारी पद्मिनी से होने के पश्चात् उसने भी उन्हें अपने महल से निकाल दिया। फिर भटकते-भटकते वे काली माँ के मंदिर पहुँचते हैं जहाँ उन्हें यह महाबोध होता है और वे महाकाव्यों की रचना करते हैं। इस प्रकार कालिदास एक ऐसे महाकवि हुए, जिन्होंने अपनी बौद्धिक क्षमता से अपनी कल्पना में यथार्थ का दर्शन कर महाकाव्यों की रचना की।

सुप्रसिद्ध चिंतक एवं विचारक विलियम जोन्स ने महाकवि

कालिदास को भारत का शेक्सपियर कहा इसलिए कि कालिदास ने शेक्सपियर की तरह विक्रमोर्यवशीयम् तथा मालविकाग्निमित्र नाटक की रचना तो की ही, रघुवंश, कुमार संभवम् तथा मेघदूत जैसे सुविख्यात काव्य नाटक ग्रंथों की भी रचना की। यही कारण है कि कालिदास की गिनती सर्वश्रेष्ठ कवि व नाटककार के रूप में होती है। कालिदास संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान होने के साथ-साथ ज्योतिष के भी बहुत बड़े ज्ञाता थे। उनके सात महाकाव्य सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं- वे हैं रघुवंशम्, कुमार संभवम्, मेघदूत, ऋतुसंहारम्, अभिज्ञानशकुंतलम्, विक्रमोर्यवशीयम् तथा मालविकाग्निमित्र। अपने ग्रंथों में कालिदास ने नक्षत्र, तारा, तिथि, मुहूर्त, अयन, ग्रह-दशा, रत्न, ग्रहशांति, यात्रा, स्वप्न, राजयोग, ग्रहण, संक्रांति, ग्रहों का योग, कालविधान, पुनर्जन्म, भवितव्यता आदि का प्रसंगवश वर्णन किया है। अभिज्ञान शांकुंतलम् के मंगलाचरण में भगवान शंकर की अष्ट मूर्तियों में सूर्य, चंद्रमा रूपी मूर्ति का उल्लेख करते हुए 'ये द्वेकालंविध्प्त:' कहकर संपूर्ण कालविधान को स्पष्ट कर दिया गया है।

इसी प्रकार मेघदूतम् के उत्तरभाग में प्रबोधिनी (देवोत्थान) एकादश का उल्लेख करते हुए उस दिन यक्ष के शाप निवृत्ति की बात कही गई है। यही कारण है कि संस्कृत के विद्वानों ने इस दिन को कालिदास की जन्मतिथि मानी है। मेघों के निर्माण में धुआँ, प्रकाश, जल तथा वायु कारण है, इस बात का उल्लेख कालिदास ने किया है जो उनके वैज्ञानिक दृष्टि का संकेत करता है। ठीक वैसे ही मेघदूतम के दूसरे श्लोक में अषाढ़ मास में वर्षारंभ की बात कही गई है।

रघुवंशम् के 12वें सर्ग में खरदूषण राम से युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं, तो वे शुर्पनखा को आगे करके चले, उसकी नाक कटी थी, अत: यही अपशकुन हो गया और खरदूषण का विनाश हुआ ऐसा लोग मानते हैं। इन ज्योतिषीय वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि कालिदास जितने काव्य मर्मज्ञ थे, उतने ही ज्योतिष मर्मज्ञ भी थे। वैसे भी कहा जाता है कि उनपर महाकालेश्वर एवं भगवती महाकाली जगदम्बा का वरदहस्त था। कहना नहीं होगा कि कालिदास के जन्म स्थान और जन्मतिथि को लेकर विद्वत्जन एकमत नहीं हैं, किंतु 'कथा कालिदास के' के लेखक हरिदत्त भट्ट 'शैलेश' ने कालिदास के साहित्य से संदर्भ लेकर यह साबित करने का प्रयास किया है कि कालिदास का जन्म गढ़वाल, उत्तराखण्ड के 'आसम' नामक गाँव में हुआ था। आसम मंदाकिनी नदी के किनारे गुप्त काशी से नीचे चामोली

विद्यापीठ के पास है। कालिदास ने मंदाकिनी नदी की महिमा, सुषमा और वैभव का जिस अनुभूति, अनुराग और श्रद्धा के साथ चित्रण किया है उससे पता चलता है कि इस घाटी से उनका घनिष्ठ संबंध था। इसी प्रकार अभी-अभी पिछले 7 नवंबर 2010 को बेगुसराय जिले के सिमरिया घाट स्थित सर्वमंगला आध्यात्मिक योग विद्यापीठ की ओर से आयोजित महाकवि कालिदास जयंती के अवसर पर हुई त्रिदिवसीय 'मिथिला: अतीत और वर्तमान' विषयक विचार संगोष्ठी का उद्घाटन करने जब मैं गया, तो वहाँ के पूज्य गुरुदेवजी महाराज ने मुझे बतलाया कि कालिदास का जन्म एकादशी के दिन मिथिलाँचल के एक गाँव में हुआ था। समारोह में पधारे इग्नू के एक प्राध्यापक से इस बिंदु पर शोध कर असलियत से अवगत कराने का मैंने अनुरोध किया है।

कालिदास के साहित्य में प्रकृति और सुंदरता का जो वर्णन किया गया है वह अद्भुत है। मेघदूत में अलकापुरी का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है कि 'वहाँ की कन्याएँ इतनी सुंदर होती हैं कि देवता भी उन्हें पाने को तरसते हैं। वे कन्याएँ मंदाकिनी नदी के जल की फुहारों से शीतल हुई पवन में तथा तट पर खड़े कल्पवृक्षों की छाया में तपन मिटाती हुई अपनी मुट्ठियों में रत्न लेकर उनको सुनहरी रेत में छिपाने और ढूँढ़ने का खेल खेलती हैं।' इसी प्रकार कुमारसंभवम् में भी कालिदास ने लिखा है-'पार्वती, मंदाकिनी नदी के तट की रेत पर अपनी सखियों के साथ खेलती और गुड़ियों को सजाती।'

गढ़वाली भाषा में काली का उच्चारण 'कालि' किया जाता है। कहा जाता है कि अपने गाँव से कालिमठ जाने पर देवी ने उन्हें बोलने की शक्ति प्रदान की थी। काली माँ की कृपा के परिणामस्वरूप उन्हें कालिदास कहा जाने लगा। वे कालिमठ के बाहर बैठे रहते या आसपास के पर्वतों अथवा मंदाकिनी की सहायक नदी कालिगंगा के किनारे घूमते रहते थे। कालिदास जब कम उम्र के थे, तभी उनके माता-पिता का देहावसान हो गया था। गाँव के मुखिया ने उन्हें पाला पोसा। कालिदास स्वयं तीखे नयन-नक्शवाले सुंदर युवक थे। वे मुखिया की बेटी से प्रेम करते थे, जिसके डाकू द्वारा उठाकर ले जाने के बाद से कालिदास उदास और व्याकुल रहने लगे। फिर इसी बीच रत्नावलि से कालिदास की मुलाकात हुई और बाद में फिर उसी राजकुमारी रत्नावलि से उनका विवाह हुआ, मगर वह भी अधिक दिनों तक जीवित नहीं रही।

कालिदास की विश्व प्रसिद्ध पुस्तक 'अभिज्ञानशांकुतलम्' में राजा दुष्यंत और शकुंतला की प्रेम कथा है 'जिनके पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा। इसी तरह 'विक्रमोर्यवशीयम्' उनकी पुस्तक में उर्वशी और पुरवा की कथा है और 'मालविकाग्निमित्र' में पुष्यमित्र और मालविका की। कालिदास ने अपनी पुस्तक 'मेघदूत' में प्रेम को आधार बनाकर पूरा महाकाव्य रच डाला। 'कुमारसंभवम्' पुस्तक में शिव-पार्वती के प्रेम की कथा है, जिसमें देवताओं और दानवों का संघर्ष है। इनकी पुस्तक 'रघुवंश' में महाराजा रघु द्वारा स्थापित रघुवंश के राजाओं का वर्णन है।

काशी की राजकुमारी विद्योतमा के साथ कालिदास के विवाह की कथा तो निराली और जगजाहिर है। कहा जाता है कि विद्योत्तमा से शास्त्रार्थ में हार जाने के बाद विद्वान पंडितों ने उनका विवाह उस लकड़हारे कालिदास से कराने का एक अजीब तरकीब निकाला जो पेड़ की उसी डाली को काट रहा था जिसपर वह बैठा था। पंडितों ने सोचा कि इस लकड़हारे से बढ़कर और कौन मुर्ख होगा। शास्त्रार्थ में कालिदास को मौन रहकर इशारे से बात करने की बात समझाई। विद्योत्तमा को कालिदास ने मौन रहकर परास्त करने के बाद उससे विवाह किया, मगर जैसे ही राजकुमारी को कालिदास की मूर्खता और अपढ़-गंवार होने का अहसास हुआ, तो वह उन्हें महल से निकाल देती है। फिर कालिदास भटकते-भटकते जब बंगाल पहुँचे, तो दुष्चक्र में फिर उनका विवाह वहाँ की राजकुमारी पद्मिनी से होने के पश्चात् उसने भी अपने महल से उन्हें निकाल दिया। 'फिर भटकते-भटकते वे काली माँ के मंदिर पहुँचते हैं, जहाँ उन्हें यह भावबोध होता है। किंवदन्ति यह भी है कि महल से निकाले जाने के बाद कालिदास ने वाग्देवी सरस्वती की अराधना व तप करने लगे, जिससे प्रसन्न होकर वाग्देवी ने उन्हें अपने समय का विद्वान होने का वरदान दिया।

विद्वान होने के बाद पुनः काशी की उसी विद्योतमा से शास्त्रार्थ करने की बात सोचकर कालिदास ने उसके महल के दरवाजे पर जाकर उसकी कुंडली खटखटाई। राजकुमारी विद्योत्तमा ने यह सोचकर कि कोई शास्त्रार्थ के लिए दरवाजा खटखटा रहा है अपनी नौकरानी को दरवाजा खोलने का आदेश देते हुए कहा- 'अस्ति कश्चित् वागविशेष' यह सुनकर कालिदास को महल में बुलाया गया और विद्योत्तमा से शास्त्रार्थ होने पर वह हार गई और पुनः दोनों पति-पत्नी जैसे रहने लगे, मगर दुर्भाग्य यह कि विद्योत्तमा भी अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकी। कहा जाता है कि बाद

में कालिदास ने 'अस्ति कश्चित् वागविशेष' के तीन शब्दों को लेकर तीन ग्रंथों की रचना की।

इसी प्रकार बाद के दिनों में कालिदास एक ऐसे महाकवि हुए, जिन्होंने अपनी बौद्धिक क्षमता से अपनी कल्पना में यथार्थ का दर्शन कर अनेक श्रेष्ठ महाकाव्यों की रचना की जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। संस्कृत के ऐसे विद्वान और भारत के सेक्सपियर कहे जाने वाले महाकवि कालिदास के प्रति उनके जन्म-दिवस के अवसर पर हम सम्मान भाव अर्पित करते हैं।

महाकवि कालिदास की कृतियों में प्राणिमात्र के प्रति यह शुभकामना व्यक्त की गयी है-

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित दुःख भागमवेत्।'

कालिदास की यही सर्वव्यापक मंगलकामना उनकी अभीष्ट शिवाधना है। शिव जगत के मंगल कारक तत्त्व के ही पर्याय हैं। कालिदास उदारचेता, सहिष्णु एवं परम आस्थावान् है। शिव उनके परमप्रिय हैं। उनके लगभग सभी ग्रंथों का शुभारंभ शिव की स्तुति से होता है। उनकी शिवभक्ति उनके काव्यों एवं नाटकों के मंगलाचरण एवं स्तुतियों से स्पष्ट है। कालिदास के महाकाव्य 'रघुवंश' में सर्वप्रथम शिव पार्वती की स्तुति इस प्रकार है-

'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तेय।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ॥'

कालिदास की कृति 'मेघदूत' में बड़े कौशल से शिव के स्वरूप का वर्णन उन्होंने किया है। शिव के गुणों का उनके नीलकंठ गुण का शिव के नृत्य का उल्लेख है। शंकर एवं गौरी के नाम भी है।

भारतीय संस्कृति के अमर गायक कालिदास ने मानव जीवन और प्रकृति को संपूर्णता में देखा है। वे चराचर को अपनी आँखों में भरकर अपनी आत्म के सौंदर्य से आवेष्ठित कर पुनः समाज को सौंपते थे। इस देश के चप्पे-चप्पे से वाकिफ थे और उसका विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन वे अपनी रचनाओं में करते थे। मेघदूत में वर्णित बादलों का मार्ग आज भी हमारे मानसून का मार्ग है।

ऐसे अकेले कालिदास हैं, जिनको केंद्र में रखकर भारत और विदेशों में हमारी संस्कृति, धर्मशास्त्र, समाज विज्ञान, कलानुशासन, नाट्य, रंग-मंच, नृत्य, गीत, संगीत, स्थापत्य विषयक असंख्य शोध कालिदास के

साहित्यानुरागी और मर्मज्ञ कर रहे हैं। भारतीय संस्कृति की समग्रता के केंद्र में कालिदास हैं और कालिदास को जानना भारतीय संस्कृति की समग्रता से एक अनुराग-भरा, परिपूर्ण और अप्रतिहत साक्षात्कार है। यह बिरल, विलक्षण और अलौकिक अवसर और किसी भी रचनाकार से बाबस्ता नहीं है।

लोकश्रुति और जनविश्वास के साथ ही कई अन्य साक्ष्य कालिदास को विक्रमादित्य के नवरत्नों में मानते हैं, लेकिन दिक्कत यह है कि भारतीय इतिहास में विक्रमादित्य के विरूद्ध धारणा रखने वाले छह-सात राजा हैं और इसी तरह कालिदास की चर्चा हुई है। लेकिन यह तथ्य अब निर्विवाद है कि सात ग्रंथों- विक्रमोर्वशीयम्, कुमारसम्भवम्, ऋतुसंहारम्, मेघदूतम्, रघुवंशम् की रचना करने वाले कालिदास एक ही है।

कालिदास अरण्य और आश्रम के संस्कृति के पोषक हैं। भारतीय मानवीय और सांस्कृतिक मूल्य-दृष्टि उनके यहाँ सर्वत्र विद्यमान है। उनकी रचनाओं में शाप और तप का विधान है। उनके हर पात्र और हर कृति का फलागम शाप और तप के ताप से गुजरकर ही होता है। रूप को भी तप की अग्नि परीक्षा देने पर ही प्रेम की स्वीकृति मिलती है। उनका राग देह से विदेह तक यात्रा करता है। वे जिस मिट्टी को छूते हैं, उसे सोना बना देते हैं। उनके मानवीय पात्र मूल्य रक्षा और सत्य तथा ऋतु की स्थापना के लिए देवताओं तक का सहयोग करतें हैं। दुष्यंत और स्कंद इसके उदाहरण हैं।

ऋग्वेद के दशवें मंडल और महाभारत के शकुंतलोपाख्यान से ली गई मिट्टी, कालिदास जैसे कुंभकार के चाक पर संस्कृति के कलश गढ़ती है, चेतना के दीप रचती है। यह पराक्रम सिर्फ कालिदास के बूते का है।

हिंदी के जन कवि बाबा नागार्जुन अपनी कविता में लिखते हैं-

'कालिदास! सच-सच बतलाना
इंदुमती के मृत्यु शोक से
अजरोया या तुम रोए थे।'

'सौंदर्य का हर रंग कालिदास के यहाँ जीवंत हैं। वे 'अनाघ्रात पुष्पं' शकुंतला को 'वसेन परिधूसरे पसानां' में उसी संपूर्ण दृष्टि के साथ देखते हैं। उनका नाट्य विधान उनकी असाधारण काव्य प्रतिमा के स्थल गतिमयी नाटकीयता के कारण असाधारण हो जाते हैं। कुमारसंभवम् का 'मदन-दहन', 'रति विलाप' और चेतना विस्मृत पार्वती का पिता हिमालय द्वारा घटनास्थल से ले जाना, ऐसे ही प्रसंग हैं, जहाँ सन्नाटे में गति की

चित्रात्मकता मौन होकर सब कुछ कह डालती है। इन परिदृश्यों का कोई सानी विश्व साहित्य में नहीं है।

मुझे तो लगता है कि संसार में ऐसा बिरला ही रचनाकार होगा, जिसने साहित्य-सृजन के तीनों विधानों-क्रमशः प्रबंधकाव्य, गीति काव्य और नाटक में एक साथ इतनी ऊँचाई पाकर यश अर्जित किया हो, यह विरल संयोग भी कालिदास के ही खाते में जाता है। नाटकों में अभिज्ञान शांकुतलम्, प्रबंध काव्य में कुमार सम्भवम् और गीतिकाव्य में मेघदूतम् आज भी साहित्य रसिकों के हीय-हार बने हुए हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न संप्रदायों यथा-रस, अलंकार, ध्वनि, रीति व वकोक्ति, औचित्य के कितने आचार्य हैं, उनके प्रतिमानों और निकष पर कालिदास न केवल खरे उतरते हैं, अथवा अव्वल रहते हैं, बल्कि अनेक बार उन बंधे-बंधाए सांचों का अतिक्रमण भी कर जाते हैं।

कालिदास की यश गाथा और प्रशस्ति का किसी भी युग में समापन नहीं होता। उनकी विराट रचनात्मकता बीसवीं सदी के कवियों और लेखकों की प्रेरणा रही है। हिंदी में महावीर प्रसाद द्विवेदी, जयशंकर प्रसाद, महाकवि निराला उनके अनेक प्रसंगों को रेखांकित करते हैं। कविवर हरिवंश राय बच्चन आरती और अंगारे संग्रह में उन्हें 'ओ उज्जयिनी के वाग्जयी जंग वंदन' कहते हैं, तो दूसरी ओर कालिदास की शेष कथा कहने वाले डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' कवि कुलगुरु की कीर्ति-'कौमुही भुवन-भुवन छाए' का मंत्र फूँकते हैं। आखिर तभी तो कालिदास को भारत का शेक्सपीयर भी कहा जाता है।

माखन लाल चतुर्वेदी :
जिनकी साहित्य-साधना बेमिसाल है

माखन लाल चतुर्वेदी जिनके साहित्य में देशभक्ति और उसके लिए किया जाने वाला आत्म बलिदान सर्वोपरि मानव मूल्य के रूप में दर्ज है।

'चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूंथा जाऊँ
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ
मुझे तोड़ लेना वनमाली उस पथ पर देना तुम फेंक
मातृभूमि पर शीष चढ़ाने जिस पथ जाऐं वीर अनेक।'

कवि माखनलाल चतुर्वेदी की 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक कविता की उपर्युक्त पंक्तियों में देश-प्रेम, देशभक्ति के साथ-साथ उसके लिए किया जाने वाला आत्मबलिदान सर्वोपरि मानव-मूल्य के रूप में दिखाई पड़ता है। श्री चुतर्वेदी आग और अगार के कवि तो थे ही, प्रकृति, प्रेम और शृंगार के भी कवि थे और उनकी कविता में स्वाधीनता, संघर्ष के साथ-साथ छायावाद की झलक भी दिखाई देती है। उनकी एक कविता की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं,

जो औरों का दुख देख-देख गल उठा वहीं,
बह उठी अलखनंदा इतिहास बनाने को
जो चिड़ियाँ गाती हैं गगनांगण में चिलबिल
वह अमृत साधना-सिद्ध हमें है पाने को।

माखनलाल चतुर्वेदी रचित कविता 'पुष्प की अभिलाषा' एक ऐसी ऐतिहासिक एवं कालजयी रचना है जिसमें आजादी के अड़सठ साल बाद भी उसकी अनुभूतियों का तेज मंद नहीं पड़ा है और न उसकी अभिव्ंजना-पद्धति का प्रभाव ही कम हुआ है। यह कविता हमारे सहज संवेदनों को लोक सामान्य भावभूमियों से उठाकर अलोक सामान्य भावों और विचारों तक ले जाती है जो कवि की अमरता का कारण तो बनती ही है, उस जीवन-मूल्य की असंदिग्धता पवित्रता का आधार भी रचती है, जिसे उसऩे अपने अस्तित्व में किसी सुगंध की तरह संजो कर रखा है। स्वाधीनता

आंदोलन की राजनीति से जुड़े सहित्यकार माखनलाल चतुर्वेदी की सर्जनात्मक चेतना और ध्वंस का राग भी आजादी की उत्कट अभिलाषा का राग बनकर आया है। कवि की राष्ट्रीयता, राष्ट्र के प्रति सम्मान और स्वाभिमान की रक्षा के लिए स्वदेशी का वरण उसका धर्म है और उसकी विचार पद्धति निश्चित रूप से क्रांतिकारी है, क्योंकि उनके साहित्य में बलिपंथ, सिरकलम, रक्त स्नान की बातें, मरण को गले लगाने की उत्कट अभिलाषा, सिर हथेली पर रखकर मातृभूमि को मुक्त कराने की लगन आदि तथ्य उनकी रचनाओं में देखने को मिलते हैं। उनकी राष्ट्रीय चेतना बलिदानी चेतना से युक्त युग परिवर्तन के अनुरूप है।

मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिला के बावई गाँव में 4 अप्रैल, 1889 को जन्में माखनलाल चतुर्वेदी, जिन्हें प्यार से 'दादा' कहा जाता रहा है, की इस वर्ष 125वीं जयंती मनाई जा रही है। ग्रामीण परिवेश में पले बढ़े चतुर्वेदी जी हर हाल में सदैव अपनी मिट्टी से जुड़े रहे। उनका मिट्टी प्रेम उनकी इस कविता में झलकता है--

'मिट्टी से संकल्प उठे हैं, मिट्टी से मानवता
मिट्टी है निर्णायक तरूणी मिट्टी है बलशाली
मिट्टी से शीश चढ़ाओ मिट्टी से बलिदान उठेंगे।'
मिट्टी से हरियाते मिट्टी के ईमान उठेंगे।'

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जिस समय 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन संभाला और मैथिलीशरण गुप्त काव्य क्षेत्र में उतरे उसी समय सन् 1904 में माखनलाल चतुर्वेदी जी का काव्य में पदार्पण हुआ, लेकिन चतुर्वेदी जी उन सबों से इस माने में भिन्न थे कि वह सच्चे अर्थों में वीर थे और गुलामी के दिनों में जेल की जंजीरों में जकड़े और कविता में राष्ट्रीयता का उन्मुक्त गान गाया तथा जनमानस में युग सत्य का उद्घोष किया। काव्य-लेखन से शुरूआत कर वे एक सफल निबंधकार, नाटककार, कथाकार और पत्रकार बने। उनका एक पैर जेल में तो दूसरा प्रेस में रहता था।

राष्ट्रीयता की अलख जगाने हेतु राष्ट्र सेवा योजना की ओर से जबलपुर से 17 जनवरी, 1920 माखनलाल चतुर्वेदी ने 'कर्मवीर' नायक साप्ताहिक पत्र का संपादन शुरू किया और वही उनकी आमदनी का स्रोत बना। इसी पत्रिका के साथ-साथ उनकी कविता की चारों ओर बड़ी ख्याति मिली। इस पत्रिका ने हिंदी के विभिन्न लेखकों को एक स्थान पर लाने का प्रयास किया। आधुनिक हिंदी पत्रकारिता की महान 'त्रयी' कहे जाने वाले

रामवृक्ष बेनीपुरी, गणेश शंकर विधार्थी और माखनलाल चतुर्वेदी ने अपने समकालीन पत्रकारों के सामने एक आदर्श तो रखा ही, एक चुनौती भी खड़ी की। इस 'त्रयी' के सूत्रधार थे माखनलाल चतुर्वेदी। माखनलाल चतुर्वेदी और मैथिलीशरण गुप्त समकालीहन थे। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का वह समय हिंदी साहित्य में द्विवेदी युग के नाम से जाना जाता था। क्रांतिकारी राष्ट्रीयता के प्रतिनिधि माखन लाल चतुर्वेदी की देशभक्ति की भावना से भरी कविताएँ देशभक्त नवयुवकों का कंठहार बन गई। 'कैदी और कोकिला' तथा 'पुष्प की अभिलाषा' को गुनगुनाती हुई पूरी नवयुवक पीढ़ी बलिदान की ललकार भर रही थी और चतुर्वेदी जी न सिर्फ ललकार रहे, बल्कि स्वाध ीनता आंदोलन की अग्रिम पक्ति में खड़े दिखाई देते थे। माखनलाल चतुर्वेदी जी की कविता से अपने कारावास के दिनों में प्रभावित हो 'कैदी और कोकिला' तथा 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक कविताओं को अज्ञेय जी ने अपनी कापी में उतार ली थी और अकेली कोठरी में कई बार जोर-जोर से वे पढ़ते थे और उस काल कोठरी में अपने ही स्वर सख्स के सहारे अपना समय काटते थे। अज्ञेय जी ने चतुर्वेदी जी के महत्त्व का मूल्यांकन करते हुए इस प्रकार टिप्पणी की है-- 'माखनलाल जी केवल कृतिकार कवि नहीं, एक कृति कवि थे, क्योंकि उनकी स्नेह-छाया में और भी कई कवि प्रतिभाएँ पनपीं। . . . . . . 'एक भारतीय आत्मा' इस दृष्टि से भी अद्वितीय हैं: माखनलाल जी ने स्नेह और वात्सल्य के अमृत से ही सींचकर नई पौध को बढ़ाया और फूलने-फलने का अवसर दिया। युवतर प्रतिभाएँ 'बराबर' न होकर भी कभी उनके निकट 'छोटी' नहीं हुई।' 'कर्मवीर' पत्रिका का संपादन करते हुए माखनलाल चतुर्वेदी जी ने स्वाधीनता आंदोलन को तीव्र से तीव्रतर किया, नवजागरण की विचार चेतना का प्रसार किया और साहित्य की सेवा में अपना सर्वस्व निचोड़कर अर्पित कर दिया। 15 साल की उम्र में वे क्रांतिकारी आंदोलन में सक्रिय हुए। सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि राजनीतिक संघर्ष में साहित्य का सृजन करते हुए दोहरी निष्ठा का निर्वाह कैसे भीतरी तनाव बिना हो सकता है-- इसके दुर्लभ उदाहरण माखनलाल चतुर्वेदी दिखे। जितना प्रतिबद्ध वे राजनीति कर्मी थे उतनी ही निष्ठा के साथ साहित्य के भी प्रतिबद्ध थे। चतुर्वेदी जी अक्सर कहा करते थे कि 'साहित्य रचना सिर्फ स्वाधीनता प्राप्ति के उद्देश्य से होनी चाहिए। 'माखनलाल चतुर्वेदी के संपादकत्व में जबलपुर से प्रकाशित साप्ताहिक पत्रिका 'कर्मवीर' पत्रकारिता के इतिहास में उग्र राजनीतिक चेतना के साथ

तीव्र औपनिवेशिक दमन का भी दौर है। यह पत्रिका स्वतंत्रता-संग्राम का आत्मज था और अपने इस उत्तराधिकार को उसने अत्यधिक निष्ठा और पूर्ण उत्तरदायित्व से वहन भी किया। 'कर्मवीर का उद्देश्य वाक्य 'कर्मण्येवाधि कारस्ते मा फलेषु कदाचन' मुख पृष्ठ पर छपा करता था। श्री चतुर्वेदी की रचनात्मक सक्रियता के विशाल कीर्ति स्तूप उनके 'कर्मवीर' बनने की कहानी के पड़ाव हैं। 'कर्मवीर' का प्रकाशन चतुर्वेदी जी की जीवन यात्रा और विचार-यात्रा का महत्त्वपूर्ण पड़ाव है।

'कर्मवीर' समाज की छोटी-छोटी बातों से लेकर देश की ज्वलंत समस्याओं पर स्पष्ट राय देता था और व्यापक अभियान के तहत जन शिक्षण का कार्य भी करता था। 'कर्मवीर' ने नवजागरण कालीन पत्रकारिता की उस परंपरा का विकास किया जिसने पत्रकारिता का आदर्श मानदण्ड स्वयं निर्मित किया था और उसे लागू भी किया था। 'कर्मवीर' के संपादन में माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा नियत आचार संहिता आज भी अनुकरणीय है। इसका पूरा श्रेय श्री चतुर्वेदी के आसाधारण व्यक्तित्व को जाता है। वे न तो राजनीति में प्रतिबद्ध होने की वजह से साहित्य को पिछलग्गू मानते थे और न साहित्यिक प्रतिबद्धता के कारण राजनीतिक कार्यों को हल्के ढंग से टालते थे। सच कहा जाए तो वे स्वाधीनता आंदोलन में सक्रिय राजनीति और साहित्य के सहयोग के शानदार मिसाल थे। साहित्य जगत में 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से सुविख्यात चतुर्वेदी जी के स्फुट निबध संग्रह 'साहित्य-देवता' की भूमिका में ओजस्वी स्वर के शीर्ष राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं-- 'भारतीय भाषाओं में तो ऐसा विलक्षण ग्रंथ है ही नहीं, विश्व साहित्य में भी एशियामाइनर के कवि 'खलील जिब्रान' के कुछ ग्रंथों तथा जर्मन कवि नीत्से की 'दस स्पेक जर्व्युस्र' को छोड़कर इसकी तुलना और किसी पुस्तक से नहीं की जा सकती।' 'साहित्य देवता' इस बात को प्रमाणित करती है कि माखनलाल चतुर्वेदी जी अपने समय के न केवल शीर्षस्थ कवि, सजग पत्रकार एवं मुखर वक्ता थे, बल्कि अपनी मौलिक शैली के विलक्षण गद्यकार भी थे।

साहित्य-देवता के अतिरिक्त चतुर्वेदी जी की अन्य कृतियों में 'अमीर इरादे गरीब इरादे', 'समय के पांव' और 'चिंतक की लाचारी' 'हिमकिरीटनी','हिमतरंगिणी', 'युगचरण', 'समर्पण', 'वे फुलो गूंजे धरा', 'बीजुरी का जल आंज रही' हैं। मगर 'साहित्य देवता' जैसी प्रसिद्धि उनकी और किसी कृति को नहीं मिली। प्रतिभा और सूझ को साहित्य की रचना का स्रोत मानने वाले कवि माखनलाल चतुर्वेदी ने सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

को 'बलिदानी' कवि कहते हुए वे कविता में लिखते हैं--

'आ तेरे
इन बलिदानों पर
थोड़ा चंदन
चर्चित कर दूँ
तेरे जी के घावों को आ
युग के
तरुण रुधिण्र से भर दूँ
आ तेरी
जीवित मौतों को
जीने का त्योहार बना दूँ
सूलों के मंदिर के गायक
तेरी कीर्ति रागिनी गा दूँ।'

सन् 1944 में माखनलाल जी उन दिनों निराला पर ऐसी ईमानदार, गुणग्राही और निर्णायक कविता लिखकर यह तो सिद्ध कर ही दिया है कि जब वे चेतना के आस-पास के ठोस संसार में होते हैं, उनकी कलम न तो कभी बहकती है न कथन प्रगल्ता दिखाती है, बल्कि सच तो यह है कि ऐसे कवि शिल्पी के प्रति वे आश्वस्त करती है जो मनमौज में आकर चाहे जैसा काव्य व्यवहार करे, किंतु अनुभवों से विशिष्टता और वैचारिक गंभीरता के मौकों पर उसका प्रत्येक शब्द सधे हुए कदम की तरह पड़ता है और काव्य-रचना अद्विती हो उठती है।

माखनलाल चतुर्वेदी जी ने अपने एक निबंध में गाँधी जी के पत्रकारत्व विषय पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि देश और काल की कसौटी पर, ईश्वरीय विश्वास और श्रम में अटूट श्रद्धा के साथ, बिना किसी को सताए अपने प्रयत्न को शोध बनाते जाना गाँधी जी के पत्रकारत्व की विशेषता थी। श्री चतुर्वेदी जी ने लिखा है कि गाँधी जी की यह धारणा थी कि जीवन की गुत्थियायों को जनजीवन से छुपाकर रखना व्यक्ति के लिए, समाज के लिए और समस्त विश्व के लिए भी एक भयंकर जोखिम आमंत्रित करता है। गाँधी जी की पत्रकारिता इस बात में बहुत बड़ी थी कि वे लोक जीवन के रंग में घुल-मिल जाते थे। उस समय उन्हें अपनी इकाई की गुरुता बिल्कुल याद नहीं रहती थी, केवल उत्तरदायित्व और सोचे हुए कार्य का ही उन्हें भान रहता था। जिस दिन हमने गाँधी जी को खोया

उस दिन सारी पत्रकारिता देश-भक्ति के धर्म से हटकर पुनः राजनीति का जकड़-व्याल हो गई।

माखनलाल चतुर्वेदी जी ने अपने काव्य में जहाँ एक ओर राष्ट्रीय भावना को जन-जन तक पहुँचाया, वहीं दूसरी ओर उनकी गद्य शैली किसी कविता के माधुर्य से कम नहीं कही जा सकती। उनकी गद्यशैली में हमें अतिशय अलंकारिता और रूपात्मकता के दर्शन होते हैं। उन्होंने अपने गद्य में जहाँ भावों और विचारों को तरजीह दी है, वहीं उनका साहित्यिक विकास भी दिखाई देता है।

माखनलाल चतुर्वेदी जी को 1954 में 'हिमतरंगिनी' काव्य पर साहित्य अकादमी का पुरस्कार तथा 'हिमकिरीटनी' पर देव पुरस्कार से सम्मानित किया गया। 1963 में वह पद्मभूषण सम्मान से नवाजे गए। 30 जनवरी, 1968 को उनका देहावसान हुआ। 30 जनवरी, 1985 को म०प्र० के खण्डवा में चतुर्वेदी जी की स्मृति में आयोजित एक समारोह में गीत 'फरोश' के कवि भवानी प्रसाद मिश्र ने इस भारतीय आत्मा के प्रति बेहद सार गर्भित वक्तव्य दिया था जिसका यहाँ उल्लेख करना मैं लजिमी समझता हूँ---

''उनकी कविताओं में नर्मदा जितनी थी बेतवा भी उतनी थी। कावेरी भी थी, गंगा भी थी। हिमालय भी था, विंध्याचल भी था। सतपुड़ा भी था। क्या नहीं था उनकी कविताओं में। पूरे देश की मिट्टी, पूरे देश की गंध, पूरे देश का हवा-पानी उनकी कविताओं में था।''

माखनलाल चतुर्वेदी जी का जीवन चरित्र इतना सुदृढ़ था कि उनकी रचनाओं में हमें एक सुनिश्चित क्रमविकास, विस्तार और प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं और साथ ही तीखे मोड़ अथवा परिवर्तन नजर नही आते। यह भारतीय सस्कृति के बिल्कुल अनुरूप है कि माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', मैथिलीशरण गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर जैसी राष्ट्रीय भावना अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलती है। विनम्रता, स्वाभिमान और संकल्प, जीवन, सृजन और कर्म तथा प्रणय, प्रल और पुरुषार्थ- इन सभी को साथ लेकर चलने वाले का नाम था 'एक भारतीय आत्मा' यानी माखनलाल चतुर्वेदी की 25 वीं जयंती पर उनकी यशः काया को मैं संस्कृत साहित्य की निम्नलिखित पंक्तियों से अपनी श्रद्धा निवेदित करता हूँ--

'धन्यास्ते सुकृतिनः रस सिद्धाः कविश्वराः
नास्ति येषां यषः काये जरामरणजंभयम्।'

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला': जिनके जनसाधारण के बीच उनके सम्मान के पीछे उनकी दान प्रवृत्ति बड़ा कारण था

छायावाद के आधार स्तंभों में शुमार सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का रचना संसार जितना व्यापक है, व्यक्तित्व उतना ही उदात्त। मेरा ख्याल है कि वे अकेले ऐसे साहित्यकार हैं, जो जीते जी किवदंती बन चुके थे। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का कद उनके साहित्य की वजह से चाहे कितना भी विशाल रहा हो, जनसाधारण के बीच उनके सम्मान के पीछे उनकी दान प्रवृत्ति बड़ी वजह थी। दरअसल, वे पात्र-कुपात्र का ध्यान किए बिना मुक्त हस्त से अपनी कठिन कमाई लुटाते हुए तनीक नहीं हिचकते थे। वास्तव में वे अवढरदानी थे। अपने शरीर के वस्त्र, कम्बल, जूते तक देखते-देखते लुटा देते थे। उनकी यह दान प्रवृत्ति उनके साहित्य में भी अंकित मिलती है। कठिन से कठिन परिस्थितियाँ भी उनकी इस दानवृत्ति को छुड़ा नहीं पाईं।

एक बार निराला जी अपने प्रकाशक के यहाँ से रॉयल्टी लेकर इक्के पर चले आ रहे थे। रास्ते में एक बुढ़िया भिखारिन ने तीव्र स्वर में पुकारा-'बेटा भीख दे दो।' निराली जी ने इक्का रुकवाया और उतरकर बुढ़िया की ओर बढ़े। बुढ़िया ने समझा कि कोई बड़ी भीख मिलने वाली है, निराला जी का गला पकड़ लिया और पूछना शुरु किया- 'तुम निराला की माँ बनकर भीख माँग रही हो? बोलो यदि तुम्हें पाँच रुपए दूँ तो कबतक भीख नहीं माँगोगी? बुढ़िया ने कहा- 'आजभर।' निराला जी ने पूछा- 'यदि दस? तो दो रोज।' 'यदि सौ दूँ तो?' बुढ़िया हतप्रभ हो गई। निराला जी की जेब में कई सौ रुपए थे। सभी रुपए निकालकर उन्होंने बुढ़िया की हथेली पर रखते हुए कहा- 'निराला की माँ होकर यदि आज से तुमने कभी भीख माँगी तो गला दबा दूँगा। यह कहकर रिक्तहस्त हो निराला अपने निवास चले गए। बुढ़िया ने दानी बेटे को लाख आशीष दिए।

इसी प्रकार निराला जी दानवृत्ति की दूसरी कहानी इलाहाबाद की सुनाता हूँ। इलाहाबाद में दारागंज स्टेशन के पास एक भिखारिन बुढ़िया रहती थी। जाड़े की एक शाम निराला जी उधर से निकले तो शीत से कांपती हुई बुढ़िया के ऊपर अपना कम्बल लपेटते हुए उन्होंने कहा, 'तुझे कितना

जाड़ा लग रहा होगा, ले।' फिर वे उसे सुरक्षित स्थान पर बैठाकर घर गये और वहाँ से अपने लिए परोसी गई थाली उठाकर उसी बुढ़िया को दे आए।

एक और घटना यह है कि निराला जी के घर की गली साफ करने वाली मेहतरानी ने बड़े ही विनयपूर्वक स्वर में उनसे कहा, 'पंडित जी, अब ठीक से दिखाई नहीं पड़ता।' निराला जी ने झट से अपना चश्मा उतारकर उसे देते हुए कहा, 'लो, हम अपनी आँखें तुम्हें देते हैं।' दूधवाले को नंगे पांव देखकर उसे जूते दे देने अथवा किसी भी दीनहीन को अपनी लुंगी, चादर या कुर्ता दे देने की अनेक कथाएँ दारागंज के निवासियों से सुनी जा सकती हैं।

पश्चिम बंगाल के मेदिनीपुर में 1896 को वसंत पंचमी के दिन सूर्यकांत त्रिपाठी निराला का जन्म हुआ था। इनके द्वारा विरचित रचनाएँ इस प्रकार हैं-

उपन्यासः अप्सरा, अलका, प्रभावती, निरुपमा, कुल्ली भाट और बिल्लेसुर बकरिहा

कविता संग्रहः अनामिका, परिमल, गीतिका, द्वितीय अनामिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, अणिमा बेला, नए पत्ते, अर्चना, अराधना, गीत कुँज, सांध्य काकली और अपरा

कहानी संग्रहः लिली, चतुरी चमार, सुकुल की बीवी, सखी और देवी

निबंधः रवीन्द्र कविता कानन, प्रबंध पद्य, प्रबंध प्रतिमा, चाबुक, चयन संग्रह

पुराण कथाः महाभारत

अनुवादः आनंद मठ, विष वृक्ष, कृष्णकांत का वसीयत नामा, कपाल कुंडला, दुर्गेश नंदिनी, राजसिंह, राजरानी, देवी चौधरानी, युगलागुल्य, चन्द्रशेखर, रजनी, श्री रामकृष्ण वचनामृत, भारत में विवेकानन्द, राजयोग(बांग्ला से हिंदी)

निराला जी का निधन उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद में 15 अक्टूबर, 1961 को हुआ था। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की कविता मनुष्य के आत्मविश्वास के अर्जन का उत्सव है। जिस आत्मविश्वास के साथ निराला नवता का स्वागत करते हैं, उसीसे उन्हें यह कहने का अधिकार मिलता है-'मैं ही वसंत का अग्रदूत'। पुरातनता के मोह से मुक्त होकर नवता का स्वागत करने की सीख उन्हें प्रकृति से मिलती है। इस सीख पर उन्होंने अपने जीवन में भी अमल किया और अपनी कविता में भी। वसंत और वर्षा- इन दो ऋतुओं पर निराला ने बार-बार कविता लिखी। ये दोनों ऋतुएँ

प्रकृति में नवता के पर्व हैं। निराला ने अपने जन्मदिन के लिए भी वसंत को ही चुना। जैविक रूप में प्रकृति किसी को यह अधिकार नहीं देती कि कोई अपने जन्म-दिन का चुनाव स्वयं करे, पर निराला ने तो किया, क्योंकि वसंत की प्रकृति से वे अपने जीवन और अपनी कविता को एकाकार होते पाते हैं। देखें आप उनकी कविता की इन पंक्तियों को-

'खिला सकल जीवन, कल मन
पलकों का अपलके उन्मन।'

फिर-- 'रंग गई पग-पग धन्य धरा
हुई जग, जगमग मनोहरा।'

वसंत से निराला ने अपनी एक कविता में इस प्रकार निवेदन किया है-

'भर रेणु-रेणु में नम की,
फैला दो जग की आशा।
खुल जाए खिली कलियों में,
नव-नवजीवन की आशा।'

निराला जी ने अपनी कविता की इन पंक्तियों से अपने प्रियजनों को भी वसंत का स्वागत करने का न्योता देते हैं-

'सखि, वसंत आया
भर वर्ष वन के मन
नवोत्कर्ष छाया।'

वसंती हवा की सिहरन को निराला एक नई आशा की तरह महसूस करते हैं जिसे देखें आप भी उनकी इन पंक्तियों में-

'नवल प्राण नवगान गगन में,
फूटे नवल वृंत पर फूल,
भरे नवजागरण की किरणों से
जग के जीवन के युग कूल।'

दरअसल, निराला वसंत को भरपूर जी लेना चाहते थे। वे जीवन की झोली वसंती फूलों से भरे रखना चाहते थे और यह सोचकर सोच में डूबने लगते थे कि कहीं ऐसा न हो कि पछताते हुए कहना पड़े-

'सखि, वसंत गया,
सुमन भर न लिए।'

सच तो यह है कि निराला ने जिस प्रकार वसंत का अग्रदूत

होने में अपनी पहचान ढूँढ़ते थे उसी प्रकार 'सरस्वती पुत्र' होने में भी। वसंत 'मधु ऋतु' है तो सरस्वती 'मधुर वादिनी', 'रागिनी-अनुरागिनी'। इसलिए तो माँ सरस्वती से वे कामना करते हैं-

'भर अमृत धारा आज कर दो,
प्रेम विह्वल हृदय-दल
आनंद-पुलकित हों कमल
तब चूम कोमल चरणतल।'

सरस्वती वन्दना से संदर्भित निराला की सबसे प्रसिद्ध कविता है- 'वीणा वादिनी वर दे।' इस कविता को उसके रचना-काल के राष्ट्रीय आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में देखें तो इसके निहितार्थ और भी अधिक व्यापक रूप में खुलते हैं। निराला को प्राय: सभी नवीन साहित्य-संस्कार का श्रेय देते हैं, लेकिन नवीन साहित्य-संस्कार का मुद्दा निराला के लिए नवीन समाज-संस्कार के मुद्दे से अलग नहीं था। आमूलचूल नवता की जो कामना निराला उपर्युक्त कविता में करते हैं, वह कामना अपनी समग्रता में समूची भारतीयता की नवता की कामना है। निराला वीणावादिनी का स्मरण सिर्फ अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा की नवता के लिए नहीं कर रहे, बल्कि उसके गहरे राजनीतिक-सामाजिक आशय के लिए कर रहे थे। यथास्थितिवाद के विरूद्ध परिवर्तन की चेतना के रूप में कर रहे थे। देखें इन पंक्तियों को-

'प्रिय स्वतंत्र-रव,
अमृत-मंत्र नवभारत में भर दे
वीणा वादिनी वर दे।'

सच कहा जाए तो निराला भारत में एक नए प्रकार के 'स्वतंत्र-रव' का उद्घोष चाहते थे, जो भारतीय समाज को पचमुच का जीवन दे सके (अमृत मंत्र नव) और भी हो। यानी निराला को ऐसी 'नवता' अभीष्ठ थी, जो वास्तव में सामाजिक परिवर्तन का बुनियादी सारतत्व का कोई व्यावहारिक अर्थ नहीं होना था। इस दृष्टि से देखें तो 'वीणा वादिनी' को सिर्फ हिंदू देवी देवताओंवाले दायरे में रखकर देखना अधूरा देखना है।' यहाँ 'वीणा' युग वीणा है और 'वादिनी' वह भारतीय चेतना शक्ति है, जिससे नया समाज जन्म लेगा।

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा : जिन्होंने हिंदी आलोचना का नया मानदंड निर्मित किया

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा जी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान हिंदी आलोचना के क्षेत्र में था। उन्होंने हिंदी आलोचना का नया मानदंड निर्मित किया। जहाँ तक मैं समझता हूँ आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद वह हिंदी के दूसरे सबसे बड़े समालोचक थे। यह बात सही है कि उन्होंने विपुल साहित्य का सृजन नहीं किया- न तो सर्जनात्मक और न ही आलोचनापरक, परंतु यह भी उतना ही सच है कि अपने आलोचनात्मक लेखों, पुस्तक समीक्षाओं और अपनी आलोचनात्मक पुस्तक-'साहित्य का इतिहास दर्शन' के माध्यम से वह आलोचना के नए मानदंड स्थापित करने और हिंदी साहित्य जगत को नए ढंग से आंदोलित करने में सफल रहे। एक ओर जहाँ कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद को स्थापित करने का श्रेय उन्हें जाता है वहीं दूसरी ओर अमरकथा शिल्पी फणीश्वर नाथ रेणु के प्रायः गुमनाम तरीके से प्रकाशित उपन्यास 'मैला आँचल' को स्थापित करने का श्रेय भी उन्हीं का है। दरअसल, आचार्य नलिन जी प्रेमचंद विशेषज्ञ चिंतक और प्राध्यापक रहे हैं। उन्होंने गाँधी और प्रेमचंद दोनों को सामानांतर रखकर देखा-परखा और कहा है-'प्रेमचंद ने उपन्यास या कहानी के माध्यम से वह किया, जो महात्मा गाँधी अपने आंदोलनों से करते थे।' मेरी दृष्टि में प्रेमचंद की जो देन है, वह साहित्यिक है, समाज शास्त्रीय या राजनैतिक नहीं।'

इसी प्रकार फणीश्वरनाथ रेणु के प्रथम उपन्यास 'मैला आँचल' के बारे में आचार्य नलिन जी ने लिखा- 'मैला आँचल' गत वर्ष का ही श्रेष्ठ उपन्यास नहीं है, वह हिंदी के दस श्रेष्ठ उपन्यासों में सहज ही परिगणनीय है। स्वयं मैंने हिंदी के दस श्रेष्ठ उपन्यासों की जो तालिका प्रकाशित कराई है उसमें उसे सम्मिलित करने में मुझे कोई कठिनाई न होगी। मैं किसी दुविधा के बिना एक उपन्यास को हटाकर इसके लिए जगह बना सकता हूँ। बिना किसी प्रचार या विज्ञापन के ही 'मैला आँचल' हिंदी के उस विस्तृत क्षेत्र में तत्क्षण प्रसिद्ध हो गया जिसमें अपवाद स्वरूप ही कोई पुस्तक इतनी शीघ्र ज्ञात होती है। मैंने इसे 'गोदान' के बाद हिंदी का वैसा दूसरां महान उपन्यास माना है। मुझे संतोष है कि मेरा यह मत दूर-दूर तक प्रतिध्वनित हुआ है।'

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा जी का महत्व इस अर्थ में अधिक हो जाता है कि वे 1954 में प्रकाशित 'मैला आँचल' का आलोचकीय परिचय दे रहे थे। जैसे 'मैला आँचल' एक विशिष्ट कृति है, वैसे ही नलिन जी की समीक्षा भी विशिष्ट है। केवल प्रकाशन वर्ष में ही नहीं, बल्कि बाद के वर्षों में भी नलिन जी की स्थापनाओं पर पर्याप्त वाद-विवाद हुए हैं। जहाँ तक मेरी समझ है प्रेमचंद और रेणु जी की कला का नलिन विलोचन शर्मा जैसा पारखी आलोचक दूसरा नहीं हुआ। नलिन जी साहित्य में खेमेबाजी के विरोधी थे। वे साहित्य के लिए मुक्ति और स्वच्छंदता को आवश्यक कसौटी मानते थे और वह लीक तोड़ने, बनी लीक से हटकर चलने, नई राह बनाने को साहित्य के लिए जरूरी बताते थे। यही नहीं वे कवि के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण और विज्ञान सम्मत दर्शन की आवश्यकता पर बल देते थे। कविता के लिए वह भावना को नहीं, बुद्धि को आवश्यक शर्त बताते थे जिसमें विज्ञान की अहम भूमिका हो। वह विशुद्धतावादी थे जो रचना को सिर्फ रचना में ही देखना परखना चाहते पसंद करते थे। आधुनिकता के प्रबल समर्थक, पर परंपरा के भी उतने ही गहरे जानकार नलिन जी के बारे में आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है कि संस्कार से वह परंपरा के प्रति गहरे रखने वाले विलक्षण व्यक्ति थे।

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा साहित्येतिहास के मौलिक और प्रतिभा-पुरुष तो थे ही, वे मेरे गुरु भी थे, क्योंकि मैं वर्ष 1956 से 1962 तक पटना विश्वविद्यालय का विद्यार्थी था और आचार्य नलिन जी पटना विश्वविद्यालय के स्नातक एवं स्नातकोत्तर हिंदी विभाग के अध्यक्ष। मुझे अच्छी तरह याद है कि हिंदी के क्लास में जब नलिन जी अध्यापन के लिए आते थे तो मेरी कोशिश रहती थी कि उनके समक्ष की आगेवाली मेज पर मैं स्थान ग्रहण करूँ और बड़ी तल्लीनता से उनकी बात सुनता था। उनका शरीर भारी-भरकम और विशाल डील-डौल था। नलिन जी का उन्नत ललाट और भव्य व्यक्तित्व था। यद्यपि अधिकतर वे रिक्शा पर ही चलते थे, मगर रिक्शावाले उन्हें अपने रिक्शा पर बैठाने में हिचकिचाहट महसूस करते थे। सड़कों पर जब वे चलते थे तो लोग उन्हें देखकर स्तंभित हो जाते थे और वे जहाँ के तहाँ खड़े हो जाते थे। उन दिनों पटना विश्वविद्यालय से चिंतक एवं विचारक शिवेन्द्र सिन्हा के संपादकत्व में 'फक्किका' नाम्नी एक पत्रिका निकलती थी जिसमें आचार्य नलिन विलोचन शर्मा जी को लक्ष्य कर पत्रिका के व्यंग्य स्तंभ -'पहचानिए तो' में व्यंग्य-बॉक्स छपा था, रिक्शावाले

खौफ खाते हैं, होटलवाले पनाह माँगते हैं। दिल, दिमाग और देह में घोर प्रतिद्वंद्विता। पहचानिए तो कौन?' पटना विश्वविद्यालय के पूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष आचार्य निशांतकेतु के शब्दों को उधार लेकर कहूँ तो वे सचमुच संवेदना के सम्मर्तन, वैदुष्य की शिखरशीलता और देह की देवोपमता की ऐसी त्रिवेणी तीर्थ राज प्रयाग के बाद तीर्थकर नलिन विलोचन शर्मा में ही थी। मैं उनसे शिक्षा ग्रहण कर धन्य हूँ। वस्तुत: आचार्य नलिन जी पटना विश्वविद्यालय के स्नातक एवं स्नातकोत्तर हिंदी विभाग के अध्यक्ष पद से सुबुद्ध एवं समर्पित शिष्यों की एक सुदीर्घ परंपरा कायम कर गए हैं। पटना कॉलेज का जब मैं विद्यार्थी था तो नलिन जी के साथ डॉ. शिवनंदन प्रसाद तथा डॉ. रामखेलावन पांडेय जैसे हिंदी के विद्वान अध्यापक भी पदस्थापित थे। मेरा इन सभी प्राध्यापकों के साथ व्यक्तिगत संबंध था। इसलिए सबों से मुझे अजस्र और अनाविल स्नेह भी मिला। प्रयोगधर्मा और नकेनवाद (प्रपद्यवाद) के प्रतिष्ठापक आचार्य नलिन विलोचन शर्मा का व्यक्तित्व विलक्षण था। आलोचना की उनकी भंगिमा सर्वथा मौलिक तो होती ही थी, वे ज्ञान के भिन्न-भिन्न अंनुशासन से बिंब, शब्द और विचार लेकर समालोचना उपस्थित करते थे जिससे निश्चित रूप से हिंदी समृद्ध हुई।

आचार्य नलिन जी ने हिंदी को अनेक नए शब्द दिए हैं। उनके कुछ बनाए शब्द हैं- प्रपद्य, नकेन, पुंखानुपुंख, लक्ष्यैकचक्षुष्कता, वेश्मरूपक, नानृण्य, सोल्लुंठ, बिस्रब्ध, असंगृहीतपूर्व, सद्यस्क, आशंसा, संसदस्य, यंत्रिस्म, श्रीमंत, वरटा आदि। उन्होंने अँग्रेजी के कुछ शब्दों का हिंदी में भाषांतर उपस्थित किया, जैसे-Zoology-प्राणिकी, Opthalmology-चाक्षुषी, Pathology-विकृतकी, Geology-भूगर्भिकी, Obsetries-प्रसूतिक्य, Heartbeat-हत्सपंद, Out of date-दिनातीत, He-man-पुंपुरुष इत्यादि। ऐसे शताधिक शब्दों के निर्माण से आचार्य नलिन जी ने हिंदी के शब्द-भंडार की श्रीवृद्धि की है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा द्वारा रचित कुछ मौलिक ग्रंथ इस प्रकार हैं-

1. दृष्टिकोण 2. विष के दांत (कहानी संग्रह)
3. जगजीवन राम (अँग्रेजी में जीवनी) 4. नकेन के प्रपद्य(प्रपद्य संग्रह)
5. साहित्य का इतिहास दर्शन (आलोचना)
6. सत्रह असंगृहीतपूर्व छोटी कहानी-संग्रह
7. नकेन-2(नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार तथा नरेश की प्रपद्य-कविताओं

का संग्रह)

8. मानदंड(आलोचना और अनुसंधान)

9. हिंदी उपन्यास 10. साहित्य तत्व और आलोचना

आचार्य नलिन जी ने अनेक पत्रिकाओं का संपादन भी किया जिनमें 'कविता' शीर्षक द्वैमासिक पत्रिका का विशेष महत्व था। अपने संपादकीय में इन्होंने कविता की एक सार्वभौम तथा सार्वकालिक परिभाषा उपस्थित की। नलिन जी किन्हीं सम्मानीय का सम्मान इस ऊँचाई और मर्यादा से करते थे कि वह अनुकरणीय बन जाता था। उनका जीवन-प्रवाह तथा व्यक्तित्व आभा को किसी निर्धारित निकष पर मूल्याँकित नहीं किया जा सकता। उनका जीवन पहले से बनी-बनाई नहर और उसमें प्रवाहित नदी की तरह नहीं था, वरन् पहाड़ की ऊँचाई से नीचे उपत्यका तक के ही वक्र, कहीं सरल, कहीं उच्छ्ल्ल, कहीं तिर्यक् था, जिसे हम नदी-प्रवाह-पथ कह सकते हैं। व्यक्तित्व के लिहाज से तो वे बहुत लंबे-चौड़े थे ही, सफेद धोती और पूरी बाँह का सफेद कुर्ता पहनकर ही प्रतिदिन विभाग में आते थे।

अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा जो भारतीय और पाश्चात्य दर्शन, संस्कृत साहित्य और शास्त्रार्थ की पांडित्य परंपरा में अद्वितीय माने जाते थे के पुत्र आचार्य नलिन विलोचन शर्मा को अपने पिता से विरासत में युरोपीय साहित्य खासकर अँग्रेजी और फ्रांसीसी साहित्य का ज्ञान प्राप्त था। इतिहास दर्शन और साहित्य शास्त्र के अतिरिक्त समकालीन हिंदी साहित्य के सृजनात्मक लेखन का अद्यतन ज्ञान भी वे रखते थे। वे बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'साहित्य' नामक पत्रिका के संपादक तो थे ही, सम्मेलन के भी वे महत्वपूर्ण पदाधिकारी रहे। बिहार के बाहर के प्राध्यापक या महत्वपूर्ण साहित्यकार जब भी पटना आते थे, तो आचार्य नलिन भी विभाग के छात्रों के लिए उनका व्याख्यान आयोजित करवाते थे। मुझे याद है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. नगेन्द्र, नंद दुलारे वाजपेयी, उपेन्द्र नाथ अश्क, सच्चिदानंद हीरानंद वात्सयायन 'अज्ञेय', जैनेन्द्र कुमार, त्रिलोचन शास्त्री, धीरेन्द्र वर्मा, राम कुमार वर्मा, माता प्रसाद गुप्त, महादेवी वर्मा आदि के व्याख्यान हमलोगों को सुनने का अवसर मिला।

नलिन विलोचन शर्मा जी का जन्म 18 फरवरी, 1916 को पटना में हुआ था। इन्होंने हिंदी एवं संस्कृत में स्नातकोत्तर की डिग्री हासिल कर आरा, पटना तथा राँची में अध्यापन कार्य किया। तत्पश्चात् पटना

विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष हुए और अंत तक वहीं रहे। नलिन जी आलोचना में टी.एस. इलियट के समर्थक थे, लेकिन इलियट की तरह वे न तो धर्म के समर्थक थे और न ही राजतंत्र के। उनकी आस्था विज्ञान के साथ जनता और समाजवाद में थी। डॉ. राममनोहर लोहिया उनके परम मित्र थे। वे साहित्य के मूल्याँकन के लिए किसी साहित्येतर आधार उर्फ राजनैतिक विचारधारा को महत्व नहीं देते थे। वैसे अकादमिक, प्रगतिवादी और अज्ञेयवादी आलोचना रूढ़ियों से वे निरंतर संघर्ष करते रहे।

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा जी का निधन मात्र 45 वर्ष 7 महीने की अल्पायु में 12 सितंबर, 1961 ईस्वी को अपराह्ण में हो गया और उनके आकस्मिक निधन की वजह से समस्त हिंदी जगत में हाहाकार मच गया। मैं उस वक्त पटना विश्वविद्यालय के श्रम एवं समाज कल्याण विभाग में स्नातकोत्तर के प्रथम वर्ष का छात्र था। निधन की खबर मिलते ही मेरी आँखों में आँसू भर आए। मेरे गुरु नलिन जी अपने जीवन-काल में ही जीवन-मुक्त हो गए। कीर्ति और प्रतिष्ठा को मोह-जाल इन्हें फँसा न सका और विषम परिस्थिति में भी वे विचलित न हुए। यश की कामना इन्हें उद्विग्न न कर सकी। कामिनी-कंचन की आसक्ति से ये विरत रहे। साहित्य को इनकी देन अतुलनीय मानी गई। जीते-जी भी इन्होंने सम्मान पाया और मरणांतर भी स्पृहणीय सम्मान इन्हें यथेष्ट मिला। मेरे जीवन पर इनके व्यक्तित्व की विशेषताओं का पूरा प्रभाव पड़ा। मेरी पूरी कोशिश होती है कि उनके द्वारा बताए गए मार्ग पर मैं हमेशा चलता रहूँ और किसी की ऊँगली मेरी ओर न उठे। मात्र 45 साल की आयु में ही उन्होंने अपने विलक्षण सर्जनात्मक और आलोचना-दृष्टि से न केवल हिंदी साहित्य जगत को आंदोलित कर दिया, बल्कि उसे एक नई दिशा प्रदान की। आधुनिकता और मनोवैज्ञानिकता के प्रति आस्था रखने वाले इस विलक्षण आलोचक के असामयिक देहावसान से निश्चय ही हिंदी की बड़ी क्षति हुई, क्योंकि उनकी असाधारण मेधा, विद्वता, मौलिक सूझ-बूझ और तीक्ष्ण दृष्टि के समुचित लाभ से हिंदी जगत वंचित रह गया। लीक से हटकर सोचने वाले लोग अक्सर आधुनिकता की तुलना में परंपरा की अवहेलना कर देते हैं, पर आचार्य नलिन जी आधुनिकता के प्रबल पक्षधर होने के साथ परंपरा के भी गहरे जानकार थे, यह तथ्य खासतौर पर युवा आलोचकों के लिए अनुकरणीय है। परिष्कृत संस्कार और बहुमुखी प्रतिभा के धनी अपने प्राध्यापक आचार्य नलिन जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से हमें सदैव रोशनी मिलती रहेगी। ऐसे

अप्रतिम शब्द-साधक से मुझे छात्र के रूप में जो कुछ मिला उसके लिए मैं उनकी स्मृति को नमन करते हुए कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। आपने जो उपकार किया है उसका मूल्य नहीं चुका सकता।

'आत्मकथा' किसी व्यक्ति के द्वारा लिखी गई अपनी जीवनी होती है और 'जीवनी' किसी दूसरे के द्वारा लिखी गई किसी दूसरे की आत्मकथा होती है। मेरे गुरुदेव आचार्य नलिन विलोचन शर्मा जी ने कभी कोई आत्मकथा नहीं लिखी मगर भारत सरकार के पूर्व उपप्रधानमंत्री बाबू जगजीवन राम के जीवन पर आधारित अँग्रेजी में 'जगजीवन राम' नामक जीवनी अवश्य लिखी। जैसा कि नलिन जी के शिष्य रहे और हिंदी साहित्य के एक सशक्त हस्ताक्षर निशांतकेतु जी का मानना है और मैं भी उनके विचार से पूर्णतः सहमत हूँ कि 'उनकी टक्कर का न तो कोई प्रोफेसर उस समय था और न कोई समालोचक। उनकी प्रखर प्रतिभा और ज्ञानात्मक संवेदना की दृष्टि से उस समय किसी भी आलोचक की उतनी नहीं थी जितनी उनकी ख्याति थी। उनकी अंतः अनुशासनिक ज्ञान मीमांसा यद्यपि हिंदी जगत में बहुत सारे लोगों को मालूम नहीं है, इसलिए व्यापक चर्चा के केंद्र में वे नहीं बन पाए। उन्होंने बहुत कम लिखा है, पर जितना भी लिखा है, उसका स्थायी क्लासिक महत्व है।' आचार्य नलिन विलोचन शर्मा जी के पास विभिन्न महाविद्यालयों के प्राचार्य तथा विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक साहित्यिक शोध में सुदुरवर्ती क्षेत्रों से अपनी 'थीसिस' में सलाह लेने आया करते थे और वे बड़ी सहजता से उन लोगों को सलाह देते थे। उन्होंने न कभी किसी की उपेक्षा की और न ही किसी को निराश और हताश। धीर-गंभीर भाव से यथोचित सुझाव देते चले जाते थे। वैसा सुहृद और मधुरालापी साहित्यकार का मिलना आज के दौर में असंभव तो नहीं, पर दुर्लभ अवश्य है। वैसे मित्र-वत्सल और साहित्यिक समाज को धन्य करने वाले शिष्ट पुरुष तथा अपने गुरुदेव के प्रति मैं अपना सम्मान भाव अर्पित करता हूँ उन्हीं की 'गीत-दर्शन' कविता की निम्न पंक्तियों से-

'एक तारे की कानी आँख से
चू पड़ा अश्रु-बिंदु एक ही।
टूटा तारा देखता रहा
यद्यपि याद था, नहीं देखना चाहिए।
लंगड़े का गिर जाना जितना दुखद
उतना ही मर्म वेधक रोना करने का।'

प्रो. रामेश्वर सिंह कश्यप : हिंदी से लेकर भोजपुरी साहित्य में, जो 'लोहा सिंह' के नाम से प्रसिद्ध थे

आकाशवाणी, पटना से प्रसारित रेडियो नाटक 'लोहा सिंह' के 'जय हिंद फाटक बाबा' और 'का कहती हो खदेरन की मदर' संवाद अदायगी को कौन भूल सकता है? 'लोहा सिंह' नामक अपने नाटक के एक पात्र लोहा सिंह के नाम का पर्याय बन चुके प्रो. रामेश्वर सिंह कश्यप अपनी नूतन भाषा शैली के लिए हिंदी और भोजपुरी साहित्य में खासे चर्चित रहे। प्रो. कश्यप जी ने हिंदी और भोजपुरी को मिश्रित कर एक नयी भाषा विकसित की। यह भाषा के क्षेत्र में उनका एक अद्‌भुत प्रयोग रहा। जब हम भोजपुरी के तीन नाटककार की त्रयी बनाते हैं, तो उसमें एक नाम रामेश्वर सिंह कश्यप का आता है। दो अन्य नाम हैं भिखारी ठाकुर और राहुल सांकृत्यायन।

सेना के अवकाश प्राप्त अधिकारी और लोहा सिंह के नाम से चर्चित प्रो. रामेश्वर सिंह कश्यप जब पटना के बी. एन. कॉलेज में हिंदी के प्राध्यापक थे, तो मैं पटना कॉलेज का विद्यार्थी था। उनके नाटक 'लोहा सिंह' की लोकप्रियता जब आकाशवाणी, पटना से प्रसारित होने लगा, तो प्रो. कश्यप जी पटना विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं के बीच चर्चा का विषय बन गए और लोग उन्हें देखने तथा चर्चित संवाद को उनके मुँह से सुनने के लिए लालायित रहते थे। कई बार सभा-संगोष्ठियों में उनके उद्‌गार सुनने तथा बातचीत करने का सौभाग्य मुझे मिल चुका है। लोक से उठाए उनके बिम्ब अद्‌भुत होते थे। नाटक, उपन्यास, रेखाचित्र के क्षेत्र में उनका अप्रतिम योगदान है। प्रो. कश्यप जी अपने नाटकों और एकाकी के लिए तो जाने ही जाते रहे, बिम्बात्मक कथ्या के लिए भी वे ख्यात हैं-यथा

'गोरकी बिटियवा टिकुली लगा के
पुरब किनारे तलैया नहा के
चितवन से आन जादू चला के
लजा,. तब बिहँसी खिलखिला के'

प्रो. कश्यप पी इसमें भोर की कल्पना एक नटखट बिटिया के रूप में जिस अंदाज में किया है उसे दाद दिए बिना नहीं रहा जा सकता।

बिहार के सासाराम से पाँच किलोमीटर की दूरी पर बसा गाँव सेमरा में 12 अगस्त, 1927 में जन्मे रामेश्वर सिंह कश्यप जी की कालजयी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं जिनमें सुप्रसिद्ध हैं-

1. लोहा सिंह-नाटक-1955
2. लोहा सिंह का नया मोर्चा
3. काया पलट
4. तराजू का फेर-नाटक
5. समाधान काव्य-नाटक
6. स्वर्ण रेखा-उपन्यास
7. नीलकंठ निराला-1959
8. बेकारी का इलाज-एकांकी संग्रह
9. रंग और रेखाएँ-संस्मरण
10. बाज आई अइसन मेहरारू से
11. भोजपुरी के रूपरेखा

24 अक्टूबर, 1992 को प्रो. कश्यप जी के आकस्मिक देहावसान की वजह से इनकी कई रचनाएँ प्रकाशित नहीं हो पाई, फिर भी इनके लेखन, अध्यापन, रंगमंच तथा रेडियो तक में हुए उनके योगदान उल्लेखनीय हैं। पटना विश्वविद्यालय में अध्यापन, सासाराम के एस पी जैन कॉलेज में प्राचार्य और फिर वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय आरा (भोजपुर) के कुलपति के रूप में उनकी कार्यशैली अविस्मरणीय है और जिसके सब लोग कायल हैं।

बिहार के सासाराम जैसी छोटी जगह से विश्व स्तर पर पहचान बनाने वाले रामेश्वर सिंह 'कश्यप' अँगुलियों पर गिने जाने वाले लोगों में थे, जो अपने रेडियो नाटक 'लोहा सिंह' की वजह से एक समय जासूसी और बहादुरी के प्रतीक 'शरलॉक होम्स' और जेम्स बांड के नाम से विख्यात हुए। आकाशवाणी के साठ के दशक में पटना केंद्र के चर्चित नाटककार और अभिनेता रामेश्वर सिंह 'कश्यप' (लोहा सिंह) ने महाकवि 'निराला' के जीवन संघर्ष पर केंद्रित काव्य रूपक नीलकंठ निराला 1959 में लिखा था। यह युवाओं द्वारा आज भी छोटे-छोटे मंचों से खेला जा सकता है। इस नाटक में निराला के अतिरिक्त प्राय: सभी पात्र काल्पनिक हैं। इसके पात्र उन व्यक्तियों के प्रतिनिधि हैं जो निराला के जीवन से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे हैं।

1966 में इनके 'लोहा सिंह' नाटक का बाद में 'लोहा सिंह' नाम की फिल्म बनी, जिसमें प्रो. कश्यप जी ने लेखन से लेकर अभिनय तक किया था। यद्यपि फिल्म को अपेक्षित सफलता नहीं मिली थी, बावजूद इसके प्रो. रामेश्वर सिंह कश्यप जी का नाम हिंदी व भोजपुरी साहित्य में अविस्मरणीय है।

डॉ. प्रभा खेतान :

जिनके अंदर की स्त्री ने भी बहुत दर्द सहा

'मैं भी स्त्री हूँ और मेरे अंदर की स्त्री ने भी बहुत दर्द सहा है...' यह पंक्ति है हिंदी में स्त्रीवाद की वैचारिक लेखिका डॉ. प्रभा खेतान की जिसे उन्होंने अपनी आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' में लिखी है। प्रभा खेतान का जीवन भावनात्मक संघर्षो से लबरेज रहा है जिसे उनकी इस आत्मकथा पुस्तक को पढ़कर आसानी से अंदाजा लगाया जा सकता है। पिछले दशक में प्रकाशित हिंदी की आत्मकथाओं में प्रभा खेतान की यह आत्मकथा कई मामले में हिंदी की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक है, जो कई सवालों को उठाती और नए सिरे से उनपर सोचने को मजबूर करती है।

नारीवादी लेखिका प्रभा खेतान हिंदी जगत में तब बहुचर्चित हुई जब उन्होंने फ्रेंच की मशहूर लेखिका सिमोन द बोउवर की चर्चित पुस्तक 'द सेकेंड सेक्स' का 'स्त्री उपेक्षिता' नाम से हिंदी में अनुवाद किया। विश्व के स्तर पर प्रख्यात स्त्रीवादी रचनाकार सिमोन द बोउवर की अत्यंत चर्चित पुस्तक 'द सेकेंड सेक्स' का प्रभा खेतान के द्वारा किया गया हिंदी अनुवाद वस्तुत: स्त्रीवादी साहित्य में दिलचस्पी रखने वालों के बीच बेहद लोकप्रिय है। औरत जन्म से औरत नहीं होती, बल्कि बनाई जाती है, सिमोन की यह पंक्ति करीब-करीब जुमला बन चुकी है जिसका बहुत श्रेय इसकी अनुवादक प्रभा खेतान को जाता है। हिंदी में स्त्री-विमर्श के पैरोकार सृजनात्मक साहित्य के वैचारिक लेखन में प्रभा खेतान का नाम उँगली पर उन गिने-चुने रचनाकारों में आता है जिन्होंने स्त्री विमर्श पर वैचारिक लेखन किया है। नि:संदेह प्रभा खेतान ने कथाकार और स्त्रीवादी अवधारणाओं के व्याख्याकार के रूप में अपनी एक अलग पहचान बनाई। जीवन और साहित्य में कई वर्जनाओं को तोड़ने वाली प्रभा का वैचारिक लेखन स्पष्टता और साफगोई से भरा था।

1 नवंबर 1942 को कोलकाता के एक मारवाड़ी परिवार में जनमी प्रभा खेतान अपने सात भाई-बहनों में पाँचवी संतान थी। नौ वर्ष की उम्र में ही पिता का साया उनके सिर से उठ गया था। कोलकाता के बालीगंज शिक्षा सदन से आरंभिक शिक्षा ग्रहण कर प्रभा खेतान ने प्रेसीडेंसी कॉलेज से दर्शनशास्त्र में स्नातकोत्तर करने के बाद ज्यांपाल सात्र के अस्तित्ववाद पर पीएच.डी. किया। फिर अमेरिका के लॉस एंजेल्स से ब्यूटी

थेरेपी का प्रशिक्षण लेने के पश्चात् उन्होंने कोलकाता में 'फिगरेट' नामक महिला स्वास्थ्य केंद्र की स्थापना कर अपने सार्वजनिक जीवन की शुरुआत की। बाद के दिनों में डॉ. खेतान ने अपने को एक उद्योगपति के रूप में स्थापित किया और वह चमड़े का सामान निर्यात करने वाली कंपनी 'न्यू होराइंजन लिमिटेड' की प्रबंध निदेशक भी रहीं। करीब एक सौ अड़तीस साल पुरानी संस्था कलकत्ता चैंबर ऑफ कामर्स की वे पहली महिला अध्यक्ष रहीं। हिंदी की सुप्रसिद्ध स्त्रीवादी लेखिका, उद्यमी और समाजसेविका डॉ. प्रभा खेतान का 66 वर्ष की उम्र में विगत 19 सितंबर 2008 को कोलकाता के साल्ट लेक स्थित आमरी अस्पताल में निधन हो गया। हिंदी साहित्य की जीवन भर सेवा करने वाली डॉ. खेतान अविवाहित थीं और उन प्रतिभाशाली महिलाओं में थीं जिन्हें लक्ष्मी और सरस्वती दोनों से वरदान प्राप्त था।

डॉ. प्रभा खेतान ने पूर्ववर्ती दौर में काव्य रचना की और परवर्ती दौर में गद्य लेखन। उन्होंने अपनी लेखन यात्रा की शुरुआत ही कविता से की थी। सातवीं कक्षा में अध्ययन करते हुए ही उन्होंने जो कविता लिखी वह 'सप्रभात' में छपी थी। उनका पहला कविता संग्रह 'अपरिचित उजाले' सन् 1981 में प्रकाशित हुआ। अन्य काव्य संग्रहों में 'सीढ़ियाँ चढ़ती हुई मैं'(1982), एक और आकाश की खोज(1985), 'कृष्णंधर्मा मैं' (1986), हुस्न बानों और कविताएँ(1987) और 'अहिल्या' 1988 में छपा। इसी प्रकार गद्य-लेखन में डॉ. खेतान का पहला उपन्यास 'आओ पेपे घर चलें'(1990), ताला-'बंदी'(1991), 'अग्नि संभवा'(1993), 'छिन्न मस्ता' (1994), 'अपने-अपने चेहरे'(1996) और 'पीली आँधी'1997 में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त 'भूमंडलीकरण और स्त्री' शीर्षक से एक किताब और प्रकाशित हुई, क्योंकि वह बहुत सारे देशों में घूमती रहीं और व्यवसाय में लगी रहीं। इसी प्रकार 'उपनिवेश में स्त्री', 'बाजार के बीच', 'बाजार के खिलाफ', 'सार्त्र का अस्तित्ववाद', 'शब्दों का मसीहा' और इनकी अंतिम पुस्तक 'भूमंडलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र' शीर्षक से छपी, जो इनके विचारोत्तेजक निबंधों का संकलन है। डॉ. प्रभा खेतान के संपादन में 'हंस' का स्त्री विशेषांक, 'भूमंडलीकरण: पितृसत्ता के नए रूप' छपे जिसकी मुक्त कंठ से सराहना की गई। हालांकि डॉ. खेतान की दो किताबें 'एड्स' और 'स्त्रीपक्ष' छपीं पर पता नहीं क्यों वे इसकी चर्चा अपनी किताबों की सूची में नहीं करती थीं।

डॉ. प्रभा खेतान सदैव इस बात पर जोर देती रहीं कि

स्त्रीवादी चिंतन प्रक्रिया और पुरुषवादी चिंतन-प्रक्रिया में मौलिक भेद है। इसी को लेकर दुनिया भर के नारीवादियों से डॉ. खेतान का इसरार था कि 'स्त्री मात्र का यही भूमंडलीकरण दृष्टिकोण होना चाहिए, ताकि आपसी भिन्नता के बावजूद एक संघटित एकता, एक आलोचनात्मक सार्वत्रिकता और समग्रता को स्थापित किया जा सके।

सन् 2003 में डॉ. खेतान के दिल्ली आगमन पर साहित्यकार शशिकांत ने स्त्री और समाज के उन्नयन तथा भूमंडलीकरण के सवालों को लेकर बातचीत की थी जिसमें भूमंडलीकरण के प्रश्न पर उन्होंने कहा था कि बाजार मुक्तश्रम संसाधन की खोज है, पर यह केवल आर्थिक खोज नहीं है। इराक युद्ध के बाद अमेरिका यह समझ चुका है कि साम्राज्यवाद का प्रसार वह केवल शस्त्र की बदौलत नहीं कर सकता। अब वे एक नए तरह का उपनिवेश बनाना चाहते हैं, लेकिन अब ये हमारी जमीन पर आकर नहीं, बल्कि चाहते हैं कि जो कुछ यहाँ घटे उसके निर्देश पर घटे। यह एक ऐसा साम्राज्य होगा जिसमें पूरी दुनिया में उनका राज होगा। डॉ. खेतान का मानना था कि आर्थिक उदारीकरण, बाजार, दूरदर्शन क्रांति आदि ने स्त्रियों को आगे बढ़ने के अवसर तो दिए हैं, मगर देह को बाजारू भी बना दिया है। इसी संदर्भ में नारीवादी आंदोलन पर टिप्पणी करते हुए डॉ. खेतान ने कहा था कि स्त्री की मुक्ति का जो सवाल है उसके केंद्र में मानववाद है इसलिए नारीवाद को हर तरह की मतांधता से बचना होगा। स्वयं अपनी आत्मालोचना करनी होगी, क्योंकि बहुधा देखने में आया है कि किसी समस्या के निराकरण के लिए विचारधारा की जरूरत होती है, पर वह विचारधारा अपने को सार्वभौम मानने लगती है। डॉ. खेतान का स्पष्ट मत था कि स्त्री आज उपनिवेश में है और यह उपनिवेश स्त्री का दमन करता है लेकिन स्त्री से ही ताकत भी हासिल करता है।

दलितों की तरह स्त्रियों के बारे में सिर्फ स्त्रियों को ही लिखना चाहिए, इस सवाल पर डॉ. खेतान यह कतई नहीं मानती कि स्त्री पर सिर्फ स्त्री ही लिख सकती है। ऐसा करने से वह बौद्धिक वर्ग के समर्थन से वंचित हो जाएँगे। स्त्री विषयक उनके निबंधों के तीन संग्रह उपनिवेशवाद और स्त्री, मुक्ति कामना की दस वार्ताएँ और बाजार के खिलाफ हिंदी जगत में स्त्री-विमर्श को नई ताप देने वाले साबित हुए। सुप्रसिद्ध लेखिका महाश्वेता देवी डॉ. खेतान के स्त्री चिंतन पर कहती हैं, आज स्त्री विमर्श को केंद्र में आने के पीछे जिन चुनिंदा लेखकों व कार्यकर्ताओं का योगदान है उनमें प्रभा

खेतान अनन्य हैं। स्त्री विषयक किताबों ने लेखिका को स्त्रीवादी चिंतक के रूप में प्रतिष्ठित किया। स्त्री विमर्श में सिर्फ लेखक होने के नाते ही वे शरीक नहीं होती रहीं, बल्कि स्त्री चेतनावाले कार्यो में सक्रिय रूप से हिस्सा भी लेती रहीं।

प्रभा खेतान की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि वे बड़ी सामाजिक कार्यकर्ता भी थी। उन्होंने अनेक लेखकों और पत्र-पत्रिकाओं को समय-समय पर आर्थिक सहयोग किया। डॉ. खेतान आज भले सशरीर हमारे बीच न हों, मगर अपने सृजन की वजह से वे लंबे समय तक बची रहेंगी और लोगों को प्रेरित करती रहेंगी।

डॉ. कुमार विमल : जो हिंदी साहित्य में सौंदर्य शास्त्रीय आलोचना के जनक थे।

हिंदी साहित्य के सुप्रसिद्ध साहित्यकार एवं कवि डॉ० कुमार विमल सौंदर्य शास्त्रीय आलोचना के जनक थे। सौंदर्य शास्त्रीय आलोचना का नया मापदंड स्थापित करने वाले डॉ० विमल ने 3-14 वर्ष की आयु में ही काव्य की रचना शुरू कर दी थी और उनकी यह यात्रा 80 वर्ष की उम्र तक जारी रही। प्रतिकूलता के बावजूद उन्होंने हिंदी साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण जगह बनाई और ऊँची प्रतिष्ठा हासिल की। उन्होंने कठिन विषयों पर अनेक सुंदर और सारगर्भित लेख लिखे जिसे सामान्य पाठकों ने काफी पसंद किया। हिंदी शास्त्रीय विद्वानों के अंतिम साधक डॉ० कुमार विमल आचार्य नलिन विलोचन शर्मा तथा आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा की परंपरा की अंतिम कड़ी थे। मूलत: लखीसराय के पर्चना गाँव के निवासी डॉ० कुमार विमल का जन्म ननिहाल में कालूचक, विश्वपुरिमा, भागलपुर में 12 अक्टूबर 1931 को हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा भागलपुर में हुई थी फिर पटना विश्वविद्यालय से इन्होंने हिंदी में स्नातकोत्तर की डिग्री हासिल की। इन्होंने पटना विश्वविद्यालय से ही सौंदर्य शास्त्र विषयक बहुप्रशंसित शोध प्रबंध पर डी० लिट् की उपाधि प्राप्त की। सौंदर्य शास्त्र के तत्त्व और छायावाद का सौंदर्य शास्त्रीय अध्ययन शोध ग्रंथ को डॉ० नगेंद्र ने हिंदी में सौंदर्य शास्त्र पर पहला प्रामाणिक ग्रंथ माना।

डॉ० कुमार विमल ने तीन दर्जन से अधिक श्रेष्ठ पुस्तकों की रचना की जिनमें निम्नांकित पुस्तकें प्रमुख हैं-- कविता संग्रह में 'अंगार' (1949), 'ये संपुष्ट सीपी के' (1972), 'सर्जना के स्वर' (1986), 'ये अभंग अनुभव अमृत' (1975), 'युग मान बापू' (1987), 'एक राष्ट्र है एक देश है' (1988), 'कविताएँ कुमार विमल की' (1994) और सागरमाथा (2002)। प्रमुख आलोचना ग्रंथ में 'मृत्यु और मिमांसा' (1956), 'महादेवी वर्मा: एक मूल्याँकन' (1962), 'नई कविता, नई आलोचना और कला' (1963)-पुरस्कृत आधुनिक हिंदी काव्य (1963), सौंदर्य शास्त्र के तत्त्व (1966)-पुरस्कृत, कला विवेचन (1968)-पुरस्कृत छायावाद का सौंदर्य शास्त्रीय अध्ययन (1970), महादेवी का काव्य सौष्ठव (1983), साहित्य चिंतन और मूल्याँकन (1996)। तीन शिला कृतियाँ (1999),

उत्तमा (2002)., मिसलेनियस (अँग्रेजी) (2002), साहित्य विवेक (2003)।

संपादित ग्रंथ में – आधुनिक हिंदी साहित्य (1965), साधना के नए आयाम (1970), काव्य रचना प्रक्रिया (1973), गंध वीधी (महाकवि सुमित्रानंदन पंत का काव्य संसार (1973) विस्तृत भूमिका सहित संपादन संकलन (1973), भारतीय साहित्य में रामकथा (1986)। अनूदित ग्रंथ एवं अन्य-निकरोलस शेसिक (1992), अंतराल (संस्मरण), अनुचिंतन (निबंध संग्रह)। इनकी रचनाएँ अँग्रेजी, चेक, तेलुगु, कश्मीरी, गुजराती, मराठी, उर्दू, बंगला समेत कई अन्य भाषाओं में अनूदित हुई हैं। इनके निधन के दो दिनों पूर्व इनकी आख़िरी पुस्तक स्त्री विमर्श प्रकाशित हुई थी जिसे अस्पताल में इलाज के दौरान भी वे पढ़ते रहे थे।

डॉ० कुमार विमल डॉ० राजेन्द्र प्रसाद शिखर सम्मान, बिहार, सुब्रह्मण्य भारती पुरस्कार, हिंदी संस्थान, आगरा, हरजीमल डालमिया पुरस्कार, दिल्ली, राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह सम्मान वाचस्पति पुरस्कार, प्रयाग से नवाजे गए। ज्ञानपीठ पुरस्कार से संबंधित हिंदी समिति, पुरस्कार योजना समिति, उत्तर प्रदेश, साहित्य अकादमी, दिल्ली, भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर, के अतिरिक्त भारत सरकार के कई मंत्रालयों के हिंदी सलाहकार समिति के डॉ० विमल सदस्य रहे।

इसके अलावा डॉ० कुमार विमल ने बिहार राष्ट्राषा परिषद् के निदेशक, साहित्यकार कल्याण कोष, पटना के संस्थापक-सचिव, बिहार लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष, बिहार अंतर विश्वविद्यालय बोर्ड के अध्यक्ष, हिंदी प्रगति समिति, राजभाषा विभाग, बिहार के अध्यक्ष, बिहार इंटरमीडिएट शिक्षा परिषद् के अध्यक्ष तथा बिहार बाल श्रमिक आयोग के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया। वे नालंदा खुला विश्वविद्यालय में चले गए। यहाँ वे 1968 तक रहे।

गुटबाजी और साहित्यिक मंच से दूर रहकर भी डॉ० कुमार विमल ने जो सर्व संपादन विशिष्टता अर्जित की, उसके पीछे कारण हैं- विस्तृत अध्ययन, विचारों की मौलिकता और साहित्य साधना में विश्वास। लंबे अरसे से हृदय गति से पीड़ित डॉ० कुमार विमल का निधन विगत 26 नवंबर 2011 को हृदय गति रूक जाने के कारण हो गया। वे अपने पीछे धर्मपत्नी सुमित्रा देवी, पुत्र संजय व सधांशु, पुत्री शशि प्रभा, प्रतिभा प्रियदर्शी, अलका तथा अनुपमा समेत भरा-पूरा परिवार छोड़ गए। उनकी मृत्यु से हिंदी साहित्य ने एक प्रखर लेखक व आलोचक खो दिया। अपने रचनात्मक अनुदानों के द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर उन्होंने बिहार का नाम रौशन किया जिसके

लिए वे सदैव याद किए जाएँगे।

यह मेरा सौभाग्य है कि मेरे लिए कुमार विमल जैसे सुप्रसिद्ध साहित्यकार का दरवाजा साहित्यिक मार्गदर्शन के लिए खुला रहा और उनका सान्निध्य मुझे प्राप्त था तथा अक्सरहा दूरभाष पर मुझसे बात किया करते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि एक बार रात दस बजे जब मैं सोने जा रहा था डॉ० विमल जी ने दूरभाष पर मुझसे बात करने की इच्छा जताई और बात करने पर उन्होंने तत्कालीन रेल मंत्री द्वारा नियुक्त रेलवे हिंदी सलाहकार समिति के सदस्य के रूप में योगदान करने का मुझसे सुझाव देने का इसलिए कहा था कि उसके पूर्व मैं भी रेलवे हिंदी सलाहकार समिति का सदस्य था। मैंने स्पष्ट रूप से उनसे कहा कि आपके स्वास्थ्य को देखते हुए यह पद आपके लायक नहीं है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि उन्होंने मेरी सलाह पर योगदान नहीं किया। इसी प्रकार बिहार इंटरमेडिएट कॉन्सिल का अध्यक्ष पद भी स्वीकार नहीं करने की मैंने सलाह दी थी जिसे उन्होंने नहीं मानी और जिसका नतीजा हुआ कि उन्हें कुछ ही दिनों के बाद त्यागपत्र देना पड़ा। सौंदर्य शास्त्र के इस शिखर पुरुष के महाप्रयाण से मुझे व्यक्तिगत क्षति हुई।

सही मायने में डॉ० कुमार विमल जी का निधन सौंदर्य शास्त्रीय लेखन परंपरा के एक सशक्त वाहक का हमसे छिन जाना माना जाएगा। अध्यवसाय का महत्त्व जानने वाले डॉ० विमल पूर्णतया एक तेज तपस्वी की तरह कर्मयोग के अनुभव पाठ से रमे हुए थे। हिंदी साहित्य के इतिहास में डॉ० कुमार विमल की हिंदी सेवा का मूल्याँकन और आकलन प्रस्तुत करने से हिंदी साहित्य का गौरव और भी निखरता है और लोग जान पाते हैं कि आज का हिंदी साहित्य अब इने-गिने हाथों की बात नहीं रह गया है। मुझे विश्वास है कि आने वाले दिनों में भी हिंदी जगत डॉ० विमल के महत्त्वपूर्ण प्रयास को उन्मुक्त भाव से अंगीकार एवं स्वीकार करेगा।

<u>खुशवंत सिंह</u> :
बेबाकी से बात कहना जिनकी ख़ाशियत थी

भारत की पत्रकारिता के सशक्त लेखक और पत्रकार खुशवंत सिंह का लेखन विविधताओं से भरा था। वे अँग्रेजी के जाने-माने लेखक होने के साथ-साथ स्तंभकार, इतिहासकार, राजनयिक एवं पत्रकार तो थे ही, इन सबसे बढ़कर वह एक जिंदादिल इंसान थे। निराशा या नैराश्य उनके शब्दकोश में नहीं था। वह किस्सागो थे। उनके पास खज़ाना था किस्सों और फसानों का। दिल्ली के इतिहास और संस्कृति के विशेषज्ञ, खुशवंत सिंह ने भारत-पाक विभाजन पर 'ट्रेन-टू-पाकिस्तान' जैसा उपन्यास लिखा। देश विभाजन का विषय उनके दिल के बहुत करीब था। उन्होंने कहा था, 1947 के विभाजन से अगर कोई सबक मिलता है, तो सिर्फ इतना कि भविष्य में ऐसा कभी नहीं होना चाहिए और यह ख्वाहिश इसी स्थिति में पूरी हो सकती है जब हम उपमहाद्वीप की विभिन्न नस्लों और धर्मों के लोगों को एक-दूसरे के करीब लाने की कोशिश करें।' दरअसल, इस उपन्यास में उन्होंने न केवल भारत पाक के विभाजन पर चर्चा की है, बल्कि जिहालत और गरीबी का भी चित्रण किया है जो जनता की परेशानी की असली वजह है।

जिंदगी को ्रा तरतीब से जिने वाले खुशवंत सिंह ने पूरी बेतरतीबी से लिखा। तरतीब से जिने का मेरा अर्थ है कि उन्होंने अपनी दिनचर्या ठीक रखी। सुबह चार बजे बिस्तर से उठ जाना और लिखने बैठ जाना उनकी आदत थी। अखबार आने पर उनके पन्ने-पन्ने पढ़ डालते थे और फिर अध्ययन कक्ष में किसी भी लेखक की किताबें पढ़ जाते थे। दिन में खाना खाने के बाद कुछ देर सो जाते थे और फिर शाम को उनकी महफिल जमती थी, जिसमें शराब के पेग-शेग के बीच अनेक तरह के संजीदा और बेहूदा विषयों पर बातें करते थे। बेतरतीबी से मेरा मतलब यह कि वे साहित्य, राजनीति, इतिहास, कानून के अलावे रूमानियत, रिश्तों और व्यंग्य, जब जो मूड में आया लिख लेते थे। उनका जीवन और लेखन भी विवादों से भरा होता था, खासकर अपने लेखन में शराब और औरतों के जिक्र के लिए । उन्होंने एक सौ से अधिक पुस्तकें लिखीं जिनमें से कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें इस प्रकार हैं--- (1) डेल्ही (2) ट्रेन-टू-पाकिस्तान (3)

सिक्खों का इतिहास (4) द पोट्रेड ऑफ ए लेडी (5) खुशवंतनामा: द लेसन्स ऑफ माई लाइफ (6) सनसेट क्लब (7) किपलिंग्स इंडिया (8) ट्रूथ, लव एंड ए लिटिल मैलिस (9) येन्ड ऑफ इंडिया (10) सेक्स स्कॉच स्कॉलरशिप (11) विंटेज सरदार (12) दि कंपनी ऑफ वुमेन।

खुशवंत सिंह जी की प्रारंभिक शिक्षा मार्डन स्कूल, दिल्ली से प्रारंभ हुई। फिर उन्होंने सेंट स्टीफेन कॉलेज, दिल्ली में पढ़ाई की। कानून की पढ़ाई के लिए वह किंग्स कॉलेज, लंदन गए। भारत वापस आने के पश्चात् उन्होंने वकील के रूप में अपने को स्थापित करना चाहा, किंतु उसमें उन्हें खास सफलता न देखकर उनकी लिखने-पढ़ने की ओर रुचि बढ़ी। विभाजन के बाद उन्हें लाहौर से दिल्ली आना पड़ा और यहाँ आकर वे साहित्य में रम गए। लाहौर में उनके द्वारा देखी गई और छूटी हुई चीजें ही उनकी कहानी की विषय-वस्तु बनीं। इस पर 'मानों माजरा' बाद में 'ट्रेन टू पाकिस्तान' के नाम से चर्चित हुई जिसका पहली बार प्रकाशन 1956 में हुआ। सिख धर्म ग्रंथों के अनुवाद और यूनेस्को पर महत्त्वपूर्ण कार्य करने के दौरान वे पेरिस में रहे। फिर भारत लौटने पर भारत सरकार के प्रकाशन विभाग की पत्रिका 'योजना' के वे संपादक बने। फिर रॉकफेलर फाउन्डेशन के सहयोग से उन्होंने 'ए हिस्ट्री ऑफ सिख' लिखी। इसके अतिरिक्त उन्होंने महाराजा रणजीत सिंह की आत्मकथा तथा 'एंग्लो सिख वार्स' पुस्तकें लिखीं। इसी दौरान उन्होंने हवाई समेत कई अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालयों में अध्यापन भी किया। खुशवंत सिंह जी के संपादन में प्रकाशित 'दि इलस्ट्रेड वीकली ऑफ इंडिया' को काफी प्रतिष्ठा मिली और इसका प्रचार-प्रसार भी बहुत हुआ। इसकी संख्या एक लाख से बढ़कर चार लाख हो गई थी। उन्होंने दि नेशनल हेराल्ड तथा हिंदुस्तान टाइम्स का भी संपादन किया।

इंदिरा गाँधी के बहुत करीबी रहे खुशवंत सिंह सही को सही और गलत को गलत कहने में विश्वास रखते थे, लेकिन इंदिरा जी ने जब आपातकाल की घोषणा की, तो उन्होंने इसका खुलकर विरोध किया। इंदिरा जी ने जब ऑपरेशन ब्लू स्टार करवाया, तो खुशवंत जी ने पद्‌भूषण भारत सरकार को वापस कर दिया था। मगर जब 2007 में पद्‌मविभूषण पुरस्कार से सम्मानित किया गया, तो पूरे आदर के साथ उन्होंने उसे कबूल किया। सन् 1980 से 1986 तक राज्यसभा के वे सदस्य भी रहे।

साहित्य, संस्कृति और सत्ता पर गहरी समझ रखने वाले खुशवंत सिंह जी धर्मनिरपेक्ष प्रतिबद्धता के दुर्लभ लेखक थे। सत्तर

वर्षों के अंतराल में उन्होंने हमेशा शांति और मानवीय जीवन मूल्यों के पक्ष में काम किया। खुद को नास्तिक बताने वाले खुशवंत सिंह जातीय, धार्मिक, असहिष्णुता के खिलाफ खुलकर बोलते-लिखते थे। उनके साप्ताहिक स्तंभ 'न काहू से दोस्ती न काहू से बैर' ने भी उन्हें काफी ख्याति दिलाई। उन्होंने यह स्तंभ 1986 से शुरू किया था।

खुशवंत सिंह अपने समय के सबसे ज्यादा प्रचलित और सत्य बातों को लिखने वाले लेखक के रूप में याद किए जाते रहेंगे। यही कारण है कि उनकी लिखी किताब, नियमित कॉलम और उनके संपादकीय गुणों को लोग आज भी कायल हैं। पिछले दिनों 7 अगस्त, 2017 को खुशवंत सिंह पर विजय नारायण शंकर एवं ओंकार सिंह द्वारा अँग्रेजी में विरचित पुस्तक 'खुशवंत सिंह इन विजग्म एंड इन जेस्ट' का लोकर्पण प्रेस क्लब ऑफ इंडिया में पंजाब के मुख्यमंत्री कैप्टन अमरिन्दर सिंह, योजना आयोग के पूर्व उपाध्यक्ष मोंटेक सिंह अहलुवालिया तथा पूर्व सॉलीसीटर जनरल सोहराबजी के हाथों किया गया। लेखकद्वय ने खुशवंत सिंह के व्यक्तित्व के कुछ रोचक पहलुओं को समेटने का काम किया है जिसमें से अभिनेत्री नर्गिस से संबंधित एक रोचक पहलू आपके समक्ष प्रस्तुत है।

एक बार नर्गिस शिमला में खुशवंत सिंह के घर पर रूकना चाहती थी, क्योंकि खुशवंत सिंह अपनी किताबों में शिमला और अपने कमरे का खूबसूरत वर्णन किए थे। नर्गिस उनके घर पर रूकने के लिए उनसे बातचीत की। इस पर खुशवंत सिंह ने मजाकिया लहजे में कहा कि वह एक शर्त पर अपने बंगला में उन्हें रहने देंगे, जब वे लोगों से बातचीत में यह कहेंगी कि वह खुशवंत सिंह के बेड पर सोयी है। खुशवंत सिंह में हाजिरजवाबी कूट-कूट कर भरी थी।

खुशवंत सिंह का जन्म 2 फरवरी 1915 को हिंदुस्तान के सरगोधा जिले के हदाली गाँव में हुआ था। उनके पिता सर शोभा सिंह दिल्ली के सुप्रसिद्ध ठेकेदार थे। नई दिल्ली स्थित लुटियन जोन तथा कनॉट प्लेस का निर्माण कार्य उन्होंने ही करवाया था। खुशवंत सिंह अपने पिता के जनपथ स्थित बंगले में रहते थे। मगर बाद में उन्होंने दिल्ली के इंडिया-गेट के समीप सुजान सिंह पार्क के फ्लैट में रहना पसंद किया, क्योंकि उनका सारा कुनबा वहीं रहता था। खुशवंत सिंह सुजान सिंह पार्क के भू-तल के फ्लैट में रहते थे। सुजान सिंह पार्क के सटे खान मार्केट के दुकानदारों से खुशवंत सिंह का खासा लगाव था। इस मार्केट में वे हर रोज कभी अपनी

पत्नी और बच्चों के साथ आइस्क्रीम खाने के लिए आते थे। इसी सुजान सिंह पार्क के फ्लैट में खुशवंत सिंह जी का निधन विगत 20 मार्च, 2014 को 99 वर्ष की उम्र में हो गया। वह लंबे समय से बीमार थे। वे अपने पीछे पत्रकार बेटे राहुल सिह और बेटी मीना सहित मेरे जैसे लाखों शुभेच्छू, लेखक, पत्रकार और देश-विदेश में रहने वाले रहनुमाओं को छोड़ गए।

नई दिल्ली में रहने की वजह से खुशवंत सिंह जी के संबंध में कई स्मृतियाँ मेरे मानस-पटल पर उभर रही हैं। एक बार जब डॉ० मनमोहन सिंह दक्षिणी दिल्ली से चुनाव लड़ रहे थे, तो उस वक्त खुशवंत सिंह ने उनके चुनाव प्रचार में सहयोग करते वक्त डॉ० मनमोहन सिंह से कहा था कि यदि वे चुनाव में पैसे नहीं खर्च करेंगे, तो वे हार जाएँगे। चुनाव नतीजा आने पर उनकी भविष्यवाणी सही निकली। इसी बेबाकी ने उन्हें प्रसिद्धि दिलाई। इसमें कोई शक नहीं कि इस देश की पत्रकारिता ने विपरीत परिस्थितियों में भी बेबाकी से अपनी बात कहने वाला जिंदादिल इंसान खो दिया।

खुशवंत सिंह जी ने अपने लिए 98 वर्ष की उम्र में एक स्मृति लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने कहा -- "मैं मरना चाहता हूँ। मैं बहुत जी चुका। मैं जीवन में जो कुछ करना चाहता था कर चुका। इसलिए जीवन से चिपके रहने का कोई मतलब नहीं जब कि करने के लिए कुछ बचा नहीं है? जाने के बाद मैं किस तरह से याद किया जाना चाहूँगा? मैं चाहूँगा कि मुझे एक ऐसे आदमी के रूप में याद किया जाए जिसने लोगों को हँसाया। उन्होंने पुनः लिखा--

'यहाँ वह लेटा है जिसने इंसान भगवान
किसी को भी नहीं छोड़ा
उसके ऊपर आँसू बर्बाद न करें,
वह एक मुश्किल इंसान था
जो अश्लील लिखने को
सबसे बड़ा आनंद मानता था
भगवान का शुक्र है कि वह मर गया
वह बंदूक का बेटा।'

सही रूप से सृजनात्मक जीवन जिने वाले खुशवंत सिंह, जिन्होंने निर्भीक होकर हमेशा अपने विचार व्यक्त किए, की कमी हमारे जैसे हर उस शख्स को खलेगी जो सच को सच और गलत को गलत कहने के हिमायती हैं। हमेशा नए लेखकों का हौसला अफजाई करने वाले यह

स्पष्टवादी टिप्पणीकार जिंदगी की पिच पर शतक से चूक गया और निनानवे साल की उम्र में उनका देहावसान हो गया। कहा जाता है कि हर किसी को मुकम्मल जहां नहीं मिलता, लेकिन खुशवंत सिंह जी ने न केवल मुकम्मल जिंदगी जी, बल्कि उन्हें मुकम्मल जहां भी मिला। विदेश सेवा से लेकर संपादक, इतिहासकार और सशक्त लेखक तक का जीवन जीया और हर जगह अपनी अमिट छाप छोड़ी। कहा जाता है कि वे जानबूझकर विवादों को हवा देते थे। विवादों से उन्हें लेखकीय ऊर्जा मिलती थी और यही ऊर्जा उनसे जीवन पर्यंत स्तंभ लिखवाती रही। उन्होंने पाठकों को हँसाने के साथ टिप्पणियाँ व लेखों से सोचने पर मजबूर भी किया। नि:संदेह उनके जाने से साहित्य व पत्रकार का एक जीवंत कोना सुना हो गया है। खुशवंत सिंह जी ने अपने समकालीनों को लिखने के साथ-साथ खोजने और बेचैन रहने का हुनर भी सिखाया। जिसे आज खोजी पत्रकारिता कहा जाता है उसका बिरवा समकालीन पत्रकारिता में उन्होंने ही लगाया था। धर्म के बारे में उनकी जो भी अवधारणा रही हो, मगर यह सच है कि उन्होंने कभी किसी मजहब का मजाक नहीं उड़ाया। किसी के दिल को चोट पहुँचाने को वे गलत मानते थे।

खुशवंत सिंह पेंगुइन वाइकिंग के सलाहकार भी थे। जब सलमान रूश्दी की किताब 'द सैटेनिक वर्सेस' किताब आई, तो छपने से पहले ही उन्होंने उसकी पांडुलिपि मंगवा ली थी। उसकी पूरी पांडुलिपि पढ़ने के बाद पेंगुइन वाइकिंग को सलाह दी कि भारत में इसे न प्रकाशित की जाए। इस पर पेंगुइनवाले नाराज हो गए। उसके मालिक का फोन आया कि क्या वह उपन्यास को दोबारा पढ़कर अपनी राय बदलेंगे? आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि खुशवंत सिंह जी ने अपनी राय नहीं बदली और किताब को भारत में न छापने पर अड़े रहे। इसके बाद पेंगुइन के मालिकान, जिनके करोड़ों रुपए अग्रिम रायल्टी के रूप में जा चुके थे, का धमकी भरा पत्र आया कि अपनी राय लिखित रूप में दर्ज कराएँ। इसके बाद खुशवंत सिंह जी ने धमाका किया और साफ-साफ अँग्रेजी में लिखा, जिसका भाव था-- यह किताब मुसलमानों की भावनाओं को ठेस पहुँचाएगी... इंग्लैंड में भी आपको यह सांसत में डाल सकती है।

राजनेता उनके दोस्त थे, पर राजनीति नहीं -- यह आपातकाल ने उन्हें सिखाया था। उसके बाद वे सावधान हो गए थे और अपनी बात कलम के माध्यम से ही कहा करते थे। दिल्ली का यह खास निवासी हमारी स्मृतियों से कभी ओझल होने वाला नहीं। जिस शख्स ने शानदार तरीके से जिया और

जमकर लिखा वह भला हमारी स्मृतियों से कैसे ओझल हो सकता है?

यह बात सच है कि महिलाओं को खुशवंत सिंह कामुक नजर से देखते थे, मगर इसका उन्हें दुख रहा। मात्र एक-डेढ़ वर्ष पूर्व प्रकाशित अपनी आत्मकथा 'खुशवंतनामा-द-लेसंस ऑफ माई लाइफ' में उन्होंने लिखा है--- 'मैंने कभी भी इन भारतीय सिद्धांतों में विश्वास नहीं किया कि मैं महिलाओं को अपनी माँ, बहन या बेटी के रूप में सम्मान दूँ। उनकी जो भी उम्र हो, मेरे लिए वे वासना की वस्तु थीं और हैं। मुझे इस बात का दुख है कि मैं हमेशा अय्यास व्यक्ति रहा। मैंने बेकार के रिवाजों और सामाजिक बनने में अपना बहुमूल्य समय बर्बाद किया।' खुले दिल के इस इंसान ने लेखक बनने के बारे में खुद लिखा है 'अच्छा लेखक बनने के लिए आपको पूरी तरह से ईमानदार होना चाहिए और बोलने से डरना नहीं चाहिए। आपको कड़ी मेहनत करने की आदत डालनी चाहिए और लंबे समय तक बैठने की क्षमता। आपके अंदर वह संकल्प होना चाहिए कि आप उठेंगे जब वह कागज आपके लेखन से भर न जाए। इससे फर्क नहीं पड़ता कि आप उसे बकवास से भर देते हैं। अनुशासन का फायदा होता है। अभ्यास उतना कीजिए जितना कर सकते हैं।'

बेबाकी से बात कहने में खासियत रखने वाले इस महान पत्रकार एवं सशक्त लेखक को हिलायर बेल्लोक की इन पंक्तियों से मैं अपना सम्मान निवेदित करता हूँ---

'जब मैं मरूँ तो मुझे उम्मीद है हो सकता है यह कहा जाए: उसके पाप गहरे थे, लेकिन उसकी किताब पढ़ी गयी।'

प्रो. रामबुझावन सिंह :
जो निश्छल स्वभाव, विनम्रता और सहजताकी प्रतिमूर्ति थे

प्राचीन काल से इस देश में यह परिपाटी रही है कि यहाँ मनीषी और साहित्यकार अपने जीवन के बारे में बहुत कम सामग्री छोड़ जाते रहे हैं। भले ही वे अपनी रचनाओं के जरिए ही अपने को व्यक्त करते रहे थे, मगर आधुनिक काल में साहित्यकारों ने इतिहास लिखना सीख लिया है। फिर भी आज ऐसे बहुत से व्यक्ति हैं जिन्होंने प्राचीन परंपरा को निभाने का बीड़ा उठा रखा। पटना स्थित बी०एन० कॉलेज के हिंदी विभागाध्यक्ष रहे बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के पूर्व निदेशक प्रो० रामबुझावन सिंह उन्हीं में से एक हैं जिन्होंने दूसरे के बारे में तो बहुत कुछ लिखा, पर अपने जीवन के संबंध में कुछ नहीं। रामबुझावन बाबू ने अपने जीवनकाल में जन-मन को अद्‌भुत रूप से प्रभावित किया, पर उस व्यक्ति के जीवन के बारे में बहुत कम सामग्री उपलब्ध है, यह अपने आप में आश्चर्य की बात है। जिस व्यक्ति ने अपने निश्छल स्वभाव, विनम्रता और सहजता से प्रतिमान स्थापित किया, उसने अपने स्वयं के जीवन के बारे में एक रहस्य बना रहने दिया।

प्रो० साहब बहुत सहनशील व्यक्ति थे। किसी की कोई बात बुरी भी लगे, तो विषपायी बनकर वे पचा लेते थे। उनके व्यक्तित्व में सहिष्णुता कूट-कूटकर भरी थी। इसे कोई छोटी खुबी नहीं कही जाएगी। इस संदर्भ में मुझे एक छोटी घटना याद आ रही है जिसे आपके समक्ष प्रस्तुत करना मैं लाजिमी समझता हूँ। प्रो० रामबुझावन बाबू ने पैदल चलने की अपनी आदत बना ली थी। सच कहा जाए, तो इसी आदत की वजह से वे 94 वर्षों तक हमलोगों के बीच रहे। पटना के पुरन्दरपुर स्थित हमारे 'बसेरा' निवास में जब कभी वे अपने बाकरगंज बजाजा स्थित अपने निवास से आते थे, तो पैदल चलकर ही। एक बार हम दोनों पति-पत्नी उनकी कंजूसी के बारे में जब चर्चा ही कर रहे थे, तो देखा कि वे अहले सुबह मेरे निवास की ओर आ रहे हैं। अपने बरामदे से ही हम दोनों ने उन्हें आते देख उनका हाथ जोड़कर अभिवादन करते हुए कहा – 'आइए-आइए सर, आपकी ही

हम दोनों चर्चा कर रहे थे।' प्रथम मंजिल से नीचे उतरकर मैंने मुख्य दरवाजे का गेट खोला और वही पंक्ति मैंने दुहरायी। उन्होंने व्यंग्य लहजे में कहा --'आप दोनों ने याद किया, शैतान हाजिर।' हम दोनों उनकी बात सुनकर खिलखिलाकर हँस पड़े। हमारी श्रीमती जी उन्हें कुर्सी पर बैठने का अनुरोध करते ही उनसे पुनः पुछ बैठीं --"आपकी जेब में तो मात्र चौवन्नी होगी? 'आज तो वह भी नहीं', प्रोफेसर साहब ने अपने उत्तर में कहा। वह कटू से कटू बात को अन्यथा नहीं लेते थे।

प्रो० राम बुझावन बाबू आज हमारे बीच नहीं हैं। विगत 25 जून, 2013 को उनका निधन 94 **वर्ष** की उम्र में हो गया। वे एक लंबे अरसे से अस्वस्थ चल रहे **थे।** वे हमारे साथ नहीं हैं तो क्या, उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की छाप और उनके साथ बिताए क्षण तो हृदय-पटल पर अक्षुण्ण बने हैं और बनी-की-बनी रहेगी स्मृतियाँ। आज जब मैं स्मरण कर रहा हूँ उनके साथ के दिनों को, उनकी स्नेहमयी मीठी मुस्कान को, तो मचल आते हैं आँखों में आँसू। मुझे रह-रह कर लगता है कि वे मेरे समीप बैठे हैं, उनका अभाव तो जैसे सर पर चढ़कर बोल रहा है। और बोले भी क्यों नहीं, जिस शख्स को स्नेह-भरी ऊँगली पकड़कर अमेरिका के न्यूयॉर्क में विगत 13-15 जुलाई, 2007 को आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलन में ले जाने और सही-सलामत पटना लेते आने का गौरव मुझे प्राप्त हुआ, भला उस व्यक्ति को मैं कैसे भुला सकता हूँ? जी हाँ, मात्र एक सप्ताह पहले बिहार सरकार के राजभाषा विभाग से उक्त सम्मेलन में बिहार की ओर से भारतीय प्रतिनिधिमंडल में शामिल होने का पत्र जब मेरे पटना निवास 'बसेरा' में पहुँचा, तो मेरी श्रीमती जी ने मुझे दूरभाष पर इसकी सूचना दी और जल्द से जल्द पटना पहुँचने का उनका फरमान जारी हुआ। दूसरे ही दिन पटना पहुँचकर और प्रो० रामबुझावन बाबू को साथ लेकर पासपोर्ट बनवाने की प्रक्रिया में लग गया, क्योंकि श्रीमती जी ने सूचित किया था कि प्रो० साहब को भी सम्मेलन में जाना है।

उन दिनों प्रो० साहब बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के निदेशक पद पर विराजमान थे। मैं जानता था कि पासपोर्ट और वीजा बनवाना उनके बस की बात नहीं। फिर क्या था, भारतीय प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ अधिकारी श्री के० डी० सिन्हा के सहयोग से दूसरे ही दिन हम दोनों के पासपोर्ट बन गए और उसी दिन हवाई जहाज से दिल्ली के लिए हम दोनों प्रस्थान कर गए। फिर विदश मंत्रालय तथा अमेरिकन दूतावास के अधिकारियों से

मिलकर दूसरे ही दिन वीजा हासिल कर हम दोनों वायुयान से लंदन के लिए रवाना हो गए और लंदन के हीथ्रो हवाई अड्डा से ब्रिटिश एयरवेज द्वारा न्यूयॉर्क के लिए प्रस्थान किए। साथ में प्रो० (डॉ०) वीणा रानी श्रीवास्तव, जियालाल आर्य, किरण घई, डॉ० सुखदा पाण्डेय, प्रो० उषा किरण खान तथा डॉ० राम वचन राय थे। कहना नहीं होगा कि तीन-दिवसीय सम्मेलन के दस शैक्षिक सत्रों में से एक सत्र में 'वैश्वीकरण' मीडिया और हिंदी' पर न केवल आलेख-पाठ करने का मुझे मौका मिला, बल्कि परिचर्चा में भाग लेने का भी। फिर 16 जुलाई, 2007 को न्यूयॉर्क के जॉन एफ० केनेडी एयरपोर्ट से लंदन के लिए रवाना हुआ और ब्रिटिश एयरवेज के ही दूसरे फ्लाईट से नई दिल्ली के इंदिरा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डा पहुँचे जहाँ हमारे सुपुत्र सुधीर रंजन हम दोनों का अभिनंदन कर अपनी गाड़ी से दिल्ली के शकरपुर स्थित अपने 'दृष्टि' निवास में पहुँचे और फिर दो दिनों के बाद प्रो० राम बुझावन बाबू को साथ लिए मैं पटना वापस पहुँचा। इस यात्रा की चर्चा करना इसलिए मैंने लाजिमी समझा कि एक 87-वर्षीय प्रो० रामबुझावन बाबू के लिए यह संभव नहीं था कि वे पासपोर्ट या वीजा बनवाकर और वह भी मात्र एक सप्ताह के भीतर न्यूयॉर्क जाते और वापस आते। इसलिए मैं उनका सारथी बना और छोटे भाई के धर्म का निर्वह्ण कर हम कृतार्थ हुए।

मेरे प्रति रामबुझावन बाबू का प्रेम अगाध था। वे मुझे छोटे भाई की तरह मानते थे। आखिर तभी तो उन्होंने मेरे जीवन पर "सिद्धेश्वर: व्यक्तित्व और विचार" नाम्नी 272 पृष्ठों की एक पुस्तक लिख डाली जिसमें समाज, साहित्य, संस्कृति, राजनीति, धर्म-कर्म के साथ-साथ संगठन, पत्रकारिता आदि से जुड़े हमारे मार्मिक विचारों को संजोया गया है। प्रो० साहब ने दावा किया है कि यह संग्रह एक बहुत ही प्रेरक पुस्तक साबित होगी जिसमें वह सब कुछ है जिसे लोग जानना चाहते हैं। मेरे व्यक्तित्व व कृतित्व पर जितनी सारी चर्चा समाज के हर मोड़ पर होती है, उन सबों का समावेश इसमें उन्होंने करने की कोशिश की है। साक्षात्कार, व्यक्तित्व, कृतित्व, तस्वीर और संगठन के पाँच खण्डों में विभाजित इस पुस्तक में वह सब कुछ लिखा है, जो मेरे बारे में उन्होंने पढ़ा तथा सुना है। सुप्रसिद्ध कथालेखक तथा मेरे सहृदयी मित्र डॉ० शाहिद जमील ने मेरे जीवन के सारे तथ्यों को संकलित कर उसका संपादन किया है, जिससे इस पुस्तक को तैयार करने में काफी सहयोग मिला है। मैं तहेदिल से आप दोनों का आभारी हूँ। यह संस्मरण प्रो० साहब के प्रति सद्‌भाव का प्रतीक है।1 अप्रैल, 1920

को पटना जिलांतर्गत मसौढ़ी थाना के सतपरसा गाँव के एक किसान परिवार में जन्में रामबुझावन बाबू के पिता का नाम बनवारी महतो था। डब्ल्यू एच० ई० स्कूल, जहानाबाद से सन् 1937 में मैट्रिक पास करने के बाद पटना के बी०एन० कॉलेज से इन्होंने बी०ए० सन् 1941 में तथा एम०ए० प्रथम श्रेणी में द्वितीय स्थान प्राप्त कर सन् 1943 में पटना विश्वविद्यालय से किया था। हिंदी में एम०ए० करने के बाद सी०एम० कॉलेज, दरभंगा के हिंदी विभाग में व्याख्याता के पद पर इनकी नियुक्ति सन् 1945 में हुई। फिर 10 फरवरी 1948 में पटना विश्वविद्यालय के बी०एन० कॉलेज के हिंदी विभाग में इनका स्थानांतरण हो गया।

आरंभिक काल से ही हिंदी साहित्य से प्रो० रामबुझावन बाबू का लगाव रहा तथा अधिकतर समसामयिक विषयों पर आपकी धारदार कलम चलती रही। व्यंग्य विधा के माहिर प्रो० साहब की रचनाएँ देश भर की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं तथा वे स्वयं बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, बिहार लोक सेवा आयोग, राष्ट्रीय विचार मंच तथा पटेल सेवा संघ, बिहार की गतिविधियों से जुड़े रहे। अवकाश प्राप्त करने के बाद डी०एन० कॉलेज मसौढ़ी (पटना) के कई वर्षो तक प्रभारी प्राचार्य भी रहे तथा राष्ट्रवाणी, सहर होगी (चास, धनबाद), कुर्माचल, कुर्मोदय, जागरण, निराला: जीवन और साहित्य, रेणु: स्मृति एवं श्रद्धांजलि आदि में आपने संपादन सहयोग किया है। प्रो० साहब दिल्ली से प्रकाशित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' के लंबे समय तक परामर्शी रहे और पत्रिका के स्तर को बढ़ाने में उन्होंने अपना अमूल्य सुझाव देकर मुझे कृतार्थ किया है। उनके परामर्श से पत्रिका ने नए आयाम स्थापित किए।

लिखते-लिखते रामबुझाबन बाबू का हाथ सध गया था और शिल्प तथा भाषा पर अधिकार हो गया था। कुल मिलाकर आपकी रचना किस हद तक मार कर रही है या खुद बुलबुले की तरह दीख कर मर रही है, इसका आकलन आपने भी कभी नहीं किया। लेखन को आपने सदैव एक सचेत सामाजिक कर्म माना। आपका मानना था कि लेखक बन जाना जितना सहज है, लेखक बने रहना उतना ही कठिन, क्योंकि लेखक बने रहने के लिए ज्ञानेन्द्रियों को जाग्रत और कर्मेन्द्रियों को वशवती बनाना पड़ता है और यह बड़ा ही कष्ट साध्य है।

प्रो० रामबुझावन बाबू मूलत: निबंधकार रहे। उनके राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक विषयों पर समसामयिक निबंध सैकड़ों में

हैं, जो उन्हें महत्त्वपूर्ण बनाते हैं। व्यंग्ध विधा में आप अपने अनुभवों को कंद्र में रखकर व्यंग्य का ताना-बाना बुनते रहे हैं और लेखन एवं वक्तृत्व कला में वह तलवार की धार की तरह चलते रहे हैं। इन्होंने अपने व्यंग्य में भाषा का संतुलन हमेशा बनाए रखा। इनके व्यंग्य लेखन में चुटीलेपन तथा समसामयिक जीवन की विसंगतियाँ खूब देखने को मिलती हैं। विसंगतियों पर इनका व्यंग्य चोट ही नहीं करता उसका उपहास करता हुआ किसी स्वच्छ परंपरा की ओर संकेत भी करता जाता है। इनके व्यंग्य में मात्र चटखारेपन की सतही लफ्फाजी ही नहीं होती, बल्कि इसमें उनके लेखन की चुभन भी है और विचारों की गहनता के साथ हास्य का हल्का आनंद भी। इनके व्यंग्य लेखन की शैली हास्य का आनंद तो देती ही है, भीतर एक विचार को मथती भी रही है।

एक समय था जब साहित्य और राजनीति में गहरा आपसी संबंध था। यानी राजनेता भी साहित्यकारों का सम्मान करते थे और इस लिहाज से जनता भी उनका सम्मान करती थी। मगर आज न तो लेखकों में वह ऊँचाई रह गई है और न वह मानवीय सहजता जो कि लोगों का अपने से संपृक्त करती है। ऐसे समय में भी साहित्यकार रामबुझावन बाबू को राजनेता से तो सम्मान मिला ही जनता के बीच भी उन्होंने काफी इज्जत पाई। आखिर तभी तो 87 वर्ष की आयु में भी बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार ने बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के निदेशक का दायित्व प्रदान कर उन्हें सम्मानित किया और न्यूयॉर्क में आयोजित आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन में बिहार की ओर से उन्हें प्रतिनिधित्व करने को कहा। नीतीश जी के रेलमंत्रित्व काल में प्रो० साहब के साथ मैं भी रेलवे हिंदी सलाहकार समिति का सदस्य रहा और जब कभी रेलवे के मंडल अथवा महाप्रबंधक कार्यालय में राजभाषा अधि नियम के क्रियान्वयन का निरीक्षण करने गया, रामबुझावन बाबू को भी अपने साथ लेता गया उनका सारथी बन कर।

अपनी जीवन यात्रा के 87वें पड़ाव पर रहकर हिंदी के सुपरिचित हस्ताक्षर प्रो० रामबुझावन बाबू ने समाज, साहित्य, राजनीति और संस्कृति से संबंधित देश के विविध समसामयिक मुद्दों पर अपनी धारदार कलम चलाई और अपनी क्षमता का परिचय दिया। उनकी सजग दृष्टि समाज के उन कई हस्ताक्षरों पर भी गई जिन्होंने अपने व्यक्तित्व व कृतित्व से समाज व देश को एक नयी दिशा दी है और किसी न किसी क्षेत्र में उनका विशिष्ट योगदान रहा है। अमर कथा शिल्पी फणीश्वरनाथ रेणु से

उनका काफी लगाव तथा आत्मीय संबंध रहा। राजनीतिक आंदोलन की वजह से जब रेणु जी जेल की सीखचों में बंद थे, तो रामबुझावन बाबू ने उनकी अनुपस्थिति में पिता-धर्म का निर्वाह करते हुए रेणु की लाड़ली बेटी की शादी बाल साहित्यकार रजनीकांत सिन्हा के सुपुत्र अरुण कुमार सिन्हा के साथ कराकर अशांम यश के भागी बने। इस कार्य में उन्हें सहयोग मिला पटना विश्वविद्यालय के पूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष डॉ० रामवचन राय का जिनका रेणु जी के साथ अगाध लगाव था और पटना के कॉफी हाउस में एक साथ बैठकर कॉफी की चुस्की लिया करते थे। इस पंक्ति के लेखक को भी यदा-कदा उसी कॉफी हाउस में रेणु से बातचीत करने का मौका मिला है।

प्रो० रामबुझावन बाबू से मुझे अपार स्नेह मिला। फिर वक्त गुजरता गया और समय के साथ ऐसा क्या हुआ और पता नहीं प्रो० साहब ने मुझमें कौन-सी वैसी विशेषता पायी जिससे प्रभावित होकर मेरे व्यक्तित्व और विचार पर अपनी कलम चलाना उन्होंने मुनासिब समझा। वैसे मेरी कृतियों और कार्यकलापों से न केवल वे एक लंबे अरसे से परिचित रहे हैं, बल्कि सच कहा जाए तो मेरी कोई भी कृति बिना उनके मार्गदर्शन के नहीं निकल पाई है। ठीक इसी प्रकार मेरे द्वारा संपादित पत्रिका-'विचार दृष्टि' के वे संस्थापक परामर्शी तो रहे ही, उसके नियमित सहयोगी रचनाकार एवं पाठक भी रहे। उनके मार्गदर्शन एवं रचनात्मक सहयोग से जहाँ यह पत्रिका स्तरीय एवं पठनीय हो चली, वहीं उनके सकारात्मक सुझावों एवं स्नेह से मेरी लेखनी को भी गति मिली। आज के दौर में जब साहित्य के क्षेत्र में भी लोग बरगद के वृक्ष देखने के अभ्यस्त हो गए हों, वहाँ प्रोफेसर साहब ने उसके बोंसाई रूप में कौन सा चमत्कार मुझमें देखा कि मेरे जीवन पर भी कुछ लिखे बिना वे नहीं रहे सके। मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ हिंदी साहित्य के उस प्रतिष्ठित साहित्यकार, वक्तृत्व कला के धनी, पाटलिपुत्र की इस ऐतिहासिक नगरी की साहित्यिक गतिविधियों में विगत सात-आठ दशक से रचे-बसे उस सदाचारी साहित्यकार के प्रति जो हमारी रचनाधर्मिता के ताकत रहे। रामबुझावन बाबू की साहित्यिक एवं सामाजिक चेतना का मैं कायल हूँ।

प्रो० रामबुझावन बाबू परंपरा में गहरी निष्ठा रखने वाले एवं परंपरा-पोषक रहे, परंतु उनकी आस्था में चिंतन और दर्शन की तर्कशीलता की वजह से अँधविश्वास नहीं, प्रत्युत स्वस्थ प्रवाहमयता के गुण आ गए थे।

निपट समसामयिकता के दबाव और पश्चिमी विचारों की अँधाधुंध अनुकृति वह वरेण्य नहीं मानते थे। युग चेतना एवं आधुनिक जीवनबोध को वे समाज-सापेक्ष एवं मंगलकारी दृष्टिकोण से ग्रहण करने के पक्षधर थे। उनका मानना था कि वर्तमान भारतीय एवं वैश्विक जीवन में जो सांस्कृतिक-आध्यात्मिक गतिरोध उपस्थित हो गया है, वह सदा रहने वाला नहीं। समाज के संदर्भ में वे सदैव कहा करते थे कि समाज कला की रंग-स्थली है और समाज में रहने वाले व्यक्ति-कलाकार अपने अहं के गुह्य अँधकार में ही भटकने वाला प्राणी न बनकर रह जाए, अपितु वह सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का समन्वयकारी बनकर प्रगतिशील भूमिका निभाए। यही कारण है कि समाज-सापेक्ष बनकर ही वे महत्त्वपूर्ण बने और युगीनचेतना एवं मानव चिंता के आधुनिक विचार का ही साग्रह धारण किए हुए थे। वे हमेशा पश्चिम की आधुनिकता से भयाक्रांत रहे।

प्राय: ऐसा देखा जाता है कि अच्छे से अच्छे प्रतिष्ठित एवं ऊँचे ओहदे पर विराजमान लोग किसी न किसी कमजोरी के शिकार हो जाते हैं, फिर रामबुझावन बाबू जैसे सीधे-सादे, सरल एवं सहज व्यक्ति उससे परे कैसे रह सकते थे। हालांकि सच कहा जाए, तो इसे उनकी कमजोरी भी नहीं, अपितु उम्र का ही तकाजा कहना यथोचित होगा क्योंकि अपनी उम्र के नौवें दशक के आस-पास जब उनके कंधों पर 1 जून, 2007 से तीन साल के लिए बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के निदेशक का दायित्व सौपा गया, तो एक ही कार्यकाल उम्र के लिहाज से काफी था, मगर जब 1 जून 2010 से पुन: तीन साल के लिए उनके कार्यकाल का विस्तार हुआ तो उसे उन्हें स्वीकार नहीं करना चाहिए था, क्योंकि नब्बे पार की आयु उन्हें इसकी इजाजत नहीं दे पा रही थी। आखिर हुआ भी वही अपने दूसरे कार्यकाल के अधिकांश में उनके शरीर के प्राय: सभी अंग शिथिल पड़ गए थे और किसी दफ्तर में काम करना तो दूर, अपनी नित्य प्रति की क्रिया भी स्वयं करने से लाचार हो गए थे। यह तो कहिए कि उनके सबसे बड़े सुपुत्र डॉ० जसवंत सिंह आधुनिकता की आँधी के चंगुल में फँसे नहीं थे, जिसके कारण उन्होंने मसौढ़ी स्थित अपने अस्पताल ले जाकर प्रो० साहब की सघन चिकित्सा की और उनकी पुत्रबधू ने अपने सेवा-सुश्रुषा से इस धारणा को गलत साबित किया कि आधुनिकता की अँधी दौड़ और आपाधापी की व्यस्त जिंदगी में बेटे-बहुओं ने माता-पिता से अपने को किनारा कर लिया है। डॉ० जसवंत ने तो अपने योग्य पिता के योग्य पुत्र की कहावत को भी चरितार्थ किया। मगर दूसरे ने 'ले

डूबता है एक पापी नाव को मझधार में' को चरितार्थ किया।

जहाँ तक मुझे जानकारी है प्रोफेसर साहब ने अपनी पहली पत्नी के देहावसान के पश्चात् दूसरी शादी की थी। पहली पत्नी की संतान में डॉ० जसवंत तथा दूसरी पत्नी से तीन लड़के तथा एक लड़की जिनमें से एक लड़का डॉक्टर और दूसरा भागलपुर विश्वविद्यालय में हिंदी प्राध्यापक तथा तीसरा बेरोजगार और उनकी एक बेटी मगध विश्वविद्यालय में हिंदी प्राध्यापिका।

इसी प्रसंग में प्रो० रामबुझावन बाबू के एक अनन्य शिष्य तथा देहरादून सैनिक महाविद्यालय के पूर्व प्राध्यापक एवं प्राचार्य डॉ० राजनारायण राय की चर्चा करना मैं इसलिए लाजिमी समझता हूँ कि वे प्रोफेसर साहब से बड़ी आत्मीय रूप से जुड़े रहे हैं। देहरादून के प्रेमनगर स्थित पंडितवाड़ी में रहकर भी डॉ० राय ने अपने गुरु की भक्ति और आस्था में कभी कोताही नहीं की और प्रत्येक वर्ष पटना पधारकर उनसे मार्गदर्शन एवं आशीर्वाद प्राप्त करना नहीं छोड़ा। वे भी प्रोफेसर साहब की विद्वता के आगे नतमस्तक थे तभी तो हमारी जीवनी के पुरोवाक् में अपनी टिप्पणी में वे लिखते हैं कि "आज जीवनी लिखने का अर्थ होता है दूसरों को आधार बनाकर स्वयं अपनी प्रशस्ति प्रस्तुत करना, किंतु इस जीवनी में लेखक ने ऐसा नहीं किया है। फिर दूसरों की प्रशस्ति भी वही गा सकता है, जिसके हृदय में उस व्यक्ति के प्रति आकृष्ट होने की, उसके प्रति सम्मान व्यक्त करने की क्षमता है। यह क्षमता सबमें नहीं होती। सम्मान व्यक्त करने का अर्थ है दूसरे के महत्त्व को स्वीकार करना किसी जोर दबाव से नहीं; अपितु स्वेच्छा से, सहजभाव से और सम्मानित करने वाले दूसरे के महत्त्व की स्वीकृति में आनंद की अनुभूति करे। आज के युग में सामान्यत: यह कम दिखाई देता है। जहाँ हर व्यक्ति महान है, जहाँ हर सामाजिक कार्यकर्ता समाज सेवा और राष्ट्र का नाम लेने मात्र से महान देशभक्त हो जाता है, जहाँ हर लेखक कलम उठाते ही महान साहित्यकार हो जाता है वहाँ किसी के महत्त्व की स्वीकृति बहुत कठिन काम है। जीवनी लेखक प्रो० रामबुझावन सिंह जी ने अपनी सुकृति के चरितनायक पद पर श्री सिद्धेश्वर जी को अभिषिक्त कर अपनी गुणग्राहता का तो परिचय दिया ही है, हिंदी जीवनी साहित्य को अपने सृजन से उत्कर्षित-अभिमंडित भी किया है। डॉ० शाहिद जमील के संदीप्त सपादन से यह संकलन उद्भाषित हो उठा है।"

आज जब हम रामबुझावन बाबू की स्मृतियों को एक-एक

कर इस संस्मरणात्मक निबंध में संजो रहे हैं, उनसे जुड़ी प्रत्येक घटनाएँ मेरे मानस-पटल पर उभरकर आ रही हैं, परंतु सभी घटनाओं को तो एक निबंध में समेटा नहीं जा सकता, पर इतना अवश्य है कि सहनशीलता, सौम्यता, सरलता और सहजता हमारे जीवन, व्यक्तित्व और प्रेरणा के आज भी आप प्रकाश-स्तंभ हैं। उनके देहावसान के पूर्व जब मैं दिल्ली से पटना वापस आया अपनी पत्नी के साथ बाकरगंज बजाजा स्थित उनके निवास पर जाने के बाद पता चला कि वे अपने छोटे बेटे के हनुमाननगर स्थित फ्लैट में रह रहे हैं। वहाँ जाकर उनसे मैं मिला, पर न तो वे कुछ बोल सकते थे और न उठकर बैठ सकते। उनकी श्रीमती जी ने जब मेरे बारे में बताया, तो मात्र अपना सर हिलाकर उन्होंने मेरा अभिवादन स्वीकार किया। मुझे तसल्ली मिली यह सोचकर कि चलो आखिरी सांस लेते वक्त मैंने उनका आशीर्वाद प्राप्त किया।

यह सच है कि प्रो० रामबुझावन बाबू अब हमारे बीच नहीं हैं और जहाँ वे चले गऐ वहाँ से लौटकर कोई वापस आता नहीं, केवल उनकी स्मृतियाँ ही रह जाती हैं। प्रो० साहब से जुड़ी उन्हीं स्मृतियों को मैंने इस संस्मरण में संजोने का प्रयास किया है।

मैं उनकी पावन स्मृति को डॉ० एस० पी० बख्शी की इन पंक्तियों से सादर नमन करता हूँ. . . .

"ओह कौन कह सकता है आगे क्या है?
जिंदगी के घूँघट के उस पार क्या है?
ओह मौत ! वहाँ तो सबको जाना ही है।
लेकिन वहाँ से लौटना है नामुमकिन।"

रामकृष्ण मेहता :

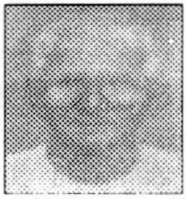

जिन्होंने एक-से बढ़कर एक हीरे को तलाशा है और उन्हें अपनी कलम से जगजाहिर किया है

रामकृष्ण मेहता अपनी यायावरी के लिए सदैव चर्चित रहे हैं, क्योंकि वे निरंतर घूमते रहे, हर गली-मुहल्ले की खाक इस धुन में छानते रहे कि उस खाक से भी उन्हें कोई हीरा मिल जाए और इस अभियान में उन्हें कामयाबी भी मिली, क्योंकि उन्होंने एक-से बढ़कर एक हीरे को तलाशा और उन्हें अपनी कलम से जगजाहिर किया है। 'आंजादी के दीवाने' नाम्नी उनकी एक पुस्तक में सैकड़ों ऐसे सुनाम-गुमनाम स्वतंत्रता सेनानियों की दास्तानें प्रस्तुत की हैं जिनकी मूल्क की आजादी की लड़ाई में अहम भूमिका रही है।

मेहता जी की कलम की एक विशेषता हमने यह देखी कि समाज से अलग होकर उन्होंने कभी अपनी लेखनी नहीं चलाई। वास्तव में मेरा भी मानना है कि समाज से कटकर साहित्यकार साहित्य की रचना नहीं, बल्कि बौद्धिक बाजीगरी करता है। यही कारण है कि मेहता जी की पुस्तकों में समाज की सच्चाई स्पष्ट नजर आती है। जो कुछ इन्होंने लिखा है, सब तथ्यों पर आधारित है। इनकी पुस्तकों में बहुआयामी चिंतन से भेंट होती है और साथ ही इनकी सामाजिकता भी झलकती है।

रामकृष्ण मेहता जी की प्रकाशित पुस्तकें इस प्रकार हैं-

नाम	प्रकाशन वर्ष
(1) इतिहास की ओर	1965
(2) रोहन आया घर रोही नाही	1986
(3) कूर्माञ्चल की ओर	1987
(4) धर्मरथी	1988
(5) शहीदों की याद में	1989
(6) इतिहास के बिखरे पन्ने	1991
(7) झारखण्ड दर्पण	1992
(8) सूर्य और भारतीय संस्कृति	1992
(9) समाज के अनमोल रत्न	
(10) लवकुश विभूतियाँ	

उपर्युक्त पुस्तकों पर एक नजर डालने पर यह स्पष्ट दिखता है कि मेहता जी की लेखनी चली है उन स्वतंत्रता सेनानियों पर, उन समाजसेवियों एवं कार्यकर्ताओं पर, उन अमर शहीदों पर जिनके विषय में अन्यत्र जानकारी उपलब्ध होना सहज तो क्या, संभव ही नहीं है। उन बलिदानियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की जानकारी देकर पाठकों की उत्सुकता जागृत की गयी है और कुछ जानने के लिए। इसी प्रकार अनेक संतों, कवियों, साहित्यकारों, राजनीतिज्ञों तथा झारखंड क्षेत्र के कर्णधारों पर लिखे गए इनके लेखों से अनेक अनछूए तथ्य उजागर होते हैं। बिहार ही नहीं भारत के कोने-कोने में जाकर समाज के अतीत को जानने की इनकी उत्सुकता वन्दनीय है। रामकृष्ण मेहता जी के अध्यवसाय और ज्ञान-पिपासा के बारे में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाने जैसा लगता है। जीवन के आठवें दशक में भी वे अपनी ज्ञान-गंगा को निरंतर सागर तक ले जाने का भगीरथ प्रयास करते रहे। सामाजिक-साहित्यिक दुनिया में उनका बड़ा योगदान रहा है। बड़ी ही सीधी, सरल मगर आकर्षक भाषा शैली में दर्ज इनके विचार सभी लोगों को बेइंतहा पसंद आते रहे हैं और बड़े चाव से लोग पढ़ना पसंद करते है। खासतौर पर नई नस्ल-पीढ़ी के नवयुवकों में स्वदेश-प्रेम का बीज वपन करवाने में इनकी पुस्तकें सफल रही हैं।

6 मई, 1919 को पटना जिला के सोनमई गाँव के एक किसान परिवार में जन्मे रामकृष्ण मेहता जी के पिता थे होरिल महतो जिन्हें सम्पूर्ण समाज का सम्मान प्राप्त था। आखिर तभी तो जीवित रहते मेहता जी ने अपने गाँव से ढाई किलोमीटर पूरब शोणार्क मंदिर निर्माण की योजना बनाई थी। शोणार्क मंदिर के प्रथम चरण में सरोवर और कुटी का निर्माण वे करा चुके थे। मंदिर निर्माण के लिए केवल दानवीरों की आवश्यकता थी जिससे इनकी कल्पना साकार हो सके। विश्वास है इनके विचारों और योजनाओं के समर्थक लोग शोणार्क मंदिर की योजना को कार्यान्वित करने के लिए आगे आएँगे। शोणार्क मंदिर की योजना क्रियान्वित होने से यह शोणार्क मंदिर उत्कल प्रदेश के विश्व प्रसिद्ध कोणार्क सूर्य मंदिर की परम्परा की नव्यतम कड़ी सिद्ध होगी और अपनी लोकप्रियता और प्रसिद्धि से जीवन-जगत् को अनुप्राणित करता रहेगा।

आज वैज्ञानिक सूर्य पर निरंतर शोध और अनुसन्धान करके इसकी उपयोगिता में चार चाँद लगा रहे हैं। सूर्य से पानी गर्म करना, खाना बनाना तो आम प्रचलन में आ ही रहा है, निकट भविष्य में गाड़ियों को

चलाना भी शायद संभव होगा। विद्युत शक्ति के स्रोतों का भी महान विकल्प बनेगा। इसी प्रकार जीवित रहते रामकृष्ण मेहता जी ने पटेल सेवाश्रम के लिए कुटिया का निर्माण भी करा लिया था। तालाब खुदवाकर तालाब के चारो ओर वृक्ष भी उन्होंने लगवा दिया था। यात्रियों को पानी पीने के लिए चापाकल का प्रबंध भी वे कर दिए थे। इस सेवाश्रम के द्वारा सुशिक्षा, सुलभ प्राकृतिक चिकित्सा, होमियोपैथिक एवं आयुर्वेदिक चिकित्सा का भी प्रबंध करने की इनकी योजना थी। यदि कोई सज्जन निस्पृह और निश्छल एवं नि:स्वार्थभाव से सेवाश्रम के शेष कार्यो को आगे बढ़ा सके तो आमजन को इससे राहत मिल सकेगी।

सूर्य के प्रति मेहता जी की जो मान्यता रही है उसे 'सूर्य और भारतीय संस्कृति' नामक इनकी पुस्तक के प्राग्बोध में देखी जा सकती है। इन्होंने लिखा है- 'भारतीय संस्कृति में आरम्भ से ही सूर्य की महिमा अतिशय रही है। अतएव, स्पष्ट है कि सूर्य न केवल भारतीय संस्कृति का आद्य अधिष्ठाता देव हैं, वरन् यह सभी प्रमुख धर्मो में समाहृत एवं पूज्य रहा है। सच तो यह है कि इस प्रत्यक्ष देवता ने ही युग-युग से सृष्टि के उद्‌भव चालन और संहार की त्रिविध भूमिका निभाने का विज्ञान सम्मत दायित्व भी संभाला है। सूर्य और मानव संस्कृति के अटूट संबंध को रेखांकित करने का एक अकिंचन प्रयास ही इस पुस्तक के रूप में रूपायित हुआ है।'

रामकृष्ण मेहता जी ने बी.एन. कॉलेज, पटना से बी.ए. तथा बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी से 1961 में एम.ए हिंदी में किया। फिर विभिन्न शासकीय पदों पर रहकर अपनी सेवाएँ देते हुए मई, 1977 में मसौढ़ी, पटना के प्राथमिक शिक्षक शिक्षा महाविद्यालय के उपप्राचार्य पद से सेवानिवृत्त हुए। सेवा-निवृत्ति के पश्चात् साहित्यिक एवं सामाजिक गतिविधियों में अपने को उन्होंने लगा दिया। समाज सेवा संबंधी इनके कार्य तथा योजनाएँ इस प्रकार रहीं-

(1) पटेल सेवा संघ के अंतर्गत पटेल सेवाश्रम की स्थापना
(2) अराँवा गाँव के ध्वस्त महतो बाबा मंदिर का जीर्णोद्धार
(3) तालाब तथा सूर्य-मंदिर का निर्माण
(4) बालिका उच्च विद्यालय की स्थापना
(5) शहीद नगर का निर्माण
(6) ग्रामीण विकास
(7) सामाजिक साहित्य का प्रकाशन तथा प्रसार

रामकृष्ण मेहता के इन्हीं सद्गुणों के मद्देनजर बी.एन. कॉलेज, पटना के पूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के पद पर रहे प्रो. रामबुझावन बाबू ने मेहता जी को इन शब्दों में रेखांकित किया है–'लेखक रामकृष्ण मेहता जी को ऐसे ही जीवित शहीदों की कोटि में गिना जा सकता है जो अपने समाजहित की बलिवेदी पर कुर्बानी देने के लिए हर जोखिम उठाने को तैयार रहते हैं।'

समकालीन हिंदी साहित्य के जीवनी साहित्य के सृजनकर्ताओं में अग्रणी रामकृष्ण मेहता के जीवन और लेखन पर जब हमारी दृष्टि जाती है, तो हम पाते हैं कि उन्होंने जीवन को सभी रंगों-मनोभावों के साथ-साथ बहुआयामी धरातलों में देखने का अदभुत साहसिक कार्य किया। कहना नहीं होगा कि कंधे में हिंदी साहित्य की कृतियों से भरा एक झोला लटहकाए अपने समकालीन साहित्यकारों व समाज सेवियों से घर-घर जाकर मिलने वाले स्व० मेहता एक घुमक्कड़ लेखक थे जिन्होंने अपनी अलग व मौलिक सृजन-आस्था विकसित की। इनके सृजन से संबंधित इतिहास पर जब हम एक नजर डालते हैं, तो यह तथ्य चौंकाता है कि इस शख्स ने देश के कोने-कोने में घुमकर लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल और शिवाजी तथा साहूजी महाराज से लेकर अपने समकालीन डॉ० मोहन सिंह, रजनीकांत सिन्हा, बाबू राम सिंह 'लमगोड़ा', बाबू गुप्तनाथ सिंह, आदि समाज सेवियों के जीवन पर अपनी कलम चलाकर जीवनी साहित्य को समृद्ध कर डाला है। निश्चित रूप से ऐसा उनकी अपनी कलम की ताकत और लोगों को समाज-साहित्य तथा आज की पीढी अपने जिस जातीय गौरव से विमुख होती जा रही है अवगत कराया। निःसंदेह मेहता जी की कृतियों में पटेल समाज के इतिहास का गौरव-काल उजागर हुआ है और पूरा समाज सांगोपांग चित्रित हुआ है। अपने वक्त की टिमटिमाती आम इच्छाइयों-महत्त्वाकांक्षाओं, स्याह-घुसर हताशाओं-चिंताओं, सामान्य जन जीवन की अनेक छोटी-बड़ी घटनाओं व तमाम नकार-सकार मानसिकताओं के साथ उनकी रचनाएँ पाठकों के समक्ष उपस्थित हुई हैं। इस दृष्टिकोण से मेहता जी भारतीय जीवन के अपने काल-खंड के एक संपूर्ण चितेरे के रूप में उभरकर हमारे सामने आते हैं।

'हमारा परिवार यादों के आइने में' शीर्षक एक लेख में वे स्वयं लिखते हैं कि उनका पूर्वज नालंदा जिला के नूरसराय प्रखण्ड के

सिरसिया गाँव के निवासी भूषण महतो लगभग दो सौ वर्ष पूर्व अपना गाँव छोड़कर सोनमई चले आए और मौजा की मालकिन शेखाइन ने दस बिगहे जमीन जोतने के लिए दे दी, भूषण महतो और उनके सुपुत्रों ने परिश्रम से काफी धन अर्जन कर लिया। भूषण महतो के परिवार में ही सुखाड़ी महतो हुए, जो रामकृष्ण मेहता के दादा थे। मेहता जी की प्राथमिक शिक्षा गाँव के ही प्राथमिक विद्यालय में हुई और मिडिल करने के बाद पटना के बी०एन० कॉलेजियट से इन्होंने मैट्रिक की परीक्षा पास की। मैट्रिक करने के बाद बी०एन०कॉलेज, पटना से इन्होंने बी०ए० पास कर 15 नवम्बर, 1944 ई० से कृषि ओभरसियर के पद पर 1948 ई० तक कार्य किया फिर गाँधीजी के रचनात्मक कार्य में लग गए और पुन: बुनियादी शिक्षक प्रशिक्षण प्राप्त कर शिक्षण कार्य करने लगे। इसी अवधि में ही प्राचार्य के कहने पर 4थी–5वीं कक्षा के लिए इन्होंने 'कृषि विज्ञान' पुस्तक लिखी। इसी दरम्यान गाँधी विचारधारा से प्रभावित होकर इन्होंने 'उजड़े गाँव' नामक पुस्तक की रचना की जो छप न सकी फिर 'गाँव का पुनर्निर्माण' नामक इनकी पुस्तक 1950 में प्रकाशित हुई जो बिहार के पुस्तकालयों के लिए सरकार द्वारा स्वीकृत हुई। 1956 ई० में विक्रम ट्रेनिंग स्कूल से बिहार सरकार द्वारा इन्हें बुनियादी शिक्षा में प्रशिक्षण ग्रहण करने के लिए महाराष्ट्र के वर्धा स्थित सेवाग्राम भेज दिया गया जहाँ नौ माह रहकर इन्होंने गाँधी जी के आदर्शों के अनुरूप सूत कताई, शौचालय–सफाई से लेकर चक्की चलाई तक के कार्यों का प्रशिक्षण, लिया। सन् 1960 में इनकी काव्य–पुस्तक 'युग पुरुष' छपी। जब वे हजारीबाग के 'चितरपुर में पदस्थापित थे, तभी सिमडेगा में विद्यालय उपनिरीक्षक के पद पर पदस्थापित होने पर मेहता जी ने सन् 1968 में 'बिहार के गौरव–स्तंभ' नामक पुस्तक लिखी। फिर इनका पदस्थापन पटना जिला के मसौढ़ी प्राथमिक शिक्षण प्रशिक्षण महाविद्यालय में हुआ जहाँ से ये मई 1977 ई० में उप–प्राचार्य के पद से सेवा–निवृत्त हुए।

शरीर से दुबला–पतला, आँखों पर चश्मा, छोटे कद के इस लेखक के कँधे पर पुस्तक से भरी झोली को कोई भी किसी गली से गुजरते इन्हें देख सकता था। आपको भान नहीं होगा कि इस आदमी की इतनी सशक्त लेखनी होगी और धारदार कलम का एक सच्चा साहित्यकार जिसकी लेखनी चली उन स्वतंत्रता सेनानियों तथा उन समाज सेवियों पर जिनके विषय में अन्यत्र जानकारी उपलब्ध होना सहज रूप से संभव नहीं।

खुदी राम बोस, शहीद रामानंद सिंह, शहीद जगदेव प्रसाद, शहीद शक्तिनाथ महतो, विश्वनाथ महतो, निर्मल महतो आदि पर इनके द्वारा लिखे गए परिचयात्मक निबंध पठनीय हैं। इन बलिदानियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की जानकारी देकर पाठकों को न केवल एक अच्छी-खासी खुराक प्रदान की गई है, बल्कि उनकी उत्सुकता जागृत की गई है और कुछ जानने के लिए। इसी प्रकार अनेक संतों कवियों, साहित्यकारों, राजनीतिज्ञों तथा झारखण्ड के कर्णधारों पर लिखे गए इनके लेखों से अनेक अनछुए तथ्य उजागर होते हैं।

मेहता जी की कृतियों से जब हम गुजरते हैं, तो पाते हैं कि इन्होंने समाज, साहित्य, धर्म, भाषा, अध्यात्म, संस्कृति, इतिहास आदि प्रायः सभी विषयों पर अपनी कलम चलाई है। अपने साहित्य पर टिप्पणी करते हुए मेहता जी ने स्वयं एक शे'र से अपने भावों को व्यक्त किया है-

हर रहगुजर पे शम्मे जलाना है मेरा काम।
तेवर हवा के क्या रहे, मैं देखता नहीं।।

राष्ट्र के लिए कुर्बानी देने वाले तथा आजादी के लिए अपना सब कुछ न्योछाबर करने वालों पर जितना और जो कुछ इन्होंने लिखा तथा उन सरफ़रोशियों के दिलों की तमन्नाओं को अपने साहित्य में रेखांकित किया उसका मूल्याँकन अभी शेष है। वक्त बताएगा कि इनकी कलम ने कितना कमाल किया। राम प्रसाद बिस्मिल के शेर इस देखें-

''वक्त आने दे बता देंगे तुझे ए आसमां
हम अभी से क्या बताएँ क्या हमारे दिल में है
सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है
देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में है''

सन् 1993 ई० में प्रकाशित मेहता जी की 'समाज के अनमोल रत्न' पुस्तक में इन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रतीक छत्रपति शिवाजी महाराज के जीवन और उनकी कार्य-शैली का जिस प्रकार चित्रण किया है, वह अद्‌भुत है। इसी प्रकार सन् 1994 में प्रकाशित इनकी 'लवकुश विभूतियाँ' शीर्षक की कृति में अमर कथा शिल्पी फणीश्वर नाथ रेणु की जीवन-शैली तथा नेपाल क्रांति से लेकर जे०पी० आंदोलन तक में रेणु की अहम भूमिका को जिन शब्दों में वर्णन किया है वह काबिले तारीफ है।

कह नहीं सकता कि मेहता जी से मेरा लगाव कितने दशकों का है, पर इतना अवश्य है कि जैसे-जैसे उनके साथ दिन बीतते गए और उनके सान्निध्य में रहकर मुझे सीखने का अवसर मिला उनके प्रति श्रद्धा व

सम्मान का भाव, आज भी जब वे भौतिक रूप से हमारे सामने नहीं हैं जस का तस है। आखिर तभी तो मैंने अपनी धर्मपत्नी श्रीमती बच्ची प्रसाद को कह रखा था कि जब कभी मेहता जी का आगमन पटना के हमारे पुरन्दरपुर स्थित 'बसेरा' निवास में हो जाए, हम रहें या न रहें, उन्हें समयानुसार जलपान-खान-पान अवश्य करा दें। इतना ही नहीं, यदि आप देखें कि कहीं आने-जाने के लिए उन्हें कुछ पैसों की जरूरत हो, तो उन्हें आप मुहैया करा दें। ऐसे आत्मीय लोग जब बिछुड़ जाते हैं, तो पीड़ा स्वाभाविक है।

अभी-अभी न्यूयॉर्क, अमेरिका में 13-15 जुलाई 2007 तक आयोजित आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन में भाग लेकर जब मैं पटना वापस लौटा, तो सर्वप्रथम मनेजर प्र० सिंह से उनकी मृत्यु की खबर पाकर मुझे बड़ा दुख हुआ। फिर प्रो० राम बुझावन बाबू से उनके निधन की संपुष्टि हुई, किंतु उनके देहावसान की तिथि तथा उसके कारणों की जानकारी मुझे तब मिली जब 'शोषित मुक्ति' के संपादक तथा हिमाचल प्रेस के स्वामी भाई आलोक ने 3 अगस्त, 2007 को उनपर संस्मरण तथा आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन के यात्रा-वृतांत लिखने के सिलसिले में दूरभाष पर बताया कि मेहता जी का देहावसान विगत 18 जुलाई 2007 को ही हो गया और वह भी शायद एक पखवाड़े तक पटना और उसके आसपास लगातार बारिश होने की वजह से सोनमई स्थित उनके गाँव के पुस्तैनी मकान के धंस जाने के चलते वे मलवे के नीचे आ गए।

क्या विंडबना है अभी-अभी कुछ माह पूर्व चर्चित जीवनीकार व लेखक परमानंद दोषी के पटना सचिवालय हॉल्ट के आसपास दिल्ली से आ रही ट्रेन के नीचे वे तब आ गए जब अपने बिहार राज्य भूमि विकास बैंक, जहाँ वे विशेष कार्य पदाधिकारी के पद पर सेवानिवृत्ति के पश्चात् कार्यरत थे से संध्या समय रेल पटरी को पार कर रहे थे कि अचानक साइकिल फँसने से वे भी चलती ट्रेन की चपेट में आ गए और वे कट गए। फिर दूसरी घटना रामकृष्ण मेहता जी के साथ हुई कि मकान धँसने से उनकी मृत्यु हो गई। यह सब टूटते पारिवारिक रिश्ते अथवा रिश्तों में पड़ती दरारों का ही दुष्परिणाम है या यों कहा जाए कि बुजुर्गों की अदूरदर्शिता, जो सेवानिवृत्ति के बाद सीधे गाँव के पुस्तैनी पुराने मकान में रहने चले जाते हैं अथवा वहाँ रहने के लिए विवश किए जाते हैं। आखिर तभी तो सामाजिक क्रांति के मेहता सरीखे अग्रदूत को असमय काल के गाल में समा जाना पड़ता है। इनके निधन से पूरे समाज को जो अपूरणीय क्षति हुई सो हुई, पर

मैंने तो अपना एक आत्मीय साहित्य-साधक खो दिया जिसकी प्रेरणा से मुझे बहुत कुछ मिल पा रहा था साहित्य-प्रसाद के रूप में। मुझे स्मरण हैं वे पंक्तियाँ, जो प्रो० राम बुझावन बाबू द्वारा लिखी मेरे जीवन पर आधारित पुस्तक 'सिद्धेश्वर: व्यक्तित्व और विचार' पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए श्री मेहता ने कही थीं –"यह संग्रह एक बहुत ही प्रेरक पुस्तक साबित होगी जिसमें वह सब कुछ है जिसे लोग जानना चाहते हैं। इस पुस्तक में सिद्धेश्वर जी के बहुआयामी व्यक्तित्व और सर्जनात्मक संसार की झांकी है। इनका संघर्षमय जीवन लोक शिक्षण और लोक चेतना जाग्रत करने में व्यतीत हो रहा है.........। प्रो० रामबुझावन बाबू ने एक ईमानदार लेखक की तरह अपनी रूह की आवाज को इस पुस्तक में शब्दबद्ध कर सिद्धेश्वर जी के साथ न्याय किया है। उन्होंने दर्पण की तरह इनके जीवन को प्रतिबिंबित किया है और दीपक की तरह इनके व्यक्तित्व से सीख लेने का मार्ग भी दिखाया है।"

आप मानें या न मानें मित्रवत् मेहता जी की उक्त पंक्तियों से मुझे जो प्रोत्साहन मिला है उसका ही यह प्रतिफल है कि समाज-सेवा के साथ-साथ साहित्य-सेवा में भी मैं अनवरत रूप से लगा हूँ। प्रेरणा के उनके उपर्युक्त शब्दों से मैं सदैव अनुप्राणित होता रहूँगा और उनकी अनुपस्थिति में भी उन्हें स्मरण कर उनके पदचिन्हों पर चलने का प्रयास करता रहूँगा। ऐसे समय मुझे याद आता है रहीम का दोहा जो इसी भाव को व्यक्त करता दिखाई देता है–

देनहार कोई और है, भेजते हैं दिन रैन।
लोग भरम हम पर करैं, याते नीचे नैन ।।

रामकृष्ण मेहता जी का एक-एक क्षण जीवन की सन्ध्या बेला में भी समाज सेवा में लगा रहा। सरल वेषभूषा, सरल प्रकृति एवं सरल मनोवृति के मेहता जी वर्तमान दौर के साक्षात संत दिखे जिन्हें कभी भुलाया नहीं जा सकता। आखिर तभी तो मैंने अपनी श्रीमति जी को कह रखा था कि हमारी अनुपस्थिति में भी यदि रामकृष्ण मेहता जी हमारे 'बसेरा' निवास में आ जाएँ, तो उन्हें बिना भोजन कराए नहीं जाने दीजिएगा, क्योंकि उनके सान्निध्य में मैंने सहज आत्मीयता और मानवीयता के अविरल प्रवाह का अनुभव किया है। उनके हृदय में समाज के दीनहीन और हाशिए पर खड़े लोगों के प्रति करुणा और संवेदना भरी पड़ी हैं। यही नहीं शोषक वर्ग के प्रति और आडंबरपूर्ण मायाजाल के प्रति भीषण विद्रोह रहा है जिसकी सहज अभिव्यक्ति उनके सामाजिक साहित्य में दृष्टिगोचर होती है। मानवता के इस

अप्रतिम पुजारी, मानवीय संवेदनाओं की प्रतिमूर्ति, निस्पृह, सरल व्यक्तित्व के धनी रामकृष्ण मेहता ने अपनी लेखनी द्वारा सामाजिक उत्थान की दिशा में अत्यंत प्रशंसनीय योगदान दिया है, जिसके लिए वे वर्षो-वर्षो तक श्रद्धा और आदरपूर्वक याद किए जाते रहेंगे।

भले ही रामकृष्ण मेहता जी भौतिक रूप से हमारे बीच नहीं हैं, मगर उन्होंने अपनी कृतियों की रचना कर जो साहित्य को समृद्ध किया है और समाज के लोगों को जो नई दिशा दी है उसके लिए वे सबके मानस-पटल पर उपस्थित रहेंगे और उनकी यादें कभी विस्मृत नहीं होंगी। मैं अपने अग्रजवत् और सुलझे साहित्यकार एवं समाजसेवी की स्मृति को नमन करता हूँ तथा विनय पत्रिका की इन दो पंक्तियों से उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ-

सेवा सुमिरन पूजिवौ पात आखर थोरे।
दिए जगत जहाँ लगि सवै सुखगज रथ घोरे।

प्रो.(डॉ.) ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार :
जो संस्कृत भाषा एवं भाषा विज्ञान के गहन और बारीक अध्येता थे

डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार के महाप्रयाण के दूसरे दिन यानी 29 अगस्त, 2016 को उनके पटना के पाटलिपुत्र कॉलोनी स्थित निवास पर मैं उनकी धर्मपत्नी, सुपुत्र एवं अन्य सदस्यों को अपनी संवेदना और सांत्वना व्यक्त करने के लिए जब मैं पहुँचा, तो उनके सुपुत्र डॉ. श्रीधर कुमार ने मुझसे आग्रह किया कि ब्रह्मचारी जी पर एक संस्मरण लिखकर दूँ, ताकि उसका इस्तेमाल पत्र-पत्रिकाओ में किया जा सके। फिर दूसरे दिन डॉ. श्रीधर ने मुझे दूरभाष पर सूचित किया कि अगले बुधवार यानी 31अगस्त, 2016 को आर्यपद्धति के अनुसार होने वाले आहूति संस्कार के वक्त मुझे कुछ बोलना भी है। यह संस्मरण तभी लिखा गया जब ब्रह्मचारी जी के देहावसान के बाद व्यथित मनःस्थिति में मैं नहीं था, मगर उनके इकलौते सुपुत्र प्रो. श्रीधर के अनुरोध का पालन करना और आहूति संस्कार के वक्त कुछ बोलना भी था, इसलिए तमाम मानसिक यंत्रणाओं से गुजरते हुए बमुश्किल मैंने थोड़ा प्रयास किया।

सच कहूँ तो भीतर से ब्रह्मचारी जी को जैसा मैंने महसूस किया है और जैसी आत्मीयता उनसे मेरी थी उससे ऐसा लगता है कि उनपर कितना कुछ लिखा जा सकता है, क्योंकि यदि किसी उद्‌भट्ट विद्वान का संबंध गहरा, आत्मिक, संवेदनशील और उदात्त हो, तो उसे लिखकर या बोलकर कैसे भी व्यक्त करना बेहद मुश्किल हो जाता है। आज भी जब मैं उनपर संस्मरण लिखने बैठा हूँ, तब ऐसा लगता है कि वे मेरे आसपास ही हैं या उनके व्यक्तित्व व कृतित्व का कोई हिस्सा मेरे आस-पास बना हुआ है। यही कारण है कि उनके इस दुनिया से जाने के संबंध में 'देहावसान', 'महाप्रयाण', 'मृत्यु', 'निधन' या 'नहीं रहे' जैसे शब्द मेरे लिए आज भी असहनीय हो जाते हैं और उसे अंगीकार के लिए मेरा मन कतई तैयार नहीं होता। मृत्यु तो मृत्यु है, जो बिल्कुल सत्य है। जो इस दुनिया में आया है उसका जाना भी निश्चित है। इसे झुठलाया नहीं जा सकता है। यह सोचकर मैं अपने मन को ही समझाता हूँ कि अभी उनके आत्मिक रूप से निकट रहने की सुखानुभूति और कभी उनके शारीरिक रूप से न रहने दुःखानुभूति की विरोधी मानसिकता में ही मुझे जीना है और यह जीना कैसा होता है, इसे

संत कबीर के शब्दों में ही कह सकते हैं-

" रामभगति अनिया ले तीर
जेहि लागे सो जाने पीर। "

संस्कृत साहित्य और संस्कृति के संवाहक डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार का नाम संस्कृत जगत में चिर-परिचित है, क्योंकि न केवल वे संस्कृत भाषा के गहन और बारीक अध्येता थे, बल्कि भाषा विज्ञान में उनकी पैठ अद्भुत रही है। सन् 1969-71 में ग्रेट ब्रिटेन के कॉमनवेल्थ स्कॉलरशिप कमीशन द्वारा इन्हें भाषा विज्ञान में पीएच.डी. के लिए स्कॉलरशिप प्रदान किया गया था और लंदन में रहकर ही इन्होंने पीएच.डी. किया। यों तो इन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की, पर अँग्रेजी में 'Sanskrit Syntax and Grammer of Case' इनकी एक विश्व प्रसिद्ध कृति है।

संवेदनशील और ज्वलंत सामाजिक एवं साहित्यिक मुद्दों सहित दबे-कुचले और उपेक्षित लोगों पर विमर्श के लिए सदैव अग्रणी रहने वाले डॉ. ब्रह्मचारी जी का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि उनके समक्ष बड़े-बड़े वाचालों की बोलती बंद हो जाती थी। उनके द्वारा उठाए गए प्रश्न इतने अधिक तीक्ष्ण होते थे कि जिनसे प्रतिक्रियावादियों का लहूलुहान होना सुनिश्चित हो जाता था, क्योंकि जब वे किसी भी साहित्यिक या सामाजिक कार्यक्रम में अपने तेज कदमों से पहुँचते थे, तो आयोजन स्थल में चारों तरफ एक गर्म हवा सा कुछ तन जाता था। मुझे अच्छी तरह याद है जब कभी राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्था राष्ट्रीय विचार मंच और दिल्ली से प्रकाशित उसके मुख-पत्र 'विचार दृष्टि' की ओर से पटना, दिल्ली, जयपुर या बिहार के किसी जिले व कस्बे में संस्कृत के विभिन्न विषयों पर कार्यक्रम आयोजित किए गए डॉ. ब्रह्मचारी जी न केवल अपनी उपस्थिति से उसे गौरवान्वित करते थे, बल्कि संपूर्ण स्वतंत्रता से बोलने में विश्वास करने वाला यह योद्धा बिना किसी की परवाह किए और बिना कोई दुराव-छिपाव के अपने विचारों को अभिव्यक्त करते हुए देश और समाज के मुद्दों पर सीधा हस्तक्षेप करते थे। वे जितनी वैचारिक स्पष्टता से बोलते थे, ठीक उतनी ही स्पष्टता से लिखते भी थे।

धर्म और भगवान में आस्था नहीं करने वाले डॉ. ब्रह्मचारी जी मनुष्यता और मानवतावाद में विश्वास रखते थे और अपने ध्येय को लेकर वे पूरी तरह स्पष्ट थे। यों तो हम उनसे एक दशक पूर्व से जुड़े थे, पर हमदोनों का रिश्ता तब प्रगाढ़ हुआ जब हमारे कंधों पर 15 सितंबर, 2008

से बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड के राज्यमंत्री का दर्जा प्राप्त अध्यक्ष का दायित्व दिया गया। सच मानिए संस्कृत शिक्षा बोर्ड की गाड़ी को पटरी पर लाने में संस्कृत के इस उद्‌भट्ट विद्वान से लगातार तीन वर्षो तक जो मार्गदर्शन मुझे मिला उसका वर्णन चंद शब्दों में नहीं किया जा सकता, चाहे संस्कृत के उन्नयन के लिए संस्कृत भाषा के प्रति लोगों में रूझान पैदा करने का सवाल हो या संस्कृत साहित्य को समृद्ध करने का अथवा संस्कृत शिक्षा की गुणवत्ता में वृद्धि करने का, बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड की ओर से लगातार तीनों साल आयोजित राष्ट्रीय स्तर पर संस्कृत सम्मेलन को पूर्णत: सफल बनाने का पूरा श्रेय डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार को इसलिए जाता है, क्योंकि उन्हीं की सहभागिता से देश के ज्ञानपीठ पुरस्कार से नवाजे गए पद्‌मश्री सत्यव्रत शास्त्री, डॉ. रामकरण शर्मा, डॉ. शिववंश पाण्डेय, डॉ. शांति जैन, डॉ. अमलेश वर्मा, डॉ. दिप्ती त्रिपाठी, प्रो. शंकर कुमार, के. विक्रमराव, डॉ. उमेश शर्मा, डॉ. इन्द्रदेव मेहता, डॉ. नंद किशोर शर्मा, डॉ. रमाकांत शुक्ल, डॉ. रामविलास चौधरी, डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र, प्रो. रामप्रसन्न शर्मा, डॉ. एच. एन. ठाकुर, डॉ. अहिल्या मिश्र जैसे विद्वान और संस्कृताचार्यो ने संस्कृत सम्मेलन में उपस्थित होकर संस्कृत की विरासत और उसके वैविध्यपूर्ण ज्ञान पर विचार-विमर्श करते हुए संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में समाहित देश की समृद्धि, आचार-विचार, जीवन-मूल्य और दर्शन की विरासत को समझाने का प्रयास किया। डॉ. ब्रह्मचारी जी ने भी संस्कृत-इतिहास के ज्ञान से अधिक परिपक्व और आत्मविश्वासी व्यक्ति बनने का गुर बताया और राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता के संदर्भ में संस्कृत की भूमिका पर प्रकाश डाला। दरअसल, ब्रह्मचारी जी जिस किसी विषय पर बोलते थे, उनकी प्रवाहमयी शैली लगभग तेजी पर आई हुई नदी के बहाव की-सी आज भी मेरी स्मृति में अंकित है। वे विषयांतर के उस्ताद थे, विस्तार और व्यापकता में विचारवाले, जिनका प्रभाव मंत्रमुग्धकारी था और उनकी सिफत उन्मुक्त विचरणशील आसमान में यहाँ से वहाँ तक उड़ान भरने वाली।

स्वभाव में विनम्र ब्रह्मचारी जी मूलत: वे उन लोगों की कोटि में आते थे जिन्हें वस्तुत: विद्वान कहा जाता है और जो विद्वान होते भी हैं। संस्कृत, प्राचीन साहित्य, गीता और वेद साहित्य जैसे अनेक विषयों और ज्ञान की शाखाओं में उनकी पैठ अद्‌भुत थी और बिना किसी विशेष तैयारी के इन विषयों पर व्याख्यान दे सकते थे और देते भी थे। सच तो यह है कि जब कभी भी संस्कृत बोर्ड के अध्यक्ष पद पर रहते हुए या उससे मुक्त होने

के बाद संस्कृत से संबंधित विषयों पर मुझे बोलने के लिए आयोजकों ने आमंत्रित किया, ब्रह्मचारी जी ने न केवल मेरा मार्गदर्शन किया, बल्कि आवश्यक सामग्रियाँ भी मुहैया कराई, क्योंकि उनका कृतित्व बहुमुखी और विपुल था।

बिहार के सारण जिलांतर्गत सहाजितपुर गाँव में 27 दिसंबर, 1933 में जन्में ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार जी की आरंभिक शिक्षा छपरा में हुई, लेकिन उन्होंने पटना विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त की। सन् 1979 में विश्वविद्यालय सेवा आयोग द्वारा उनका चयन प्राध्यापक के लिए हुआ और वे बिहार तथा भागलपुर विश्वविद्यालय में संस्कृत के विभागाध्यक्ष भी रहे। सन् 1986 से 1988 तक कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा के कुलपति पद को भी उन्होंने सुशोभित किया और उसे गरिमा प्रदान की। इस प्रकार पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला, राँची विश्वविद्यालय, राँची तथा विनोवा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग में भी वे विजिटिंग प्रोफेसर तथा इमेरिटस फेलो रहे। भारत सरकार के इंडियन इंस्टिच्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज, शिमला में वे 2003 से 2006 तक फेलो रहे। भारत सरकार तथा राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान द्वारा 2011 में प्रायोजित 15वें विश्व संस्कृत काँग्रेस के विभिन्न शैक्षिक सत्रों की उन्होंने अध्यक्षता भी की। विंगत दो वर्षो में लगातार डॉ. ब्रह्मचारी जी ने कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय में 'गीता' पर तथा पांडूलिपियाँ एवं पुरापाषाण विषयों पर देश के विभिन्न संस्थानों एवं विश्वविद्यालयों में राष्ट्रीय पांडुलिपि आयोग द्वारा संचालित कार्यशालायों में व्याख्यान दिए।

उल्लेखनीय है कि संस्कृत एवं भाषा विज्ञान के इस मूर्धन्य विद्वान डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार को राष्ट्रीय प्रशस्ति पत्र से सम्मानित किया गया। डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार जी सदैव मेरे आदरणीय रहे। यों वे उन शख्सियतों में से नहीं थे जिनका बड़प्पन जलेबी की रस की तरह चूता रहता है, बल्कि वह दाल में नमक की सरीखा था और उनकी बातें सुनने से प्रकट होता था। मैंने उन्हें कभी भी पश्चिमी पोशाक में नहीं देखा, जबकि वे लंदन जैसे शहर में कई वर्षो तक रह चुके थे। वे हमेशा धोती-कुर्ता और चप्पल पहनते थे जिसमें उनकी सादगी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती थी। रंग उनका गोरा, कद मझोले से ऊँचा, शरीर ठीक-ठाक और दाढ़ी-मूँछ साफ। स्वभाव से मिलनसार इतने कि जैसे हम उनके यहाँ जाते, वैसे ही वे भी कई बार हमारे यहाँ आते।

प्रो. ब्रह्मचारी जी की जीवन दृष्टि पर विचार करते हुए

जीवन शैली, धर्म के प्रति उनका नजरिया, जीवन के अवसान-मृत्यु तत्व का विश्लेषण चिंतन के योग्य है। वे नैतिक, सामाजिक वर्जनाओं से मुक्त थे। उनके विचार जीने की कला सिखाते हैं। भरसक झूठ न बोलने की उन्होंने कोशिश की। सदा प्रमुदित भाव से रहे। कभी हारे नहीं। पिछले कुछ सालों से धर्म और ईश्वर को उन्होंने नए सिरे से परिभाषित किया।

संस्कृत के इस उद्‌भट्ट विद्वान डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार का देहावसान 83 वर्ष की उम्र में विगत 28 अगस्त, 2016 को अहले सुबह सात बजे हो गया। वे कई दिनों से अस्वस्थ चल रहे थे और इनका इलाज पटना के पाटलिपुत्र स्थित रूबन मेमोरियल अस्पताल मे चल रहा था जहाँ के आईसीयू में जाकर उन्हें वेंटिलेटर पर लगा देखा, तो संबंधित चिकित्सक से बात करने पर मुझे आशा की किरण दिखाई दी और जब उनका आईसीयू से स्थानांतरित कर एक कक्ष में ले जाया गया, तो उन्हें वहाँ देखकर मुझे तसल्ली तब हुई जब इशारे से उन्होंने बुलाकर मुझसे हाथ मिलाई, मगर विधाता के विधान को कौन टार सकता है। अस्पताल से 18 अगस्त 2016 को जब उन्हें छूट्टी दे दी गई, तो उसी दिन रात नौ बजे उनकी हालत पुन: खराब होने पर उन्हें उसी रूबन अस्पताल में पुन: भर्ती किया गया और वे जिंदगी एवं मौत से लड़ते रहे, मगर मौत की जीत हो गई और हमसे हमारे मार्गदर्शक को सदा के लिए छीन ले गई। अब वे वहाँ जा चुके हैं जहाँ से कोई लौटकर आता नहीं। उन्होंने अपने पीछे अपनी पत्नी और इकलौते सुपुत्र डॉ. श्रीधर कुमार के अतिरिक्त चार सुपुत्रियाँ और भरा-पुरा परिवार सहित मेरे जैसे सैकड़ों शुभेच्छुओं को छोड़ रखा है। विगत एक दशक से प्रो. ब्रह्मचारी जी का जो मुझे अपार स्नेह मिला उससे मैं सदा के लिए वंचित हो गया। यह मेरे लिए व्यक्तिगत क्षति हुई ही, संस्कृत और भाषा विज्ञान को भी अपूर्णणीय क्षति हुई। हमें जो साहित्यिक परिवेश मिला है उसे निर्मित करने में ब्रह्मचारी जी का गहरा योगदान है। उनके व्यक्तित्व व कृतित्व को याद रखना उस धारा को सूखने से बचाना है, जो हमें सरसब्ज रखती है और हमारे बाद आने वालों को भी सरसब्ज रखेगी। हम दोनों का रिश्ता स्वार्थ पर नहीं टिका था वह विश्वास पर टिका था, जो आज के सामाजिक परिदृश्य पर देखने को संभवत: नहीं मिलता है। हम दोनों को एक-दूसरे के यहाँ बेरोकटोक जाना-आना था और एक-दूसरे के काम आते थे। ब्रह्मचारी जी उम्र में हमसे आठ साल बड़े होने के बावजूद अपने समय को लाँघकर हमारे समय में हमारे सहभागी और हमराही रहे। उनके पास ऐसा बहुत कुछ था जो आज हमारे काम आ सकता

है। अगर वे बड़े थे तो इसलिए कि वे आज हमसे अपने आचरण-व्यवहार और रचना-कर्मो के माध्यम से हमसे बोलते हैं। अपने समय के पार बोलते हैं और हमें स्मरणीय ढंग से किसी भी समय मानवीय स्थिति, उसकी विडंबनाओं और सुख-दुख, उसके अंतर्विरोध और उत्सुकताओं आदि से रूबरू कराते हैं। यह तोड़-मरोड़कर किसी तरह की प्रासंगिकता में फिट करने जैसा नहीं है वरन् एक अर्थ में कि वे हमें नितांत समसामयिकता की जकड़बंदी से मुक्त करते रहे। समाज के हाशिए पर खड़े शोषित, वंचित व पीड़ित लोगों के हितैषी प्रो. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार जी सचेत रूप से अपनी रचनाओं और व्यवहार में उन स्थितियों का विरोध करते रहे जिनकी वजह से लोग अपना बाजिव हक नहीं पा रहे हैं और उस समाज के पक्ष में अपनी आवाज बुलंद की जिसमें विषमता और उत्पीड़न नहीं होगा।

प्रो. ब्रह्मचारी जी पर अपनी अभिव्यक्ति को विराम दूँ इसके पूर्व एक और अपनी चिंता मैं व्यक्त करना कदाचित समुचित समझता हूँ और वह यह कि ब्रह्मचारी जी ने हमारे जीवन पर एक समग्र दृष्टि डालते हुए 'सिद्धेश्वर : अंकों से अक्षर तक' की हमारी जीवन-यात्रा पर अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। 'सिद्धेश्वर : अंकों से अक्षर तक' नाम्नी अपनी इस पुस्तक में जिसकी पांडुलिपि उन्होंने तैयार कर ली थी, पर मुझे अफसोस है कि उनके जीवन में यह प्रकाशित न हो सकी। मेरी पूरी कोशिश रहेगी कि अग्रज होने के नाते उन्होंने यह पुस्तक लिखकर जो अपार स्नेह मुझ पर दर्शाया है उसे शीघ्र प्रकाशित कराऊँ, ताकि अपने प्राक्कथन में उनकी इस अभिव्यक्ति – 'सही मायने में यह मात्र अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि दिलों को जोड़ने वाला वह मंत्र है जो हमें आमजन के करीब ले जाता है और जिसमें जीवन का स्पंदन सुनाई पड़ता है' की सार्थकता सिद्ध हो सके।

बस कुछ इन्हीं चंद शब्दों के साथ ब्रह्मचारी जी की स्मृति को सादर प्रणाम करते हुए कवि निलाभ द्वारा विष्णुखेर के लिए रचित कविता की इन पंक्तियों से मैं अपने अग्रज को अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ–

'वे चाहते थे जो भी मिलना है मिले प्राण रहते-रहते। ,
मृत्यु के बाद तो शव पर डाला गया दोशाला भी
गर्मी नहीं देता निष्प्राण तन को ।। '

कवि कुवर नारायण : जिनकी कविताएँ मनुष्यता के पक्ष में सदैव सन्नद्ध रहीं

हमारे महान कवियों में से एक कुंवर नारायण की कविता ने भाषा की सीमाओं के पार बसे भूखंडों को प्रकाशित किया। हिंदी ही नहीं, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मान्यताएँ प्राप्त कर पर्याप्त हलचलें मचाईं। परंपरा से गहरे जुड़े और उससे अग्रगामी यात्रा का पाथेय ढूँढ़ने वाले कुंवर जी देशज आधुनिकता के कवि थे, जिनकी कविताएँ मनुष्यता के पक्ष में सदैव सन्नद्ध रहीं। वह भारतीय दार्शनिकता के प्रगतिशील पक्ष से ऊर्जस्वित समन्वय के कवि थे, जिसने लड़ने-झगड़ने की जगह 'जरा सा प्यार में डूबे रहने' का चुनाव किया। उनका यह देशज कोई संकुचित देशज नहीं था, जो धार्मिक कट्टरता की संकीर्ण गलियों में दम तोड़ दे। साझा परंपराओं और सामूहिकताओं से निर्मित वह एक विराट देश था।

कुंवर नारायण एक कवि तो थे ही, वह योगी, ऋषि और एक संत भी थे, जो 20वीं-21वीं सदी के ऐसे समय में जिए, जब चारो ओर कीर्ति की मार-काट हो, समाज यशाकांक्षी होने के साथ यशाक्रांत भी होता जा रहा हो। कुंवर नारायण के व्यक्तित्व की ये खूबियाँ हमें अच्छी तरह बता देती हैं कि एक कवि की तरह उन्होंने खुद को इन सब चीजों से कितना दूर रखते हुए खूद को बचाए रखा था। सरलता, सादगी और एक बेलौस-सी ईमानदारी न केवल कुंवर नारायण के व्यक्तित्व की विशेषताएँ रहीं, बल्कि यही उनकी कविताओं का आधार भी है। उनकी रचनाओं में एक बेहद जटिल समय का चित्रण है, लेकिन एक बड़े कवि होने का हुनर भी यही है कि समय जितना जटिल होगा, वह उसकी अभिव्यक्ति को उतना ही सरल व सहज कर देता है। दुनिया चाहे जितनी बदल जाए, हमारी बुनियादी मानवीय अनुभूतियाँ वही रहती हैं, जीवन व मृत्यु, सत्य व असत्य, प्रेम व घृणा। कुंवर जी की कविताएँ इन्हीं अनुभूतियों को नए-नए नामों से लगाई गई पुकार हैं। चाहे उनका खंडकाव्य 'आत्मजयी' हो या 'वाजश्रवा के बहाने' वह जीवन और मृत्यु के ध्रुवों के बीच हमारे भावनात्मक और नैतिक द्वंद्वों की पड़ताल करते हैं। विश्व विजय की कामना करने वाले इस भूमंडलीय युग में उनकी कविताएँ आत्मजय का अभ्यास कराती हैं। न जाने कितने

पाठक हैं, जिनके लिए संकट के क्षणों में उनकी कविताओं ने औषधियों जैसी भूमिका अदा की हैं।

'कोई दुख मनुष्य के साहस से बड़ा नहीं,
हारा वही जो लड़ा नहीं
जैसी पंक्तियाँ महज शब्द नहीं,
हमारी जिजीविषा की जिद्दी मोमबत्तियाँ हैं।'

जैसी पंक्तियों एक साथ कई पीढ़ियों का मार्गदर्शन कर रही हैं। कविताएँ दुनियाभर में लिखी जाती रही हैं, परंतु कुछेक कवि ऐसे होते हैं, जिनकी कविताएँ हमें आंदोलित और प्रभावित करती है। कुंवर नारायण को मैं उन्हीं कवियों की परंपरा में रखता हूँ जिनकी कविताएँ हमें गहराई में जाकर हमारे जीवन के बारे में बताती आई हैं। यही वजह है कि कुंवर नारायण जी दुनिया भर के उन कवियों में शुमार हैं जिनकी कविताओं से दुनिया रोशन होती आई है और मनुष्य की नियती को ढूँढ़ने का प्रयत्न करती आई है।

19 सितंबर, 1927 को उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले में जन्में कुंवर नारायण ने कविता के अतिरिक्त साहित्य की कहानी और आलोचना विधा में ढेरों रचनाएँ लिखीं। पिछले 51 सालों से साहित्य, सिनेमा और संगीत में लगभग समान दखल रखने वाले कुंवर नारायण की मूल प्रतिष्ठा कवि की थी। वर्तमान में वह नोएडा स्थित सीआर पार्क में पत्नी और बेटे के साथ रहते थे। पद्मभूषण से अलंकृत और ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित हिंदी के इस वरिष्ठ कवि कुंवर नारायण का विगत 15 नवम्बर, 2017 को निधन हो गया। वे 90 साल के हो चुके थे। कुंवर नारायण जी के साथ हिंदी का एक युग समाप्त हो गया। आधी सदी से अधिक की उनकी साहित्य-यात्रा एक साधक की यात्रा रही, जिसमें हमारी भाषा, राजनीति और समाज के विकास की गाथा अपने समस्त विडंबनाओं के साथ विन्सस्त है। उनकी देह ने एक लंबा जीवन पाया और यकीन के साथ कहा जा सकता है कि उनकी कविताओं का जीवन इससे भी कहीं अधिक लंबा होगा।

कुंवर नारायण ने अपनी कविता-यात्रा में कई बेहतरीन संग्रह दिए हैं। इनमें 'इन दिनों', 'हाशिए का गवाह', 'आत्मजयी', 'कोई दूसरा नहीं', 'वाजश्रवा के बहाने', 'अपने सामन', 'चक्रव्यूह', 'हम तुम', 'परिवेश' सहित अनेक कृतियाँ शामिल हैं। साल 1956 में आए उनके कविता संग्रह 'चक्रव्यूह' ने उन्हें जन-जन का कवि बना दिया। अज्ञेय द्वारा संपादित 'तीसरा सप्तक' के कवियों में भी कुंवर नारायण का नाम शामिल

है। 'आकारों के आसपास' नाम से उनका, कहानी-संग्रह भी आया। 'आज और आज से पहले' आलोचना ग्रंथ है। उनकी रचनाओं का इतालवी, फ्रेंच, पोलिश में अनुवाद किया गया है। 2005 में प्रतिष्ठित अकादमी पुरस्कार के अतिरिक्त कुंवर नारायण को 2009 में पद्मभूषण सम्मान के साथ समय-समय पर व्यास सम्मान, प्रेमचंद पुरस्कार, राष्ट्रीय कबीर सम्मान, शलाका सम्मान, तुलसी सम्मान, केरल का कुमारन अशान पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है।

2008 में आया उनका कविता संग्रह 'वाजश्रवा के बहाने' एक पिता के मानसिक द्वंद्व का ही नहीं, अपितु रूढ़ि और प्रगति के सततद्वंद्व का अद्भुत चित्रण है, जहाँ वाजश्रवा की करुण पुकार-

'लौट आओ प्राण
पुनः हम प्राणियों के बीच
तुम जहाँ कहीं भी चले गए हो,
हमसे बहुत दूर,
लोक में परलोक में,
तम में आलोक में
शोक में अशोक में।'

सरोज स्मृति की याद दिलाती एक पिता की करुण पुकार से आगे मनुष्यता की पुकार बन जाती है। तो नचिकेता के लौट आने के बाद

'वह लौट आया है, आज
जो चला गया था कल
वही दिन नहा धोकर
फिर से शुरू हो रहा है
और हम आश्चर्य करते
कहीं कुछ भी तो मरा नहीं।'

अपनी भव्य दार्शनिकता के उद्घोष में अद्भुत व्यंजना भी रचती है। इसे अपनी नाटकीयता, दार्शनिकता और काव्यात्मक सौन्दर्य के लिहाज से भारत के विश्व स्तरीय काव्य संकलनों में शुमार किया जा सकता है। कवि कुंवर नारायण के होने का अर्थ था 'सबके हिताहित की चिंता', सर्वे भवन्तु सुखिनः का उद्घोष करती उनकी कविताएँ हिंदी साहित्य के लोकवृत्त को सदा समृद्ध करती रहेंगी।

कवि कुंवर नारायण के बिहार में भी सरोकार रहे हैं। उनका बचपन पटना सिटी में बीता है, जहाँ जालान संग्रहालय के पास उनके

मामा का घर था जहाँ वे रहते थे। पर एक बार वहाँ से गए तो फिर अंतिम बार 2009 में 'नई धारा' पत्रिका द्वारा दिया जाने वाला उदयराज सिंह स्मृति सम्मान ग्रहण करने पटना आए थे जिसका मैं भी साक्षी रहा हूँ। नालंदा और राजगीर पर उनकी कविता बिहार के प्रति उनके लगाव को दर्शाती है। अपने तीन दिवसीय बिहार यात्रा के दौरान कुंवर नारायण ने पटना के स्काडा बिजनेस सेन्टर में गया के गोवर्धन प्रसाद सदय की अध्यक्षता में आयोजित एकल काव्य पाठ किया था जिसमें भी मैंने अपनी उपस्थिति दर्ज करायी थी और उनकी कविता सुनकर भाव-विभोर हुआ था।

सच मानिए तो कुंवर नारायण की कविताएँ सौन्दर्य और प्रेम की पक्षधरता करती हैं और जब-जब समाज पर उँगली उठाती हैं, वह बेहद ईमानदार उँगली होती है। देखें उनकी काव्य पंक्तियों को-

'इन गलियों से बेदाग गुजर जाता तो अच्छा था,
और अगर दाग भी लगना था
तो फिर कपड़ों पर
मासूम रक्त के छींटे नहीं,
आत्मा पर किसी बहुत बड़े प्यार का जख्म होता,
जो कभी न मरता।'

कुंवर जी की उपर्युक्त कविता की पंक्तियों में प्रेम का उनका और हमारा सामूहिक महास्वप्न दिख जाता है। असाधारण संयम और दुर्लभ विवेक के प्रतिरूप कुंवर नारायण के लिए साहित्य अपने आस-पड़ोस से लेकर वृहतर समाज से संवाद की विनम्र कोशिश थी, जो 90 साल की उम्र में अंतिम सांस लेने तक जारी रही। कविता करने के अतिरिक्त अन्य कलाओं में भी उनकी गहरी दिलचस्पी थी। सच कहा जाए तो उन्होंने अपने जीवन को ही साहित्य, कला और संस्कृति से एकाकार कर लिया था। उनके स्वर की गंभीरता जितना विस्मित करती थी, उतना ही आश्वस्त भी करती थी। उनकी जिज्ञासा अस्तिमूलक भी थी और अपने गहरे अर्थ में भारतीय भी। उन्होंने राजनीति के वर्चस्व के दौर में नीति की आवाज उठायी, पर यह किसी तरह की तटस्थता का संस्करण नहीं थी। वे नैतिक प्रश्न और मुद्दे रोजमर्रा की जिन्दगी और अनुभवों से ही उठाते थे। उनकी एक प्रसिद्ध पंक्ति है-'तट पर हूँ, पर तटस्थ नहीं।' निःसंदेह कुँवर नारायण शुरू से ही मनुष्यता के लोकतंत्र और स्वतंत्रता तथा नैतिक जिम्मेदारी के पक्षधर थे।

कुंवर नारायण का उस्ताद अमीर खां पं. जसराज जैसे

संगीतकारों, संयुक्ता पारिणग्रही, सोनलमान सिंह जैसी शास्त्रीय नर्तकियों, सत्यजीत रॉय जैसे फिल्मकारों से आत्मीय संबंध और संवाद था। इन कलाओं की बारीकियों को वे समझते थे और उनके आस्वादन की उनमें गहरी रसिकता और क्षमता थी। मेरा ख्याल है कुंवर नारायण हिंदी कविता और आलोचना की उस पीढ़ी के अंतिम यशस्वी थे, जो रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, सवेश्वर दयाल सक्सेना, विजयदेव नारायण शाही, धर्मवीर भारती आदि से समृद्ध थी। उनके निधन से एक तरह से इस पीढ़ी का भौतिक समापन हो गया और उसकी उपलब्धियों तथा काव्य जिजीविषा का उत्तरजीवन प्रारम्भ हुआ है। 1955 में कुंवर नारायण ने पोलैंड, रूस और चीन की यात्रा की। वारसा में उन्हें पाब्लो नेरूदा, नाजिम हिकमत और एंटन स्लोनिस्मकी से मुलाकात का अवसर मिला था जिसके परिणामस्वरूप कविता के प्रति उनका आकर्षण बढ़ा दिया।

लखनऊ के कॉफी हाउस में नियमित रूप से आयोजित विचार-विमर्श और लेखक मित्रों के साथ कुंवर नारायण लेखक संघ की साप्ताहिक गोष्ठियों में शामिल हुआ करते थे जहाँ उनके अनेक अग्रज साहित्यकारों, शिक्षाविदों तथा राजनीतिज्ञों से मिलने का उन्हें मौका मिला था। आचार्य नरेन्द्र देव, आचार्य कृपलानी तथा डॉ. राममनोहर लोहिया उनके पारिवारिक सदस्य सरीखे थे। कुँवर नारायण एक अरसे तक सिनेमा और रंगमंच जैसे चाक्षुष माध्यम पर लिखने वालों में रहे। युग चेतना, प्रतीक और छायानट के संपादन से वे जुड़े रहे। उन्होंने कवाफी, बोर्खेरा, स्टीफेन मला में, नेरूदा, गुंटर ग्रास, तादेउष रूजेविच, डेरेक वाल्काट, ज्बीग्न्यू हेर्बर्त आदि कई विदेशी कवियों की कविताओं का अनुवाद किया।

साहित्य और कलाओं को सदैव जीवन के लिए अनिवार्य मानने वाले कवि कुंवर नारायण लेखक की स्वायत्तता को किसी भी विचारधारा से ऊपर मानते थे। दूसरी बात यह कि उन्होंने लिखने का परिमाण नहीं बढ़ाया, बल्कि उसकी गुणवत्ता पर ध्यान दिया। अपनी डायरी में उन्होंने दर्ज किया है- 'कम लिखता हूँ- उतना ही लिखना और छपाना चाहता हूँ जितनी जरूरी हो। लिखने का शौक है। लिखने की बीमारी नहीं।' इतना कुछ मूल्यवान देने के बाद भी वे 2006 में यह अनुभव करने लगे थे कि आखिर उन्होंने समाज को क्या दिया है। जैसे मुक्तिबोध ने पूछा था- 'अब तक क्या किया, जीवन क्या जिया?' कुंवर नारायण ने लिखा था- 'दुनिया को जो मुझसे चाहिए, वह मैं अब उसे दे नहीं सकता। मुझे दुनिया से जो चाहिए, उसे अब पा नहीं सकता। हमारे बीच वह अंतिम समझौता लिखा जा चुका

है। बस अब केवल मेरे हस्ताक्षर भर की देर है। साक्षी आ चुके हैं।' यह है एक कवि की वसीयत। शायद उनमें उत्तरोत्तर एक ऐसा बोध समाहित हो रहा था कि वे कन्फेशन के इस मोड़ तक आ चुके थे-'तमाम तरहों से कम होता जा रहा हूँ, दिन-ब-दिन। मेरे कमियों को दरगुजर करना मेरे आस-पास वालों। उसे स्वीकार करना, जो मैं अभी भी बचा हूँ- जरा सा कवि, जरा सा मनुष्य।' यह एक बड़े कवि की विनम्रता है और शायद विनम्रता ही एक मनुष्य को बड़ा बनाती है। कवि कुंवर नारायण की विनम्रता उनकी कविता की निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है-

'कहीं कुछ भूल हो
कहीं कुछ चूक हो कुल लेनी देनी में
तो कभी भी इस तरफ आते-जाते
अपना हिसाब कर लेना साफ
गलती को कर देना मुआफ़
विश्वास बनाए रखना
कभी बंद नहीं होंगे दुनिया में
ईमान के खाते।'

जाना तो एक दिन सबको है, मगर उनका छह माह कोमा में रहने के बाद गुजर जाना स्तब्धकारी है। कुंवर नारायण भौतिक रूप से तो आज हमारे बीच नहीं हैं, पर उनके शब्द हमारे वजूद के भीतर इसी पंक्ति की तरह हमेशा बहते रहेंगे, भले ही यह प्रवाह अंतर्ध्यान-सा ही क्यों न हो। अपनी जनता की नसों में एक कवि इसी तरह बहता है और इस तरह बहने वाला कवि कभी नहीं मरता। कवि तब तक नहीं मरते, जब तक हम उनकी कविताएँ पढ़ते रहें। कुंवर नारायण की कविताएँ आगे कई पीढ़ियों तक पढ़ी जाती रहेंगी।

कवि कुंवर नारायण ने अपने ऊपर कभी किसी विचारधारा का दबाव नहीं महसूस किया। वे लेखक की स्वायत्तता को किसी भी विचारधारा से ऊपर मानते थे। जैसे रचना में, वैसे ही आलोचना में भी किसी पंथ, किसी भी मत का समर्थन उन्होंने नहीं किया। वे यह प्रयास करते रहे हैं कि शुद्ध, निष्पक्ष और अकादमिक समीक्षा का एक उत्तरदायी संसार हिंदी में विकसित हो।

कवि कुंवर नारायण का जीवन, उनका काव्य एक सुगठित श्लोक और एक सुभाषित की तरह पठनीय और संग्रहणीय है। वे अक्सर कहा करते थे कि साहित्य की राजनीति में दुर्गुण आ गए हैं, पर साहित्य के गुण राजनीति में नहीं। पढ़ने-लिखने के हिमायतियों की सिकुड़ती दुनिया के

बारे में उनका कहना था कि 'गुनना हिराना गुनगाहक हिरानी है।' उनका मानना था कि अच्छी बातें वे हिटलर जैसे तानाशाह से भी ले सकते हैं।

नयी कविता आंदोलन के सशक्त हस्ताक्षर और अपनी कविताओं में समय से संवाद करने वाले रचनाकार कुँवर नारायण की कविताओं में व्यक्ति और समाज की अधिभौतिकता को केंद्रीयता दी गयी है। उनकी कविताएँ इतनी वहिर्मुखी नही है कि चीख-चीखकर यथार्थ के सिर्फ सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक पहलू को दिखाएँ, बल्कि वे इतनी चिंतनपरख हैं कि मनुष्य और समाज की आत्माओं के बीच बसे अधिभौतिक-आत्मिक यथार्थ की जगह को परिभाषित कर सकें। उन्होंने मिथकों और इतिहास को अपनी रचनाओं में जगह दी और ऐसा करके उन्होंने एक समांतर पुनर्पाठ प्रस्तुत किया, जो हमारी चेतना को झिझोड़ता है। जहाँ तक मैंने उनकी रचनाओं को समझा है उनके विचार और चिंतन में कहीं कोई जड़ता और अतीतोन्मुख मतांधता नहीं। आधुनिकता, तर्कशीलता और उदार प्रगतिकामी विचारों को वे निरंतर अपने समय-समय पर लिखे गए निबंधों और साक्षात्कारों में व्यक्त करते रहे। 'कविता अपने लिए प्राचीन अर्थों में नैतिकता की माँग करती है।' यही वह अंश था, जो स्वयं उनके जीवन और उनकी रचनाओं पर लागू होता है। उनकी रचनाओं की भाषा में सादगी की, वैभव की वजह से पिछले दो-तीन दशकों में संभवतः सबसे ज्यादा वे पढ़े गए कवि हैं। उनकी कविताएँ एक साथ सभी से बात करती हैं। व्यक्तिगत स्तर पर कुंवर नारायण कम ही लोगों से मिलते थे, लेकिन उनकी कविताएँ पूरी दुनिया से मिलती हैं। एक कवि अपना पूरा व्यक्तित्व अपनी रचनाओं की गंगा में बहा देता हो, हिंदी में कुंवर नारायण से बेहतर इसका उदाहरण कोई दूसरा नहीं। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्राप्त करने वाले ऐसे कवि कुंवर नारायण की स्मृति को नमन करते हुए उन्हीं की इन पंक्तियों से मैं अपना श्रद्धासुमन उन्हें अर्पित करता हूँ-

'अबकी बार लौटा तो
हताहत नहीं
सबके हिताहत को सोचता
पूर्वांतर लौटूँगा
अबकी बार लौटा, तो वृहत्तर लौटुगाँ।'

इंदिरा राइसम गोस्वामी : जिन्होंने लेखकीय दायित्व के साथ सामाजिक जिम्मेदारी भी निभाई

असमिया साहित्य की सुप्रसिद्ध लेखिका व ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित डॉ० इंदिरा गोस्वामी ने असम के पूरे अंचल को अपने लेखन में समेटा और वहाँ की आँचलिक परंपराओं से पूरी दुनिया को रूबरू कराया। असम के जनजीवन से जुड़े हर पहलू को उनके लेखन में समझा और देखा जा सकता है। मूल रूप से असमी भाषा की इस महान लेखिका को हम इस मायने में भी अलग पाते हैं कि उन्होंने असम के साथ देश ही नहीं पूरी दुनिया के परिदृश्य को अपने लेखन में स्थान दिया। वह मामानी राइसम गोस्वामी के नाम से लिखती थी, पर लोग इंदिरा गोस्वामी के नाम से ज्यादा जानते थे। साहित्य जगत में बहुत ही कम लोग हैं जिन्होंने लेखकीय दायित्व के साथ सामाजिक जिम्मेदारी भी बड़ी बखूबी से निभाई। दरअसल, इंदिरा गोस्वामी अपने लेखन में तो व्यस्त रहती ही थीं, वह एक सामाजिक कार्यकर्ता के तौर पर भी हर जरूरतमंद तबके के साथ खड़ी रहती थीं। लेखन की तरह ही सामाजिक सरोकारों से जुड़ा उनका फलक बहुत व्यापक था। गुवाहाटी स्थित मंदिर के समक्ष खुलकर खड़ी होने वाली वह इंदिरा गोस्वामी ही थी जिसके लिए उन्हें वहाँ के पंडे-पुजारियों के विरोध का सामना भी करना पड़ा था, पर वह पीछे नहीं हटीं।

इसी प्रकार असम में हाथियों के शिकार को रोकने का प्रयास भी उन्होंने किया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो उनके सामाजिक सरोकारों से रूबरू कराते हैं। वह असम में शांति चाहती थी। उन्हीं के प्रयास से उल्फा के साथ शांति प्रक्रिया की शुरुआत हो सकी। उन्होंने महसूस किया कि हिंसा किसी भी समस्या का समाधान नहीं है। असम के तीन दशक लंबे विद्रोह की छाया के बीच इंदिरा गोस्वामी ने न सिर्फ हिंसा के मुद्दे को अपनी कलम के जरिए उठाया, बल्कि प्रतिबंधित उल्फा को आगे की वार्ता के लिए तैयार करने और 2003 में पिपुल्स कंसल्टेटिव ग्रुप की स्थापना तथा उन्हें सलाहकार के रूप में नियुक्त करने की पहल भी की। इन्होंने उल्फा और सरकार के बीच जारी वार्ता के लिए निश्चित तौर पर मार्ग प्रशस्त किया।

इंदिरा गोस्वामी का जन्म 14 नवंबर, 1942 को

असम के एक पारंपरिक वैष्णव परिवार, जो दक्षिणी कामरूप में अमरंगा में एक 'सत्र' (मठ) का मालिक था में हुआ था। मठ के परिवेश के चलते धार्मिक सिद्धांतों और समाज में व्याप्त बुराइयों ने युवती इंदिरा गोस्वामी के मन पर गहरा प्रभाव डाला जिसे बाद में उन्होंने अपनी रचनाओं खासकर अपने उपन्यास 'दाताल हातिर उने खोचा होवदाह' में अभिव्यक्त किया। इस पुस्तक पर राष्ट्रीय पुरस्कार जीतने वाली फिल्म 'अदाज्य' बना, जिसे आधुनिक असमी साहित्य का उत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है।

इस उपन्यास में असमी ब्राह्मण विधवाओं के भाग्य और सत्ता एवं रीति-रिवाजों के पाखंडी तथा पतित संरक्षकों द्वारा उनके शोषण को दर्शाया गया है।

इंदिरा गोस्वामी द्वारा लिखित पुस्तकों में मूल रूप से उन्होंने महिला प्रश्नों को गहराई व सिद्दत से उजागर किया। उन्होंने अपने अद्भुत उपन्यास 'नीलकंठ ब्रज' में विधवा महिलाओं की दुर्दशा और उनके जीवन संघर्ष को दर्शाया है। ऐसा लगता है कि उन्होंने विधवाओं के संताप को अपने आप गहराई से महसूस किया है, शायद इंदिरा जी की खुद की पीड़ा उनकी कलम से उजागर हुई है। दरअसल, शिक्षा पूरी होने के बाद इंदिरा जी एक युवा इंजीनियर माधवन रेसोम अयंगर के संपर्क में आई। फिर माधवन से शादी की और पति के साथ कश्मीर चली गई। शादी के 18 माह बाद ही माधवन की एक सड़क दुर्घटना में मौत हो गई जिससे वह पूरी तरह टूट गई। वह असम वापस आकर गोल सैनिक स्कूल में शिक्षिका के रूप में काम करने लगीं। वहाँ अपने उपेन्द्र चंद्र लेखारू के सहयोग से वृंदावन गई और रामायण काल के साहित्य पर शोध किया। वह वृदावन ही था, जहाँ उनकी चेतना को उनकी रचनाओं में अभिव्यक्ति मिली और वह एक प्रतिष्ठित लेखिका के रूप में उभरकर सामने आई। उनके प्रसिद्ध नीलकंठी ब्रज में वृंदावन की विधवाओं के शोषण के मुद्दे को उन्होंने उठाया और 'रामायण प्रेम गंगा टू ब्रह्मपुत्र' को भी उन्होंने यहीं लिखा।

दरअसल, वृदावन के हालात ने इंदिरा जी का अनायास ही अवसाद से निकलने का रास्ता रचनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में दिखा दिया। इस बात को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि नीलकंठी ब्रज की सौदामिनी की पीड़ा का बहुत-सा हिस्सा वही है जो उन्होंने अपने पति की मृत्यु के बाद सहा था। अपनी व्यक्तिगत पीड़ा के दंश को रचनात्मक अभिव्यक्ति देकर उससे जैसे मुक्त हुआ जा सकता है-- 'नीलकंठी ब्रज'

उपन्यास शायद उसका श्रेष्ठत्तम उदाहरण है अन्यथा ये वही इंदिरा जी थी, जो शिलांग में रहते हुए नींद की गोलियाँ और आत्महत्या के विचार के साथ जी रही थीं।

अपने मृत पति की आजीवन प्रिया बनी रहने की इच्छा की वजह से वह रोज-रोज सजती-संवरती थीं। बिल्कुल नई नवेली दुल्हन की तरह। करीबी मित्र लेकिन जब आपत्ति जताती थीं, तो इंदिरा जी का उत्तर होता था लोग मुझे अपनी निगाह से देखते-समझते हैं मेरी निगाह से क्यों नहीं देखते-समझते हैं? मैं अपने प्यार के लिए सजती-संवरती हूँ। यदि मैं ऐसा नहीं करूँगी, तो वह जी नहीं पाएगें। इंदिरा गोस्वामी की निजी जिंदगी भारतीय लोकमानस के संस्कारों में रची-बसी उस लोक संस्कृति की मिसाल है जिसमें परंपरा और आधुनिकता से मुठभेड़ चलती रहती है।

इंदिरा गोस्वामी की रचना 'छिन्नमस्ता' न सिर्फ बलि विरोध की रचना है, बल्कि धार्मिक स्थलों में व्याप्त अन्य तमाम विद्रूपताओं का भी बड़ी बेबाकी से खुलासा करती है। हजारों वर्ष पुराने कामरू कामाख्या मंदिर पर शायद ही कोई ऐसी दूसरी रचना हो जहाँ की पूजा-अर्चना के विभिन्न रूप, आकार नीति, लोक विश्वास, लोकगाथा, देवीपीठ के साथ जुड़ी किंवदन्तियाँ, देवी पीठ का इतिहास, वहाँ की धार्मिक परंपरा, साथ ही इसके नकारात्मक पहलू आदि को कथानक का रूप दिया गाया है। अंतर्विरोध ने उनके जीवन को धार दी, कलम की ताकत दी और उन्होंने जीवन के अनेक प्रत्यक्ष अनुभव सूक्ष्म करके मोती के समान रचनाओं की माला में पिरो दिया।

इंदिरा गोस्वामी ब्रह्मपुत्र की बेटी थी, खूबसूरत थी। असम के अमीर परिवार से ताल्लुक रखने के बावजूद उनका जीवन बेहद कठिन और संघर्षपूर्ण रहा। जिंदगी की जद्दोजहद से जूझते हुए, बार-बार गिरते और टूटते हुए वह हर बार उठ खड़ी हुई सिर्फ खुद के लिए नहीं, बल्कि अपने सरोकारों के साथ-साथ समाज और साहित्य के लिए। उन्होंने इस देश के भूगोल में हाशिए पर रहे उत्तर-पूर्व की भाषा, साहित्य, संस्कृति और सामाजिक, राजनीतिक अस्मिता की आवाज को बुलंद किया। इंदिरा जी ने उनहत्तर साल की जिंदगी जी और भारतीय साहित्य का गौरवशाली व्यक्तित्व बन कर उभरीं। दिल्ल7ी में रहते हुए इंदिरा गोस्वामी ने कहानी, कविता, उपन्यास, जीवनी, सस्मरण और तकरीबन हर विधा में अपनी कलम चलाई। इंदिरा जी ने सन चौरासी के सिख विरोधी दंगे पर 'पेज स्टेड विद ब्लड'

और उत्तर-पूर्व के अलगाववाद पर 'जात्रा' उपन्यास भी लिखा। आज इंदिरा गोस्वामी जी हमारे बीच भले ही नहीं रहीं, किंतु उनका वैविध्यपूर्ण लेखन असमिया ही नहीं, बल्कि संपूर्ण भारतीय साहित्य की धरोहर है। उनके लेखन में अनुभवों के धागों को कल्पनाओं की सलाइयों से बुनकर प्रस्तुत किया गया ताना-बाना स्पष्ट देखा जा सकता है।

इंदिरा गोस्वामी की बाद में दिल्ली विश्वविद्यालय के आधुनिक भाषा विभाग में नियुक्ति हुई और वह असमी विभाग की अध्यक्ष भी हुईं। 1962 में उनकी लघुकथाओं का पहला संग्रह 'चिनाली मोरोम' प्रकाशित हुआ। उनकी अन्य प्रसिद्ध रचनाओं में अहिरोन, चेनाबर स्रोत, दशारिथर खोज, तेज आरूधूलिरे धुसारिता पृश्ना तथा उदयभानूर चरित्र है। उनकी पुस्तक छिन्नमस्ता मानुहतो प्रसिद्ध कामख्या देवी में पशु बलि के खिलाफ है जबकि जात्रा असम में विद्रोह के मद्देनजर लिखी गई। आधा लिखा दस्तावेज उनकी आत्मकथा है। उनकी कविताओं का संग्रह प्लेन एंड साहित्यकार इंदिरा गोस्वामी को अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। सन् 2000 में उन्हें साहित्य के सर्वोच्च पुरस्कार भारतीय ज्ञानपीठ से नवाजा गया। फिर 2002 में वह 'पद्मश्री' से सम्मानित की गई। इसके पूर्व सन् 1983 में ही उन्हें साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला। उनकी किताब रामायण गंगा टू ब्रह्मपुत्र के लिए फलोशि विश्वविद्यालय ने अंतरराष्ट्रीय तुलसी पुरस्कार से सम्मानित किया। उनकी प्रतिष्ठा का ही असर था कि उन्हें सेवा निवृत्ति के बाद मानद प्रोफेसर का दर्जा प्रदान किया गया।

अभी हाल में जाने-माने हरफनमौला संगीतकार भूपेन हजारिका के महाप्रयाण से असम सहित पूरा देश उबर भी नहीं पाया था कि सिद्धस्त लेखिका, शांतिदूत इंदिरा गोस्वामी का लंबी बीमारी के बाद 69 वर्ष की उम्र में 29 नवंबर, 2011 को गुवाहाटी के एक अस्पताल में निधन हो गया। उन्हें फरवरी 2011 में मस्तिष्काघात हुआ था जिसके चलते वह जीवनरक्षक प्रणाली पर थीं। गोस्वामी को इतिहास में उल्फा के लक्ष्य, उद्देश्य और दर्शन को केंद्र सरकार तक पहुँचाने के लिए याद रखा जाएगा।

इंदिरा गोस्वामी के जन्म पर ज्योतिषी ने कुंडली बांचते हुए कहा था कि यह जन्म अशुभ ग्रहदशा के बीच हुआ है और अनष्टिकारी हो सकता है, इसलिए नवजात शिशु के टुकड़े कर ब्रह्मपुत्र में फेंक देने चाहिए। गनीमत थी कि इंदिरा गोस्वामी का परिवार पारंपरिक जीमींदारी मानसिकता के होने के बावजूद इस तरह के अँधविश्वासों को मूर्तरूप देने को कतई

राजी नहीं था। घर-परिवार का यह खुला माहौल बाद में इस असमिया साहित्कार की रचनात्मकता को सिरजने वाला बड़ा कारक सिद्ध हुआ। आधुनिक शिक्षा के बीच बाद में इंदिरा गोस्वामी ने पिता के कहने पर असमिया सीखी। फिर वो भारतीय लोक और परंपरा के ब्रह्मपुत्री, प्रवाद का वह हिस्सा बन गई। पीएचडी के उनके शोध का विषय माधव कांदले और तुलसीदास का तुलनात्मक अध्ययन से असमियां की इस ख्यातिलब्ध साहित्यकार के रचनात्मक रूझान का पता चल चुका था। कथाकार और उपन्यासकार के रूप में तो उनकी ख्याति थी ही काव्य के स्रोत में भी उनका खासा दखल था। इंदिरा जी हिंदीतर भारतीय भाषा के उन बहुत थोड़े से लेखकों की पंक्ति में शुमार हैं जिनकी तमाम भारतीय और विदेशी भाषाओं में अनूदित कृतियों को भी हिंदी क्षेत्र में हिंदी भाषी अपनी कृतियों की तरह पढ़ते हैं, चर्चा करते हैं।

साड़ी, काजल और बड़ी सी बिंदी के साथ कढ़ी उनकी शिनाख्त में कोई चाहे तो आधुनिकता के कई लक्षण भले पढ़ ले, पर इंदिरा गोस्वामी नारी स्वतंत्रता के हिमायतियों में अगली पांत में होने के वाबजूद उसकी स्वच्छंदता की हामीदार कभी नहीं रहीं। उनका यह एतराज इस हद तक सीमित था कि उन्हें महिलाओं के खुले पहनावे तक से चिढ़ थी। दिल्ली में रहकर भी उनका मन और चिंतन अगर कहीं से सबसे गहरे जुड़ा था, तो वह था उनका गृह प्रदेश असम और वहाँ की संस्कृति। अशांत असम की टीस को जिस हद तक इंदिरा गोस्वामी ने महसूस किया, वह आज तक एक मानवतावादी कार्यकर्ता और शांतिदूत के संघर्ष और कामयाबी के तौर पर दर्ज है।

इस महान सांस्कृतिक व्यक्ति की स्मृति का डॉ० मिथिलेश दीक्षित की इन पंक्तियों से मैं श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ---

आधुनिकता की
घुट्टी पीकर
स्वार्थी, सन्तति
दूर हो गया,
डैडी-मम्मी की
मर्यादा
धन के मद से

भीष्म साहनी :
जो आमजन के हिमायती लेखक थे और अतीत को वर्तमान से जोड़कर लिखना उन्हें पसंद था

8 अगस्त, 1915 को रावलपिंडी में जन्में भीष्म साहनी की वर्ष 2015 में जन्मशती मनाई गई। भीष्म साहनी के अनुसार - "साहित्य के क्षेत्र में भी मेरे अनुभव वैसे ही स्पष्ट और सीधे-सादे रहे, जैसे जीवन में। मैं समझता हूँ अपने से अलग साहित्य नाम की कोई चीज भी नहीं होती जैसा मैं हूँ, वैसी ही मैं रचनाएँ भी रच पाऊँगा, मेरे संस्कार, अनुभव, मेरा व्यक्तित्व मेरी दृष्टि सभी मिलकर रचना की सृष्टि करते हैं, इसमें से एक भी झूठ हो, तो सारी रचनाएँ झूठी पड़ जाती है।"

इसी प्रकार भीष्म साहनी के बड़े भाई बलराज साहनी ने उनके बारे में कहा था-- "भीष्म के मिज़ाज में एक खूबी मैंने देखी कि उसमें जल्दबाजी नहीं है, वह बड़े आराम से काम करता है, सोचकर और कम बोलता है; हठधर्मी कभी नहीं करता, अपनी बात सुनाने के बाजाय ज्यादा दूसरों की सुनता है, कहानी के कथावस्तु का चुनाव भी वह बड़े धीरज से करता है।" भीष्म साहनी ने लेखन के क्षेत्र में जो भी ऊँचाई प्राप्त की, वह प्रायोजित नहीं; बल्कि वह अपनी समृद्ध रचनाओं के बल पर प्राप्त की थी। उसके पीछे कोई छल-छद्म, शोर-शराबा या दाव-पेंच नहीं था। इसी की वजह से उनका व्यक्तित्व इतना सहज और मानवीय था। उनके चेहरे से, उनके व्यवहार से, उनकी बातचीत से कहीं भी, बड़ा लेखक होने के संकेत नहीं मिलता था।

राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित उनके उपन्यास 'तमस' के लिए भीष्म साहनी को केंद्रीय साहत्य अकादमी का पुरस्कार और सम्मान मिला। 1973 से 1986 के 10 अप्रैल तक भीष्म साहनी प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव रहे, इस नाते उन्हें देशभर में कहीं-न-कहीं कभी-न-कभी अक्सर जानापड़ता था। प्रगतिशील लेखक संघ के बिहार में आोजित कई, सम्मेलनों को उन्होंने अपनी उपस्थिति से गौरवान्वित किया था। नपे-तुले शब्दां में अपनी बात कहने वाले भीष्म जी के उद्‌गार में एक अध्यापक की सी झलक मिलती थी। अँग्रेजी साहित्य में उनकी गहरी दिलचस्पी थी। सच मानिए किसी भी आयोजन मे भीष्म साहनी जैसे लेखक की उपस्थिति का

एक बड़ा अर्थ था। वह आमजन के हिमायती लेखक थे और अतीत को वर्तमान से जोड़कर लिखना उन्हे पसंद था। मुझे भी कई बार दिल्ली तथा पटना में उन्हें सुनने का मौका मिला था।

एक अमर कथाकार, उपन्यासकार होने के साथ-साथ भीष्म साहनी एक नाटककार भी थे जिनके नाटकों हानूश, कविरा खड़ा बाजार में, माधवी मुआवजे को पूरे उत्तर भारत में अपार ख्याति मिली। पटना उन शहरों में है जहाँ भीष्म के इन सभी नाटकों के कई बार मंचन हुए और आज भी जारी है। 'कबिरा खड़ा बाजार में धर्म और राज्यसत्ता के आपसी रिश्ते को इस नाटक के पात्र कोतवाल के इस संवाद से समझा जा सकता है-- 'मजहब के नाम पर सल्तनतें बनती हैं और सल्तनतों के साए में मजहब पनपते हैं। हिकमत की तलवार दीन की खिदमत करती है।' भीष्म साहनी के नाटकों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्व है उसकी विश्वसनीयता। ये विश्वसनीयता उन्होंने समाज से गहरे जुड़ाव से हासिल किया जैसा कि वे खुद कहते हैं-- 'साहित्य जिंदगी की कोख से निकलकर आए तभी वो विश्वसनीय हो पाता है।' मुझे याद है पटना में प्रगतिशील लेखक संघ के ततवावधान में भीष्म साहनी के जन्म शताब्दी समारोह के प्रिमि सत्र के मुख्य वक्ता डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा था कि क्रांतियाँ और किताबें नि:संतान नहीं होतीं। यह हमेशा अपने अस्तित्व को बनाए रखती हैं। भीष्म साहनी एक ऐसे लेखक थे जिनमें अहंकार नहीं था। साम्प्रदायिकता और उन्माद पर भीष्म साहनी ने कभी समझौता नहीं किया।

बुनियादी तौर पर रंगमंच से लगाव होने के कारण भीष्म साहनी का सिनेमा की तरफ रूझान भी स्वाभाविक था। एक कलाकार या लेखक के रूप में वे जितनी फिल्मों से संबद्ध रहे, उनकी संख्या तो दहाई में नहीं निकलेगी, लेकिन सिनेमा को उन्होंने जितना दिया, वह सब ठोस ही था। अभिनेता के रूप में उनकी पहली फिल्म 'मोहन जोशी हाजिर हो' थी। इस फिल्म मुं दर्शाया गया था कि हमारे यहाँ मुकदमें इतने लंबे खींच जाते हैं कि इंसान पैसे के साथ इस व्यवस्था पर से भरोसा तक भी खो देता है। व्यवस्था की इस चरमराहट कर दोष वकीलों द्वारा बुन गए जाल को दिया गया है।

जहाँ तक मैं समझता हूँ कि जिस तरह गुलेरी जी 'उसने कहा था' के रूप में एक कहानी लिखकर हिंदी साहित्य में अमर हो गए, उसी तरह उपन्यास 'तमस' लिखकर भीष्म साहनी का नाम भी इतिहास के शिलालेखों में हमेशा के लिए अंकित हो गया है। यों निरंतर क्रियाशील रहने

की वजह से वे मानसिक और शारीरिक रूप से स्वस्थ रहते थे, मगर एक बार जब वे बीमार पड़े, तो इससे उबर न सके और 19 जुलाई, 2003 को उन्होंने सदा के लिए आँखें मूंद ली।

समकालीन जीवन में महिलाओं की त्रासद स्थिति की वाणी बनता 'माधवी' नाटक पुरूष की निर्ममता को दर्शाते हुए नारी अस्मिता को उठाता है। दरअसल, समाज में स्त्रीं का शोषण देखकर भीष्म साहनी हमेशा गहरी पीड़ा का अनुभव करते थे। आदिकाल से ही स्त्रियों का शोषण कर पुरूष अपने को महानता के गर्व में चूर करता रहा है। इसे दिखाने के लिए वे अपने ही धर्मग्रंथों को खंगालते हैं तो माधवी का चरित्र सामने आता है। भीष्म साहनी अपनी बात को बड़ी स्पष्टता से बिना किसी उलझाव के प्रस्तुत करते थे। राजनीतिक रूप से चेतन भीष्म साहनी बहुत जागरूक थे और वामपंथी विचारधारा के समर्थक। इसके साथ ही हिंदी, अँग्रेजी, उर्दू, अरबी, फारसी, संस्कृत आदि भाषाओं पर उनकी जबर्दस्त पकड़ थी। जो भी उनकी एक झलक ली है उनके बालों की एक लट जो सदैव उनके माथे पर लटकती रहती थी, वह कभी नहीं भूल सकता। और तो और उनकी पत्नी को भी उनके माथे की यह लटकती लट बहुत पसंद थी।

भीष्म साहनी जी के गर्दिश के दिन ऊर्जा से लबालब, पर तकलीफ भरे थे। जेब में मुश्किल से किराए के पैसे होते और वे यहाँ-वहाँ प्रगतिशील लेखक संघ के काम के लिए दौड़ रहे होते। कभी-कभी तो भोजन तक के पैसे के लिए उन्हें लाले पड़ जाते। अपनी आत्मकथा 'आज के अतीत' में भीष्म जी ने ऐसे प्रसंग का जिक्र किया है जिसमें वे भूख से बेहाल हो रहे थे और अंततः किसी सहयोगी से पैसे माँगकर उन्हें अपने पेट की भूख शांत करनी पड़ती थी। ऐसे ही गर्दिश के दिनों का एक वाकया है कि वे कहीं चाय की दुकान पर बैठे थे कि अचानक उन्हें रेडियो पर आवाज सुनाई दी, 'हुण तुसी शीला साहनी कोलों पंजाबी विच समाचार सुनो!' सुनकर रोमांचित भीष्म जी की आँखें ठल छला आईं। उन आंसूओं में दुख-सुख के अजब रंग थे। उन्हें यह जानकर बहुत अच्छा लगा कि उनकी पत्नी शीला साहनी ने खुद ही दिल्ली आकाशवाणी में जाकर काम खोज लिया था और समाचार-वाचिका के रूप में उनकी नियुक्ति हो गई। दुख और गर्दिश के उन एकाकी दिनों में, पत्नी की आवाज का कानों में पड़ना ही भीष्म जी की आँखों को जिस तरह पनीला कर गया, उसे पढ़कर पाठक की आँख भी खुद-ब-खुद नम हो जाती है। भीष्म जी ने अपनी आत्मकथा न

लिख्त्री होती तो ये करूण प्रसंग शायद ही कभी सामने आ पाते। भीष्म साहनी जी की बेटी कल्पना तथा बेटे वरूण दिल्ली में रहते हैं।

वर्तमान दौर में जब साहित्य का परिवेश बहुत कुछ एक साथ पा लेने की होड़, तमाम तरह के दिखावे, आडंबर, सफलतावादी जतन और समझौतों की राह पर चलकर धुंधला-सा गया है, तब साफ-सुथरी, शालीन शख्सियत वाले भीष्म जी का हमारे बीच से गुजर जाना और अधि क उत्कटता से महसूस होता है। साहित्य के किसी गंदले घमासान में उनका नाम नहीं उछला। उनकी कलम ने कभी कोई घटिया, अशोभन आक्षेप, कभी किसी विरोधी पर नहीं लगाया।

आज जब मैं भीष्म साहनी जी की जन्मशती पर संस्मरण लिख रहा हूँ तब मैं याद कर रहा हूँ उन तथकथित साहित्यकारों को, जो लिखते नहीं पर साहित्य की किस्म-किस्म की कवायद करते हैं और लगातार चर्चा में बने रहते हैं, लिहाजा वे समाचार-पत्रों एवं पत्र-पत्रिकाओं में सबसे जयादा स्थान पाते हैं, लेकिन बाद में उन्हें कोई याद नहीं करता और न उनकी रचनाएँ इस लायक होती हैं कि उन्हें याद किया जाए। ऐसे लेखक खबरों में तो होते हैं, मगर लोगां के दिलों में कभी जगह नहीं पाते। ऐसे में जब मैं भीष्म जी पर नजर डालता हूँ तो पाता हूँ कि उनके जाने के बाद उन्हें कहीं शिद्दत से याद किया जाता है। अफसोस, हमारे यहाँ का पूरा तंत्र ऐसा है, जिसमें भीष्म साहनी जी जैसे शांत, शालीन, सादगीप्रिय लेखक कुछ-कुछ ओट में चले जाते हैं और उनके लेखन-कर्म की विपुलता या रचनात्मक संघर्ष का बहुत कम लोगों को पता चल पाता है। इसमें भीष्म जी जैसे बड़े और सामर्थ्यवान लेखकों का तो भला क्या नुकसान होगा, पर हाँ, हमें उनसे जो सीखना चाहिए, वह सीखने का अवसर हम गंवा देते हैं।

इस मायने में भीष्म जी की जन्म शताब्दी हमारे लिए एक अवसर भी लेकर आई है। उन्हें और उनके साहितय को याद और पढ़कर आज फिर से मनुष्य होने की संवेदना से अपनी जड़ों की तलाश कर सकते हैं और अपनी कमजोरियों से उबरकर भविष्य की ओर देखने की शक्ति पा सकते हैं।

भीष्म साहनी को आज़ादी से पहले और बाद के दोनों प्रकार के माहौल में साँस लेने तथा उन्हें जीने में महसूस करने का मौक़ा मिला था। निश्चय ही उस वातावरण की गहरी छाप यहाँ के अन्य लेखकों

के साथ भीष्म की संवेदना पर पड़ी और उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा को गहरे में प्रभावित किया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आज़ादी के पहले का काल जहाँ प्रबल आंदोलनों का काल था, वहाँ वह प्रबल, विश्वव्यापी विचार-धाराओं का काल भी रहा। भले ही वह गाँधी जी की विचार-धारा रही हो अथवा समाजवाद, साम्यवाद, यहाँ तक कि फ़ासीवाद तक की विचारधाराएँ रही हों जिन्होंने इस युग की गतिविधियों को प्रभावित किया, लेखक का संवेदन, भावना के स्तर पर भी और चिंतन के स्तर पर भी, इन विचारधाराओं से भी प्रभावित होता रहा है। किंतु मूलत: वह उस विचारधारा की ओर आकृष्ट होता है जो एक बेहतर, न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की स्थापना का आश्वासन देती है। मात्र तर्क के स्तर पर वह किसी विचारधारा से नहीं जुड़ता। भीष्म साहनी के लिए बौद्धिक विश्लेषण का उतना महत्त्व नहीं, जितना मानव जाति के सपनों को संजोने वाले वे लक्ष्य जो भावना के स्तर पर उसे उंद्वेलित करते थे।

भीष्म साहनी ने यूरोप में जगह-जगह बर्लिन, प्राग आदि में उन यातना-शिविरों को और उन स्थलों को देखा था जिनमें हज़ारों हज़ार यहूदी ज़िंदा भून डाले गए थे। कंपुचिया में इन्हें एक ऐसा संग्रहालय भी देखने का मौक़ा मिला जिसमें काँच की दीवारों के भीतर ऊपर से नीचे तक केवल इंसानों की खोपड़ियाँ ही खोपड़ियाँ हैं- खोपड़ियाँ और अस्थिपंजर। वहीं पर इन्होंने दुनिया का शायद सबसे बड़ा अनाथाश्रम भी देखा जिसमें हज़ारों की संख्या में, वे अनाथ बच्चे रहते थे जिनके माँ-बाप को पोल-पोट के शासनकाल में मौत के घाट उतारा गया था। यंग के बड़े-बड़े आदर्शों तथा विचारधाराओंवाले इस देश में भी इनके काल में सबसे अधिक अनिश्चय, असुरक्षा के साथ-साथ नरसंहार एवं वर्षों से इंसानों के खून बह रहे थे और दुनिया के सभी तथाकथित शांतिप्रिय ताक़तें समझौते करवाने का स्वांग रच रही थीं। इन बातों की चर्चा मैंने इसलिए की कि भीष्म साहनी के लेखन को भी इन घटनाओं ने प्रभावित किया। इन्होंने अपनी रचनाओं में उसकी भी चर्चा की जब आँधी में भटकती हुई मानव जाति इसी को ही अपनी नियति मान ले रही थी। यही कारण है कि साहित्य में उस काल के अवसाद, दिशाहीनता और मोहभंग के स्वर सुनाई पड़ते हैं। भीष्म साहनी इतने संवेदनशील थे कि इक्कीसवीं शताब्दी की दहलीज़ पर खड़े वह भविष्य में ज़्यादा दूर तक देख पाने में अपने को असमर्थ पाते थे। लेखक के रूप में उन्होंने ज़िंदगी की सही तस्वीर पाठकों के सामने रखने की कोशिश की, पर साथ ही वह मानवीयता

का, मानवीय मूल्यों के पक्षधर भी थे।

इस प्रकार भीष्म साहनी का अटूट विश्वास मानवीयता और मानवीय मूल्यों में था और मानवीयता ही साहित्य का नैसर्गिक गुण है। यही वह अक्षय स्रोत है जिससे लेखक का संवेदन प्रेरणा ग्रहण करता है जिससे लेखक को दृष्टि मिलती है। साहनी जी की भूमिका समाज के हितचिंतक की भूमिका ही बनी रही और साथ ही हमें सचेत करने वाले की, जूझते मानव के हृदय में आशा का संचार करने वाले की। 'तमस' और 'अमृतसर आ गया है' जैसी कालजयी रचनाओं के लिए चर्चित कथा लेखक भीष्म साहनी पक्षाघात की चपेट में आने के पहले उनका देहावसान हो गया। फ़िल्म अभिनेता स्व० बलराज साहनी के छोटे भाई भीष्म को बचपन से ही राजनीति में दिलचस्पी थी। यही कारण था कि गुलामी के दिनों जिस समय देश का बच्चा-बच्चा आज़ादी के लिए छटपटा रहा था, भीष्म भी स्वतंत्रता-आंदोलन में कूद पड़े और उसमें सक्रिय रूप से भाग लेने के कारण उन्हें जेल की सज़ा भी भुगतनी पड़ी। जेल में उनकी विचारधारा में परिवर्तन हुआ और वे वामपंथी आंदोलन से जुड़ गए।

8 अगस्त, 1915 ई० को जन्मे साहनी ने मानवीय संवेदनाओं और संबंधों को पूरी गहराई और मर्म के साथ कागज़ पर उकेरा। उन्हें अभिनय, राजनीति, संपादन और अध्यापन में महारत हासिल थी। अपने बड़े भाई बलराज साहनी से विरासत में पाई संवेदनाओं के चलते भीष्म ने 'बलराज माई ब्रदर' अँग्रेज़ी में उनकी एक जीवनी लिखी। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'सैयादस की माड़ी', 'बसंत' और 'नीलू नीलिमा नीलोफ़र' जैसे सात उपन्यास तथा 'बांगचू और पटरियाँ' जैसे कहानी-संग्रह और छह नाटक में 'हानूस', 'माधवी', 'आलमगीर' और 'कबीरा खड़ा बज़ार में, की रचना की। बेहद आत्म-अनुशासनप्रिय तथा साहित्य-जगत में सदैव अपनी शर्तों पर टिके रहने वाले भीष्म साहनी को हार्दिक श्रद्धांजलि।

'तमस' से लेकर उनकी अंतिम आत्मकथा 'आज के अतीत' में भीष्म साहनी ने अपने अनुभवों से जो धर्मनिरपेक्ष चेतना विकसित की वह उनकी चेतनाओं का आधार था। उनके निधन से हमारे हिंदी साहित्य में प्रेमचंद और रेणु की परंपरा का एक बड़ा स्तंभ उखड़ गया। हिंदी साहित्य में जिस यथावादी साहित्य की शुरुआत प्रेमचंद और रेणु ने की थी उसे भीष्म साहनी ने आगे बढ़ाया। उन्होंने लाहौर के पंजाब विश्वविद्यालय से अँग्रेज़ी में एम०ए० किया और वहाँ व्याख्याता भी बने लेकिन आज़ादी के बाद भारत आ

गए तथा अंतिम समय तक साहित्य की सेवा करते रहे। भारत-पाक विभाजन पर 'तमस' जैसी कालजयी कृति लिखने वाले भीष्म साहनी हिंदी के उन चंद लेखकों में से थे, जो जिन्होंने विभाजन की त्रासदी खुद झेली थी और जिसने विभाजन के दर्द को अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'तमस' में तल्ख़ अंदाज़ में दर्ज किया। सात उपन्यास और एक सौ से अधिक कहानियाँ लिखने वाले साहनी हिंदी के महत्त्वपूर्ण नाटककार भी थे। उस दौरान उहोंने टाल्सटाय एवं अन्य सभी लेखकों की कृतियों के अनुवाद भी किए। उन्होंने अपनी कृतियों के ज़रिए जटिल सामाजिक मुद्दों को उठाया और उन्हें विचारोत्तेजक रूप से प्रस्तुत किया। उनका रचना-संसार बहुत बड़ा और व्यापक था।

सहज और सादगीपसंद इंसान भीष्म साहनी का 'तमस' उपन्यास सांप्रदायिक विचारों और शक्तियों के अमानवीय और क्रूर पहलुओं को खोलकर हमें वह दिशा देता है जहाँ हिंदू और मुसलमान अपनी साझी विरासत, साझी जीवन-शैली अपना सकें, जो 800 वर्षों से चली आ रही है। उनकी रचनाओं की गहराई में उनकी आस्थाएँ, मूल्य और सरोकार प्रतिबिंबित होते हैं। उन्होंने एक लंबी यात्रा में विविध विधाओं में एक बड़ा रचना-संसार सृजित किया। भीष्म साहनी अब इस दुनिया में नहीं हैं। मनुष्य के शरीर अस्तित्व की सीमा है; वह हमेशा रह नहीं सकता, जो स्वाभाविक है, मगर उसके व्यक्तिगत गुण और सृजनात्मक देन पीछे कीर्तिशेष रह जाती हैं। आज हम उनका स्मरण करें गौरव का अनुभव करते हैं। भीष्म जी के सौवें जन्म दिन पर आज मैं प्रतिबद्ध लेखक पूरे भावों-भरी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँउनके निधन से हिंदी साहित्य का एक 'भीष्म' नहीं रहा। वे इस अर्थ में अजातशत्रु थे कि विशिष्ट विचारधारा के साथ जुड़े होने के बावजूद सौजन्यता व मानवीय मूल्य को कभी आँखों से ओझल नहीं होने दिया, सांप्रदायिक शक्तियों के विरुद्ध सतत संघर्ष करने वाले साहित्यकार भीष्म साहनी के निध न से प्रेमचंद की परंपरा के सबसे बड़े कथाकार का अंत हो गया। इस संदर्भ में अल्लामा इक़बाल के इन शब्दों के साथ भीष्म साहनी की स्मृति को मैं नमन करता हूँ -

रातों को चलने वाले, रह जाएँ थक के जिस दम
उम्मीद उनकी मेरा टूटा हुआ दिया हो।

भवानी प्रसाद मिश्र : जो अपनी कविताओं और गीतों में युगीन यथार्थ को सामने लाते हैं

महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुसार अंतकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। अंतकरण में रस को उत्पन्न करके और थोड़ी देर के लिए और बातों को भुलाकर उदात्त विचारों में मन को लीन कर देना ही कविता का सच्चा पर्यवसान है। कविता के लिए एक प्रकार से सात्विकता और एक प्रकार का भोलापन का दरकार है। सच कहा जाए तो कविता मानव हृदय की सूक्ष्मतम स्पंदन है। स्पंदन का मूल श्रोत संवेदन है। मनुष्य और मनुष्य के बीच हार्दिक संवाद के लिए यह संवेदन नितांत आवश्यक है। स्फूर्त जनचेतना कविताओं की मूल शक्ति है। भवानी प्रसाद मिश्र भी एक ऐसे ही कवि थे जिनकी संगीतमय कविता हर व्यक्ति की जिंदगी में मिठास घोल देती है खासकर उनलोगों की जिंदगी में ये वसंत की तरह होती है जो अपनों से दूर होते हैं।

भवानी प्र. मिश्र अपनी कविताओं और गीतों में युगीन यथार्थ को सामने तो लाते ही रहे, सहज संवाद का गुण भी उनमें मिलता है। उनके कविता संग्रह 'गीतफ़रोश' की निम्न पंक्तियों को आप देखें-

'जी हाँ हुज़ूर, मैं गीत बेचता हूँ।
मैं तरह-तरह के
गीत बेचता हूँ
मैं किसिम-किसिम के गीत
बेचता हूँ।'

भवानी प्र. मिश्र की ये पंक्तियाँ बेहद चर्चित रही हैं। 'गीतफ़रोश' के बाद उनके 'चकित है उनके दुख' और 'अँधेरी कविताएँ' काव्य संग्रह प्रकाशित हुए। उनके काव्य-संग्रह में उनका यथार्थ-बोध और भी सर्घनित रूप में सामने आया। वे गाँधीवादी थे। स्नातक की परीक्षा पास करने के बाद ही उन्होंने महात्मा गाँधी के विचारों से प्रेरित होकर विद्यालय की स्थापना की। 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में वे गिरफ्तार हुए।

भवानी प्र. मिश्र की कविताओं में विदग्ध करने वाला व्यंग्य भी उभरा। यह शोषण पर आधारित उस व्यवस्था के प्रतिरोध में सामने

आया, जो आजादी मिलने के बाद भी जस की तस बनी रही। सत्ता ने गाँधीवादी को नकार दिया था। आजादी से जनता का मोहभंग होना प्रारंभ हो गया था। उनकी अधिकांश कविताएँ लयात्मक है। लयात्मकता सिर्फ शब्दों के आरोह-अवरोह के स्तर पर ही नहीं, भाव और अर्थ के स्तर पर भी है। उनकी प्रसिद्ध कविता जो 1933 में प्रकाशित हुई 'कवि' की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

'कलम अपनी साध,
और मन की बात बिल्कुल ठीक कह एकाध।
यह कि तेरी भर न हो तो कह
और बहते बने सादे ढंग से तो बह।
जिस तरह हम बोलते हैं, उस तरह तू लिख,
और उसके बाद भी हमसे बड़ा तू दिख।'

भवानी प्रसाद मिश्र की कविता मजदूरों-किसानों और श्रमशील जनता की कविता है, पर उनमें नारेबाजी नहीं है। उनकी कविताएँ व्यापक मूल्यों की कविताएँ हैं, जिनमें सत्ता के विरोध का स्वर भी प्रबल है। रचनात्मकता के धरातल पर उन्होंने आपातकाल का विरोध किया था। उनकी कविताओं में सादगी तो है, पर अर्थबोध व्यापक है।

1985 में प्रकाशित भवानी प्र. मिश्र जी की कविता 'तूस की आग' बहुत ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि संवेदना और अभिव्यंजना की दृष्टि से यह उनकी प्रतिनिधि रचना है। 1972 में 'बुनी हुई रस्सी' के लिए भवानी प्रसाद मिश्र को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। पद्मश्री के साथ 1981-82 में उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का पुरस्कार भी उन्हें मिला।

भवानी प्र. मिश्र जन्म मध्य प्रदेश के टिगरिया गाँव में 29 मार्च, 1913 को हुआ था और उनका निधन 20 फरवरी 1985 को 72 वर्ष की उम्र में हो गया। इतिहास रचने वाले इतिहास नहीं लिखते हैं। समय के भीतर वे अपने स्वत्व को इस प्रकार दर्ज करते हैं कि अतीत से होकर भी वे भविष्य के होते हैं। कवि भवानी प्रसाद मिश्र एक ऐसे ही कवि थे जिनकी ऐतिहासिक हो चुकी कर्मशीलता में भविष्य के सपने होते हैं। सच्चे कवि के अन्तस्तल में स्थित अंतश्चेतना में उसके अपने कवित्व की वसुधा में उनके द्वारा ही विरचित विलक्षण संवेदनशील सृष्टि होती है।

भवानी प्रसाद मिश्र ने कविताएँ तो प्रचुर मात्रा में लिखीं ही, गद्य भी पर्याप्त लिखा जिसमें पुस्तक की समीक्षा, लेख, स्मृति लेख, आत्म-प्रसंग, डायरी आदि सम्मिलित हैं। हिंदी में अमिधा शब्द-शक्ति की

ताकत अगर देखनी हो तो भवानी प्रसाद मिश्र की कविता पढ़नी चाहिए। 'गीतफ़रोश', 'सतपुड़ा के घने जंगल' और 'सन्नाटा' तो उनकी यादगार कविताएँ हैं ही, उन्होंने कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं। उनकी एक कहानी है 'छाया छबीली' जिसमें कवि भवानी प्रसाद मिश्र एक अलग रूप में दिखाई देते हैं। देखें आप 13 जुलाई, 1957 की लिखी 'छाया छबीली' कहानी की प्रथम कुछ पंक्तियों को–

'मुझे तो आग लग जाती है, जब कोई छाया छबीली का नाम लेता है। और खासकर जब उसके गाने की तारीफ करता है। ये सच है कि एक दिन था जब मैं खुद उसकी तारीफ करता था और उसे आसमान पर उठाए फिरता था। मगर अब साफ कहता हूँ कि वह मेरी गलती थी–गलती थी मेरी कि मैं समझता था वह कभी न कभी सुधर जाएगी। रास्ते पर आ जाएगी। मगर नहीं। बड़ी पक्की थी वह। मैंने अपना आधा जनम उसके पीछे–पीछे फिरकर अकारथ गंवा दिया।'

आज भौतिक रूप से तो भवानी प्रसाद मिश्र हमारे बीच नहीं हैं, मगर उनकी कविता सर्वदा जीवन के साथ रहती है। उनकी रंगों में संत्रास, पीड़ा, कराह, यातना, शोषण, अन्याय और अत्याचार संचरित रहते हैं। उनकी कविताएँ एक ओर जहाँ व्यवस्था को चलाने वाले व्यवस्थापकों के अंतहीन पाखण्ड को असंसदीय शब्दावली में खुलासा करता है, तो वहीं दूसरी ओर निम्न और मध्य वर्ग के दमन–पाटों के बीच की यातना का दर्दनाक उद्घाटन करती हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो भवानी प्र. मिश्र की कविताओं में उनके अपने विवेक का सार्थक और जीवंत प्रतिबिम्बन है जो उनके अपने रचनात्मक व्यक्तित्व की अस्मिता से रची–बसी और बनी हुई है जो पूर्णरूपेण जीवनोन्मुख हैं। ऐसे रचनात्मक व्यक्तित्व के कवि भवानी प्रसाद मिश्र की स्मृति को मैं नमन करता हूँ और कवि विष्णु चंद्र शर्मा की 'सभ्यता की होड़ में' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों से उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ–

'आधुनिक भारत के
खेतो में
मकान उग रहे हैं
ट्राली पर इंटें गिर रही हैं
गाँव डूब रहा है
सभ्यता की होड़ में।'

परमानंद दोषी :
जो अकथनीय स्मृतियों के दोराहे पर खड़ा जीवनीकार थे।

अगर मनुष्य को सबसे विकसित्त प्राणी माना गया है तो उसके पीछे एक बड़ी वजह यह है कि वह आत्मचेतन होता है, उसमें स्यं अभिज्ञा अथवा बोध होता है और उसके अंदर संवदेनशीलता होती है। मनुष्य में रचनाकार सर्वाधिक संवेदनशील होता है। साहित्यकार परमानंद दोषी एक ऐसे ही जीवनीकार थे जिनमें संवेदना के साथ-साथ आत्मसम्मान की भावना कूट-कूट कर भरी थी। उन्होंने कभी भी अपने सम्मान के साथ समझौता नहीं किया। इस संदर्भ में मैं स्वयं भी साक्षी रहा हूँ और दोषी जी के अपने मित्रों एवं शुभेच्छुओं से उनके स्वाभिमानी होने से संबंधित कई घटनाएँ मुझे सुनने को मिली हैं। उनमें से केवल एक घटना की है। घटना यूँ है कि बिहार सरकार के राजभाषा विभाग की ओर से प्रतिवर्ष साहित्य की विभिन्न विधाओं में उल्लेखनीय योगदान करने वाले साहित्यकारों को राजभाषा पुरस्कार दिए जाने के सिलसिले में विभाग की एक चमचमाती एम्बेसडर कार गर्दनीबाग स्थित परमानंद दोषी के सरकारी आवास 30/13 के सामने एक दिन आकर लगी जिसमें से एक सरकारी मुलाजिम उतरा और बरामदे में खड़े एक व्यक्ति से दोषी जी की उपस्थिति की जानकारी लेने के बाद उनके मिलने की उसने इच्छा जाहिर की। उस व्यक्ति ने इस आशय की सूचना अंदर जाकर दोषी जी को दो। दोषी जी ने उस आगंतुक को अंदर बुलाया, पर उसने बरामदे में ही उनसे बातचीत करना उचित समझा। उस सज्जन ने दोषी जी को भी राजभाषा विभाग इस वर्ष दोषी जी को भी राजभाषा पुरस्कार से सम्मानित करने पर विचार कर रहा है। इस पर दोषी ने उस मुलाजिम से कहा कि तब उन्हें इसमें क्या करना है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि बेहिचक विभाग के उस सज्जन द्वारा दोषी जा को दी जाने वाली पुरस्कार राशि में से उसका आधी राशि की माँग उनसे की गई। इनता सुनते ही वे आग-बबूला हो उठे और उन्होंने उस व्यक्ति, जिन्हं आप सीधे यहाँ से भागिए।' जब उस व्यक्ति; जिन्हें आप दलाल कहना पसंद करेंगे ने अपने को अपमानित महसूस करते हुए कुछ अनापशनाप कहना प्रारंभ किया तो दोषी जी ने लोहे की एक

छड़ निकाल उसे मारने की धमकी दे डाली। इतना देखते ही वह बिचौलिया गाड़ी में बैठा और चलता बना। जब उस वर्ष राजभाषा पुरस्कार के बारे में आमजन और साहित्यकारों में से सबकी तो नहीं मगर कुछ लोगों से पुरस्कार की आधाी राशि लेने के बाद ही उन्हें पुरस्कार से नवाजा गया था और जिसके लिएदोषी जी कतई तैयार नहीं हुये थे। यक एक ऐसी घटना है जिससे दोषी जी के व्यक्तित्व को महसूस किया जा सकता है।

जब मैंने दोषी जी के व्यक्तित्व और कर्तव्य पर संस्मरण लिखना प्रारंभ किया तो मझो ऐसा महसूस हुआ कि शब्द और स्मृति की आग से जलने के बाद उभरे हुऐ छाले फूटकर कल्लाहट क्यों उत्पन्न कर रहें हैं? जब मैंने उनके जीवन-यात्रा के यथार्थ पर एक नजर डालने की कोशिश की तो पाया कि जीवन-जगत के उसकते-उसकते अनुभवों से दोषी जी के जीवन की अथाह मौन व्यथा का इतिहास क्या है? सचमूच उनके जीवन का यथार्थ इतना असनीय-अकथनीय है कि जिसे लोग बर्दाश्त नहीं कर सकते। उनके जीवन से जुड़ी हर कहानी एक हैरानी है। कहानी का सच अनुभव की तेज आँच से उबलकर उफ रहा है। टी.ए. एलियट ने इसे 'टेक्निकल इंटरेंस' शिल्प रस कहा है जैसे तितली के पंखों से उड़ान और लय के साथ रंग-रंगापना। दोषी जी का रचना-स्वभाव अंतर्मूखता लिए है-मौन होकर मथने वाला स्वभाव। यही कारण है कि दोषी जी की उम्र निरंतर लेखन करते रहने की स्थितियाँ बनाए रखने में बीती। इससे ज्यादा इनका कोई मतलब भी कभी नहीं रहा। लेखन की महत्ता के आगे पारिवारिक जिम्मेवारियाँ हिचकोले खाती रहीं। बावजूद, अखबारों, प्रकाशकों एवं चर्चित साहित्यकारों से खुद को दूर रखना श्री दोषी का स्वभाव भी बन गया था।

प्रारंभ में परमानंद दोषी प्रमुख रूप से एक कथाकार थे। कथा लिखते-लिखते अचानक इनका ध्यान संस्मरण तथा जीवनी लेखन जैसे इनकी आदत ही बन गयी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि समाज व देश की महान हस्तियों, स्वतंत्रता-सेनानियों की जीवनियाँ लिखने की वजह से जीवनी विधा के आप वैसे एकमा,। साहित्यकार हो गए जिनसे परिमाण और गुणवत्ता दोनों दृष्टियों से हिंदी की जीवनी विधा समृद्ध हुई। दोषी जी ने बहुत बरीकी और कौशल से देश की वैसी महान विभूतियों की जीवनियाँ लिखी, जिससे समाज दिगंतव्यापी अँधेरे के विरूद्ध संघर्ष पथ पर चलने के लिए प्रेरणा-प्रोत्साहन प्राप्त होते हैं। दोषी जी ने सभी जीवनियाँ हमारे राष्ट्रोद्यान के सुरभित पुष्प, शीर्षक के अंतर्गत लिखीं। प्रो. राम बुझावन सिंह की हमारे

जीवन पर आधारित सद्यः प्रकाशित जीवनी 'सिद्धेश्वर: व्यक्तित्व और विचार' के पुरोवाक् में देहरादून सैन्य अकादमी के पूर्व प्राध्यापक एवं प्राचार्य डॉ. राजनारायण राय ने लिखा है कि बिहार के जिन लेखकों से जीवनी विधा को उत्कर्ष मिला है उनमें परिगण्यम हैं सर्वश्री शिवपूजन सहाय (भीम और अर्जुन), रामवृक्ष बेनीपुरी (कार्ल मार्क्स), परमानंद दोषी आदि। यह ध्यानाकर्षी तथ्य है कि 'दोषी जी अत तक शताधि लोक ख्यात आख्यान व्यक्तियों की अल्पभोगी जीवनियाँ लिख चुके हैं और यह काबिले तारीफ है कि आज भी इनकी लेखनी इसी दिशा में गतिशील है। डॉ. राय ने दोषी जी को वस्तुत: जीवनी-कोशकार की संज्ञा दी है, किंतु दु:खद स्थिति यह है कि इस जीवनी कोशकार जिसने जी के अंतिम क्षणतक हिंदी साहित्य को समृद्ध कर अपना सब कुछ लुटा दिया ऐसे जीवनीकार दोषी जी के लेखन पर यदा-कदा ही चर्चा हुई। सबके बारे में जिस व्यक्ति ने अपनी कलम चलाई उसके बारे में किसी ने कुछ नहीं कहा। ऐसा लगता है कि उसका आत्मसम्मानी होना भी इसका कारण रहा, क्योंकि चाटूकारिता की एक बूँद भी उनके खून में नहीं थी। सही को सही और गलत को गलत कहने में उन्हें तनिक भी हिचक नहीं होती थी। दो-टूक बातें कहकर उनकी जैसे आदत बन गई थी। आखिर तभी तो दोषी जी के निधन पर अपनी संवेदना व्यक्त करते हुये वरिष्ठ कवि व साहित्यकार सत्यनारायण ने कहा कि खरा-खोटा बोलने वाला इससे बड़ा साहित्यकार कोई दूसरा नहीं रहा। रचनात्मक प्रक्रिया में खो जाने वाले वे बिहार के दूसरे 'राजकमल चौधरी' थे। रचना व कर्म के स्तर पर उन्होंने कभी भ्रम नहीं पाला। पटना सचिवालय ग्रंथागार के दोषी जी कई दशक तक प्रमुख रहे और इस पद पर रहकर पुस्तकालय विज्ञानी के रूप में उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। यही नहीं, बल्कि समाज व देश के लिए सब कुछ न्योछावर करने वाले लगभग तीन सौ जीवनियाँ लिखकर उन्होंने व्यथित आत्मा की तलाश में संस्कृतियों के मेल-मिलाप और आपसी संघर्ष के नंए मुहावरे और बिल्कुल नए प्रतीकों को जन्म दिया है। इन जीवनियों की पुस्तकें इतनी कम कीमत है कि उसे हर कोई क्रय कर सकता है।

दरअसल इन महान विभूतियों की जीवनियाँ लिखकर दोषी जी ने उन सभी के प्रति अपना सम्मान दर्शाया है। इस प्रकार हम इस रचनाकार के उस संकल्प की दाद देते हैं जिसके तहत वह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रति वचनबद्ध रहा तथा राजनीतिक असहमति होते हुए भी अपनी रचनाओं के जरिए मानवीय मूल्यों व मर्यादाओं की रक्षा के लिए निरंतर

संघर्षरत रहे। दोषी जी ने अपनी रचनाधर्मिता में उस मानवीय पहलू को मान्यता दी जिसमें विभिन्न संस्कृतियों के आपीस मेल-मिलाप और टकरावों की विवेचना करते हैं। जिन लोगों ने उन्हें अब तक नहीं पढ़ा है उन्हें उनकी पुस्तकें पढ़नी चाहिए खासकर जी पाठक राजनीति और समकालीन विषयों में अधिक रूचि रखते हैं।

परमानंद दोषी के कथा शिल्प के बारे में हम कुछ नए ढंग से सोचते हैं। मेरा मानना है कि इनके संपूर्ण साहित्य पर सोचना-विचारना, जरा ठीक ढंग अभी बाकी है, वर्ग-भेद के सवाल पर वे बराबर मानते रहे के वर्ग-भेद आज भी बरकरार है। सर्वहारा आज भी मौजूद है। हाँ, इतना जरूर हुआ है कि बाजारवाद और उपभोक्ता संस्कृति ने प्रत्येक वर्ग के लोगों की मानसिकता-निर्धारण में इधर अपनी एक जबर्दस्त भूमिा निभाई है। किसानों की दयनीय हालत को उन्होंने भी महसूस किया था और खेत-मजदूरों का गावों से शहरों की ओर पलायन पर वे हमेशा अपनी चिंता व्यक्त करते थे, क्योंकि पलायन कर रहे इन मजदूरों को जो भयानक शोषण से गुजरना पड़ रहा है उससे वे वाकिफ थे।

देश की अनेक पत्र-पत्रिकाओं में परमानंद दोषी निरंतर रूप से छपते रहे हैं, दिल्ली से प्रकाशित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' के वे नियमित लेखक तो थे ही, इसके प्रशंसक और सुधी पाठक भी। हमारा समाज जिन-जिन यातनाओं से गुजर रहा है, मानसिकता की जैसी उथल-पुथल है और जहाँ तकलीफें घटने की बजाय बढ़ती ही जा रही है, इन पर रचनाएँ प्रकाशित करने का सुझाव वे मुझे बराबर दिया करते थे। जब भी मैं दिल्ली से पटना आया उनसे बुद्ध मार्ग स्थित बिहार राज्य भूमि विकास बैंक जहाँ वे सचिवालय-ग्रंथागार से सेवा निवृत्ति के बाद विशेष पदाधिकारी के पद पर आसीन थे, उनके इस कार्यालय-कक्ष में मिलकर घंटों विभिन्न विषयों पर मे। बातचीत किया करता था और इस बातचीत के सिलसिले में वे बराबर 'विचार दृष्टि' की स्तरीयता और उसकी सामाग्रियों पर चर्चा करते थे जिसके लिए मैं उनका आज भी आभारी हूँ।

परमानंद दोषी न केवल एक संवेदनशील लेखक थे, बल्कि सामाजिक टिप्पणीकार भी। वे बराबर कहा करते थे कि इस देश में साहित्कारों को कोई सम्मान नहीं है। इसी कारण से वे सार्वजनिक जीवन से दूर रहा करते थें, किंतु मियाज के वे रसिक थे। स्त्रियों को वे समान की दृष्टि से देखते थे। इसीलिए उनकी कई रचनाओं में अनुपम ढंग से स्त्री से संबंधि

त मिथकों वे दर्शन के रोचक रोमांस के बीच सभ्यताओं वे संस्कृतियों के दर्शन देखने को मिलते हैं। दोषी जी की लेखनी भूमण्डलीकरण के इस दौर में हर मुद्दे विचार पर चली। तेजी से विकसित हो रही भारत की अर्थव्यवस्था को रेखांकित करते हुए यहाँ के मध्यम वर्ग के अभ्यूदय को वे एक साहसिक कदम मानते थे। कुल मिलाकर देखा जाए तो दोषी जी का व्यक्तित्व एक ऐसे व्यक्ति के रूप में उभरकर सामने आया जो पूर्वी व पश्चिमी संस्कृतियों की अच्छाइयों को आत्मसात करते हुए अपने पाटलिपुत्र नगर तथा नालंदा के गौरवशाली अतीत को वापस लाकर उसे केंद्र बिंदु में वे खड़ा करना चाहते थे। इस संस्मरण में यों ही उनके कसीदे पढ़ने को मैं विवश नहीं हुआ। ऐसे वक्त गीतकार कुमार रवीन्द्र के गीत 'साधो! यह सहगान तुम्हारा' की ये चार पंक्तियों मुझे स्मरण हो आती हैं –

जो सबकी
साँसों में बजता
तुमने साधा वह इकतारा
अच्छा है

रचना और विचार को महज किताबी जामा पहनाने की बजाय, उसे संघर्ष और विकास का प्रतीक बनाने के इच्छुक तथा अपने समाज व मुल्क को कट्टरवादी ताकतों से मुक्ति लिदनो की गहरे सरोकार रखने वाले दोषी जी की सर्मृति को गालिब की इन पंक्तियों से मैं नमन करता है–

गमे हस्ती का असद किसस हो जज मर्ग ईलाज
शमा हर रंग में जलती है सहर होने तक।

परमानंद दोषी जी ने जीवन पर्यंत संघर्ष किया। पटना के बाजार समिति स्थित पंचवटी नगर के निवास में आयोजित दोषी जी के श्राद्ध-कर्म में जब में उनके दोनों सुपुत्र कामता तथा अविनाश से मिला तो मुझे यह जानकार मिली कि सेवा निवृत्त हो जाने के एक दशक बाद भी सरकार ने उनके पेंशन का निर्धारण नहीं किया और बिना पेंशन प्राप्त किए वे जीवन से कूच कर गए, किंतु उनका रचना-संसार हिंदी साहित्य की बहुमूल्य धरोहर है, जो नवेदित रचनकारों एवं पाठकों को मार्गदर्शन के साथ-साथ उन्हें दिशा प्रदान करेगा। भारतीय संस्कृति एवं सराकारों से परिपूर्ण हिंदी कथा व जीवनी साहित्य का यह अग्रणी रचनाकार 4 दिसंबर 2006 को चिरनिद्रा में लीन हो गया। गुण और परिमाण दोनों में महत्त्वपूर्ण कथा एवं जीवनी साहित्य की रचना के कारण व हिंदी जगत में चिरस्मरणीय रहेंगे।

कमलेश्वर :

जो आम आदमी के दर्द को आवाज लगाने वाले कथाकार थे

समय से आगे सोचने वाले हिंदी के विख्यात कथाकार, साहित्यकार व पत्रकार का विगत 27 जनवरी 2007 को दिल्ली के अपने निवास पर ही दिल का दौरा पड़ने से निधन साहित्य के लिए न केवल अपूरणीय क्षति है, बल्कि यह उन शक्तियों का भी नुकसान है जो समरसता, निष्पक्षता, पंथनिरपेक्षता व बहुलतावादी संस्कृति के लिए सक्रिय थी। उनके निधन पर हिंदी साहित्य जगत में शोक की लहर दौड़ गई। यह समकालीन हिंदी के लिए एक भूचाल जैसा लगा। कमलेश्वर का लघुकथाएँ लिखने से हिंदी साहित्य जगत में अीम मुकाम हासिल हुआ। उन्होंने समकालीन जीव को पतिबिंबित करने के लिए अपनी लेखनी का जादू चलाया। कमलेश्वर हिंदी साहित्य में नई कहानी के आंदोलन के स्तंभ माने जाते थे। कमलेश्वर की कहानियों के पात्र मध्यवर्गीय जीवन से संबंध रखते हैं।

मुझे पूरी तरह याद है नई दिल्ली के हिंदी भवन के अनेक अवसरों पर वह कहते थे कि जड़ों से कटकर नहीं रहा जा सकता। रेल मंत्रालय के राजभाषा निदेशालय द्वारा एक बार हिंदी दिवस के अवसर पर रेलभवन में जब एग साहित्यक आयोजन किया गया तो उसमें रेलवे हिंदी सलाहकार समिति के सदस्य होने के नाते मैं भी आमंत्रित था। राजभाषा दिवस जो भी उस दिन उन्होंने खरी-खोटी सुनाई वह सचमुच उनकी स्पष्टवादिता और हिंदी के प्रति निष्ठा का एक उदाहरण कहा जाएगा। समारोह के बाद, मुझे याद है हम दोनों एक ही गाड़ी पर अपने-अपने निवास के लिए रवाना हुए, पर उन्होंने बड़ी आत्मीयता से मुझे अपने मयूर विहार निवास पर चाय पीने का आग्रह किया। हम दोनों ने चाय व चुस्कियों पर उस दिन को हिंदी आयोजन की विस्तार से समीक्षा की और हिंदी साहित्य के लिए समर्पण के भाव से कार्यरत रहने व संकल्प लिया।

यों तो उनकी रचनाओं में 'आ का दरिया', मुर्गियों की दुनया', जानक पंचम की नाक', नीली झील' उल्लेखनीय है मगर 'कितने पाकिस्तानी विवादित रहा। उन्होंने कई राष्ट्रीय समाचान पत्रों और पत्रिकाओं का संपादन किया उनकी पत्रकारिता दृष्टि बड़ी पैनी थी। 'आँधी,' साफ-आकाश', 'मौसम 'रजनीगंधा', छोटी सी बात मि0 नटवर लाल' साहित्यकार कई

फिल्मों की पटकथा व संवाद उन्होंने ही लिखी इंदिरा गांधी के जीवन पर बनी फिल्म की पटकथा उन्होंने ही लिखी थी। 'दर्पण टीवी सिरियलों की पटकथा भी उन्होंने लिखी इनकी कृतियों में उपन्यास, कहानी संग्रह व आलोचना आदि से संबंधित तीस से अधिक पुस्तकें शालि हैं।

छः जनवरी, 1932 को उत्तर प्रदेश की मैनपुरी में जन्में कमलेश्वर ने सन् 1954 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिंदी में एम.ए. करने के बाद वे बतौर स्क्रिप्त राइटर दूरदर्शन से जुड़े व इसके अतिरिक्त महानिदेशक पद तक का दायित्व उन्होंने संभाला। उन्हें 1995 में पदम्‌भूषण, 2003 में साहित्य अकादमी शलाका सम्मान, भारत-भारती आदि कई सम्मानों से सम्मानित किया गया।

आम आदमी के दर्द को आवाज लगाने वाला कथाकार पाँच हजार साल की उम्र का दावा करने वाला छोटे कद बड़ी आँखोंवाला सावंला सा मैनपुरी की एक गरीब विधवा का पढ़ाकु पुत्र था कमलेश्वर। अभी कुछ ही माह पूर्व दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग की एक साहित्य सभा में रिकार्ड श्रोता के बीच लगभग एक घंटा के अपने भाषण में मूड में आकर खुलकर बोले कि 'मेरी उम्र पाँच हजार साल की है।' भारतीय संस्कृति की मानवीय परंपरा का एक हिंदी उत्तराधिकारी की इस बात से सभी श्रोता रोमांचित हो उठे थे। यह हिंदी के एक बड़े अदीब का संवाद था। वे दिल के बड़ थें पचहत्तर की उम्र में भी वे कई जगह कॉलम लिखते थे और क्या हस्तलेख ? एक दम ठहरे हुए अकंप अक्षर वे नियमित लेखन करते रहते थे। सैकड़ों लेखक उन्होंने पैदा किए, समांतर फिल्म आंदोलन के हिस्सा बने उनके लिए लिखा, दलित पैंथर लेखन की नींव डाली, वोहरा संप्रदाय की आजादी की बात की और उन्होंने बात की सिधी साहित्य तक की। दूरदर्शन पर परिक्रमा नाम से उनका कार्यक्रम आज भी बेजोड़ कहा जा सकता है। कानपु की तीन लड़कियाँ दहेज के कारण पंखे से जब लटक गई तो उनका कैमरा पहले कवर करने पहूँचा। इसी प्रकार 'बंद फाइल' बनाई और दिल्ली के प्रति प्रवीण ने जिंदा जलाया तब पहले पत्रकार कमलेश्वर रहे जो उस पत्नी का बयान लेकर आये। देखा जाय तो कमलेश्वर लेखकीय साहस के पर्याय थे। कहना चाहिए कि ऊँघते हुए दूरदर्शन को उन्होंने एक नई ऊर्जा दी। उनका लेखन में विचारों को संवेदन और अनुभूति को उभारने में एक कारक के रूप में इस्तेमाल किया। यही कारण है कि उनके लेखन में रचनाशीलता का पक्ष और संवेदना का पक्ष हमेशा मुखर होता रहा। व्यक्तिगत

जीवन में कमलेश्वर साहस और दृढ़ता की प्रतिमूर्त्ति थे। आकाशवाणी की नौकरी करते हुए देश में पहली जनता पार्टी की केंद्र में सरकार बनने के वक्त, सारिका के संपादन के समय या दूरदर्शन के अतिरिक्त महानिदेशक के रूप में कार्य करते हुय कमलेश्वर ने अदम्य साहस का परिचय दिया और कभी नौकरीजीवी नहीं रहे। नौकरी की कभी परवाह न कर अक्सर नौकरी गंवाई। 'राजा निरबंसिया', 'बयान', 'जोखिम', ' मांस का दरिया', 'गर्मियों के दिन', 'इतने अच्छे दिन' जैसी शताब्दियों तक याद रखी जाने वाली कहानियों के अतिरिक्त 'कितने पाकिस्तानी' एक नई शिल्प प्रविधि का उपन्यास है जो अपने विषय पक्ष की वजह से अंतराष्ट्रीय ख्याति के उपन्यासों में परिणत होने योग्य हैं। कमलेश्वर जी 'परिकथा' की योजना से गइराई से जुड़े थी। इसके संपादक या सलाहकार संपादक के दायित्व को संभालने का अनुरोध है ही उनसे किया जा रहा था कि उनकी सांसे बंद हो गई मगर सच तो यह है कि कमलेश्वर जी की सांसे भले ही बंद हो गई हो, किंतु उसकी फाइल कभी बंद नहीं होती, क्योंकि वह एक ऐसा विशाल वृक्ष थे जिसके साए में साहित्यकारों के एक नये पौध ने अंगराई लेना सिखा। पर इतना जरूर है कि उनके निधन से राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश और कमलेश्वर की त्रयी का आज एक और स्तंभ ढह गया वह एक इंसान थे जो सबके हँसी-ठहाकों में शामिल होने से लेकर लोगों की आँखे के आँसू पोछने के लिए सबसे पहले हाथ बढ़ाते थे।

कमलेश्वर जी का मूलमंत्र था- सवाल इस बात का नहीं है कि आप कहाँ है, सवाल इस बात का है कि आप जहाँ है, वहाँ क्या कर रहे हैं? उनके इस मूल मंत्र ने एक समय में लिखने-पढ़ने वालों की जमात के बीच 'कोट बल कोट' बन गया था। सातवें-आठवें दशक की पूरी हिंदी पीढ़ी के वह 'भाई साहब' थे। प्रसिद्ध शायर एवं संवाद लेखक निदा फाजली ने कमलेश्वर के निधर पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा, 'वह भारत की मिली-जुली संस्कृति के प्रतीक थे। उनका आखिरी उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' इसी संस्कृति के विखंडन का मातम है। 'वस्तुतः कमलेश्वर हिंदी जबान के मयार को दिशा देने वाले और तहजीब के रतन थे। वह एक व्यक्ति नहीं, संस्था थे। वह अंत एक सांप्रदायिकता के खिलाफ खड़े हरे।

यहा यह कहना लाजिमी है कि कमलेश्वर जी के निधन ने इस दुःखद अहसास को सघन कर दिया है कि बड़े रचनाकार बन नहीं पा रहे हैं लेकिन रचनाकार बन नहीं पा रहे हैं। उनके संपादकत्व में 'सारिका' हिंदी की एकतात्र साहित्यिक पत्रिकी थी, जो इतने व्यापक पाठक वर्ग तक

पहूँची। इस प्रकार उन्होंने साहित्यिक पत्रकारिता को भी जन्म दिया। सारिका के जरिए न केवल उन्होंने नए लेखकों का सामने लाने का कम किया, बल्कि जो महत्त्वपूर्ण चीजें प्रकाशित की, व्यावसायिक घराने में होते हुए भी, वह काफी अहम है। नौवे दशक के बाद साहित्य और सांस्कृति पर जो हमले हो रहे हैं उनके खिलाफ कमलेश्वरलगातर लिखते रहे। उनका दूसरा महत्त्वपूर्ण काम था बच्चों के लिए लिखना, कई नाटक लिखे उनके लिए, और कई पीढ़ियाँ तैयार की लेखन के जरिए। विचाराधारा से कमलेश्वर जी प्रगतिशील और धर्म निरपेक्ष लेखक थे। एक लेखक का जो उत्थान इलेक्टॉनिक मीडिया में होना चाहिए वह उन्हें मिला। उन्होंने लेखकों को मीडिया में सम्मान दिलाया। दैनिक जागरण, कथा यात्रा और दैनिक भास्कर जैसे समाचार पत्रों के संपादक के आलावा कई महत्त्वपूर्ण पदों पर वे रहे। करीब चार दशक के अपने लेखन काल में कमलेश्वर की रचनाएँ तेजी से बदलते समाज के विषादों की प्रतिबिंबित करती हैं और पुराने मूल्यों की जगह नए मूल्यबोध की स्थापित करती हैं। आज की महानगरीय सभ्यता में आदमी के अकेलेपन की व्यथा को उन्होंने बसूबी समक्षा था। इसीलिए उन्होंने हिंदी कहानी की आमजन से जोड़ने का नारा दिया। अपने लेखन और समय-समय पर दिए गए, साक्षात्कारों के जरिए समाज में जो कुछ जीवन और मनुष्य विरोधी रहा, कमलेश्वर उसकी मुखालफत करते रहे। सृजन को संपूर्णता में देखने के अभ्यस्त थे और रचनाकारों के व्यक्तित्व की गतिशीलता में विश्वास रखते थे। वे सदैव सार्थक मुद्दों पर बहस चलाने के पक्षधर थे, जो उन्हें समकालीन से अलग करता था।

कमलेश्वर जी निन्यानवे से अधिक फिल्में लिख चुके थे, लेकिन अपने दिल के करीब की फिल्में उन्होंने 'मौसम' को बताया। उनका यह उपन्यास 'आगामी अतीत' नाम से धारावाहिक रूप से धर्म युग में प्रकाशित हुआ था। कमलेश्वर जी का कद जितना ऊँचा था उसका अहसास वह कभी नहीं दान देते थे। उन्होंने तीन सौ से अधिक कहानियाँ भी लिखीं। इनके बारे में लोगों का कहना है कि बहुत से परेशान लेखकों की दमम उन्होंने आउट ऑफ दे वे जाकर की। कहानी का पारिश्रमिक पहले दिया, कहानी बाद में छपी। इसीलिए उनके प्रशंसकों की लंबी कतार है।

कोई भी कट्टरता उन्हें रोक न सकी। मुबंई में रहते हुए उन्होंने दलित लेखकों के सम्मेलन का उद्घाटन किया था, तब शिवसेना की धमकी की भी उन्होंने परवाह नहीं की। उनकी याददाश्त बहुत अच्छी थी।

उनका कहना था कि एक बार पढ़ने या देखने से ही उन्हें चीजें याद हो जाती है। वह इंदिरा गाँधी के काफी करीबी और प्रशंसक थे। तभी तो उनके उपन्यास 'काली आँधी पर 'आँधी' नाम से फिल्म बनी थी। एक बार किसी भेंटवार्ता में कमलेश्वर जी ने कहा था कि बच्चों के लिए लिखी 'होताम के कारनामें' को तो लोग भूल चूके थे लेकिन 'नंदन' में छपने के बाद वह दोबारा पुस्तक रूप में आ रही है। दूसरे को श्रेय देने में अपने नेह को अपनी बातची से हमेशा बनाए रखने में वह हमेशा आगे रहे। सचमुच वे बहुत ही स्नेहिल व्यक्ति थे।

साहित्यकार दुष्यंत कुमार के बेटे आलोक में कमलेश्वर जी की बेटी मोना के साथ बवाह हुआ, जो भोपाल में रहते हैं। कमलेश्वर जी का पूरा नाम कमलेश्वर प्रसाद सक्सेना था। आलोचना के क्षेत्र में उनकी 'नई कहानी की भूमिका' तथा 'मेरा पन्ना सामानांतर सोच' (दो खंड) महत्त्वपूर्ण पुस्तकें समझी जाती हैं। उनके यात्रा वृतांत 'खंडित यात्राएँ' और कश्मीर रात के बाद' तथा संस्मरण 'जो मैंने जिया; यादों के चिराग' तथा 'जलती हुई नदी' शीर्षक से प्रकाशित हुए। उन्होंने 'संकेत' नई धारा', 'मेरा हमदम-मेरा दोस्त' आदि हिंदी, मराठी, तेलुगु, पंजाबी एवं उर्दू कथा संकलनों का भी संपादन किया।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी प्रयोगधर्मी साहित्यकार व पत्रकार कमलेश्वर का रविवार 28 जनवरी, 2007 को भावपूर्ण माहौल तथा साहित्यकार राजेन्द्र यादव, हरिनारायण, पद्मा सचदेव, चित्रा मुद्गल, प्रभाष जोशी, ओम थानवी, आलोक मेहता, अरुण प्रकाश, संजीव, मधुकर गंगाधर, रवीन्द्र कालिया, हिमांशु जोशी, प्रदीप पंत तथा राजनीतिज्ञ सीताराम येचुरी और स्वामी अग्निवेश की उपस्थिति में कमलेश्वर के नाती अनंत ने उन्हें मुखाग्नि दी। अपनी विधवा पत्नी गायत्री देवी के अतिरिक्त हम जैसे हजरारें साहित्य-सेवियों एवं शुभेच्छों को उन्होंने छोड़ दिया। राष्ट्रीय विचार मंच तथा उसके मुख-पत्र 'विचार दृष्टि' परिवार के सभी सदस्यों ने भी उनके देहावसान पर एक साहित्यकार अपने संघर्षों से इस बुलंदी तक पहुँच सकता है, कमलेश्वर इसकी मिसाल थे। ऐसी हस्ती को अपना श्रद्धा-सम्मान भाव निवेदित करता हूँ मैं अपनी इन पंक्तियों से -

खुली किताब था तुम्हारा संघर्षमय जीवन,
पर था स्वाभिमान भरा वह निश्छल व निष्कपट मना
संघर्ष में जिस बुलंदी तक पहुँचे तुम,
फिर से कानों में धीरे से कहो वही कथा तुम।

कथाकार मधुकर सिंह : जिन्होंने ग्रामीण समाज को केंद्र में रखकर वहाँ के सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक बदलाव के लिए संघर्षरत लोगों को सदैव प्रेरित किया

अमरकथा शिल्पी फणीश्वरनाथ रेणु के बाद मधुकर सिंह बिहार में हिंदी के उन गिने-चुने कथाकारों में से एक थे, जिन्होंने ग्रामीण समाज को केंद्र में रखकर वहाँ के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक बदलाव के लिए संघर्षरत लोगों को प्रेरित किया। प्रगतिशील जनवादी धारा के इस मशहूर कथाकार की अधिकांश कथाएँ मेहनतकश किसानों, खेत मजदूरों, भूमिहीनों, औरतों और गरीब दलित एवं वंचितों के क्रांतिकारी संघर्षों की आँच से लिखी गई जिनमें सामंतवादी एवं वर्णवादी पितृसत्तात्मक-सामाजिक व्यवस्था से मुक्ति की छटपटाहट देखने को मिलती है। उनका स्पष्ट मत था कि सामंती-पूँजीवादी व्यवस्था के सबसे निचले स्तर पर मौजूद मेहनतकशों की सामाजिक-आर्थिक मुक्ति वर्ग-समन्वय के किसी रास्ते से संभव नहीं है। मधुकर जी हमेशा भोजपुर की अपनी माटी से जुड़े रहकर उसकी सुगंध को बिखेरने का कार्य करते रहे। यही कारण है कि एक लंबे अरसे तक सामाजिक सरोकारों से जुड़ी कहानी अथवा उपन्यास के जरिए अपनी लोकप्रियता बरकरार रखी।

बंगाल के मिदनापुर में 2 जनवरी 1934 को जन्मे मधुकर सिंह ने अपने जीवन के अस्सी साल का अधिकतर वक्त बिहार के भोजपुर जिलांतर्गत अपने गाँव धरहरा में बिताया और वहीं रहकर उन्होंने निम्नांकित कहानियाँ एवं उपन्यास लिखे-- सोनभद्र की राधा, सबसे बड़ा छल, जंगली सुअर, मनबोध बाबू, उत्तरगाथा, बदनाम, बेमतव जिंदगियाँ, अगिन देवी, धर्मपुर की बहू, अर्जून जिंदा है, सहदेव राम का इस्तीफा, मेरे गाँव के लोग, कथा कहीं कुंती माई, समकाल, बाजत अनहद ढाल, बेनीमाधो की पतोह, जगदीश कभी नहीं मरते समेत सीताराम नमस्कार, उन्नीस उपन्यास और पूरा सन्नाटा, भाई का जख्म, अगनू कापड़ पहला पाठ, अषाढ़ का पहला दिन, हरिजन सेवक, पहली मुक्ति, माइकल जैक्सन की टोपी, पाठशाला सहित उनके गयारह कहानी संग्रह और प्रतिनिधि कहानियों के कुछ संग्रह भी प्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त सुबह के लिए, बाबूजी का पासबुक, कुतुब बाजार आदि उनके चर्चित नाटक हैं। 'रुक जा बदरा नामक एक भोजपुरी

गीतों का संग्रह भी 1963 में प्रकाशित हुआ। भोजपुरी फिल्म 'दुल्हा गंगा पार के' व 'पिया रखिहा सेनुरवा के लाज' की पटकथा भी उन्होंने लिखी। कहानी 'पहला पाठ' पर टेली फिल्म भी बनी।

आरा की चर्चित नाट्य संस्था 'युवानीति' के मधुकर जी संस्थापकों में रहे हैं। उन्हीं की कहानी 'दुश्मन' के मंचन से युवानीति ने जननाट्य आंदोलन के सफर की शुरुआत की थी। उनकी रचनाओं के अनुवाद तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, मराठी, पंजाबी, ओड़िया, बांग्ला, चीनी, जापानी, रूसी और अँग्रेजी भाषा में भी हुए हैं। मधुकर जी ने कई पत्र-पत्रिकाओं का संपादन भी किया है। उनका जुड़ाव सामाजिक-सांस्कृतिक संगठनों के अलावा राजनीतिक आंदोलनों से भी रहा है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं पर बिहार के समाजवादी एवं वामपंथी विचारों का गहरा असर पड़ा है।

निःसंदेह साहित्य-संसार खासतौर पर कथा-जगत में मधुकर जी ने एक खास पहचान बनाई। इसी के परिणामस्वरूप मैं भी उनके सान्निध्य में आया और पटना के अनेक साहित्यिक-सांस्कृतिक सभा-संगोष्ठियों के उनमें विचार सुनने तथा बातचीत करने का मुझे अवसर मिला। मधुकर जी मुझसे उम्र में पाँच-छह वर्ष बड़े थे, इसलिए मुझे उनका अनुजवत् स्नेह मिला, किंतु इधर सात-आठ साल से पक्षाघात से पीड़ित होने की वजह से वे अपने गाँव धरहरा स्थित पैत्रिक आवास में रह रहे थे और इस बीमारी के कारण ही उनका देहावसान विगत 15 जुलाई, 2015 को आरा के धरहरा गाँव में हो गया। उनकी पत्नी का कुछ वर्ष पहले ही निधन हो चुका था।

मधुकर जी अपने पीछे तीन पुत्र तथा तीन पुत्रियों के अतिरिक्त सैकड़ों साहित्यकार एवं शुभेच्छु छोड़ गए। मधुकर जी आज हमारे बीच नहीं हैं, पर उनके हमारे बीच से गुजर जाने के कारणों पर जब हम विचार करते हैं, तो पाते हैं कि और साहित्यकारों की तरह मधुकर जी को भी पीने की लत लग चुकी थी और वे बुरी तरह शराब की चपेट में आ गए थे। इस वजह से भी वे पक्षाघात समेत कई बीमारियों के शिकार हुए जिनसे उबरना उनके लिए मुश्किल हो गया। सुप्रसिद्ध रचनाकार एवं पत्रकार भाई मार्कण्डे प्रवासी जी से मधुकर जी सीख न ले सके। प्रवासी जी का निधन भी पीने की लत से ही हुआ था। यह बात आज तक मेरी समझ में नहीं आयी कि जो साहित्यकार दूसरों के लिए अपने साहित्य में आदर्श प्रस्तुत करते हैं वे स्वयं आत्मघाती कदम क्यों उठाते? मुझे आश्चर्य तब होता है जब

इस संदर्भ में विचार करते हैं कि जो साहित्यकार आम आदमी के साथ राजनीति को भी दिशा देता है, जीवन जीने का आदर्श अपने साहित्य में प्रस्तुत करता है उसका ही जीवन बुरी आदतों से ग्रसित हो जाए तो उसके कहे का असर आम आदमी पर कैसे पड़े इस पर गंभीरता से साहित्यकारों को चिंतन-मंथन करना होगा। तभी तो साहित्य का संदेश उन तक नहीं पहुँच पा रहा है, और यदि पहुँचता है, तो उसका प्रभाव उन पर नहीं के बराबर है।

अब यही देखिए न जिस कथाकार मधुकर की धमनियों में संघर्ष लहू बनकर जिंदगी की आखिरी सांस तक दौड़ता रहा, संघर्ष उनके जीवन में भी रहा और लेखन में भी, और जिन्होंने दलितों, पिछड़ों तथा समाज के निचले पायदान पर पड़े लोगों के संघर्ष और उनकी जिजीविषा को अपनी रचनाओं का केंद्रीय विषय बनाया, वही उस लत से ग्रस्त हो गया जिसका शिकार हो अधिकांश दलितों, पिछड़ों और वंचितों का जीवन नष्ट हो रहा है। जबकि मधुकर जी स्वयं भी साधारण आदमी थे और उनकी जरूरतें भी छोटी थीं। मामूली इच्छाएँ, सपना भी खुद के लिए नहीं फिर भी वह गलत राह से गुजरे। सोवियत लैंड जैसे पुरस्कार से नवाजे गए मधुकर जी के पूरे जीवन पर जब हम नज़र दौड़ाते हैं, तो उनका यही रोग मुझे पीड़ा पहुँचाती है। अन्यथा वे जिस सम्मान और पुरस्कार के हकदार थे, सजा के तौर पर शायद वह उन्हें नहीं मिला।

मधुकर जी ने अपने एक आत्मकथात्मक लेख में कहा, 'पुलिसमैन पिता मुझे दारोगा बनाना चाहते थे, लेकिन बन गया लेखक। उन्होंने बचपन में ही मेरी शादी कर दी। जब मैं मैट्रिक में पढ़ता था, तभी बाप भी बन गया, तभी से दो पीढ़ी के बापों का संघर्ष जारी रहा। 'मेरीट अंक' कहानी इसी तनाव की गाथा है। सुरजिया की बर्फ की सिल्ली पर भी वंदे मातरम गाते सुनता था। पुलिस और सरकार के खिलाफ मैंने बराबर लिखा'। मधकरजी की इन बातों खासकर कम उम्र में ही शादी और बाप बनकर पूरे परिवार को चलाना कोई आसान काम तो था नहीं। इसी को लेकर तनाव वे तनाव में रहने लगे और गलत रास्ते पर चलने के वे आदी हो गए। नहीं चाहते हुए भी मैंने इस बात का जिक्र इसलिए किया कि मुझे भी यान ओत्शानिक की पंक्तियाँ याद आ गईं, 'कुछ लोगों को अक्सर याद किया जाता है, कुछ हैं जिन्हें हमेशा के लिए भुला दिया जाता है। कुछ ऐसे भी हैं जिनका जिक्र कोई नहीं करता। वे बिना शब्दों के जीवित रहते हैं। मुँह के पीछे, आँखों के पीछे वे पुराने घरों में अविरल गिरते प्रवाहमान इतिहास का आँगन होते हैं।'

मधुकर जी भी उसी प्रवाहमान इतिहास का एक हिस्सा बन गए जिनके रचे शब्द उन्हें हमेशा स्मरण कराते रहेंगे खासकर तब जब किसी गरीब किसान और खेत मजदूर की आँखों में आँसू होंगे और वह अपनी पीड़ा बयान करने में गूँगा साबित कर दिया जाएगा।

अपनी जमीन से हमेशा जुड़े रहने वाले और जातिवाद, गुटबाजी, पद लिप्सा, धन लिप्सा से सदैव अलग रहने वाले मधुकरजी हमेशा प्रासंगिक बने रहेंगे और आने वाली पीढ़ियाँ उनसे प्रेरित होती रहेंगी, क्योंकि उन्होंने भारतीय समाज में मौजूद लगभग सभी समस्याओं और कुरीतियों पर बखूबी लिखा तथा राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं परिवारिक सभी को उन्होंने जिस तरह अपनी रचनाओं में खास करके एक आम आदमी को, एक किसान को और दलित वर्ग के लोगों को समेटा वह अपने आप में मिसाल है। कहा जाता है कि उन्होंने दस वर्ष की अवस्था से ही लिखना शुरू कर दिया था। यानी सत्तर वर्षों तक बिना अपने विज्ञापन और प्रक्षेपन के, प्रयोजन और प्रचार के लिखते रहने वाला लेखक मधुकरजी कलम के मजदूर और किसान से अधिक अपने उपस्थित वर्तमान के सहृदय, संवेदनशील और साहित्य-सौष्ठव के शिल्प एवं स्वाभाविक सौंदर्य से मंडित रचनाकार थे। वे उपन्यासकार और कथाकार दोनों ही धरातलों पर समान रूप से महत्त्वशाली थे। भारतीय कृषि संस्कृति के इस कथाकार के प्रति मेरे मन में आकर्षण इसलिए रहा कि उनकी रचनाओं में अस्वाभाविकता, अतिरंजना और अतिशयता नहीं देखी गई। वे मूलतः सीधी-सादी कहानी कहने वाले किस्सागो ही थे और यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी। इनकी कहानियों के आधार पर जो तथ्य सामने आते हैं वे काफी परेशान करने वाले हैं और शायद भावी पीढ़ी तो उसकी कल्पना भी न कर पाए, मगर यह कठोर सत्य है कि वह मानवीय नैतिकता से भी शून्य था। मधुकरजी ने शोषण और उत्पीड़न के विरूद्ध एक मानसिकता, एक वातावरण तैयार करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। सच तो यह है कि उनकी कथाकृतियों का परिवेश हमें आज भी, जबकि हम आजादी के 68 वर्ष देख चुके हैं सोचने को बाध्य करते हैं कि क्या हमारा स्वराज्य का सपना पूरा हो सका है? क्या यह सच नहीं है कि आजादी के छह दशक से भी अधकि गुजरने के बाद भी सत्ता पर काबिज भटके हुए लोग आखिर अपने कौन से लक्ष्य को पूरा करने के लिए जी-जान से जुटे हैं। आखिर तभी तो राजनेता और प्रशासन में बैठे लोग देश के धन को लूट रहे हैं और यह लूट हमारे लोकतंत्र के हर स्तर पर उजागर हो रही है। देश में पानी, स्वास्थ्य, शिक्षा और

रोजगार जैसी मूलभूत सुविधाओं के समाधान के लिए जो पैसा खर्च होना चाहिए वह बजाय इन पर खर्च होने के निर्वाचित प्रतिनिधि उससे अपने लिए हर प्रकार की सुविधाएँ बटोरने में कोई परहेज नहीं करते हैं। कथाकार मध ुकरजी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से इन सभी तथ्यों पर देशवासियों का ध्यान आकृष्ट किया है।

ग्रामीण जनमानस से जुड़े कथाकार मधुकरजी की कहानियों और उपन्यास में जिस जीवन का चित्र है वह भारत के किसी, कस्बे या नगर का ही नहीं, बल्कि समस्त भारतीय जीवन अपनी अच्छाइयों-बुराइयों और विशिष्टताओं के साथ उनके साहित्य में साकार हो उठा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उनके साहित्य की सोद्देश्यता-उपादेयता को लेकर उनके मन में कोई शंका-संदेह नहीं था। इसलिए मेरा मानना है कि उनका साहित्य भारतीय समाज का साहित्य है। उस समाज के मन के भावों का प्रतिबिंब उसमें है। इसलिए उनके साहित्य की प्रासंगिकता सदैव बनी रहेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं पूरी तरह यह मानता हूँ कि मधुकरजी के साहित्य का परिवेश, जीवन और चिंतन विशुद्ध भारतीय और उसके एक-एक शब्द में उनका व्यक्तित्व समाहित है। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अंतिम सांस तक साहित्य-सृजन करते हुए ऐसे व्यक्तित्व का तिरोधान मुझे भी मर्माहत कर गया। हिंदी के प्रखर साम्यवादी चिंतक और प्रेरणा पुरुष के नहीं रहने पर मुझे सुप्रसिद्ध साहित्यकार शिवमंगल सिंह 'सुमन' की ये पंक्तियाँ मेरे मानस में उभर आई हैं---

''तुम जीवित थे तो सुनने को जी करता था, तब,
जब चले गए तो गुनने को जी करता है।''

बहुत ही सुंदर और मर्मस्पर्शी कहानियों और उपन्यासों के लेखक मधुकरजी को ओज के कवि भाई विशुद्धानंद की निम्न पंक्तियों से मैं श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ---

'अभी भी नर कुदरत का, हरेक अपनी जगह पे है,
हमारे सोचने के ढंग और अंदाज बदले हैं,
नहीं बदला खुदा, उसकी खुदाई भी नहीं बदली,
फ़कत नजरों के चश्मों को, बदलने की जरूरत है।

डॉ0 बालशौरि रेड्डी :
जिनका जीवन हिंदी लेखन के प्रति समर्पित रहा

दक्षिण भारत के जिन साहित्यकारों ने अपनी मौलिक रचनाओं और अनुवादों के माध्यम से हिंदी साहित्य को समृद्ध कर अखिल भारतीय विस्तार दिया है और हिंदी के जरिए दक्षिण की विशिष्ट संस्कृति को पूरे विश्व में पहुँचाने का कार्य किया है उनमें 'चंदा मामा' के हिंदी संस्करण के दो दशक से अधिक अवधि तक संपादक रहे डॉ. बालशौरि रेड्डी का नाम उल्लेखनीय है। डॉ. रेड्डी को राष्ट्रभाषा हिंदी पर गर्व रहा इसलिए कि भारत जैसे प्रजातांत्रिक पंथनिरपेक्ष देश जहाँ अनेक मतावलंबी एवं बहु भाषा-भाषी लोग रहते हैं हिंदी उनके बीच एक संपर्क भाषा के रूप में काम कर रही है और आज वह करोड़ों लोगों की बोलचाल की भाषा बन गई है। डॉ. रेड्डी का स्पष्ट मत था कि यदि हिंदी की प्रगति तथा प्रचार-प्रसार के लिए मन से कार्य किया जाए, तो वह दिन दूर नहीं, जब हिंदी अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अपना विशिष्ट एवं गौरवमय स्थान बना सकेगी। वैसे भी किसी राष्ट्र की संस्कृति और अस्मिता की पहचान उसकी अपनी भाषा से होती है।

मूल रूप से तेलुगुभाषी डॉ. बालशौरी रेड्डी ने हिंदी की विभिन्न विधाओं में अपनी पचहत्तर कृतियों की रचना कर हिंदी साहित्य की समृद्धि में अमूल्य योगदान किया जबकि उनकी अपनी मातृभाषा तेलुगु में सिर्फ चौदह रचनाएँ ही आ पाईं। यह इस बात का परिचायक है कि हिंदी के प्रति उनका रूझान काबिलेतारीफ रहा।

अमेरिका, इंग्लैंड, मॉरिशस, सिंगापुर आदि देशों की दशाधिक यात्राएँ कर चुके तथा केंद्र सरकार सहित उ.प्र., बिहार, म.प्र. आदि अनेक राज्यों एवं संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत एवं सम्मानित डॉ. बालशौरि रेड्डी का जन्म आँध्रप्रदेश के कडप्पा जिलांतर्गत गोल्लड गुडूर में 1जुलाई, 1928 को एक किसान परिवार में हुआ था और नेल्लूर, कडप्पा, इलाहाबाद तथा वाराणसी में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् हिंदी प्रचार सभा, मद्रास के प्राचार्य, भारतीय भाषा परिषद कोलकाता के निदेशक, आँध्रप्रदेश हिंदी अकादमी, हैदराबाद के अध्यक्ष पद को सुशोभित करने के साथ-साथ तमिलनाडु हिंदी अकादमी, चेन्नई के अध्यक्ष पद पर रहकर हिंदी साहित्य की सेवा की और

अध्ययन, लेखन पर्यटन में लगे रहे।

आँध्र प्रदेश के निवासी होते हुए भी डॉ. बालशौरि रेड्डी ने चेन्नई को अपना कर्मक्षेत्र बनाया तथा भारत की राजधानी नई दिल्ली सहित प्राय: सभी राज्यों के प्रमुख शहरों में जाकर हिंदी का प्रचार-प्रसार किया। यह मेरा सौभाग्य रहा कि जिस अवधि में मैं रेलवे हिंदी सलाहकार समिति का सदस्य था डॉ. बालशौरि रेड्डी का सान्निध्य मुझे प्राप्त हुआ, क्योंकि वे भी उस समिति के सदस्य थे। नई दिल्ली में उनका आना-जाना बराबर लगा रहता था और मैं भी भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग (Indian Audit & Accounts Departments) के वरिष्ठ लेखा परीक्षा अधिकारी के पद से 1 जून, 2000 से स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति लेने के बाद नई दिल्ली में ही रहकर राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्था 'राष्ट्रीय विचार मंच' के राष्ट्रीय महासचिव तथा उसके मुख-पत्र-'विचार दृष्टि' के संपादक का दायित्व निभा रहा था। एक समय ऐसा भी आया जब डॉ. बालशौरि रेड्डी न केवल राष्ट्रीय विचार मंच के उपाध्यक्ष पद पर निर्वाचित हुए और साथ ही 'विचार दृष्टि' पत्रिका के परामर्शी भी बनाए गए। इन दोनों पदों पर रहते हुए न केवल मुझे उनका सान्निध्य मिला, बल्कि निरंतर मार्गदर्शन भी प्राप्त हुआ। विगत 12 एवं 13 जुलाई, 2008 को डॉ. रेड्डी के दिल्ली प्रवास के दौरान राजघाट स्थित हिंदुस्तानी साहित्य सभा जिसके विश्रामगृह में वे हमेशा ठहरते थे, में उनसे मुलाकात कर मैंने राष्ट्रभाषा हिंदी से जुड़े अनेक सवालों को लेकर 'विचार दृष्टि' के साक्षात्कार स्तंभ के लिए बातचीत की और डॉ. रेड्डी के अस्सी वर्ष पूरे होने पर उनके व्यक्तित्व व कृतित्व के कुछ अनछुए पहलुओं को प्रकाशित कर उनके प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित किया था।

डॉ. बालशौरि रेड्डी विश्व हिंदी सम्मेलन से शुरू से ही जुड़े रहे और इसकी स्थाई समिति के सदस्य के रूप में भी उन्हें काम करने का मौका मिला। अमेरिका के न्यूयॉर्क में 13-15 जुलाई, 2007 तक आयोजित आठवें हिंदी सम्मेलन में बिहार की ओर से भारतीय प्रतिनिधिमंडल में शामिल होकर 'वैश्वीकरण मीडिया और हिंदी' विषय पर सम्मेलन के शैक्षिक सत्र में आलेख प्रस्तुत करने का अवसर मुझे भी मिला था और उस वक्त डॉ. बालशौरि रेड्डी जी से जब मेरी मुलाकात हुई थी, तो मैंने उनसे पूछा था- 'क्या निकट भविष्य में संयुक्त राष्ट्र की स्वीकृत भाषा-सूची में हिंदी को सम्मिलित किए जाने की संभावना है?' उन्होंने इस प्रश्न के उत्तर

में कहा था–'तीन सम्मेलनों के सत्रों की अध्यक्षता करने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ और दो सम्मेलनों की स्थाई समितियों का सक्रिय सदस्य भी रहा। 1975 में कानपुर में आयोजित प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन में यह प्रस्ताव पारित हुआ था कि हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ की सातवीं भाषा के रूप में सम्मिलित किया जाए। यह प्रस्ताव बराबर दुहराया जाता रहा और न्यूयॉर्क में आयोजित आठवें विश्व हिंदी सम्मेलन में दृढ़तापूर्वक राष्ट्रसंघ की भाषा के रूप में जोड़ने की वकालत भी की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव की सहभागिता एवं अभिभाषण से इस प्रस्ताव को बल मिला। उस सम्मेलन में गए प्रत्येक भारतीय हिंदी प्रेमी के मुखमण्डल पर हिंदी को राष्ट्रसंघ में सम्मिलित हो जाने की आशा-किरण दर्शित हुई जिसके आप भी साक्षी हैं। इससे सारे राष्ट्र में हिंदी की अस्मिता को बचाए रखने की जागृति दृष्टिगोचर हो रही थी। इससे पूरी आशा बँधती है कि निकट भविष्य में हिंदी संयुक्त राष्ट्रसंघ की भाषा बनेगी।'

राष्ट्रभाषा होते हुए भी हिंदी का अनुवाद की भाषा बनकर रह जाने के सवाल पर डॉ. बालशौरि रेड्डी का कहना था कि संवैधानिक मान्यता के बावजूद हिंदी आज तक ज्ञान-विज्ञान तथा रोजी-रोटी की भाषा नहीं बन पाई। प्रशासनिक क्षेत्र में केंद्र सरकार द्विभाषा नीति का अनुपालन करती आ रही है। कतिपय संदर्भों में पहले अँग्रेजी में सूचनाएँ प्रेषित की जाती हैं और सुविधानुसार उनका रूपांतरण। हिंदी केवल अनुवाद की भाषा बनकर रह गई है। आज जिस गति से हिंदी का कार्यान्वयन हो रहा है, उसे देखते हुए लगता है कि और आधी शती लगने की संभावना है अथवा एक और कमाल पाशा की आवश्यकता है।

मौजूदा दौर में दक्षिण भारतीयों की मानसिकता हिंदी को लेकर किए गए सवाल के जवाब में डॉ. रेड्डी का मत था कि वैसे सामान्य जनता के बीच भाषा को लेकर कोई विवाद नहीं है। बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों तथा प्रशासन से जुड़े अधिकारी एवं कर्मचारियों के मन में यह भय और आशंका है कि हिंदी की राजभाषा होने पर उनकी आजीविका खतरे में पड़ सकती है। आज हिंदी दिवस तथा भूमण्डलीकरण के दौर में सभी यह महसूस करने लगे हैं कि वैश्वीकरण के पूर्व भारतीयकरण हो, इसके लिए हमारी एक अपनी संपर्क भाषा बनी रहे, भविष्य हिंदी के पक्ष में है, समय ही इसका समाधान करेगा।

डॉ. बालशौरि रेड्डी जितनी सरल गति से मौलिक रचना

का सृजन करते थे उसी सहज गति से अनुवाद भी करते थे। यह निर्विवाद सत्य है कि बालशौरि रेड्डी जी ने प्राचीन एवं आधुनिक तेलुगु ग्रंथों को हिंदी अनुवाद सर्वमात्रा में किया है। इस दिशा में उन्होंने तेलुगु साहित्य की सभी विधाओं- कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक-एकांकी, आत्मकथा आदि को सहज-शैली में अनूदित कर राष्ट्रभाषा हिंदी की सेवा की। 'विचार दृष्टि' को भेजे गए अपने लेख में सृजन को डॉ. बालशौरि रेड्डी प्रकृति और समाज का प्रतिफल मानते हैं। रचनाकार प्रकृति की संतान है, उसकी सुंदर सृष्टि है। प्रकृति की गोद में, परिवेश में सांस लेते हुए नैसर्गिक सौंदर्य की अराधना करता है और प्रकृति के क्रिया-कलापों तथा नर्तन को देख आह्लादित होता है और उसके विकराल रूप को देख भयभीत होता है और आतंकित भी होता है। जहाँ नैसर्गिक सुषमा-सुरम्य, हिमाच्छादित पर्वत, फल-फूलों से लदे वृक्ष, कलरव करते पंछी-वृंद, लता-गुल्म, कल-कल निनाद करते बहने वाले निर्झर जहाँ उसके मन को आत्मिक सुख प्रदान करते हैं, वहीं बाढ़, भूकम्प, अकाल के विकराल नृत्य उसके मन को आंदोलित करते हैं। इन सुखों-दुखों को अनुभव करते समय उसके हृदय में जो प्रतिक्रियात्मक अनुभूतियाँ बनती हैं, वे ही भाषा एवं शिल्प के आवरण में परिवेष्ठित हो बहिर्गत होती हैं और कलात्मक रूप धारण करती हैं। सृजन के समय साहित्यकार भाव जलधि में उत्ताल तरंगों के मध्य उतराते-डुबते घात-प्रतिघातों को सहते चरित्र-रूपी सीपियों एवं कौड़ियों को बटोरते अपनी रचना रूपी झोली में डालते दर्शित होता है।

डॉ. रेड्डी अपने को एक देहाती मध्यवर्गीय कृषक परिवार का सदस्य मानते हुए कहते हैं कि उनके भीतर देहाती संस्कार घर किए हुए हैं, जहाँ परस्पर विश्वास, स्वावलंबन, श्रम, परोपकार, झोलापन, संघर्ष, भावी जीवन के सुखद सपने, प्यार, स्नेह और त्याग आदि चारित्रिक वैशिष्ट्य के बीज पनपते हैं। मैं उसी परिवेश में पला हूँ। अतः मेरे कथा साहित्य में उपर्युक्त गुणों की संवेदनाएँ होंगी ही। यही कारण है कि डॉ. रेड्डी प्रत्येक नागरिक को सम्मानपूर्वक सुखी जीवन जीने के पक्षपाती रहे हैं। समाज में जहाँ भी अत्याचार, अन्याय, शोषण, पक्षपात, तड़पन, छटपटाहट वे देखते थे, उसका विरोध करते थे। उनकी दयनीयता, व्यथा, असहायता, अकुलाहट के मार्मिक प्रसंग आते थे। उनके प्रति उनकी सहानुभूति जाग्रत हो जाती थी और उन स्थितियों को वे बेबाक चित्रण करते थे।

तमिल के प्राचीन ग्रंथ तिरूक्कुरल में कहा गया है कि

'जन्मो तो यशस्वी होकर जन्मो, नहीं तो न जन्मना श्रेष्ठ है।' उक्त कथन के अनुसार बालशौरि रेड्डी जी यशस्वी होकर जन्मे। शायद पहली तारीख को जन्म लेने की वजह से वे सभी क्षेत्रों में अव्वल आए। मध्यवर्गीय परिवार में उदित होकर भी वे अपने अध्ययन व अध्यवसाय से साहित्यिक क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान हासिल किए।

आपका विवाह संपन्न परिवार की सुभद्रा देवी से दिनांक 14जून, 1951 को संपन्न हुआ और वैवाहिक जीवन सुखमय व समृद्ध रहा। दो पुत्रियों और एक पुत्र के पिता डॉ. रेड्डी को कभी अपने परिवार की चिंता करने की जरूरत ही नहीं पड़ी। अपनी संस्था राष्ट्रीय विचार मंच तथा उसके मुख-पत्र 'विचार दृष्टि' को लेकर जब भी मैं चेन्नई गया रेड्डी परिवार से उनके चेन्नई स्थित निवास जाकर अवश्य मिला। सुभद्रा जी के स्वभाव, उनकी सहजता और सरलता से मैं प्रभावित हुआ। सुभद्रा जी ने घर-परिवार की सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेकर डॉ. बालशौरि रेड्डी के जीवन को सार्थक बनाते हुए इस कहावत को चरितार्थ किया-'हर एक सफल पुरुष के पीछे एक सफल नारी है' सचमुच जीवन उसी साहसी मनुष्य का होता है जो चुनौती का सामना करता है और अंतत: वही सफल होता है।

बालशौरि रेड्डी जी मिलनसार और सौम्य स्वभाव के थे। श्रेष्ठ साहित्यकार हो या नौसिखिए सबके प्रति उनका व्यवहार एक-सा होता था। वे लेखकों को प्रेरणा देते थे और कोई न कोई कृति उनसे लिखवाते तथा 'चंदामामा' में प्रकाशित करते थे। उनके साहित्य-सृजन में श्री काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर', पं. कमलापति त्रिपाठी, श्री गंगाधर मिश्र और श्री ठाकुर प्रसाद सिंह जैसे चार माननाय व्यक्तियों से प्रेरणा उन्हें तब मिली जब डॉ. रेड्डी 1948 में वाराणसी में थे। डॉ. रेड्डी जी की निम्नांकित पुस्तकें काफी प्रशंसित हुईं- आंध्र भारती, तेलुगु साहित्य के निर्माता, तेलुगु साहित्य का इतिहास, आंध्र के महापुरुष, तेलुगु की लोककथाएँ, स्वप्न और सत्य, प्रोफेसर, धरती मेरी मां, प्रकाश और परछाई, बैरिस्टर, दावानल, जिंदगी की राह, यह बस्ती ये लोग, भग्न सीमाएँ, लकमा, शबरी आदि। इसके अतिरिक्त सन् 1958 में 'अटके आँसू' कहानियों के संग्रह का अनुवाद निकला। न्यायमूर्ति डॉ. राजमन्नार के प्रसिद्ध नाटक 'मनोरमा' का अनुवाद रेड्डी जी के द्वारा हुआ। 'आँध्र-ज्योति' पत्रिका के संपादक डॉ. नार्ल वेंकटेश राव के अनुरोध पर डॉ. रेड्डी ने डॉ. एस. ए. व्यास द्वारा रचित 'रामायण काल में भारतीय संस्कृति' का अनुवाद किया जो उक्त पत्रिका में धारावाहिक सैंतीस

सप्ताह प्रकाशित हुआ। इस प्रकार डॉ. रेड्डी ने हिंदी में चौदह उपन्यास, साठ कहानियाँ एवं अनेकानेक बाल कहानियाँ, बाल नाटक और बोधि कथाओं की रचना की।

हिंदी और तेलुगु के प्रख्यात साहित्यकार डॉ. बालशौरि का देहावसान विगत 15 सितंबर, 2015 को 87 वर्ष की उम्र में हो गया। उस दिन सुबह साढ़े आठ बजे पूर्वाह्ण उन्होंने अपने स्वास्थ्य बिगड़ने की शिकायत की। अस्पताल ले जाते समय उनका निधन हो गया और वे अपने पीछे हमारे जैसे हजारों शुभेच्छुओं सहित अपनी पत्नी, पुत्र, पुत्रवधू, पुत्रियाँ तथा पौत्र एवं नाती छोड़ गए।

विगत छह दशकों से भाषा, साहित्य और संस्कृति के सवालों से चुनौतीपूर्ण सामना करते आए डॉ. बालशौरि रेड्डी आज हमारे बीच नहीं हैं, पर अपने सृजन के माध्यम से जो विचार उन्होंने समाज व देश के समक्ष प्रस्तुत किए हैं उनसे हमें रोशनी मिलती रहेगी। 'मैं और मेरा लेखन' में अपने सृजन कार्य पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने जो कुछ कहा है वह हमारा मार्ग अवश्य प्रशस्त करेगा। डॉ. रेड्डी ने लिखा है-'कोई भी व्यक्ति एकाध दिन में लेखक नहीं बन बैठता। यद्यपि सृजनात्मक प्रवृत्ति अभिव्यक्ति की राह ढूँढ़ती रहती है, तथापि अनुभूतियों के परिपक्व होने पर ही वे स्पष्ट रूप से बहिर्गत होती हैं। डॉ. बालशौरि रेड्डी एक ऐसे अध्येता लेखक थे, जो किसी भी विषय पर लिखते समय तमाम संदर्भो से होकर गुजरते थे। उनका मानना था कि अध्ययन, सामाजिक अनुभव, चिंतन, मनन, पर्यटन आदि से विचारों में गहनता, व्यापकता, स्पष्टता और संपन्नता आती है। साहित्य के परिप्रेक्ष्य में नैतिक की सत्ता को जरूरी मानने वाले बालशौरि रेड्डी जी के साहित्य का मूल स्वर मानव-कल्याण रहा है। मुझे अच्छी तरह याद है साहित्य अकादमी, दिल्ली के सभागार में अ.भा. हिंदी संस्था द्वारा आयोजित अभिनंदन समारोह में अमित प्रकाशन, गाजियाबाद से प्रकाशित अभिनंदन ग्रंथ 'अपने-अपने बालशौरि रेड्डी' के लोकार्पण के अवसर पर वरिष्ठ कथाकार कमलेश्वर ने कहा था कि 'आज का आदमी जितना चीजों को छिपाता है उसके विपरीत बालशौरि रेड्डी अपनी रचनाओं में उस चीज को छुपाते हुए हमारे सामने रख देते हैं, बगैर किसी लाग-लपेट और भीतर के विचलन के।'

भारत की वैज्ञानिक चेतना के साथ-साथ वसुधैव-कुटुम्बकम जैसी व्यापक सामाजिक चेतना में भी अपनी भव्य परिणति से साक्षात्कार कराते डॉ. बालशौरि रेड्डी के उपन्यास-'धरती मेरी माँ' की भूमिका में हिंदी

के वरेण्य कवि डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' लिखते हैं-'साहित्यकार की श्रेष्ठता का मापदण्ड उसके द्वारा रचे गए साहित्य का आकलन नहीं होता, अपितु उसकी कसौटी होती है कि उसके विचारों की पूँजी कितनी है और उसे कितने सजी ढंग से उद्घाटित किया गया है। उनके सृजन में उनका अध्ययन पक्ष सदा मुखर होता है, प्रति संपन्न, अप्रतिम एवं यशस्वी व्यक्तित्व के कई-कई रंग-रूप और पहल हैं।'

राष्ट्रभाषा हिंदी के अनन्य आराधक और साधक डॉ. बालशौरि रेड्डी की महती कृपा मुझ पर रही है। आखिर तभी तो हजारों किलोमीटर दूर रहते हुए भी दूरभाष पर वे मुझे न केवल सृजन के संबंध में दिशा प्रदान करते रहे, बल्कि मेरे अनुरोध पर हमारी कई कृतियों पर अपनी शुभाशंसा, भूमिका अथवा पूरोवाक् लिखकर मेरा मनोबल उन्होंने बढ़ाया। सन् 2008 में प्रकाशित हमारे 'समकालीन संपादकीय' के अभिमत में डॉ. रेड्डी लिखते हैं " 'समकालीन संपादकीय' के सभी संपादकीय वास्तव में संपूर्णता के उसी ताने-बाने को प्रतिबिंबित करते हैं जिसके पीछे छिपी है देश की परंपरा, कार्यशैली, सामाजिक प्रतिबद्धता और पराकाष्ठा को छूती राष्ट्रीयता की भावना। लेखक ने संपादन तथा लेखन की एक अलग राष्ट्रीय ओज से सनी शैली का एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया है। सच तो यह है कि ये संपादन तथा संपादकीय अग्रलेख इतने बेहतरीन तरीके से प्रस्तुत हैं कि यह काम इन्हें एक बड़े दायित्वबोध का अहसास कराता है।"

भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अटूट परंपरा के उन्नायक डॉ. बालशौरि रेड्डी से मुझे अनुजवत् स्नेह मिला जिसके लिए हम उनके अत्यंत आभारी है। उनके निधन की खबर जैसे ही अहले सुबह अखबार से मुझे मिली मैंने दूरभाष पर उनके एकलौते सुपुत्र को अपनी संवेदना व्यक्त करते हुए अपने एक समर्थ अभिभावक व अग्रज के खोने की बात कही और चेन्नई स्थित सेंट स्ट्रेला मारिस कॉलेज की पूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष डॉ. मधु धवन से मैंने दूरभाष पर अनुरोध किया कि वह मेरी ओर से उनके चित्र के समक्ष पुष्प चढ़ाकर श्रद्धांजलि अर्पित करने की कृपा करें। आज जब मैं उनपर एक संस्मरणात्मक निबंध लिख रहा हूँ डॉ. बालशौरि रेड्डी की ही निम्न पंक्तियों से उनकी पावन स्मृति को मैं नमन करते हुए श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ- 'जीवन में आशा-निराशा, सुख-दुख, हर्ष-विषाद भरे प्रसंग दिन और रात की भाँति उभरते, लुभावन होते, पुनः जीने व मरने, तड़पने और उल्लासपूर्वक आगे बढ़ने की प्रेरणा देते रहते हैं। यही तो जीवन है।'

महाश्वेता देवी :
जो दलितों व आदिवासियों की आवाज थीं

आप चाहे उन्हें हजार चौरासी की मां कहें या वंचितों, दलितों, आदिवासियों और शोषितों की आवाज या शबरी की मां। कहा जाता है कि जिसके हाथों में कलम होती है उसका दिल मोम का होता है, पर महान लेखिका महाश्वेता देवी के भीतर तो आग भरी थी और वह आग वंचितों, दलितों और आदिवासियों के लिए थी। महाश्वेता देवी कहती भी थीं–'मेरे भीतर आदिवासियों के लिए पीड़ा की जो ज्वाला लम्बे अरसे से धधक रही है, वह चिता पर ही शांत होगी।' दरअसल, अरण्य और आदिवासी महाश्वेता देवी को प्रिय इसलिए थे कि उन्हें इस बात का गहरा भान था कि आदिवासियों के साथ जैसे अन्याय हुए हैं उनका प्रतिकार होना ही चाहिए। हालांकि यह भी सच है कि महाश्वेता देवी न तो दलित थीं और न आदिवासी, परंतु साहित्य में उन्होंने इनकी नुमाइंदगी कर इस कमी को भर दिया।

महाश्वेता देवी तो लिखने-पढ़ने वालों के परिवार से आई थीं। मां धारित्री देवी लेखिका थीं तो पिता मनीष घटक कवि और मनीष जी के छोटे भाई ऋतिक घटक को सारी दुनिया बड़े फिल्मकार के रूप में जानती ही है। महाश्वेता जी के पति विजन भट्टाचार्य 'इप्टा' आंदोलन के जनक थे और उनके बेटे नबारुण भट्टाचार्य बांग्ला कवि थे और साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित थे। उनका 2014 में निधन हो गया।

महाश्वेता देवी का जन्म अविभाजित भारत के ढाका में 14 जनवरी, 1926 को बांग्लादेश के पावना जिलांतर्गत नोतुन भोरगा गाँव में हुआ था। विभाजन के बाद इनका परिवार प. बंगाल में बस गया। 1946 में विश्व भारती से अँग्रेजी में स्नातक करने के बाद महाश्वेता देवी कोलकाता विश्वविद्यालय से अँग्रेजी में स्नातकोत्तर की डिग्री ली और विजयगढ़ के ज्योति राय कॉलेज में प्राध्यापक भी रहीं। इनकी मूल विधा कविता थी। पर 1956 में 'झांसी की रानी' ने उन्हें कथाकार बना दिया। उन्होंने एक साक्षात्कार में कहा भी था–'' 'झांसी की रानी' लिखने के बाद ही समझा पाई कि मैं कथाकार बनूँगी।' यह किताब कालजयी थी जिसमें सिर्फ कलमकार की कल्पना ही नहीं थी, बल्कि सच का आईना थी। इसे उन्होंने सागर, जबलपुर, पुणे, ग्वालियर, कालपी,

इंदौर, ललितपुर के जंगलों, झांसी में हुई तमाम घटनाओं के साथ चलते हुए लिखा था, जो 1857 के दौरान हुई थी।

महाश्वेता देवी की जो छवि प्रचारित हुई, वह उनके आदिवासी जीवन की कथाकार के रूपवाली अधिक थी, क्योंकि दलितों, आदिवासियों तथा वंचितों की आवाज थीं। उन्होंने 'हजार चौरासी की मां' और 'रूदाली' जैसी कृतियाँ भी लिखी हैं जिनमें से 'हजार चौरासी की मां' पर फिल्म बनी जिसे गोविंद निहलानी ने 1998 में बनाई थी। इस फिल्म में ऐसी मां का भावनात्मक संघर्ष है जो नक्सल आंदोलन में बेटे के शामिल होने की वजह नहीं समझ पाती है। इसके पूर्व 1993 में कल्पना लाजिमी ने इनके उपन्यास 'रूदाली' पर इसी नाम से फिल्म बनाई। इतालवी निर्देशक इतोली स्पिनेली ने उनकी लघु कहानी 'चोली के पीछे' पर 'गंगर' नाम से कई भाषाओं में फिल्म बनाई। 1979 में साहित्य अकादमी सम्मान मिला।

महाश्वेता देवी साहित्य और समाज में पूरी तरह डूबी अनुपम हस्ती थीं। उनके साहित्य में जीवंतता इसलिए अधिक थी, क्योंकि वे खाली किताबी लेखिका नहीं थीं। वे सामाजिक कार्यकर्ता का जीवन भी जीती रहीं। अपने उपन्यासों एवं कहानियों में उन्होंने एक सामाजिक कार्यकर्ता के तौर पर पूरी ईमानदारी से और एक लेखिका के तौर पर पूरी शिद्दत के साथ समाज के हाशिए पर रहने वाले वंचितों की दयनीय स्थिति का चित्रण किया और उनके कल्याण की आकांक्षा की। आखिर तभी तो बंगाल, झारखंड, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, सुदूर दक्षिण भारत के वंचितों के जीवन की सच्चाइयों को विमर्श के केंद्र में लाने वाला उनका लेखन भाषाओं, समाजों और संस्कृतियों की सीमाओं से परे संप्रेषित हो सका।

सत्ता से चिर क्षुब्ध महाश्वेता की अभिव्यक्तियाँ और टिप्पणियाँ पिछले कई दशकों से भारतीय अंतरात्मा की आवाज की हैसियत पर गयी थीं। देश की जनता की आकांक्षाओं को पूरा नहीं करने के लिए आजाद भारत की सरकारों को उन्होंने लगातार कठघरे में खड़ा किया और अपने रोष और खीझ को कभी छुपाने या नरम शब्दों में कहने की कोशिश भी नहीं की। बंगाल की हर सरकार और हर राजनीतिक दल के साथ उनका टकराव रहा। नक्सलवादी और अन्य युद्ध असंतोषों के पक्ष में वे खड़ी हुईं और जब भी उन्हें लगा कि वे आंदोलन की राह से भटक रहे हैं, तो उनका आलोचनात्मक स्वर भी मुखर हुआ। यह उनके नैतिक कद और साहसी व्यक्तित्व का असर था कि इन सबके बावजूद किसी नेता ने उन्हें निशाने

पर लेने की हिम्मत नहीं की। बंगाल के सांस्कृतिक इतिहास में ऐसे अनेक व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने न सिर्फ उस इलाके के, बल्कि पूरे देश की चेतना पर गहरा असर डाला है। महाश्वेता देवी इस सिलसिले का संभवत: अंतिम नाम है। यदि भारत को एक बेहतर और न्यायपूर्ण देश के रूप में प्रतिष्ठित करना है, तो हमें महाश्वेता देवी के संदेशों को मन, वचन और कर्म से अंगीकार करना होगा।

साहित्य जगत के लिए विगत 28 जुलाई, 2016 का वह दिन आया जब इस ख्यातिप्राप्त लेखिका और वंचितों की रहनुमा महाश्वेता देवी का 90 वर्ष की उम्र में दिल का दौरा पड़ने से निधन हो गया। वे पिछले दो महीने से अस्वस्थ भी थीं और उनका स्थानीय वेलब्यू अस्पताल में इलाज चल रहा था। ज्ञानपीठ, पद्मविभूषण, साहित्य अकादमी, बंगविभूषण और मैगेसेसे पुरस्कार से नवाजी गयीं महाश्वेता देवी दलितों, महिलाओं और किसानों के हितों और मानवाधिकारों के लिए दशकों तक लिखती, बोलती रहीं। बंगाल और बंगाल से बाहर लोगों ने महाश्वेता देवी को 'दी' और 'मां' कहकर संबोधित किया। उन्होंने हमेशा बंगाली भाषा में लिखा और उनकी रचनाएँ अनेक देशी-विदेशी भाषाओं में अनुदित हुई, जिनपर फिल्में भी बनीं और नाटक भी रचे गए। महाश्वेता देवी की आम लेखकों जैसी छवि नहीं थी, बल्कि इसके ठीक विपरीत थी, कारण कि आदिवासियों और दलितों की व्यथा-कथा लिखने वाली महाश्वेता लेखक के सक्रिय सामाजिक हस्तक्षेप में भरोसा रखती थीं। हाल के वर्षो में उन्होंने सिंगुर और नंदीग्राम के किसान आंदोलन में नेतृत्व किया था। पुरुलिया-मेदनीपुर में शबर आदिवासी समिति बनाकर और छोटानागपुर में बंधुआ मुक्ति समिति बनाकर महाश्वेता ने संग्राम किया था। यह संग्राम कई बार उनके उपन्यासों और कहानियों में भी प्रतिबिंबित होता था। महाश्वेता देवी की आदिवासी संग्राम पर कई कथाकृतियाँ हैं।

महाश्वेता देवी ने देश भर की घुमंतू जनजातियों के लिए 'डिनोटिफाइड एंड नोमेडिक ट्राइब्स राइट एक्शन ग्रुप' नामक संस्था का गठन कर आंदोलन किया था। इन्होंने अपनी अनेक कहानियों में भी मुख्यधारा से बाहर धकेली गई आदिवासी अस्मिता के प्रश्न को शिद्दत से उठाया। उनके निधन स एक युग का अंत हो गया।

हालांकि महाश्वेता देवी को लेखन का संस्कार पिता मनीष घटक से विरासत में मिला था, परंतु विचार लेखन का विषय और कार्यक्षेत्र का चुनाव उनका अपना था। राजनीतिक दला से मुक्त रहते हुए भी महाश्वेता

देवी ने शोषण और मुक्ति को मार्क्सवादी विचारों में समझा। मार्क्सवादी कार्यकर्ता खासकर दलित उनके कथा साहित्य में नायक बनकर आए। इस तरह उन्होंने साहित्य में अछूतों व आदिवासियों के कुरुपीकरण को रोक दिया। बंगाल की यह त्रासदी थी कि वहाँ कोई दलित आदिवासी लेखक पैदा नहीं हुआ था।

साहित्यकार का लिखने का अपना चुनाव होता है। कोई मनोरंजन के लिए लिखता है, तो कोई अपनी व्यवस्था के लिए, तो कोई समाज में बदलाव के लिए लिखता है। महाश्वेता देवी वंचितों को न्याय दिलाने के लिए लिखती थीं। आखिर अपनी आँखों में मानवीय सहयोग और जातीय सह-अस्तित्व पर आधारित नए समाज का सपना लेकर सो गईं।

साहित्य अकादमी पुरस्कार से पुरस्कृत उनकी ऐतिहासिक गल्प रचना 'अरेण्य अधिकार' आदिवासी नेता बिरसा मुंडा के जीवन और उनके संघर्ष तथा उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्ध में ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ मुंड़ा समुदाय के विद्रोह की गाथा कहती है। इसी प्रकार उनकी अन्य रचनाओं में 'अग्निगर्भा', 'बीश ए कुश','चोरी मुंडा ओ तार तीर', 'सुभाग बसंत और सिंधु कन्हा डाके' हैं।

प्रख्यात बंगला लेखिका और प्रतिश्रुत सामाजिक कार्यकर्ता महाश्वेता देवी ने सत्तर से अधिक उपन्यासों, कथा संकलनों एवं संपादित रचनाओं को अपनी रचनात्मक ऊर्जा से गौरवान्वित किया। उनके लिए साहित्य लेखन कभी भी आनंद का विषय या व्यापार नहीं रहा। इसके विपरीत किसी निर्धन, असहाय, बेबस और कमजोर लोगों की मंत्रणा, वेदना और अनसुलझे सवालों से कोई लेखिका कैसे जूझती है, महाश्वेता जी इसकी मिसाल हैं। बिना किसी लाग-लपेट, बाजीगरी और चमकप्रद शब्दों की आतिशबाजी या शिल्प-चातुर्य से अछूती अपनी रचनाओं द्वारा महाश्वेता जी ने समाज की क्रूर सच्चाइयों द्वारा महाश्वेता जी ने समाज की क्रूर सच्चाइयों को सामने रखा। हालांकि महाश्वेता जी ने पढ़े-लिखे, सुसंस्कृत और साधन-संपन्न पाठक वर्ग और आदिवासी या सर्वहारा जन में कोई फर्क नहीं किया, लेकिन सामाजिक तौर पर पिछड़े, गूँगे और अभावग्रस्त लोगों की पीड़ा और वंचना उनकी कलम को केवल बेचैन ही नहीं करती रही, बल्कि लिखने को प्रेरित करती रही।

हिंदी के पाठकों के प्रति आभार जताने वाली महाश्वेता देवी प्रेमचंद की बहुत प्रशंसक थीं। अपना कहानी-संग्रह 'मूर्ति' उन्होंने

प्रेमचंद को समर्पित किया है। उनके अलावा वे फणीश्वरनाथ रेणु और मनु भंडारी के लेखन को सराहती रहीं। यश और प्रशंसा की महाश्वेता जी को कभी लिप्सा नहीं रही, फिर भी जीवन काल में उन्हें पर्याप्त सम्मान मिला।

सच कहा जाए तो महाश्वेता देवी का व्यक्तित्व मंत्रमुग्ध कर देने वाला था, जैसा कि एमिली पोस्ट ने सार्वजनिक जीवन में सक्रिय किसी महिला का उल्लेख करते हुए बताया है। मंत्रमुग्ध कर देने वाला ऐसा जो ऊर्जा और सौम्यता से भरा-पूरा था। वह मद्धिम स्वर में कभी-कभार कोई गीत की पंक्तियाँ गुनगुनाने लगती थीं। उनके स्वर में रचनात्मकता बराबर झलकती थी। प्रति वर्ष वह दुर्गा पूजा के अवसर पर बड़े स्तर पर शबर मेला आयोजित करती थीं, जिसमें स्थानीय शबर शिल्पकार अपनी रचनात्मक प्रतिभा पारंपरिक और समकालीन का प्रदर्शन करते थे। एक ओर जहाँ महाश्वेता देवी ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से दिल्ली बोर्ड के विद्यार्थियों के लिए 'आनंदपाठ' शीर्षक संकलन तैयार करती थीं, तो वहीं दूसरी ओर जिम कार्बेट सेलुशुन, वेरिया एल्विन का अनुवाद करके उन्हें बांग्ला में लाती थीं। प्रारंभ में वह 'रंगमशाल' अखबार में बच्चों के लिए लिखती थीं।

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी महाश्वेता जी ने अपने जीवन में एक से बढ़कर एक काम किया। उन्होंने एक सवाल कि एकदम सटीक शब्द आपके दिमाग में कैसे आता है? के जवाब में कहती हैं-'जब कभी मैं इस रंग-बिरंगी दुनिया की यात्रा जो अपनी धुन में सतत चलती रहती है, पर निकलती हूँ, कोई शब्द घूमता हुआ-सा मुझे टकराता है, मैं उसको नोट कर लेती हूँ। एक घुमक्कड़ की तरह आए शब्दों से मेरे तमाम नोटबुक भरे पड़े हैं कोटा कथा। ढेर सारे शब्द और उनमें छिपी ध्वनियों की राग-रंगीनियाँ। इन्हीं को तो जीवन भर फूलों की तरह अपने आँचल में बटोरती रही हूँ।'

इसी प्रकार महाश्वेता जी एक जगह फिर कहती है-'मैंने मुकाबले में हर मर्त्तबे अपने शरीर को पहले झोंका है। शरीर पहले देवो-मेरे संघर्ष का उद्घोष है। यानी किसी भी अभियान में अपने-आप को न्योछाबर करेंगे। और यह संघर्ष, यह लड़ाई केवल मानवीय अस्मिता या मानवाधिकार की रक्षा के लिए नहीं है, बल्कि यह तो मनुष्य होने, मनुष्य बने रहने के अधिकार का संग्राम है।' सचमुच महाश्वेता देवी ने हाशिए पर पड़ी वंचितों, दलितों और आदिवासियों की एक बड़ी आबादी के बारे में सम्पूर्ण राष्ट्र का ध्यान खींचा है। इन बिसराए-भुलाए लोगों के देश के निर्माण में उनके महत्तर

योगदान को सरकारी इतिहास में दर्ज करने की माँग की है। वह बारम्बार कहती हैं–'15 अगस्त, 1947 को देश के आजाद होने की बात बकवास है। इन वंचित लोगों के लिए कहाँ आजादी मिली, ये तो अब भी बहुत सारे बुनियादी अधिकारों से वंचित हैं। ऐसी विकट परिस्थिति में कोई व्यक्ति अपनी संस्कृति को कैसे अक्षुण्ण रख सकता है?' इस लिहाज से देखा जाए तो इनका समस्त जीवन और समस्त लेखन इसी मानवीय मूल्य को अक्षुण्ण रखने का सिलसिलेवार संघर्ष है।

आजादी के बाद 'नवान्नों' के लेखक विजन भट्टाचार्य से विवाह करने के बाद कभी ट्यूशन करके, कभी साबुन का पाउडर बेचकर परिवार चलाने वाली महाश्वेता जी को अपने से जब 1962 में तलाक हो गया, तो फिर असित गुप्त के साथ उन्होंने दूसरी शादी कर ली। विडंबना यह कि 1976 में उस वैवाहिक जीवन का भी अंत हो गया। इसी बीच पचास के दशक के मध्य एक मात्र बेटे नवारूण को अपने पिता के पास छोड़कर एक कैमरा उठाया और आगरा की ट्रेन में बैठ गईं। रानी के किले, महालक्ष्मी मंदिर का कोना-कोना छान मारा। शाम के अँधेरे में आग ताप रही किसान औरतों से तांगेवाले के साथ यह सुना कि 'रानी मरी नहीं। बुंदेलखंड की धरती और पहाड़ ने उसे आज भी छिपा रखा है।'

इसके बाद ही 'देश' पत्रिका में 'झासी की रानी' उपन्यास धारावाहिक प्रकाशित हुआ और इस प्रकार अकेले घूम-घूमकर उपन्यास की सामग्री जुटाने वाली क्रांतिकारी महाश्वेता जी अपनी पूर्ववर्ती लीला मजुमदार, आशापूर्णा देवी से काफी अलग हो गईं। उनका दबंग राजनीतिक स्वर भी अलग हो गया। 'अग्निगर्भ' उपन्यास की वह अविस्मरणीय पंक्ति-'जातिभेद की समस्या खत्म नहीं हुई है। प्यास का पानी और भूख का अन्न रूपकथा बने हुए हैं। फिर भी कितनी पार्टियाँ, कितने आदर्श, सबको कामरेड कहते हैं।' कॉमरेडों ने तो कभी भी 'रूदाली', 'मर्डरर की मां' की समस्या को देखा तक नहीं है। कुल मिलाकर महाश्वेता जैसे कोई प्रिज्म है। कभी बिल्कुल उदासीन तो कभी बिना गप्प किए जाने नहीं देगी। अंत में बुढ़ापे की बीमारियों, पुत्रशोक ने उन्हें काफी ध्वस्त कर दिया था। फिर भी क्या महाश्वेता जी ही राजनीति-जीवी बहुमुखी बंगालियों की अंतिम विरासत होंगी?

यह विरल संयोग है कि भारतीय साहित्य की देवी महाश्वेता देवी के रूप में बंगाल की धरती को मिली, जिन्होंने कथा और उपन्यास की रचनाओं द्वारा उन्होंने दशकों तक भारतीय समाज के हाशिए पर

स्थित समुदायों और जनजातियों की कथा बड़े ही जीवंत रूप में उकेर कर सबके सामने रखी। उन्होंने तीखे सच को उजागर कर हमारी आँखें खोलीं। समाज की हमारी पहचान कैसी हो, इस नजरिया को बदला और अपनी रचनाओं से दृष्टि का विस्तार किया।

बहुआयामी प्रतिभा की धनी महाश्वेता जी ने अपने जीवन में जो संघर्ष किया और 'झांसी की रानी' उपन्यास लिखने के लिए जो जद्दोजहद की उसके आधार पर मुझे झांसी की रानी की ही यह पंक्ति मुझे आपके समक्ष प्रस्तुत करने की लालसा को मैं नहीं रोक पा रहा हूँ-

'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसीवाली रानी थी'

आजाद भारत के बांग्ला साहित्य में नहीं, बल्कि भारतीय साहित्य में भी महाश्वेता देवी ने जो जमीन तैयार की और दिशा दी, उसे आज उर्वर और सार्थक बनाना आवश्यक है। महाश्वेता जी ने शोषण की जटिल प्रक्रिया और समाज के तमाम अंतर्विरोधों को समझने की बात कही है। एक तरफ जहाँ उनका लेखन सामाजिक संघर्ष से जुड़ा था, वहीं दूसरी तरफ सामाजिक संघर्ष को कमजोर करने वाली शक्तियों के वे खिलाफ आवाज उठाने की बात कहती थीं। वह यह भी कहती थीं कि बिना सामाजिक सक्रियता के आदिवासियों के सवाल नहीं सुलझ सकते। महाश्वेता जी अपने जीवन और रचना कर्म से हमें जो मार्ग दिखा गयी हैं, उनपर चलकर ही कोई सच्ची शोक-संवेदना व्यक्त की जा सकती है।

ऐसी बहुमुखी प्रतिभा की धनी लेखिका महाश्वेता जी का जीवन आरसी प्रसाद सिंह की 'जीवन का झरना' शीर्षक कविता की निम्न पंक्तियाँ सटीक बैठती हैं। इन्हीं पंक्तियों से उनकी स्मृति को नमन करते हुए मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धा के सुमन अर्पित करता हूँ-

' यह जीवन क्या है झरना है, मस्ती ही इसका पानी है
सुख-दुख के दोनों तीरों से चल रहा राह मनमानी है।'

विशुद्धानन्द :
मृदुभावों के यशमान गीतकार जिनकी मधुर कंठ से पढ़ना सबसे बड़ी विशेषता थी

भिखारी ठाकुर के बाद उनकी परंपरा को आगे बढ़ाने वाले विशुद्धानन्द जी भोजपुरी भाषा के एक ऐसे रचनाकार और नाटककार हुए जिन्होंने सामाजिक चेतना को निरंतर जागृत करने का सफल प्रयास किया। वैसे सच कहा जाए तो भोजपुरी के अलावे हिंदी, मगही, अंगिका और बज्जिका भाषा और बोली में भी उन्होंने सृजन किया, लेकिन अपनी मातृभाषा भोजपुरी साहित्य की चाहे नाटक विधा हो या फिल्मी कथा-पटकथा लेखन-निर्देशन-गीत रचना विशुद्धानन्द जी ने अपनी प्रतिभा का लोहा बड़ी मजबूती से मनवाया। इनके द्वारा विरचित हिंदी में गीत-संग्रह और बर्बरीक पर केंद्रित कालजयी बर्बरीक खण्ड काव्य काफी चर्चित और प्रशंसनीय रहा।

बंबई फिल्म उद्योग से जुड़ने और सन् 1969-70 में बंगाल फिल्म उद्योग से मोहभंग होने के बाद विशुद्धानन्द जी की आर्थिक स्थिति बहुत ठीक नहीं थी। कहा जाता है कि मनुष्य पर जब कभी मुसीबतों का पहाड़ टूटता है, तो शायद भीतर ही भीतर का समुद्र उमड़ पड़ता है। दु:ख में, पीड़ा में और संघर्षो में ही मनुष्य निखरता है और कांटों भरे पथ पर चलकर निखर आगे बढ़ता रहता है। एक दिन ऐसा आता है, जब वह अपनी मंजिल पा लेता है। हिंदी के अलावे भोजपुरी भाषा में नाटक, कविता, गीत, लेखन, निर्देशन, फिल्मी कथा, पटकथा, संवाद, गीत लेखन-निर्देशन को अपनी आजिविका का साधन बनाते हुए उसे आदर-सत्कार दिलाने वाले और उसके माध्यम से भोजपुरी भाषा एवं साहित्य को समृद्ध करने वाले गीतकार विशुद्धानन्द जी के साथ भी ऐसा ही हुआ। अभावों में पले विशुद्धानन्द जी ने अपने रास्ते के काँटों को हटाकर स्वयं मार्ग बना लिया और अपनी लगन और दृढ़ इच्छाशक्ति के बल पर वे आगे बढ़ते गएं और बाद में फिर इनके सुपुत्रों ने आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ किया। हौसला हो, तो मुश्किल से मुश्किल काम भी आसान हो जाता है। डॉ. गिरिराज शरण अग्रवाल की ये पंक्तियाँ इस तथ्य की संपुष्टि करती हैं-

'लगन हो दिल में राही के, तो मंजिल मिल ही जाती है,

परिंदे उड़ते-उड़ते अपने आप उड़ना सीख लेते हैं।'

बंगाल फिल्म उद्योग से मोहभंग होने पर पटना आने के बाद विशुद्धानन्द जी का दूसरा प्लैटफॉर्म बना आकाशवाणी का पटना केंद्र जहाँ से उनकी रचनाधर्मिता में आगे बढ़ते जाने की ऊर्जा उन्हें मिलती रही। आप पाठकों की जानकारी के लिए मैं बता दूँ कि इधर विगत कुछ सालों से विशुद्धानन्द जी भोजपुरी विशेषज्ञ के रूप में आकाशवाणी, पटना से अनुबंधित रहे। आकाशवाणी, पटना से अनुबंधित होने के बाद विशुद्धानन्द जी को लाभ यह मिला कि वहाँ के आकाशवाणी उपनिदेशक के सौजन्य से नाटक प्रस्तुतकर्ता व निर्देशक के रूप में इन्हें ओ. हेनरी, पुश्किन, टॉल्सटॉय, सआदत अली मिंटो, शरतचंद्र चटर्जी, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे अनेक राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय कालजयी कथाकारों के साथ-साथ अनेक आधुनिक रचनाकारों के कथा-उपन्यासों के नाट्य रूपांतर कर उसके ध्वयंकन के बाद प्रसारण के साथ नाटक के श्रीवृद्धि में सहयोग करने का विशुद्धानन्द जी को अवसर मिला। इसी दौरान उन्हें आज के अनेक नाटककार लोगों में से हिंदी-भोजपुरी के बहुत सारे स्क्रिप्ट मिले जिसका तकनीकी रूप से फिर से इन्हें लिखना पड़ा, ताकि उसके लेखकीय भाव और नाटकीयता उभर कर सामने आ सके। कुछ इसी वजह से इनके जेहन में यह सच्चाई उभर कर आई कि भोजपुरी के नाटककार लोग 'दृश्य विधा' के विधान तो कुछ जोड़-बटोर भी ले सकते हैं, लेकिन बाकी 'श्रव्य-विधा' में तकनीकी रूप से बहुत कमी रहने की संभावना रह जाती है। यहीं से इनकी आत्मा से आवाज उठी कि श्रव्य-विधा में एक इस तरह की किताब आनी चाहिए जो नए रचनाकारों के लिए एक तकनीकी पथदर्शक के रूप में आकाशवाणी नहीं तो कम-से-कम पेट्रोमेक्स के प्रकाश की तरह जरूर फैला सके। इनकी आत्मा की आवाज का प्रतिफल यह हुआ कि 'माथे माटी चंदन' नाम्नी भोजपुरी नाटक धारावाहिक अपनी तेरह कड़ियों में विशुद्धानन्द के भोजपुरी उपन्यास 'सुरसतिया' पर आधारित पुस्तक पाठकों के समक्ष आई और सराही गई।

विशुद्धानन्द जी की हिंदी, भोजपुरी, अंगिका, मगही और यदा-कदा संस्कृत तथा अँग्रेजी भाषाओं में जो कृतियाँ प्रकाशित हुई उनमें निम्न कृतियाँ उल्लेखनीय हैं-

(1) एक नदी मेरा जीवन (प्रतिनिधि हिंदी गीत संग्रह)

(2) कालजयी बर्बरीक (हिंदी खण्ड काव्य)

(3) माथे माटी चंदन (भोजपुरी नाटक धारावाहिक)

इसके अतिरिक्त 'बदलती हवाएँ सिहरती दूब' (हिंदी रूपक धारावाहिक), हाय री लालसा (नाटक) तथा बिम्बिसार की आऽऽह (संगीत नृत्य नाटक) प्रेस में प्रकाशन के लिए पड़ी हैं। यही नहीं इनकी अनेक विधा में रचनाएँ प्रकाशन की प्रत्याशा में हैं।

बिहार के साहित्यिक-सांस्कृतिक परिवेश में कवि, गीतकार, नाटक कार, फिल्मकार के रूप में विशुद्धानंद जी एक जाना-पहचाना हस्ताक्षर रहे। 14 जनवरी, 1949 को भागलपुर जिला के ग्राम-घोघा बाजार में जन्मे विशुद्धानन्द जी का पैतृक स्थान भोजपुर, आरा जिला के बड़हरा थाना के पकड़ी ग्राम है। इन्होंने हिंदी विषय में एम.ए. और संस्कृत में शास्त्री किया। फिल्मों के लेखक-गीतकार-निर्देशकों में सुपरिचित नाम विशुद्धानंद जी अनेक साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थाओं तथा बिहार सरकार द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत किए गए।

सारस्वत एवं सांस्कृतिक लेखन-निर्देशन में अभी पूरी तरह संलग्न ही थे कि जगन्नियंता ने विगत 20 अक्टूबर, 2017 को हमारे जैसे हजारों शुभेच्छुओं सहित अपनी पत्नी तथा तीन सुपुत्रों से विशुद्धानन्द जी को छीन लिया और वे वहाँ चले गए जहाँ से कोई वापस नहीं आता। अभी-अभी कुछ महीने पहले यानी 14 मई, 2017 को ही तो राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्था-राष्ट्रीय विचार मंच की ओर से हमारी जीवन-यात्रा के 75 वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में पटना के ए. जी. कॉलोनी स्थित हमारे 'संस्कृति' निवास की संस्कृति वाटिका के प्रांगण में आयोजित अमृत महोत्सव और 'कवि और कविता' और 'बुजुर्गो की जिंदगी' नाम्नी हमारे दो हाइकु काव्य संग्रह के लोकार्पण समारोह की विशुद्धानन्द जी ने अध्यक्षता की थी और उनके मृदुल कंठ से उनके कई गीत सुनकर श्रोता भाव-विह्वल हुए थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि विशुद्धानन्द जी का न सिर्फ मुझे सान्निध्य प्राप्त था, बल्कि वे मुझसे आत्मीय रूप से जुड़े थे। आखिर तभी तो विगत 25 अक्टूबर 2017 को अवर अभियंता संघ, बिहार और 'अभ्युदय' के द्वारा संयुक्त रूप से पटना के अमरनाथ पथ स्थित अवर अभियंता संघ, बिहार के सभागार में आयोजित विशुद्धानंद जी के महाप्रयाण पर श्रद्धांजलि सभा हुई, तो मेरी अर्द्धांगिनी श्रीमती बच्ची प्रसाद ने इस सभा में सम्मिलित होने का मुझसे इसलिए अनुरोध किया कि वह भी 14 मई, 2017 के हमारे अमृत महोत्सव में विशुद्धानन्द जी के अध्यक्षीय भाषण के दौरान उनके मृदूल कंठ

से कई गीत सुन चुकी थीं, इस लिए श्रद्धांजलि सभा में उपस्थित होकर उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना उन्होंने लाजिमी समझा और पूरे तीन घंटे तक जिस तन्मयता और आत्मीयता के भाव सहित उपस्थित रचनाकारों एवं सहकर्मियों ने श्रद्धांजलि स्वरूप अपनी भावांजलि प्रस्तुत की उसने कुछ क्षण के लिए श्रोताओं को निःशब्द कर दिया। उक्त श्रद्धांजलि सभा में एक शोक प्रस्ताव पारित किए जाने के बाद दो मिनट का मौन रख उपस्थित लोगों ने जगन्नियंता से प्रार्थना की कि वह उनकी आत्मा को शांति प्रदान करे और शोक-संतप्त परिवार को इस दारुण व्यथा को सहने की शक्ति दे। इस सभा में यह भी एक स्वर से लोगों ने कहा कि आगे आने वाले दिनों में विशुद्धानंद जी की स्मृति को ताजा रखने के लिए एक स्मारिका प्रकाशित की जाए। इस स्मारक के प्रकाशन में हर संभव सहयोग करने का आश्वासन अपने अध्यक्षीय उद्‌गार में मैंने आयोजक को दे रखा है और यह संस्मरण उसी दिशा में एक कदम है।

अपने समकालीनों में विशुद्धानंद जी एक मात्र ऐसे साहित्य सेवी एवं गीतकार हुए जिन्होंने आधुनिकता को अपने पास फटकने नहीं दिया। सादा जीवन उच्च विचार को पूर्णतः उन्होंने उसकी संपूर्णता में चाहा, जिससे लोक व जीवन के प्रति उनका राग, उनका भावबोध दूसरों से अधिक गौरवान्वित हुआ। उनके अन्दर नया देने की ललक ही नहीं, बल्कि नए के प्रभाव से स्वयं को बचाने की उनकी कोशिश जरूर रही ओर उसमें वे सफल भी रहे। उनके जीवन का हर अध्याय इतनी विरल विशेषताओं को संजोए हुए रहा कि उनका अनुशीलन जब हम करते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि कितनी प्रखर कर्मना शक्ति एवं अदम्य साहस वह अपने में सहेजे हुए थे।

इंसान में काम करने का अगर जुनून हो, मन में ईमानदारी हो और सत्यनिष्ठा से काम .करे, तो सफलता अवश्य हासिल होती है, क्योंकि सत्य परेशान हो सकता है, मगर पराजित नहीं हो सकता। विशुद्धानंद जी एक ऐसे ही जीवटवाले व्यक्ति थे। जीवन में विचार और चिंतन का अपना एक विशेष महत्व है। विशुद्धानंद जी के व्यक्तित्व की यह विशेषता रही कि उनके विचार न केवल अच्छे थे, बल्कि उनके संपूर्ण जीवन में सार्थक विचारों और चिंतन का एक खास महत्व रहा। जहाँ तक मेरा उनसे लगाव रहा, मैंने अनुभव किया कि व्यर्थ की सोच के पचड़े में पड़कर ये कभी तनावग्रस्त नहीं हुए। इनकी सोच सदैव सार्थक और सकारात्मक होती थी। इन्होंने मानवता के धर्म से बड़ा कोई धर्म नहीं माना। भारतीयता की मूल

प्रवृत्ति ही सबके लिए सुख की कामना है- 'सर्वेभवन्तु सुखीन:, सर्वे सन्तु निरामया:'। विशुद्धानंद जी के स्वयं के जीवन में ये गुण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते थे, जिसे केवल मैं ही नहीं, बल्कि इनके समकालीन भी महसूस करते रहे। समकालीनों में एक जो इनके सबसे निकट के हृषीकेश पाठक जी है वे भी इनकी नैतिक शक्ति और चारित्रिक पवित्रता से पूरी तरह परिचित है और जिसे वे अपने उद्‌गार में अक्सरहा व्यक्त करते रहे हैं।

यह बात सही है कि विशुद्धानन्द जी का निधन असामयिक हो गया, क्योंकि एक ओर भारत में जहाँ औसतन उम्र स्वास्थ्य सुरक्षा की व्यवस्था के चलते तकरीबन पचहत्तर वर्ष हो गई है, वहीं विशुद्धानंद का निधन मात्र 68 वर्ष की उम्र में हो जाना कुछ अप्रत्याशित-सा अवश्य लगता है। यह तो बिल्कुल सत्य है कि जिसका जन्म हुआ है, उसका मरण भी निश्चित है। यह एक कर्मभूमि है। सबका सत्य इसी कर्मक्षेत्र में पड़ा है। विशुद्धानंद जी ने मानव रूप में शरीर धारण करने के बाद संस्कार के माध्यम से अपने होने का बोध कराया और चले गये। वैसे सच कहा जाय तो जब उम्र होती है लगता है वक्त थम गया है और जब उम्र नहीं होती, वक्त को पकड़ने और उसे रोक रखने की सारी कोशिशें नाकामयाब हो जाती हैं। विशुद्धानंद जी के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ, हालांकि जब उन्होंने असहज महसूस किया, तो उन्होंने दो बार पानी पीया, मगर तीसरी बार उसे नहकार गए और फिर जब सांस लेने में कठिनाई महसूस करने लगे, तो उन्हें इंदिरा गाँधी आयुर्विज्ञान संस्थान ले जाने लगे तो रास्ते में ही उनका निधन हो गया। यानी एक-डेढ़ घंटे के दौरान ही वे दूसरी दुनिया में चले गए। इसीलिए कहा गया कि जब उम्र नहीं होती है तो वक्त को पकड़ने और उसे रोक रखने की सारी कोशिशें नाकामयाब हो जाती हैं। साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों से सदैव जुड़े विशुद्धानंद जी ने कुछ इसी ख्याल से अपने जीवन में कभी गलत काम को प्रश्रय नहीं दिया और न ही उन्होंने स्वाभिमान को आहत करने वाला समझौता कभी किया, जबकि आज ऊँचे से ऊँचे ओहदेवाले अपने स्वाभिमान से समझौता करते देखे जा रहे हैं।

जहाँ तक मेरी समझ है, संस्कृति उन तमाम सद्‌वृत्तियों, विशिष्ट गुणों का संगम है, जो किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व और चरित्र को परिष्कृत और समृद्ध बनाती है। संस्कृति के मूल में व्यक्ति और समाज का 'संस्कार' होता है, जिससे सात्विक, सर्जनात्मक और अस्वाद्य आनंद की अनुभूति होती है। विशुद्धानंद जी भी एक ऐसे ही सात्विक आचार-विचार

और संस्कार के व्यक्ति थे जो भारतीय संस्कृति को एक पूर्ण संस्कृति इसलिए मानते थे कि 'भारतीय दृष्टि से प्रकृति के साथ हमारा आध्यात्मिक संबंध है। इसी धारणा ने हमारी कलाओं को विस्तृत फलक प्रदान किया और व्यापक जीवन दृष्टि दी। विशुद्धानंद स्वयं एक संस्कारी पुरुष होने के नाते दूसरों को भी संस्कारी बनाते थे। उनके निकट संपर्क में जो कोई भी आए उनके संस्कार से अभिभूत हुए। मैं भी उनमें से एक हूँ। जिस व्यक्ति की उपस्थिति मात्र से कुछ माह पहले मैं गौरवान्वित हुआ था वह व्यक्ति अचानक मुझे छोड़कर चल बसा। दरअसल, विधि का विधान जो न करा ले।

जो हो, विशुद्धानंद जी ने अपनी संस्कृति और संस्कार की जो अमिट छाप मुझ पर छोड़ कर रखी है और संस्कार व संस्कृति का जो दीप उन्होंने प्रज्ज्वलित किया है मैं उसे जलाए रखूँगा, जगन्नियंता मुझमें ऐसी शक्ति प्रदान करे ऐसी मैं कामना करता हूँ। संस्कृति और संस्कार का भाव जगाने वाले विशुद्धानन्द जी की स्मृति को नमन करते हुए अपनी पंक्तियों से मैं उन्हें अपना श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ-

लाख बंदिशें लगा दे यह दुनिया हम पर,
मगर दिल पर काबू हम कर नहीं पाएँगे
वो लम्हा आखिरी होगा हमारी जिंदगी का,
जिस पल हम तुझे इस दिल से भूल जाएँगे।

डॉ. महिप सिंह :
जिन्होंने अपनी कलम से कभी भी समझौता नहीं किया

एक रचनाकार के लिए रचना ही नहीं, जीवन में भी परिस्थितियों से जुड़ने अथवा उन्हें आत्मसात करने की आवश्यकता है, तभी उसका जीवन सफल माना जाएगा। जीवन की सफलता ही लेखकीय सफलता है। दूसरी बात यह है कि एक रचनाकार के लिए संवेदनात्मक स्तर सही पक्ष लेने और रचनात्मक स्तर पर उसे अभिव्यक्त करने की हिम्मत और क्षमता जरूरी है। सुप्रसिद्ध लेखक, स्तंभकार और पत्रकार डॉ. महीप सिंह एक ऐसे ही रचनाकार थे जिनमें संवेदनात्मक स्तर पर सही पक्ष लेने और रचनात्मक स्तर पर उसे अभिव्यक्त करेन का साहस और क्षमता थी।

मुझे अच्छी तरह याद है वर्ष 2006 में ओडिशा के मंदिरों में वंचितों के प्रवेश को लेकर जब काफी हंगामा हो रहा था, तब डॉ. महीप सिंह ने सरकार से देश में वंचितों के साथ समान दर्जे के व्यवहार की वकालत की थी और कहा था कि ओडिशा में मंदिर में वंचितों के प्रवेश के संदर्भ में जो हुआ, वह वाकई दुखद है। उनका मानना था-'देश में वंचितों के प्रति उत्पीड़न आज भी जारी हैं यह हमारे देश के माथे पर कलंक है। जैसे भी हो, यह सब बंद होना चाहिए और इस संदर्भ में हिंदू संगठनों और धर्माचार्यो को अभी बहुत प्रयास करने की जरूरत है।.... अन्याय-असमतामूलक समाज यदि नहीं बदलता, तो बाकी सद्प्रयास व्यर्थ ही होंगे।' डॉ. महीप सिंह के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि उन्होंने अपनी कलम से कभी भी समझौता नहीं किया।

डॉ. महीप सिंह का जन्म 15 अगस्त, 1930 को उत्तरप्रदेश के उन्नाव शहर में हुआ था। कहा जाता है कि उनका परिवार पाकिस्तान के झेलम का रहनेवाला था, लेकिन 1930 में ही उनके पिता बच्चों के साथ उत्तरप्रदेश के उन्नाव जिले में रहने आ गए थे। कानपुर के डीएवी कॉलेज से हिंदी में एम.ए. की पढ़ाई करने के पश्चात् उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय गुरु गोविन्द सिंह और उनकी कविताएँ विषय पर पीएचडी की डिग्री प्राप्त की। फिर देश-विदेश में अध्यापन कार्य भी किया। उन्होंने एक लेखक, विचारक और स्तंभकार के रूप में काफी ख्याति अर्जित की। वे गुरु नानक खालसा कॉलेज, मुंबई में हिंदी के प्राध्यापक रहे और जून; 1955 से जून

1963 तक मुंबई में रहने के बाद वे दिल्ली के खालसा कॉलेज में प्राध्यापक होकर आ गए जहाँ से वे सेवानिवृत्त हो गए।

डॉ. महीप सिंह ने अपने चार दशक के लेखकीय जीवन में सवा सौ से ज्यादा कहानियाँ लिखीं है। उनका पहला लघुकथा संग्रह 'सुबह का फूल' 1959 में प्रकाशित हुआ जिसके बाद दिशांतर और कितने सलाब, लय, पानी और फूल' सहमें हुए सहित उनके 20 से अधिक लघु कथा संग्रह प्रकाशित हुए। उनके उपन्यास 'ये भी नहीं', 'अभी शेष है' और 'बीच की धूप' काफी चर्चित हुए। डॉ. सिंह ने 50 से अधिक शोध पत्र लिखे और पिछले 45 वर्षो से वे साहित्यिक पत्रिका 'संचेतना' का संपादन कर रहे थे और 1978 में उन्होंने भारतीय लेखक संगठन की स्थापना की थी। केंद्र, राज्य और साहित्यिक संस्थानों की ओर से साहित्य के क्षेत्र में योगदान के लिए कई सम्मान से उन्हें नवाजा गया।

वर्ष 2009 में उत्तरप्रदेश सरकार की ओर से डॉ. महीप सिंह भारत भारती सम्मान से सम्मानित किए गए। इसके पूर्व भारत सरकार की ओर से 1966 में उनके कहानी संग्रह 'उजाले की उल्लू' के लिए उन्हें राष्ट्रीय सम्मान मिल चुका था। इसी प्रकार हिंदी एवं पंजाबी अकादमी ने भी उन्हें अनेक सम्मान से नवाजा।

विगत 24 नवंबर, 2015 को डॉ. महीप सिंह का निधन 85 वर्ष की उम्र में गुड़गांव के मेट्रो अस्पताल में हो गया। गुड़गांव के पालम विहार कॉलोनी में ही वे अपने सुपुत्र संदीप सिंह के साथ रह रहे थे। स्वास्थ्य खराब होने पर उन्हें पर उन्हें मेट्रो अस्पताल में भर्ती कराया गया था, लेकिन दिल का दौरा पड़ने की वजह से उनका देहावसान हो गया। वे अपने पीछे पत्नी, दो पुत्र और एक पुत्री छोड़ गए। मैंने महीप सिंह के संघर्ष और सफलता के दोनों क्षण देखे हैं। दिल्ली में रहने के चलते कई साहित्यिक समारोह में उनके विचार सुनने का मुझे मौका मिला। उनका व्यक्तित्व इतना ऊँचा था कि उसे शब्दों से नापा-तौला नहीं जा सकता। उनका जाना बरगद के पेड़ के गिरने जैसा मैंने महसूस किया, क्योंकि ऐसी छांव देने वाला व्यक्ति मिलना बहुत मुश्किल है खासकर आज के दौर में जब लोग आत्मकेंद्रित होते जा रहे हों।

साहित्य अमृत के पूर्व विद्वान संपादक डॉ. लक्ष्मीमल सिंधवी और राजनीतिज्ञ इन्द्र कुमार गुजराल उनके खास दोस्तों में थे। जब भी कोई डॉ. महीप सिंह से किसी की मुसीबत का जिक्र करता था, वह

तुरंत उसकी मुसीबत का जिक्र करता था, वह तुरंत उसकी मुसीबत दूर करने के लिए चल निकलते थे। रात 11 बजे के बाद सुबह 3 बजे तक उनकी महफिल जमती थी जिसमें राजनेता, साहित्यकार, पत्रकार के अलावे प्रबुद्धजन शामिल होते थे। जब भी डॉ. महीप सिंह दिल्ली, लखनऊ या जर्मनी किसी कार्यक्रम के सिलसिले में पहुँचते थे, तो उन्हें सिर-आँखें पर बिठाने वाले मित्रों और शुभेच्छुओं की कमी नहीं होती थी। डॉ. महीप सिंह के व्यक्तित्व एक और विशेषता यह थी कि वह हर-हमेशा अपनी बात जोड़ने के लिए कहते थे, तोड़ने के लिए नहीं। उनके लिए हिंदू-मुस्लिम एक समान थे। इसलिए वे कुछ लोगों को खटकते थे।

डॉ. महीप सिंह के लिए वाम और दक्षिण पंथ गौण थे। उनके संपादकत्व में प्रकाशित 'सचेतना' पत्रिका में रचनाओं का चुनाव करते समय संपादक के सामने यह प्रश्न कभी नहीं उठा कि लेखक दक्षिणपंथी हैं या वामपंथी, क्योंकि उनके लिए रचनाकार नहीं रचनाएँ महत्वपूर्ण रहीं, ऐसी रचनाएँ, जो मानवीय सरोकारों से जुड़ी हों। दलित साहित्य और नारी विमर्श को डॉ. महीप सिंह ने प्राथमिकता जरूर दी, लेकिन जनविरोधी रचनाओं को कभी महत्व नहीं दिया।

डॉ. महीप सिंह की आत्मकथा 'कितनी धूप कितनी बार', जो पिछले दिनों प्रकाशित हुई के पूरा होने में चार वर्ष से अधिक लगे। हिंदी को लेकर भाषा आयोग के निर्माण का परामर्श सरकारों को वे बराबर देते रहे, ताकि राष्ट्र को उसकी जुबान और गरिमा के साथ सभी भारतीय भाषाओं का समुचित विकास हो सके। वह राष्ट्रभाषा हिंदी के कई विश्व हिंदी सम्मेलनों में अपनी प्रभावी आवाज उठाते रहे और कई विदेशी प्रतिनिधिमंडलों में उन्होंने नेतृत्व किया।

धर्म-अध्यात्म में डॉ. महीप सिंह की गहरी आस्था ने उनके समूचे लेखन में एक खास चमत्कृति एवं आभा झलकाई। उन्होंने पंजाबी भाषा और साहित्य के विकास के लिए पंजाबी लेखकों के बीच प्रकाशन हेतु संगठन भी बनाया। पंजाबी भाषा अकादमी से भी वे पुरस्कृत हुए। डॉ. महीप सिंह की व्यावहारिक तर्क-विचार से संतुलित और विरूद्धों से भिड़ने की कार्यशैली उनकी पूँजी थी और उनकी सृजनशीलता, जीवंतता, साहस, बंधुभाव, सहकारिता, दर्दभागी, लोकभावना, श्रमशीलता, संगठन-कुशलता, प्रवाही ऊर्जा, धैर्य एवं सच्ची सामाजिक चेतना उत्तरोत्तर बढ़ती गई और वह आंदोलनी तेवर में बदलती गई तथा जड़ताओं को तोड़ती गई।

डॉ. महीप सिंह ने हिंदी साहित्य में कहानी का एक सार्थक आंदोलन 'सचेतन कहानी' के नाम से चलाया, जो अपनी उपस्थिति, ऐतिहासिक भूमिका, युगबोध और सृजनशीलता की विशिष्ट छाप इतिहास में दर्ज करा गया। दर्जनों कहानीकार सचेतन कहानी आंदोलन से जुड़े और नई कहानी के समानांतर कहानी की सचेत-सहज दृष्टि के परिपार्श्व में सामाजिक लोक चेतना को सामिप्राय प्रगति के सोपानों की ओर प्रवृत किया। डॉ. महीप सिंह की 'पानी और पुल' जैसी कालजयी, शाश्वत, क्लासिक कहानी को किसी भी भाषा की श्रेष्ठ कहानियों के समकक्ष रखकर देखा-परखा जा सकता है। इसी प्रकार 2004 में प्रकाशित उनके उपन्यास 'अभी शेष है' को भी बड़े फलक और मूल्याँकन-कसौटियों पर कसकर देखने की अपेक्षाएँ हैं।

संक्रांति चेतना को सृजनशील अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले डॉ. महीप सिंह को हम बड़े लेखकों की पंक्ति में इसलिए खड़ा कर सकते हैं, क्योंकि उनकी सर्जना, संपादन, प्रेरणा, प्रोत्साहन के सभी रचनाकार कायल रहे हैं। उनकी व्यक्तित्व-संपन्नता अद्‌भुत थी, क्योंकि वे समाज में सबको जोड़कर चलना पसंद करते थे। डॉ. महीप सिंह के सृजनात्मक कहानी-संग्रहों और चार उपन्यासों सहित पच्चीस-तीस पुस्तकों को देखकर यदि उनकी रचना-क्षमता का मूल्याँकन किया जाए तो निश्चय ही वे बड़े लेखकों की श्रेणी के साहित्यकार सिद्ध होंगे।

निदा फाजली :
अपनी जिंदादिली से कायल बना लेना जिनका बेसिक मिजाज था

निदा फाजली दुनिया के उन विरले शायरों में से रहे हैं जो चाहे ग़ज़ल के शे़र सुनाने की हो या फिर हिंदी के दोहे की इन दोनों जुदा अंदाजों को बेहद समान खूबसूरती से प्रस्तुत करने की कला में प्रवीण थे। आम लोगों में वे भले ही शायर के तौर पर जानें जाते रहे हों, मगर सिर्फ शायर कहना उन्हें सीमित करना है। उन्होंने ग़ज़ल के साथ-साथ जिस तरह के दोहे लिखे, वह आधुनिक दौर में देखने को नहीं मिलते। विगत तीन-चार दशक में यों तो दोहे बहुत से कवियों व शायरों ने लिखे, लेकिन किसी के दोहे में वो ताकत नहीं दिखी, जिन्हें कहा जा सके-'सतसइया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर, देखन में छोटे लगे घाव करे गंभीर।' निदा के दोहों की तल्खी और संजीदगी की वजह से ही उनके प्रशंसक उन्हें आधुनिक दौर का कबीर कहते हैं। तभी तो वे कह गए-

'बच्चा बोला देख के मस्जिद आलीशान,
अल्ला तेरे एक को इतना बड़ा मकान।'

इसी प्रकार निदा फाजली ने लिखा-

'सारे दिन भगवान के क्या मंगल क्या पीर
जिस दिन सोए देर तक भूखा रहे फ़कीर।'

यही नहीं निदा फाजली को मस्जिद जाने से जरूरी लगता है, किसी बच्चे को खुश कर देना। इसीलिए तो उन्होंने लिखा-

'घर से मस्जिद है बहुत दूर चलो यूँ कर लें,
किसी रोते हुए बच्चे को हँसाया जाय।'

कट्टरपंथियों ने मस्जिद पर इस तरह से लिखने को लेकर न केवल निदा फाजली का विरोध किया, बल्कि तरह-तरह से उनको कोसा भी। फिर भी अगर संजीदगी से समझने की कोशिश की जाए, तो निदा ने मस्जिद का नामभर लिया था। प्रतीक भर बनाया था। वे कहते थे 'मस्जिद को हम बनाते हैं बच्चों को तो अल्लाह बनाते हैं।' निदा खुद बताया करते थे कि पाकिस्तान में कट्टरपंथियों की एक जमात ने उन्हें 'अल्ल तेरे एक हो' और 'घर से मस्जिद है बहुत दूर' वाले शेर सुनाने पर घेर लिया था। ऐसा भी नहीं कि वह मजहब को सिर्फ निंदा ही करते थे। वे तो चाहते थे

'चिड़िया की चहकार में गूँजे राधा-मोहन, अली-अली।'

दरअसल, निदा फाजली को बचपन से ही गंगा-जमुनी तहजीब से ही मुहब्बत थी। तभी तो मां-बाप और परिवार के दूसरे लोग जब विभाजन के बाद के दंगों से उबकर पाकिस्तान जाने लगे, तो भी निदा भारत में ही रह गए। उन्होंने इस मुल्क के लिए सब कुछ छोड़ दिया। 12 अक्टूबर, 1938 को दिल्ली में जन्मे निदा फाजली का पूरा नाम मुक्तदा हसन निदा फाजली था। निदा फाजली इनका लेखन का नाम था। निदा का अर्थ है 'आवाज' और फाजली 'कश्मीर का वो इलाका' जहाँ से आकर इनके पुरखे दिल्ली में बसे थे। इनके पिता भी शायर थे। शायर मुर्तुजा हसन और जमील फातिमा की तीसरी संतान मुक्तदा हसन निदा फाजली को बचपन से ही लिखने का शौक होने के कारण इनका नाम निदा अर्थात स्वर या आवाज रखा गया। निदा का बचपन ग्वालियर में बीता। यही से उन्होंने वर्ष 1957 में ग्वालियर के विक्टोरिया कॉलेज से स्नातकोत्तर की पढ़ाई पूरी की। शायर पिता की वजह से शायरी की अदा उन्हें विरासत में मिली थी।

ग्वालियर से पढ़ाई पूरी करने के बाद निदा रोजगार की तलाश में मुंबई आ गए और वहाँ उन्होंने तमाम पत्र-पत्रिकाओं सहित 'धर्मयुग', 'विलट्ज' और 'सारिका' में लिखना शुरू किया। इसी दरम्यान उनकी मुलाकात कमाल अमरोही से हुई और उन्हें फिल्म 'रजिया सुल्तान' के लिए दो गाने लिखने का मौका मिल गया। रजिया के गीतों की भाषा और निदा की पूरी शायरी की भाषा में कोई तालमेल नहीं है, लेकिन जैसा अमरोही चाहते थे, वैसी ही भाषा में शानदार गीत तैयार हो गया। फिर फिल्म 'अहिस्ता-अहिस्ता' के लिए उन्हें गीत लिखने का मौका मिला। इसके गीत भी बहुत लोकप्रिय हुए। सच तो यह है कि 'रजिया सुल्तान' के गीतों से भाषा के स्तर पर उन्होंने दिखा दिया था कि वे भी उर्दू के तमाम आलिम कहे जाने वालों से भी ज्यादा गंभीर और भारी-भरकम शब्दों का इस्तेमाल कर गीत-ग़ज़ल वे लिख सकते हैं। बावजूद इसके उन्होंने अपनी रचनाओं की भाषा बेहद सहज उर्दू या फिर कहा जाए तो हिंदुस्तानी ही रखी। उन्होंने सूरदास को सुनकर लिखने की प्रेरणा ली थी, जिसे ता-उम्र उन्होंने कायम रखा।

दरअसल, उर्दू के इस मशहूर शायर और फिल्म गीतकार निदा फाजली ने सूरदास की एक कविता से प्रभावित होकर शायर बनने का फैसला किया था जिसके पीछे एक इकतरफा प्यार की कहानी है। निदा फाजली कॉलेज के दिनों में अपनी एक सहपाठिनी के प्यार में मुबतला हो

गए। कुछ दिन बाद उन्हें ब्लैक बोर्ड पर उस लड़की की मौत की सूचना लिखी मिली। इसके बाद वह गुमसुम से रहने लगे। एक सुबह वह एक मंदिर के पास से गुजर रहे थे। वहाँ उन्होंने किसी को सूरदास का भजन-'मधुबन तुम क्यों रहत हरे? बिरह बियोग श्याम सुंदर के ढाढ़े क्यों न जरे? गाते सुना। इसमें कृष्ण के मथुरा से द्वारका चले जाने पर उनके वियोग में डूबी राधा और गोपियाँ फुलवारी से पूछ रही होती हैं-'ऐ फुलवारी तुम हरी क्यों नहीं जल गई?' निदा को लगा कि उनके अंदर दबा गम का सागर बाँध तोड़कर निकल पड़ा है। फिर उन्होंने कबीरदास, तुलसीदास, बाबा फरीद आदि को पढ़ा। उनसे प्रेरित होकर सरल-सपाट शब्दों में लिखना सीखा। इस तरह शुरू हुआ उनकी शायरी का सफर। इस प्रकार हम देखते हैं कि उर्दू शायरी में कुछ कर गुजरने का हौसला उन्हें मीर या गालिब से नहीं, बल्कि ब्रजभाषा के कवि सूरदास से मिला था। सूरदास की बहुतेरी छाप आप निदा में देख सकते है- लेकिन बदले हुए कैनवस पर और इस साफगोई के साथ कि 'इंसान परेशान, यहाँ भी है वहाँ भी।'

हिंदी समाज और हिंदी-उर्दू साहित्य की प्रगतिशील धाराओं से परिचित निदा फाजली के व्यक्तित्व, शायरी और लेखन में आक्रामक बिंदासपन रहा। वे माखौल उड़ाते समय भी लफ्जों की शालीनता में यकीन रखते थे। शायरी की शालीनता और लियाकत उनकी बातचीत और व्यवहार में भी नजर आती थी। आप अपनी व्यक्तिगत मुश्किलें साझा करें तो बड़े भाई की तरह उनके पास हल रहते थे और कभी पेशे से संबंधित ख्यालों की उलझन हो तो वे अपने अनुभव और जानकारी से सुलझाकर उसका सिरा थमा देते थे। मुंबई में पत्रकारों और साहित्यकारों की कई पीढ़ियाँ उनकी बैठक से समझदार और सफल हुई। बेबाकी उनके मिजाज का हिस्सा थी। इसके चलते बहुत से लोग उनसे स्थायी तौर पर नाराज रहते थे, मगर खुद निदा फाजली किसी से दुश्मनी मान लेने या दिल में द्वेष रख लेने वाले आदमी नहीं थे। जब भी मिलते तो सब कुछ भूल-भाल कर मिलते थे। हाँ, अपना मत प्रकट करने में वे ईमानदार थे और अपनी जिंदादिली से कायल बना लेना उनका बेसिक मिजाज था। अपनी तरह से बोलने वाला, अपनी तरह से सोचने वाला, अपनी तरह से अपने घर के दरवाजों को खोलने वाला अपनी तरह से लिखने वाला, टी.वी. पर अपने चेहरे सा दिखने वाला, पाकिस्तान के मुस्लिम जैसा, हिंदुस्तान का हिंदू भी अब, अपने देश के

हत्यारों के घेरे में है, हुक्म है उनका हम हैं जैसे सब हो वैसे, हर आजादी पहरे में है, एक ही जैसा हर भोजन हो, एक ही जैसा हर आँगन हो, एक ही जैसा हर चिंतन हो, हुक्म है मुट्ठी भर लोगों का, वो हैं जैसे सब हो वैसे। यह सब उनके व्यक्तित्व और कलम की खुबी थी।

लोकप्रियता की बात की जाय तो फिल्म 'अहिस्ता-अहिस्ता' के लिए 'कभी किसी को मुकम्मल जहां नहीं मिलता....' या 'फिर दुनिया जिसे कहते हैं जादू का खिलौना है.....' जैसी तमाम रचनाएँ उनके नाम हैं, जो जुबान पर चस्पा हैं। रिश्तों और खासतौर से मां पर जब कभी भी शायरी की बात होगी निदा साहब हर बार याद किए जाएँगे-बेसन सोंधी रोटी पर, खट्टी चटनी जैसी मां....'। जिन कुछ शायरों ने ग़ज़ल में मां का शिद्दत से जिक्र किया, उनमें निदा फाजली को सबसे अगली कतार में देखा जाता है। उन्होंने कहा-'मैं रोया परदेश में भीगा मां का प्यार, दुख ने दुख से बात की बिन चिट्ठी बिन तार।' 1990 में इनसाइट नाम से उनकी रचनाओं के एक संग्रह को जगजीत सिंह ने आवाज दी थी। 'इन साइट' दरअसल, भारत की मिली-जुली तहजीब पर केंद्रीत है और इस मिली-जुली संस्कृति के अतिरिक्त इसमें इंसानियत की बेहद सादगी भरी और सुंदर झलक दिखाई देती है। 1999 में प्रदर्शित फिल्म 'सरफरोश' का यह गीत 'होशवालों को खबर क्या बेखुदी क्या चीज है' भी शामिल है। निदा फाजली के काव्य संग्रहों में 'आँखों पर आकाश', 'मौसम आते जाते हैं', 'खोया हुआ सा कुछ', 'मोर नाच', 'हमकदम' और 'सफर में धूप तो होगी', 'लफ्जों के फूल' , 'आँख और ख्वाब के बीच' प्रमुख हैं। इनके काव्य संग्रह 'खोया हुआ सा कुछ' के लिए 1998 में इन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। उपन्यास दीवारों के बीच के लिए इन्हें मीर तकी मीर पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इसी प्रकार खुसरो पुरस्कार, महाराष्ट्र उर्दू अकादमी का श्रेष्ठतम कविता पुरस्कार, बिहार उर्दू अकादमी पुरस्कार, उत्तर प्रदेश उर्दू अकादमी पुरस्कार हिंदी-उर्दू संगम पुरस्कार (लखनऊ) तथा जोधपुर के मारवाड़ कला संगम से इन्हें सम्मानित किया गया। आत्मकथा में 'दीवारों के बीच' तथा 'दीवारों के बाहर और निदा फाजली और संस्मरण में 'मुलाकाते' तथा 'तमाशा मेरे आगे' प्रकाशित हैं। भारत सरकार ने निदा फाजली को वर्ष 2013 में पद्मश्री प्रदान कर उन्हें नवाजा। उत्तर प्रदेश उर्दू अकादमी ने अबुल कलाम आजाद निदा फाजली को मरणोपरांत देने का फैसला किया जिसके तहत पाँच लाख रुपए उनके परिवार को दिया जाएगा।

मौजूदा दौर के साहित्यकार शीत-ताप नियंत्रित कक्ष में बैठकर साहित्य का सृजन कर रहे हैं, मगर निदा फाजली ने एसी में बैठकर नहीं, बल्कि जीवन के उतार-चढ़ाव को भोगकर कविता लिखी ठीक उसी प्रकार जैसे कबीर ने चरखा काटकर कविता लिखी तो उसमें जीवन झलकने लगा। कविता या शायरी सच कहा जाए तो सामूहिक लोगों के रजामंदी के लिखी नहीं जा सकती। निदा फाजली का भी यही कहना था। वे कहते थे कि आज उन्हीं साहित्यकारों को सम्मानित किया जाता है जो सत्ताधारी दल की जुबान बोलते हैं। यही कारण है कि उत्कृष्ट साहित्यकारों के मन में निराशा है और वे कुंठा के शिकार हैं।

जिंदगी के कई रंगों को शेरो-शायरी के जरिए लोगों के दिलों में उतारने वाले मशहूर शायर और फिल्मी गीतकार निदा फाजली का दिल का दोरा पड़ने से विगत 8 फरवरी, 2016 को 78 वर्ष की उम्र में निधन हो गया। जगजीत सिंह जैसे संगीत सम्राट की मखमली आवाज ने लाखों लोगों तक जिस शख्स की ग़ज़लों को पहुँचाया और लंदन के प्रिंस अलवर्ट हॉल में जगजीत की गाई ग़ज़ल- 'अपनी मर्जी से कहाँ अपने सफर के हम हैं' से निदा फाजली एकाएक मशहूर हो गए, संयोग से जगजीत की जयंती के दिन ही वह उस सफ़र पर निकल पड़े, जहाँ से कोई वापस नहीं आता। नि:संदेह निदा फाजली के जाने से अदब को जो नुकसान हुआ, वो कभी पूरा नहीं हो सकता, मगर निदा फाजली के यहाँ सच महज औपचारिकता भर नहीं था। वे सच को सच की तरह बोलने के कायल थे और इसी वजह से वे हमेशा अपने आसपास के दूसरे अदीबों से अलग नजर आए। निदा के जाने के बाद हिंदी-उर्दू की दुनिया में ऐसे बुजुर्ग बहुत कम बचे हैं जो नयी पीढ़ी कों ये बता सकें कि सच बोलने वाला लहजा कैसा होता हे। सच मानिए निदा के महाप्रयाण के साथ-साथ एक विराट दुनिया भी फना हो गई- वह सर्जनात्मक दुनिया, जिसमें बच्चे थे, किलकारियाँ थी, बेतरतीब रिश्तों को सुलझाने का हुनर था, जहाँ आदमी था, छल-छल करती मोहब्बत थी और जिंदगी की जद्दोजहद से जूझने और राह बताने का जज्बा था। मैं तो कहूँगा कि दुष्यंत कुमार ने जिस मजबूती के साथ ग़ज़ल को महफिल की दुनिया से उबारने और आम आदमी के दालान तक पहुँचाने का जोखिम भरा काम किया, निदा फाजली भी कमोबेश उसी पथ के पथिक रहे। वही सादगी, वही बेचैनी, बदलाव की वैसी ही सघन व्याकुलता।

मुंबई के खारदांडा स्थित निदा फाजली का फ्लैट युवा

पत्रकारों एवं साहित्यकारों का अड्डा था। न कोई निमंत्रण और न कोई रोक-टोक। उनके घर का दरवाजा बस एक कॉल बेल के इंतजार में खुलने के लिए तैयार रहता था। किसी के साथ वहाँ कोई भी आए या खुद पहुँच जाए सबका स्वागत निदा फाजली करते थे। पहली मुलाकात में बेतकल्लुफ हो जाना और अपनी जिंदादिली से निदा फाजली उन्हें अपना बना लेते थे। बातचीत और बहस में तरक्की पसंद ख्यालों से वे लबालब कर देते थे। विरोधी विचारों को उन्हें सुनने में दिक्कत नहीं होती थी। वे इरादतन बहस को उस मुकाम तक ले जाते थे, जहाँ उनसे राजी हो जाना आम बात थी।

1992 के मुंबई दंगों ने निदा फाज़ली की मुस्कुराहट छीन ली थी और उन्हें अपना फ्लैट छोड़कर एक दोस्त के यहाँ कुछ रातें बितानी पड़ी थीं। उन दंगों ने मुंबई के बाशिंदों को धर्म के आधार पर बांटा था। भारत-पाक बंटवारे के बाद अपने दोस्तों को खो देने के डर से वे पाकिस्तान नहीं गए, मगर निदा फाजली अपने चुने हुए शहर के नए बंटबारे के शिकार हुए। उन सभी के प्रति उनके दिल में रंज था, जो इस बंटवारे के जिम्मेदार थे। उन्होंने उन्हें कभी माफ नहीं किया। उनकी तड़प और नाराजगी ग़ज़लों, नज्मों, दोहों और संस्मरणों में व्यक्त होती रही। मुशायरों में वे अपनी बाते करते रहे। अपने मशहूर कॉलम 'अंदाज-ए-बयां और' में उन्होंने साहित्यकारां को याद करने के साथ ही उस परंपरा को भी रेखांकित किया, जिसकी आखिरी कड़ी के रूप में हम उन्हें देख सकते है।

'बदला न अपने आप को ज़ो थे वहीं रहे
मिलते रहे सभी से मगर अजनबी रहे'

दुनिया को जादू का खिलौना मानने वाला निदा फ़ाजली जैसा शाया ही यह कह सकता है कि गम हो या खुशी दोनों कुछ देर के साथी है। जवानों से लेकर बुजुर्गो तक के हादिल अजीज शाया होने के पीछे वजह यह थी कि निदा की शायरी ओढ़ी हुई या निर्मित शायरी नहीं थी। जब दिल किया नज्म लिखी, जब दिल किया दोहे या ग़ज़लों कही। अहसास के शायर निदा फाजली दूसरे के दर्द को इतनी सघनता के साथ भीतर उतार लेते थे कि ठनका अपना दर्द बन जाता था। जगजीत सिंह के बेटे के सड़क दुर्घटना के शिकार होने के दिनों में आई एक कैसेट में एक ग़ज़ल इसकी तसदीक करती है-

'अब खुशी है न कोई दर्द रूलाने वाला
हमने अपना लिया हर रंग जमाने वाला
उसको रूख्सत तो किया था मुझे मालूम न था

सारा घर ले गया घर छोड़ के जाने वाला।'

निदा फाजली का व्यवहार किसी बड़प्पन जताने वाले बड़े आदमी जैसा नहीं था, बल्कि बहुत विनम्रता से भरा था। यह भले ही वक्रोक्ति हो, लेकिन विनम्र स्वीकारोक्ति भी है-

'कभी-कभी यूँ भी हमने
अपने दिल को बहलाया है
जिन बातों को खुद नहीं समझे
औरों को समझाया है।'

इसके अतिरिक्त उन्होंने कहा-

'कभी किसी को मुकम्मल
जहाँ नहीं मिलता
कहीं जमीं तो कहीं
आस्मां नहीं मिलता।'

वह हमेशा इस बात से कायल रहे कि समझदार आदमी से खतरा हो सकता है, क्योंकि वह टेस्ट मेकर सोसाइटी का हिस्सा होता है। वह चीजों का स्वाद तय करता है और यह स्थापित करने में कुछ हद तक कामयाब भी हो जाता है कि हमीं इस धरती के नमक हैं। निदा ऐसी ताकतों से हमेशा खबरदार रहे और पूरी विनम्रता से यह कहना नहीं भूले कि 'सोच-समझवालों को थोड़ी नादानी दे मौला।' आज जब हम निदा फाजली को स्मरण कर रहे हैं हम उन्हीं की इस पंक्ति से उन्हें अपना सम्मान भाव अर्पित करते हैं -

'सफर में धूप तो होगी जो चल सको तो चलो।'

प्रो.(डॉ.) दीनानाथ शरण :
जो निर्भीक एवं जुझारू साहित्यकार थे

श्री गुरुगोविन्द सिंह कॉलेज, पटना साहेब के पूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष एवं शिक्षाविद् प्रो.(डॉ.) दीनानाथ शरण छात्र जीवन से ही साहित्य में गहरी रुचि के कारण लिखने लगे थे। इन्होंने ढेरों बेशकीमती रचनाएँ लिखकर हिंदी साहित्य को समृद्ध किया। जीवन-पर्यन्त वे लिखते रहे और देश के छोटे-बड़े सैकड़ों पत्र-पत्रिकाओं में कई रचनाओं द्वारा सेवा प्रदान की।

मृदुभाषी डॉ. दीनानाथ शरण का सान्निध्य मुझे प्राप्त रहा है। पटना के कई साहित्यिक मंचों पर हमदोनों को एक साथ बैठने तथा अपने-अपने उद्‌गार व्यक्त करने का अवसर मिला है। अपने जीवन काल में डॉ. दीनानाथ शरण जी ने 40 पुस्तकें लिखीं जो बाल किशोर के साथ युवाओं के लिए उपयोगी रहीं। इनकी प्रमुख पुस्तकों में 'हिंदी काव्य में छायावाद', 'नई दृष्टि नया आलोक', 'शैला के प्रति', 'महिमा बक्शी', 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो', 'स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास', शैली स्मृति आदि उल्लेखनीय हैं। विदेशों में भी इनकी रचनाओं का छपने का मौका मिला।

विगत 2 दिसम्बर, 2017 को रात्रि लगभग 8 बजे पटना के दरियापुर स्थित निवास पर उन्होंने अंतिम सांस ली। वे वर्षों से बीमार चल रहे थे। जब उन्होंने अंतिम सांस ली उस वक्त उनकी छोटी पुत्री डॉ. वन्दना वीथिका एवं अन्य परिजन उपस्थित थे। विदेशों में कार्यरत उनके दोनों पुत्र शंभु अमिताभ एवं डॉ. कौशल अजिताभ तथा बड़ी पुत्री सुभाषिणी अपने पिता के अंतिम दर्शन के लिए विदेशों से रवाना हुए और 4 दिसम्बर, 2017 को पटना पहुँचे। उनके पटना पहुँचने के बाद ही 4 दिसम्बर, 2017 को पटना के गुलबी घाट पर अपराह्ण तीन बजे डॉ. दीनानाथ जी का दाह-संस्कार हुआ। निःसंदेह इनके निधन से हमें व्यक्तिगत रूप से अपूरणीय क्षति इसलिए हुई, क्योंकि इनका मार्गदर्शन मुझे लेखन में मिल रहा था और अपनी रचनाओं से दिल्ली से प्रकाशित हमारी पत्रिका 'विचार दृष्टि' को समृद्ध करते रहे थे।

लेखक राहुल सांकृत्यायन, निराला, अज्ञेय, नागार्जुन आदि की तरह जीविकाविहीन नहीं होते, बल्कि वे प्रायः सुविधा-संपन्न होते हैं, फिर भी लेखन को गंभीरता से नहीं लिया जाता। इसके लिए पर्याप्त मेहनत नहीं की जाती और न लेखकों की अब पहले-सी सामाजिक सक्रियता है।

इस दृष्टिकोण से यदि डॉ. दीनानाथ शरण जी जैसे साहित्यकार को आंका जाए, तो हम पाते हैं कि वे लेखन को गंभीरता से लेते थे और उसके लिए पर्याप्त परिश्रम करते थे। सामाजिक सक्रियता में भी उनमें कोई कमी नहीं थी। मुझे याद है मुझसे जब उनकी इन सभी मसलों पर बात होती थी, तो उनका कहना था कि श्रेष्ठ लेखन असुविधाओं के बीच ही संभव है। सच तो यह है कि वे यहाँ तक कह जाते थे कि संपन्नता और अवसर रचनात्मकता में दीमक हैं। मगर फिर वे भी कहते पाए गए हैं कि इसमें भी गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसों ने भौतिक सुख-सुविधाओं के बीच भी महान लेखन किया, क्योंकि ये चीजें उनके अंत:करण को घेर नहीं सकी थीं। इसलिए वे अपवाद थे।

इसी संदर्भ में डॉ. दीनानाथ शरण का यह भी मानना था कि साहित्य में लोगों की विच्छिन्नता की एक वजह पाठकों को श्रेष्ठ लेखन नहीं मिलना है। कई लेखकों का फ्यूज दो-चार श्रेष्ठ रचनाएँ लिखने के बाद उड़ जाता है। कई के भूसे में अन्न के दाने खो जाते हैं। कई संभावनाशील लेखक अच्छी नौकरी और गृहस्थी के बीच सैंडविच बनाए। डॉ. शरण साहब की उपर्युक्त टिप्पणियाँ मुझे बहुत भायीं इसलिए कि वर्तमान दौर के लेखकों में डॉ. साहिब की बातें स्पष्ट दिख रही हैं। मैं डॉ. दीनानाथ शरण के पटना के दरियापुर स्थित निवास पर जाने का अवसर मुझे बहुत बार मिला है और वैसे भी उनसे मार्गदर्शन प्राप्त करने मैं अक्सरहा उनके निवास पर जाया करता था वे मुझसे कहते थे कि अच्छे लेखन के लिए निरंतरता, अर्थवत्ता और अपने को बार-बार तोड़कर विकास करना जरूरी है। एक नई रचना में लगना एक नई यात्रा पर निकलना है। डॉ. शरण एक ही भाववृत्त या दृष्टिवृत्त से बंधे नहीं थे। वे अपने को बार-बार तोड़ते थे। आज अमूमन ऐसा नहीं होता। इस तरह एक वृत्तीय लेखन ने भी पाठक को रचनाओं से दूर किया है और पढ़ने की संस्कृति पर आघात किया है।

डॉ. दीनानाथ शरण साहित्य पर दूसरा बड़ा संकट राजनीति की तरफ आने को मानते रहे। वे बराबर कहते पाए गए कि साहित्य के राजनीतिक कुएँ बन गए। इस दौर में सृजनात्मकता से विमुख लफ्फाजी-साहित्य बड़े पैमाने पर लिखा जा रहा है जिसकी वजह से भी पाठक साहित्य से दूर होते जा रहे हैं। मैं उनकी इस बात से भी पूरी तरह सहमत हूँ कि सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का सबसे अर्थपूर्ण रचनात्मक रूप है साहित्य। उसका विस्थापन यदि विपदाओं से भरी धरती देता है तो पुनर्निर्माण का हौसला भी जगाता है।

भाषा को लेकर जब कभी हमदोनों की बातचीत होती थी

तो डॉ. दीनानाथ शरण जी का कहना था कि किसी समाज की मिथकीय धारणाएँ, पौराणिक विचार, नैतिक मूल्य, मान्यताएँ उसकी भाषा के जरिए व्यक्त होती हैं। इस अर्थ में भाषाएँ मनुष्य की जीवंत विरासत का हिस्सा होती हैं। इनके जरिए वह अपनी भावनाएँ-इच्छाओं को व्यक्त करता है, अपने अस्तित्व की पहचान करता है, अपने सामाजिक संबंधों को मजबूत करता है, सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को साझा करता है और सामाजिक प्रथाओं का निर्माण और प्रसार करता है। भाषा के संदर्भ में विचार-विमर्श के दौरान डॉ. साहब ने कहा था कि यूनेस्को ने उन समाजों की भाषाओं को असुरक्षित और लुप्त होने वाली माना है, जहाँ अपनी भाषा के प्रति लापरवाही, हीनताबोध से लेकर एक प्रकार की वृतृष्णा की भावना मिलती है। इसी तरह कई ज्यादा शिक्षित हिंदी भाषियों में भी अपनी भाषा के प्रति इस तरह का रवैया मिलता है। अपनी जातीय स्मृतियों से विच्छिन्नता और विभिन्न आर्थिक-सामाजिक सांस्कृतिक-बौद्धिक कारणों से प्रभुत्वशाली भाषा के प्रति तीव्र आकर्षण इसका मुख्य कारण होता है।

जहाँ तक मुझे याद है जब डॉ. दीनानाथ शरण जी से मैंने हिंदी की संभावनाओं और चुनौतियों के बारे में कुछ कहने को कहा, तो उनका उत्तर था कि आज हिंदी के समक्ष अनंत संभावनाएँ खुली हैं, लेकिन चुनौतियाँ भी कम नहीं हैं। हिंदी के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती अपनी ही जमीन पर राजनीतिक-सामाजिक रूप से लगातार कमजोर होते जाने की ही नहीं है, शिक्षित वर्गो द्वारा इसकी उपेक्षा की भी है। उनकी चिंता यह थी कि हिंदी सिर्फ बाजार की भाषा बनी हुई है, यह ज्ञान की भाष नहीं बन पा रही है। हिंदी भाषा और साहित्य के प्रति श्रद्धा रखने वाले विद्वान साहित्यकार डॉ. दीनानाथ शरण के भौतिक रूप से हमारे सामने नहीं रहने पर हमारी पीड़ा को महसूस किया जा सकता है। इसी पीड़ा को लिए अपने मार्गदर्शक डॉ. दीनानाथ शरण की स्मृति को नमन करते हुए प्रभाकर माचवे की कविता 'मित्र की स्मृति में' की निम्न पंक्तियों से मैं उन्हें अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ-

'उसका जाना एक अंधड़ था
जो अक्षितिज सबको झंझोड़ गया
पुराने पत्ते पीले उड़े
देखते रहे खड़े-खड़े
टटोलने लगे रीते धड़े
मेरा पुराना जैसे दर्द जगा
चला गया मेरा सगा।'

दूधनाथ सिंह :

जो अपनी कहानियों को सघन और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कविता-शिल्प की मदद लेते रहे हैं

साढ़ोत्तरी हिंदी कहानी को स्वरूप और दिशा देने वाले महत्वपूर्ण कथाकारों में से एक दूधनाथ सिंह मुख्यरूप से कवि-कथाकार रहे हैं, क्योंकि वह कवि की तरह सोचते और महसूस करने के साथ-साथ अभिव्यक्ति के लिए कहानी को अपनाते हुए अपने विचार-बिन्दुओं अपनी रचना में प्रवेश कराते हैं। दूधनाथ सिंह ने कथाकार की भूमिका में अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के साथ समुचित न्याय करते हैं। उनके कवि-कथाकार का निर्माण काल पचास का दशक था और लिखना उन्होंने साठ के दशक में प्रारंभ किया जिस समय भारत औपनिवेशिकता से बाहर नज़र आता था। साठ के दशक में दूधनाथ सिंह की कहानियाँ मध्यवर्ग के बीच द्वंद्व के नए पहलू सभ्यता और नफ़ासत के नकार की पृष्ठभूमि के विकल्प की तलाश करती हुई उस महत्वपूर्ण सामाजिक क्षण में सक्रिय कहानियाँ बनीं। निश्चित रूप से दूधनाथ सिंह के कहानी-लेखन का यह पक्ष साठ के दशक की मानसिकता को प्रतिबिंबित करता था। सांस्कृतिक पटल पर उन दिनों विद्रूप और विकृति की तस्वीर उभरती थी, किसी दूरस्थ विकल्प की भी नहीं। साठ के दशक में 'रीछ और सपाट चेहरे वाला आदमी' शीर्षक कहानियाँ एक साथ परिवार के संबंधों पर चोट करती थीं और स्वयं व्यक्ति को तीखे नकार के दायरे में ले आती थीं। इस कहानी ने उस समय की आलोचना के सामने अनेक मुश्किल सवाल खड़े किए थे, लेकिन सत्तर का दशक दूधनाथ सिंह के कथारूप के समानांतर काव्य रूप को राजनैतिक बनाने में सफल हुआ। खासतौर से बंगाल और बिहार की राजनैतिक दुनिया में सैलाब लेने वाला यह विचार सत्तर के दशक की हिंदी रचनाशीलता का कारक बन गया था। इसने राजनीति के वाम पक्ष को दिशा देने का काम किया था। दूधनाथ सिंह जो पहले नकार, हिंसा और अतार्किक दिखने वाले सच से मुखातिब थे, सत्तर के दशक में प्रतिबद्धता से जुड़ने की जरूरत महसूस करते दिखे। कुछ इसी वजह से उन्होंने इस लेखकीय-कर्म को विशेषकर कविता के माध्यम से अंजाम देने का निर्णय लिया।

दूधनाथ सिंह की छोटी कथा में लेखकीय परिपक्वता का

उदाहरण उनकी 'नमो अंधकारम' नाम्नी प्रसिद्ध कहानी है जो पुस्तक के रूप में छपने पर इसे उपन्यास कहा गया। 'हंस' मासिक में यह रचना नब्बे के दशक में प्रकाशित हुई थी और विशद चर्चा का विषय बनी थी।

दूधनाथ सिंह जी की प्रथम भाषा स्नातक तक उर्दू थी। फिर इलाहाबाद से 1957 में हिंदी से एम.ए. किया प्रथम श्रेणी से। इसके बाद कलकत्ते में उन्होंने रूंगटा कॉलेज में सन् 1959 में नौकरी की जहाँ इनकी मुलाकात मन्नू भंडारी और उनके पति राजेन्द्र यादव से हुई। दूधनाथ सिंह जी ने स्वयं एक साक्षात्कार में स्वीकार किया है कि उन्हें पढ़ाने में मन नहीं लगता था इसीलिए तो उन्होंने दो साल के बाद ही बिना त्यागपत्र दिए कलकत्ता से लौट आए इलाहाबाद जहाँ लिखने के प्रति उनका रूझान बढ़ा। एम.ए. के दौरान ही हिंदी विभाग से प्रकाशित 'कौमुदी' नामक पत्रिका में धर्मवीर भारती ने उनकी एक कहानी छापी थी। उसके बाद जब धर्मवीर भारती 'धर्मयुग' में गए तो उन्होंने डायरी शैली में लिखी दूधनाथ जी की एक कहानी 'तुमने तो कुछ नहीं कहा' छापा।

कलकते में दूधनाथ जी की मुलाकात 'ज्ञानोदय' के संपादक शरद देवड़ा से हुई थी और उनके साथ दूधनाथ जी का परिचय राजकमल चौधरी से हुआ था। राजकमल चौधरी ने ही पहले-पहल उन्हें लिखने के लिए प्रेरित किया और चौधरी जी से द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'राग-रंग' में 'चौतीसवां' नाम से एक उपन्यास का हिस्सा लिखा जो बाद में उन्होंने पूरा नहीं किया। कलकत्ते के 34, लेक स्ट्रीट के आस-पास रहते थे प्रयाग शुक्ल और रामनारायण शुक्ल जहाँ रहते हुए दूधनाथ जी को एक कहानी मिली। शुक्ल जी ने उन्हें बताया कि उनके एक बंगाली दोस्त अपनी पत्नी से बहुत प्यार करता था, लेकिन उसकी पत्नी का कुछ और से हिसाब था। उसे एक बच्चा भी था। जब पता चला उस आदमी को, तो उसने प्रेमी को बुलाकर कहा, 'तुम आओ और इसको साथ ले जाओ। शर्त यही है कि बच्ची को भी ले जाना पड़ेगा।' यह एक सच्ची घटना है जिसको लेकर दूधनाथ जी ने एक कहानी लिखी, 'बिस्तर' जिसे मोहन राकेश के संपादकत्व में प्रकाशित पत्रिका 'सारिका' में उन्होंने भेजा जिसके छपने पर उस कहानी दूसरा पुरस्कार मिला। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि उसी सारिका में भारत भूषण जैसे बड़े लेखक को तीसरा पुरस्कार मिला और पहला पुरस्कार मनहर चौहान की 'घरघुसरा' कहानी को मिला था। इस प्रकार 'बिस्तर' के बाद से दूधनाथ सिंह ने कहानियाँ लिखनी शुरू कीं। एक तरह से कहा जाए तो वह उनका

प्रस्थान-बिंदु बना। उन्हें लगा कि यह काम वह कर सकते हैं।

इलाहाबाद आने के बाद दूधनाथ सिंह का बड़ा दायरा बना और उस दायरे में किसी-न-किसी के घर बैठक होती रहती थी। कभी कोई काव्य पाठ तो कभी कहानी पाठ। इसी बैठकी में मलयज जी से मुलाकात के बाद उनके परिवार की एक लड़की से दूधनाथ जी की शादी हो गई। उनकी पत्नी को आकाशवाणी के इलाहाबाद के सलाहकार पंत जी ने 60 रुपए महीना पर कॉन्ट्रैक्ट पर काम दिलवा दिया जहाँ से वह सहाय स्टेशन निदेशक के पद से अवकाश ग्रहण की। फिर पंत जी के सौजन्य से ही दूधनाथ जी को ऐडहॉक एक कॉलेज के हिंदी विभाग में व्याख्याता के रूप में नियुक्ति हो गई।

'बिस्तर' कहानी लिखने के बाद दूधनाथ जी ने धुआँधार कहानियाँ लिखीं और राजेन्द्र यादव के अक्षर प्रकाशन से उनकी पहली किताब- 'सपाट चेहरेवाला आदमी' नामक कहानी संग्रह और दूसरी किताब ज्ञान रंजन की 'फेंस के इधर-उधर'।

'आखिरी कलाम' दूधनाथ सिंह जी का एक उल्लेखनीय उपन्यास है जिसमें ऊपरी ताम-झाम को उजागर करने के साथ ही यह उपन्यास धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र के ढोंग का पर्दाफाश तो करता ही है, उस कोशिश को भी रेखांकित करने से बाज नहीं रहता जो उपन्यासकार को ही भीड़ का हिस्सा बना देना चाहती है। देखें आप इन पंक्तियों को- 'हमारे पास परंपरा है, पुराण हैं, किंवदंतियाँ हैं........ आँकड़े हैं, योजनाएँ है......हरित क्रांति है और भूखमरी और अंधे कुएं। हमारे पासा हुंकड़ता प्रजातंत्र है और उसकी सुविख्यात भौंक।' इस प्रकार स्थानीय दर्द और तकलीफ तो उपन्यास में आई ही है, टूटता हुआ भरोसा है और छूटती हुई जनता की पकड़ है। इस उपन्यास की जो चीज सबसे ज्यादा प्रभावित करती है, वह है समाज की बेचैनी। इसलिए कहा जाए तो अपने समय का उल्लेखनीय उपन्यास है आखिर कलाम। इस प्रकार कहा जाए तो दूधनाथ सिंह आज की जीवन कथा और सामाजिक सच्चाई के प्रभावी रचनाकार है और सरोकारों के स्तर पर निर्भीकता और बेबाकी से अपना कथ्य पेश करते हैं।

17 अक्टूबर, 1936 को जन्मे दूधनाथ सिंह का देहावसान विगत 11 जनवरी, 2018 को हो गया। साठोत्तरी साहित्य के एक सबल स्तंभ और इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दीर्घकाल तक हिंदी के प्राध्यापक रहे दूधनाथ सिंह की चर्चित कृतियों में 'आखिरी कलाम', 'सपाट चेहरे वाला

आदमी', 'धर्मकुरुक्षेत्र' हैं। महादेवी और शमशेर पर इनकी आलोचना पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। नए साल 2018 के आते-आते सुप्रसिद्ध कवि एवं कथाकार दूधनाथ सिंह अलविदा हो गए। इनकी मौत अधूरी लगती है। अविश्वसनीय हो सकता है इनके सपने कभी पूरे हों हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन में। अभी तो इलाहाबाद के इस 'लाल' को सलाम करते हुए उन्हें अपनी अश्रुपूरित नेत्रों से विदायी देता हूँ और अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ एक जनवरी, 2001 को लिखी कविता की इन पंक्तियों से-

'अभी कुछ दिन और रहूँगा तुम्हारे साथ
तुम्हारी खबरों के साथ
अभी कुछ दिन और बूढ़ा और धूमिल होऊँगा
अभी इधर के उजाले को ओट देकर देखना पड़ेगा
अभी और इंतजार करना होगा, नफरत को झेलना
और गुस्से को दबाने की कला सीखनी होगी।'

पाण्डेय कपिल :
जो पुरबिया लोकमानस का अद्‌भुत चितेरा था

हिंदी और भोजपुरी साहित्य के प्रकांड विद्वान और साहित्यकार पाण्डेय कपिल का नाम भोजपुरी आंदोलन से जुड़ा रहा है। बिहार सरकार के राजभाषा के उपनिदेशक पद से सेवानिवृत्त पाण्डेय कपिल मूलतः छपरा जिले के निवासी थे। उन्होंने महेन्द्र मिसिर को नायक बनाकर चर्चित 'फुलसुंधी' उपन्यास लिखा था। अखिल भारतीय भोजपुरी भाषा आंदोलन से जुड़े पाण्डेय कपिल को भोजपुरी अकादमी के गठन के बाद वर्षो तक इसके बोर्ड का सदस्य बनाया गया था। राजभाषा विभाग से 1988 में अवकाश प्राप्त करने के बाद उनकी कलम भोजपुरी भाषा में द्रूत गति से चल रही थी कि दो नवम्बर, 2017 को शाम चार बजे उनका निधन हो गया।

24 सितम्बर 1930 को सारण जिले के शीतलपुर गाँवे के जमींदार परिवार में जन्में पाण्डेय कपिका के पिता पाण्डेय जगन्नाथ प्रसाद सिंह भी साहित्यकार थे और उनके दादा दामोदर सहाय 'कवि किंकर' अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे जिनके बाल साहित्य में अच्छा खासा योगदान रहा है। इस ख्याल से देखा जाए तो पाण्डेय कपिल को साहित्यिक संस्कार विरासत में मिला था।

पाण्डेय कपिल की उच्च शिक्षा बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में हुई थी। वे राजभाषा विभाग की सरकारी सेवा में रहते हुए भी भोजपुरी और हिंदी की सेवा में लगे रहे। उनकी प्रमुख रचनाओं में 'आभास', भोर हो गईल, 'फूलसुंघी', गीत संग्रह-'भोर हो गइल', गजल संग्रह 'कह ना सकलीं' और 'परिन्दा उड़ान पर' हैं। इन्होंने एक जीवन्त पत्रिका 'उरेह' का प्रकाशन भी प्रारंभ किया था। वे 'भोजपुरी सम्मेलन पत्रिका' का संपादन भी कर चुके थे जिसके संपादक मंडल में सुप्रसिद्ध कवि भगवती प्रसाद द्विवेदी भी एक सदस्य थे। भोजपुरी संस्थान प्रकाशन से पाण्डेय कपिल ने काफी पुस्तकें छापी थीं।

पाण्डेय कपिल अखिल भारतीय भोजपुरी सम्मेलन से तो सम्मानित किए ही गए थे, भिखारी ठाकुर अवार्ड, भोजपुरी अकादमी अवार्ड, विद्या वाचस्पति और भोजपुरी शिरोमनी आदि सम्मान से भी नवाजे गए थे। भोजपुरी भाषा में उनकी इतनी दिलचस्पी थी कि अगर कोई भोजपुरी पर

बात करने वाला उनके समीप चला जाए तो अपनी अस्वस्थता को भी पराजित कर उनके सामने बैठकर उनसे बातचीत करने लगते थे।

पटना में रहने के दौरान पाण्डेय कपिल से मुझे भी कई बार मिलने का अवसर मिला है। उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता होती थी। वैसे भी वे सदैव प्रसन्नचित रहते थे और जब भी वे कभी किसी सभा-संगोष्ठियों में जाते थे तो अपनी पत्नी को भी साथ अवश्य ले जाते थे। इतना ही नहीं आयोजन के दौरान ही हर बात पर पत्नी से पूछते-'का हो, ठीक कहत बानी नु?' पत्नी मुस्करा के रह जाती। बुढ़ापे में यह प्रेम और स्नेह उनके व्यक्तित्व को विराट बनाता था। पाण्डेय कपिल कहते थे-'इनके कारण न भोजपुरी में लिख पवनी। नाही तो हिंदी के आन्ही रहे। जवनी घरी भोजपुरी के केहू पूछत ना रहे तब दिन-रात भोजपुरी में लिखत रहीं, छापत रहीं, घूम-घूम के बेचत रहीं अउर पत्नी एको बार ना रोक ली-टोक ली कि ई कुल का करत करत बानी जी, केहू पूछत बा, दिन-रात फिफि हवा बनल रहत बानी।'

पटना के इन्द्रपुरी मोहल्ले स्थित पाण्डेय कपिल के एक छोटे से मकान के बाहर वर्षों से एक छोटा-सा बोर्ड टंगा हुआ रहता था-भोजपुरी संस्थान और अन्दर कमरे में बटोहियावाले बाबू रघुवीर नारायण से लेकर आचार्य महेन्द्र शास्त्री जैसे भोजपुरी के पुरोधाओं की पेंटिंग। सच कहा जाए तो पाण्डेय कपिल ने भोजपुरी भाषा और उसके साहित्य को अपनी रचनाओं से जो योगदान दिया, वह न केवल अतुलनीय है, अपितु चकित करने वाला। सिर्फ भोजपुरी ही नहीं, बल्कि हिंदी के लोकभाषाओं की दुनिया में उनका काम चकित करने वाला रहा। जब भोजपुरी को लेकर कोई बाजार नहीं था, ना शोर-शराबा और ना ही भोजपुरी स्टारडम देने की हैसियत में थी, भोजपुरी संस्थान के माध्यम से पाण्डेय कपिल पुस्तकें छापते और लोगों के बीच पहुँचाते रहे।

भोजपुरी में महेन्दर मिसिर के जीवन पर लिखे पाण्डेय कपिल के उपन्यास 'फुलसूंघी' महेन्दर मिसिर की प्रेम कथा और प्रेम के जरिए मुक्ति के मार्ग बनाने-तलाशने की कथा है। वे आखिर समय तक एक लोक साहित्य साधक की तरह भोजपुरी में लिखते रहे और कथा-कहानी के अतिरिक्त साहित्य की कई अन्य विधाओं में रचना करते रहे। 'परिन्दा उड़ान पर' तो उनका चर्चित गजल संग्रह है ही 'दुनिया के सतरंज बिछल वा' उनकी आखिरी कृति 2016 में प्रकाशित हुई थी। हाल में श्रीमद्भागवत गीता का भोजपुरी भावानुवाद कर रहे थे।

के अन्दर गजब की आतुरता इच्छा और लालसा थी। ऐसे ही साहित्यकार के मूल्य बोध आत्मसात करने की प्रेरणा भी देती हे। हमने पाण्डेय कपिल के व्यक्तित्व व कृतित्व के विविध पहलुओं को ध्यान में रखकर यह संस्मरण लिखा है। अपने समय में रहकर पाण्डेय कपिल आगामी कल का आविष्कार करते रहे और अपने समय के गर्द-गुबार एवं वाद-विवाद के पार देख रहे थे। वे भिन्न पथ से आए थे और खुली आँखों से सपना देखने वाले साहित्यकार थे। इसलिए वे हमारे समकालीन और प्रासंगिक कहे जाएँगे। अपनी भाषा के प्रति उनकी ध्वनि साफ सुनी जा सकती है। उम्मीद की जाती है कि भविष्य में पाण्डेय कपिल के संपूर्ण योगदान की बुलन्द इमारत उनके सहकर्मी, मित्र, शुभेच्छु और भोजपुरी भाषा से लगाव रखने वाले साहित्यकार तैयार करेंगे, ताकि अपनी भाषा के साथ-साथ हिंदी के प्रति युगीन चेतना जाग्रत हो सके। पाण्डेय कपिल की स्मृति को नमन करते हुए आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री की निम्न पंक्तियों से मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ-

'माँगती विस्तार जीवन की परिधि
नई भूमि, नया गगन, नूतन परिधि
मानसिकता, अद्यतन, नवचेतना
गढ़ समाज नया न जो पहले बना।'

डॉ. सुरेन्द्र प्रसाद जमुआर :
जिन्होंने बहुतों पर संस्मरण लिखकर उन्हें याद किया उनपर मैंने संस्मरण लिखकर उन्हें याद किया

मृदुल एवं निश्छल प्रकृति के इंसान और तन-मन-धन से निष्ठावान हिंदी सेवक तथा बिहार के दिवंगत हिंदी साहित्यकारों के संस्मरण लेखक डॉ. सुरेन्द्र प्रसाद जमुआर ने दो खण्डों में बड़ी मेहनत से संस्मरण लिखकर अपार यश अर्जित किया है। यह एक अत्यंत उपयोगी गंथ है जिसकी इतिहास-लेखकों एवं शोधकर्ताओं के लिए उपयोगिता असंदिग्ध है। मौलिकता और रचनात्मक अभिव्यक्ति के साथ-साथ दिवंगत साहित्यकारों की शोधपूर्ण परिचय सामग्री इस ग्रंथ को संग्रहणीय ही नहीं पठनीय भी बनाती है। वैसे सच कहा जाए तो किसी लेखक को अपने अध्ययन तथा सृजन में कागज, कलम, स्याही की आवश्यकता की तरह डॉ. जमुआर द्वारा बड़े परिश्रम से लिखे गए 'बिहार के दिवंगत हिंदी साहित्यकार' के दो खण्डों की जरूरत पड़ेगी और उनको अपने काम में इनसे सहयोग मिलेगा।

1 जुलाई, 1939 को जन्मे डॉ. सुरेन्द्र प्रसाद जमुआर ने हरप्रसाद दास जैन कॉलेज, आरा से 1957 में हिंदी में प्रतिष्ठा के साथ स्नातक तथा पटना विश्वविद्यालय, पटना से 1959 में हिंदी से स्नातकोत्तर की डिग्री हासिल की। बिहार सरकार के राजभाषा विभाग, पटना में 32 वर्षो तक अपनी सेवा प्रदान करने के बाद जून, 1997 में उपनिदेशक के पद से उन्होंने अवकाश ग्रहण किया। भागलपुर में राजभाषा के उपनिदेशक रहने के दौरान अपने सेवा प्रदान करते हुए 1988-95 तक प्रमण्डलीय साहित्यकारों को प्रशस्ति पत्र वितरित किया। अमरपुर, बाँका में 16 सितम्बर, 1990 को 'कवितांजली' का विमोचन करते हुए उन्होंने अपने मार्मिक उद्‌गार व्यक्त किए। इसी प्रकार पटना के दुजरा में भक्त कीर्तन मंडली भक्त बंधु पुस्तकालय, वन्दना कुटीर की उन्होंने स्थापना कर उनका संचालन किया। फिर केंद्रीय मगही परिषद का 1976-80 में संयोजन किया। पारिज़ात साहित्य परिषद्, पटना द्वारा शंकर दयाल सिंह शिखर स़म्मान से वे 26 दिसम्बर, 1999 में स़म्मानित किए गए।

डॉ. सुरेन्द्र प्रसाद जमुआर को 1988 में उनके द्वारा लिखित 'बिहार के दिवंगत हिंदी साहित्यकार', प्रथम खण्ड के लिए राजभाषा विभाग, बिहार द्वारा पुरस्कृत किया गया। 1991 में विक्रमशिला हिंदी विद्यापीठ, ईशीपुर, भागलपुर से 'विद्या वारिधि' की उन्हें मानद उपाधि

से नवाजा गया। इनके द्वारा प्रकाशित कृतियों में 'रचना धर्मियों की साहित्य-यात्रा' (आलोचनात्मक निबंध), 'ज्वार थमता गया'(कहानी), 'ये रंग-बिरंगे चेहरे'(हास्य-व्यंग्य लेख), 'साली के बरतुहारी' (मगही ललित निबंध) तथा 'सामाजिक निबंधावली' उल्लेखनीय हैं।

सांसद तथा साहित्य-सृजन के प्रेरणास्रोत शंकरदयाल सिंह का सान्निध्य डॉ. सुरेन्द्र प्रसाद जमुआर को प्राप्त था और उनका स्नेह इन्हें बराबर मिलता रहा। आखिर तभी तो डॉ. जमुआर की संस्मरणात्मक पुस्तक 'बिहार के दिवंगत हिंदी साहित्यकार' का प्रकाशन भी उन्होंने पारिजात प्रकाशन से कराया। उसके द्वितीय खण्ड के प्रकाशन के पूर्व ही शंकर दयाल सिंह जी का देहावसान हो गया जिसके कारण डॉ. जमुआर को अपने खर्च से उसे प्रकाशित कराना पड़ा। डॉ. सुरेन्द्र प्रसाद जमुआर ने लघु काव्य-संकलन 'रहे अजेय हिमालय' का संपादन 1962 में किया तथा 'आत्मा' नाम्नी पटना से प्रकाशित व्यंग्य-मासिक पत्रिका का संपादन सहयोग 1959-60 में किया।

विगत पाँच-छह वर्षो के दौरान अस्वस्थ रहने की वजह से डॉ. जमुआर की साहित्यिक गतिविधियों में शिथिलता आ गई तथा लोगों से मिलना-जुलना इसलिए बंद हो गया, क्योंकि उनका घर से बाहर निकलना लगभग बंद हो चुका था। हाँ, पटना के दुजरा स्थित वन्दना कुटीर निवास में ही साहित्यकारों-पत्रकारों तथा मेरे जैसे शुभेच्छुओं का मिलना-जुलना हो जाया करता था। वह भी ईश्वर को गवारा नहीं हुआ और जगन्नियंता ने उन्हें छीन लिया और हमारे सरीखे सैकड़ों शुभेच्छुओं, साहित्यकारों-पत्रकारों एवं मित्रों को शोक-संतप्त छोड़ गए। मगर साहित्यकार तो कभी मरता नहीं, वह सदैव जीवित रहता है लोगों के मानस-पटल पर अपनी साहित्यिक कृतियों के माध्यम से।

डॉ. सुरेन्द्र प्रसाद जमुआर तो भौतिक रूप से आज हमारे बीच नहीं हैं, पर उनका प्रतिभाशाली व्यक्तित्व और अपनी प्रतिभा के बल पर साहित्य-सृजन में जो उन्होंने अपना एक शानदार परिचय दिया है उसकी गूँज अभी लोगों के कानों में सुनाई देती है। राष्ट्र भारती के साहित्यिक धराधाम को अनवरत पुष्ट करने वाले और सदैव सचेष्ट एवं जागरूक रहने वाले डॉ. सुरेन्द्र प्रसाद जमुआर की स्मृति को मैं नमन करता हूँ और ऐसे साहित्यानुरागी के प्रति कवयित्री शैलप्रिया की निम्नपंक्तियों से मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ-

'फूलों की टहनियों पर, धूल भरे पत्तों की तरह, बच जाते हैं,
जो दिन, उन्हें बो रही हूँ, कैक्ट्स के जंगल में,
एक नई पौध उगने की प्रतिक्षा में, मैं।'

केदारनाथ सिंह :
जिनकी कविताओं में लोक जीवन की मार्मिक अभिव्यंजना है

हिंदी साहित्य के कवियों में केदारनाथ सिंह ने अपने काव्य व्यक्तित्व को इस प्रकार ढाला कि उनके बाद की एक पूरी पीढ़ी उनकी कलात्मक कोशिश के पीछे चली। वे भारत की समृद्ध साहित्य परंपरा के ऐसे महत्वपूर्ण हिस्सेदार थे जिन्हें अलग कर भारतीय साहित्य का इतिहास नहीं लिखा जा सकता। जहाँ तक मैं समझता हूँ हिंदीतर भाषिक समाजों में जितने सम्मान केदारनाथ सिंह को मिले उतने शायद हिंदी के किसी कवि को नहीं मिले। वे शुद्ध रूप से कवि थे। कविताओं में न राजनीति का अहसास और न एकपक्षीयता की झलक।

हिंदी के वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह का विगत 20 मार्च, 2018 को दिल्ली के अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स) में निधन हो गया। वे 84 वर्ष के थे। लम्बे समय से वे बीमार चल रहे थे। तकरीबन डेढ़ माह पूर्व कोलकाता में निमोनिया के वे शिकार हुए, जिसके बाद उन्हें कोलकाता के अस्पताल में भर्ती कराया गया था। तबीयत में सुधार नहीं होने की वजह से उन्हें दिल्ली के भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में भर्ती कराया गया जहाँ उनकी सेहत में सुधार होने पर उन्हें घर लाया गया, मगर फिर तबीयत नासाज होने पर उन्हें मूलचंद अस्पताल में भर्ती कराया, लेकिन सुधार नहीं होने पर पुनः भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, दिल्ली में ले जाया गया। जहाँ रात करीब पौने नौ बजे उन्होंने अंतिम सांस ली। उनके देहावसान की खबर सुनकर पूरे देश में शोक की लहर छा गयी और बिहार की साहित्यिक हस्तियों में बेचैनी इसलिए बढ़ गयी, क्योंकि बिहार के साथ कवि केदारनाथ सिंह का काफी लगाव था। कुछ ही महीने पूर्व ही तो वे पटना पुस्तक मेले में आए थे और वैसे भी केदारनाथ सिंह पुस्तक प्रेमियों को दिल के करीब मानते थे। नई-धारा के संपादक रहे उदयराज सिंह के श्रीकृष्णपुरी स्थित निवास पर आयोजित एक साहित्यिक समारोह में मुझे भी उनसे बातचीत करने का मौका मिला था। उनसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता इसलिए हुई थी कि इतने बड़े कवि होने के बावजूद उनमें कोई गुरूर नहीं देखा। उनकी सरलता और सौम्यता उनके चेहरे पर साफ झलक रही थी।

आज से छह साल पहले कोलकाता में केदारजी की माँ का 102 वर्ष की उम्र में देहावसान हुआ था तो उन्होंने एक कविता लिखी थी। इस कविता में वे माँ की अस्थि कलश को गंगा में प्रवाहित करते हुए प्रार्थना करते हैं-

'मैंने भगीरथ से कहा,
माँ,
माँ का ख्याल रखना उसे सिर्फ भोजपुरी आती है।'

केदार जी अपने लोगों से भोजपुरी में ही बात करते थे। वह रहते थे दिल्ली में, किंतु गाँव से उनका पूरा लगाव था। इसलिए वे अक्सर गाँव जाया करते थे। दिल्ली में रहने की वजह से मुझे केदार जी की कविता कई बार सुनने का मौका मिला। मैंने देखा है अपने गाँव-देहात के परिवेश और बोली-वाणी ने उनपर गहरा असर छोड़ा और वह उनकी कविताओं में व्यक्त होता रहता था। वह गाँव से ही शक्ति और प्रेरणा ग्रहण करते थे। गाँव का वह गाँवपन उनकी प्राण नाड़ी में किस कदर बसा था, इसका प्रमाण 'मांझी का फल' नामक उनकी कविता में मिलता है। उनकी प्रतिबद्धता की जड़ें भारतीय आबोहवा और जमीन में थी। वही उनकी ताकत थी। बिम्ब और विचार उस ताकत में स्पंदित रहते थे। 'टूटा हुआ ट्रक' भी उन्हें निराश नहीं करता, अपितु टूटने के बाद भी वह चलने को तैयार है। 'टूटा हुआ ट्रक' देखकर भी कवि को विश्वास है कि, जीवन रहेगा। जीवन के बारे में ऐसी दृष्टि रखने वाला ही कह सकता है, 'बुद्ध के बारे में सोचना पृथ्वी पर पानी के भविष्य के बारे में सोचना है।'

जिस देश का साहित्य जितना सशक्त और प्रभावशाली होगा, उसे देश का समाज भी उतना ही समृद्ध व विचारशील होगा जो निश्चित ही हमारे देश के अनेक साहित्यकारों ने अपने प्रभावशाली साहित्य के माध्यम से किया है। कवि केदारनाथ सिंह उनमें से एक हैं जिन्होंने अपनी प्रभावशाली लेखनी के माध्यम से हमेशा समाज को एक नई दिशा दिखाने का सफलतम प्रयास किया। बाबा नागार्जुन के बाद आधुनिक हिंदी के लोकप्रिय कवि केदारनाथ सिंह का गाँव की पृष्ठभूमि में प्रगाढ़ लगाव उनकी कविताओं में स्पष्ट देखा जा सकता है। 'मंच और मचान' नामक कविता में ग्रामीण परिदृश्य को दर्शानेवाले केदारनाथ सिंह ने एक छोटे से गाँव से लेकर दुनिया के कोने-कोने तक अपना प्रभाव मुकाम हासिल किया। अनेक कविता संग्रह, आलोचना, संपादन, लिखने वाले कवि केदारनाथ सिंह ने

अपनी कविताओं में राजनीतिक परिदृश्य को भी उजागर करने का साहसिक कार्य किया। उनकी कविताओं में लोक जीवन की मार्मिक अभिव्यंजना है।

एक जुलाई, 1934 को उत्तरप्रदेश के बलिया जिलांतर्गत चकिया गाँव में जन्में केदारनाथ सिंह ने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से 1956 में हिंदी में एम.ए. तथा 1964 में पीएच.डी. की। वे जवाहर लाल विश्वविद्यालय, दिल्ली के भारतीय भाषा केंद्र में आचार्य और अध्यक्ष पद पर भी रहे। केदारनाथ सिंह चर्चित कविता संकलन 'तीसरा सप्तक' के सहयोगी रचनाकारों में से एक थे।

केदारनाथ सिंह को 2013 में 49वें ज्ञानपीठ पुरस्कार से नवाजा गया था। 1989 में उनकी कृति 'अकाल में सारस' को साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा मध्य प्रदेश का मैथिलीशरण गुप्त सम्मान के साथ ही प्रतिष्ठित व्यास सम्मान भी मिला था। केदार नाथ सिंह की प्रमुख कृतियों में 'जमीन पक रही है', 'यहाँ से देखें', 'अकाल में सारस', 'उत्तर कबीर', 'टालस्टाय और साइकिल' तथा 'बाघ' है।

केदारनाथ सिंह के लिए 'लिखना चुप हो जाने के विरूद्ध एक खामोश लड़ाई का ही दूसरा नाम है।' वह एक ऐसे कवि थे जो सबकी तरफ से बोलते थे- यहाँ तक की चींटी से लेकर बाघ तक की ओर से और पत्थर से लेकर हिमालय तक की ओर। वह अपने भीतर की सच्चाई के साथ बोलते थे और यही कारण है कि उनकी एक-एक पंक्ति गहरे तक असर करती थी। मुक्त छंद के अलावा छंद में भी उन्होंने लिखा। गद्य में भी उन्होंने जो कविता लिखी उसमें भी लय है। 'विद्रोह' शीर्षक कविता में केदारनाथ सिंह बताते हैं कि कैसे बिस्तर अपना इस्तीफा सौंपकर कपास के पास लौटाना चाहता है और मेज, कुर्सिया संयुक्त मोर्चा बनाकर अपने पेड़ को याद करते हैं और किताबें बांस के जंगल, बिच्छुओं के डंक और सांपों की याद करती हैं। इसी प्रकार 'बनारस' शीर्षक कविता में वह कहते हैं-

'अपनी एक टांग पर खड़ा है यह शहर
अपनी दूसरी टांग से बिल्कुल बेखबर।'

केदारनाथ सिंह ने पहली कविता सुभाष चंद्र बोस पर लिखी थी। वह जब उच्च विद्यालय के छात्र थे तो उनकी पहली कविता छपी, लेकिन विधिवत् काव्य लेखन उन्होंने 1952 में प्रारम्भ किया था। 'अज्ञेय ने 1953 में उनकी कविताएँ 'प्रतीक' में छापीं और 1959 में 'तीसरा सप्तक' में भी उनकी कविताओं को शामिल किया। 1960 में उनका पहला

काव्य संकलन 'अभी बिल्कुल अभी' छपा। उसके बीस वर्षो के अंतराल के बाद उनका दूसरा काव्य संग्रह 'जमीन पक रही है' आया जिसे उनका सर्वाधिक प्रौढ़ संग्रह माना जाता है।

केदारनाथ सिंह ग्रामीण परिवेश और स्वस्थ प्रकृति के बीच से स्वस्थ मानवीय संवेदना लेकर उठने वाले कवि के रूप में जाने जाते रहे हैं। उन्होंने मानवीय जीवन और समकालीन संघर्षो को बड़ी सूक्ष्मता से अपनी रचनाओं में अंकित करने का प्रयास किया है। देखें कवि केदारनाथ जी की निम्न पंक्तियों को-

'नहीं हम मंडी नहीं जाएँगे
खलिहान से उठते हुए
कहते हैं दाने
जाएँगे तो फिर
लौटकर नहीं आएँगे
जाते-जाते कहते हैं दाने......।'

कवि केदारनाथ जी का रचना संसार व्यापक और वैविध्यपूर्ण है। वह अपनी सर्जना की सार्थकता और भिन्न-भिन्न प्रेरणाओं की तलाश प्रकृति के बीच से करते हैं। मछली की आँखों में उन्हें जीने की तरलता दिखाई देती है। सौंदर्यबोध की तन्मयता, अतिशय उल्लास की स्थिति में व्यापक स्पंदन की अनुभूति प्रकृति की विविधताओं का सम्पूर्ण साक्षात्कार ताल और गति में थिरकते अतिशय सरल बिम्बों में किस तरह से मूर्त रहते हैं, इनकी पंक्तियों में देखा जा सकता है-

श्रम तकिए पर पिछलकर
शब्द कोई लिख गई है,
एक तिनका, एक पत्ती, एक गाना-
सांझ मेरे झरोखे की
तीलियों पर रख गयी है।'

केदारनाथ जी की कविता आकर्षक विस्मय पैदा करती है तथा बिम्ब और विचार के संगठन में मूर्त होती है। साथ ही एक तीखी बेलौस सच्चाई की तरह पूरे सामाजिक दृश्य पर अंकित होती चली जाती है। लोक, प्रकृति, समाज, संघर्ष, विचार और सबसे बढ़कर मानवीय पक्ष केदारनाथ जी की कविताओं की परिधि में हैं। आखिर तभी तो एक कटिबद्ध कवि की तरह 'तीसरा सप्तक' से 'साखी' तक पूरे दमखम के साथ टिके रहे। इनके साहित्यिक

अवदानों का साहित्य-जगत ही नहीं, बल्कि पूरा समाज कायल रहेगा।

हिंदी साहित्य जगत के मूर्धन्य साहित्यकार एवं वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह की सादगी और सरसता उनके व्यक्तित्व का गहना था तो साहित्य सेवा उनका धर्म। उनकी कविताओं की भाँति निरंतर उष्मा प्रदान करने वाली थी तो वहीं भाषा सरल, प्रांजल और व्यावहारिक। भारतीय सभ्यता और संस्कृति को लोकजीवन से आत्मसात कर साहित्य की रचना करने वाले हिंदी के अद्वितीय लेखक की व्यंग्यात्मकता, बिम्बात्मकता, शब्दों एवं विषयों की नवीनता और भाषा की सरलता उनकी कविताओं के हथियार थे। उन्होंने लिखा है- वे जब भी कुछ सोचते हैं तो उन्हें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मूंछें याद आती हैं। हिंदी साहित्य जगत के अध्ययन की नवीनता लाने के लिए वे निरंतर आलोचनात्मक एवं समीक्षात्मक पुस्तकों की भी रचना करते रहे। कल्पना और छायावाद, आधुनिक हिंदी कविता में बिंब विधान, मेरे समय के शब्द आदि। वे लिखते थे कि मेरी सबसे बड़ी पूंजी मेरी चलती हुई सांसें हैं, लेकिन ये आज तक किसी का गुलाम नहीं हो पाई हैं। ऐसे स्वाभिमानी कवि केदारनाथ सिंह का इस दुनिया से जाना हिंदी साहित्य जगत की क्षति है।

केदारनाथ सिंह के भीतर कविता बनती थी और वह उसके कागज के पन्नों पर उतार देते थे। वह हमेशा कहते थे कि मेरे जैसा ही अगर लिखोगे तो दुनिया छोटी हो जाएगी। कविता कभी भी निश्चित नहीं होती इसमें नए प्रयोगों के लिए हमेशा जगह होती है। केदारनाथ सिंह में कभी न खत्म होने वाली विनम्रता थी। वह एक आदर्श अहिंसक भारतीय थे। महान साहित्यकार साधारण लोगों में असाधारण पात्रों को देख लेते हैं ऐसे ही असाधारण कवि थे केदारनाथ सिंह। भारतीय भाषाओं में कवि केदारनाथ सिंह ने जो काम किया है वह ऐतिहासिक है।

नई दिल्ली में जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में आने के पहले केदारनाथ सिंह कई वर्षो तक पडरौना के एक महाविद्यालय में प्राध्यापक थे और फिर उसके प्राचार्य हो गए। वहाँ नागरिक समाज में वो इतने प्रतिष्ठित थे कि उन्होंने खुद एक बार कहा था एक बार इंदिरा गाँधी ने काँग्रेस के टिकट पर लोकसभा चुनाव लड़ने के लिए उनके पास प्रस्ताव भिजवाया, जिसे बहुत शालीनता से उन्होंने नामंजूर कर दिया था। जाहिर है कि शब्द की गरिमा से अधिक आकर्षण उन्हें सत्ता के गलियारों में महसूस नहीं हुआ, वर्ना कौन जाने कि आज वो एक प्रतिभाशाली नेता होते, मगर हम

एक बड़े कवि को शायद खो देते।

केदारनाथ सिंह एक किसान के बेटे थे, इसलिए अंत में पारिवारिक आग्रह पर जब खेत बेचने पड़े, तो एक अफसोस उनके भीतर घर कर गया। कहीं उन्हें गहरा मलाल था कि आजीविका के लिए वे दिल्ली आए जरूर, मगर यहाँ से लौटकर अपने 'देस' नहीं जा पाए। इसलिए कई बार वे जायसी की यह चौपाई दोहराते थे–

'सो दिल्ली अस निबहुर देसू,
कोई न बहुरा कहै संदेसू।'

केदारनाथ जी की कविता पुस्तक का आना हमारी भाषाओं में एक घटना की तरह होता था। उन्होंने अपना निजी काव्य मुहावरा बनाया और उनके इस मुहावरे को कविताओं में देखना-पढ़ना ताजगी भरा अनुभव रहता। उनकी प्रसिद्ध कविता 'बनारस' पिछले लोकसभा, 2014 के चुनावों में खूब चर्चित हुई जिसमें वे इस शहर के जीवन में मौजूद तमाम छवियों को जीवंत करते हैं। उनके अंतिम संग्रह में आई एक कविता 'बबूल के नीचे सोता बच्चा' जीवन में गंहरे धैर्य विश्वास की कविता है। यह भरोसा मामूली-निर्धन जनता के प्रति है जिसे कवि बनाए हुए हैं।

केदारनाथ सिंह जितने बड़े कवि और साहित्यकार थे, उतने ही अच्छे व्यक्ति भी। वह शिशु जैसे सरल और निश्छल थे। अपने विचारों को निर्भीक एवं कारगर ढंग से अभिव्यक्त करना केदारनाथ जी की कविता की मौलिक विशेषता थी। वाणी के इस वरद्पुत्र ने सचमुच जीवन की भाग-दौड़ के बावजूद अपनी लेखनी को सतत् गतिशील रखा। ओजस्वी वक्ता के अतिरिक्त उनके लेखों, कविताओं, संस्मरणों में ग्रामीण जीवन की गंभीर अनुभूतियों के साथ व्यंग्य विनोद का पुट भरा रहता था। चिंतन के धरातल पर इस अनूठे कवि के लिए देश और समाज का चिंतन सर्वोपरि रहता था। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उन्होंने अपने स्वाभिमान को सदैव अनुप्रेरक रखा। किसी भी समस्या के संबंध में वह मानवीय दृष्टिकोण से सोंचते थे। ऐसे मूर्धन्य कवि केदारनाथ जी के महाप्रयाण से की एक भारी रिक्तता आ गई है और उनकी कमी बराबर खलेगी। कुछ इन्हीं चंद पंक्तियों के साथ उनकी स्मृति को नमन करते हुए डॉ. नन्द किशोर प्रसाद की कविता की इन दो पंक्तियों से मैं उन्हें अपनी श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ–

'आ गया अपना गाँव रे,
पीपल-बरगद की छांव रे।'

बाबूराम सिंह 'लमगोड़ा' : जो हिंदी एवं मगही नाट्य साहित्य के सशक्त नाटककार थे

हिंदी एवं मगही साहित्य की नाट्य विधा में महारत हासिल करने वाले बाबूराम सिंह 'लमगोड़ा' का पिछले 3 जनवरी, 2004 ई॰ को पक्षाघात एवं मस्तिष्क श्रवण की बीमारी से निधन हो गया। स्व॰ 'लमगोड़ा' ने नाटकों को पूर्णरूपेण चरितार्थ किया। गौर वर्ण तथा भरे-पूरे शरीर के छह फुटे बाबूराम सिंह 'लमगोड़ा' पदवी भी उनकी लंबाई के मद्देनज़र दी गई थी।

जहानाबाद ज़िले के गंगापुर गाँव में 16 अक्टूबर, 1926 ई॰ को जन्मे बाबूराम सिंह 'लमगोड़ा' की प्रारंभिक तथा माध्यमिक शिक्षा क्रमशः हुलासगंज मध्य एवं जहानाबाद उच्च विद्यालय में हुई। तत्पश्चात् उन्होंने बी॰ एन॰ कॉलेज, पटना से स्नातक की परीक्षा उतीर्ण की जहाँ उन्हें प्रो॰ राम बुझावन सिंह सरीखे सुलझे साहित्यकार का सान्निध्य प्राप्त हुआ। संभवतः हिंदी साहित्य के प्रति उनकी अभिरुचि भी वहीं से जगी।

प्रारंभ में पटना से प्रकाशित 'नव राष्ट्र' हिंदी दैनिक से बाबूराम सिंह 'लमगोड़ा' जुड़े तथा अल्प समय तक ही उसमें उन्होंने अपनी सेवा अर्पित की। जीविकोपार्जन हेतु सीमा शुल्क एवं उत्पाद विभाग में जून 1951 ई॰ में इन्हें लिपिक का पद स्वीकारना पड़ा जहाँ सन् 1953 ई॰ में ही इनकी निष्ठा के मद्देनज़र निरीक्षक के पद पर इन्हें प्रोन्नति मिल गई। उसके बाद सीमा शुल्क अधीक्षक के पद पर प्रोन्नति देकर इन्हें पटना हवाई अड्डा पर पदस्थापित किया गया, जहाँ से 1984 ई॰ के अक्टूबर में वे सेवा निवृत्त हुए। वस्तुतः अवकाश ग्रहण के बाद ही उन्होंने साहित्य की दुनिया में क़दम रखा तथा शुरू में ही 'लोरीटा' नाम से एक प्रकाशन संस्थान का गठन किया जिसके द्वारा उनकी रचनाओं का प्रकाशन होता रहा। नाट्य-लेखन में उनकी लेखनी से दो दर्जन से अधिक ऐतिहासिक नाटक लिखे गए। प्रसन्नता की बात यह है कि प्रकाशन पूर्व भी इनके कई नाटकों का पाटलिपुत्र के रंगमंच से सफल मंचन हुआ। पटना के प्रबुद्ध रंगकर्मी तथा सुधी श्रोताओं द्वारा इन नाटकों की काफ़ी सराहना की गई। किंतु खेद की बात यह है कि बिहार सरकार के राजभाषा विभाग द्वारा अधिकतर बिहार के बाहर के ही नाटककार

सम्मानित किए गए। इस दृष्टि से बाबूराम सिंह 'लमगोड़ा' पर यह कहावत अक्षरश: चरितार्थ रही कि घर का जोगी जोगड़ा, अन्य गाँव का सिद्ध। अपने जीवन के आख़िरी क्षण तक बिहार सरकार के लिए जोगड़ा ही बने रहे।

नाटक के अतिरिक्त उपन्यास, कहानी तथा कविता में बाबूराम सिंह 'लमगोड़ा' की क़लम चलती रही। इनका अद्यतन उपन्यास 'उन्तीसवाँ व्यास' इस अर्थ में चर्चित हुआ कि इसमें महाभारत की पुनर्व्याख्या की गई है। इनके श्रेष्ठ पद्य-संग्रह में 'शिव की आत्मा' तथा 1992 ई॰ में मगही में 'बुमुल दिया के मिट्टी' शीर्षक प्रकाशित इनका गद्य-नाटक काफ़ी चर्चित रहा। इसी बीच इनकी 51 कविताओं का एक काव्य-संग्रह भी प्रकाशित हुआ। 'लमगोड़ा' जी ने निम्नांकित कृतियों से हिंदी एवं मगही साहित्य को समृद्ध किया। हिंदी में 1. ऐतिहासिक नाटक 'कोशा', प्रणयपल, (तिष्यरक्षिता) आत्म-समर्पण (अब चौला) और सब शेष हो गया (मसतानी) 2. सामाजिक नाटक- 'गाँव की ओर', 'बाबा की सारंगी', 'गुंबद गिर गया' तथा 'एक और मुनादी' 3. साहित्यिक नाटक - 'यह मौत नहीं ज़िंदगी है' तथा 'मौत के मुँह में मौत से' एवं अन्य प्रकार के नाटक- (भारतीय भावनात्मक एकता) महामानेवर सागरतीरे 5. राष्ट्रीयता- 'अपनी धरती अपना देश' 6. पौराणिक नाटक- 'भगवान श्रीकृष्ण के अंतिम दिन' (गद्य में), 'वह शम्बूक' (पद्य में), 'पारिजात', 'कच-देवयानी' 7. 'एक विद्यार्थी-एक आचार्य', 'द्विव्य-नृत्य', 'राक्षस', 'वह सांझ-वह शव', 'कृतम समर', 'जब सरदार ने मिट्टी से मर्द बनाया' तथा 'हम सुनहले कल की ओर बढ़ रहे हैं' 8. पद्य संग्रह- 'शव की आत्मा' 9. उपन्यास- 'उन्तीसवाँ व्यास' (तीन उवाचों में) 'प्रगतिशील समाज में' धारावाहिक प्रकाशित 10. मगही भाषा में (क) नाटक : कोशा और गनधारी के सराप (ख) चम्पू: 'हम ही ऊऽ हीं, जे समतझंऽ से बूझऽ' तथा 'शूद्र होबेऽहे' (ग) विवेचनात्मक साहित्य : 'हाथ में दे गेलन सुन्ना' और (घ) उपन्यास : 'टुन टुन में टुन'।

हिंदी और मगही साहित्य को समृद्ध करती इन रचनाओं से 'लमगोड़ा' जी की गहराई का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। निश्चित रूप से साहित्य की विभिन्न विधाओं का इनकी रचनाएँ प्रतिनिधित्व करती हैं। इतनी कृतियों के बावजूद यह कहा जा सकता है कि 'लमगोड़ा' जी को नाट्य लेखन में सिद्धि तो मिली, पर जो प्रसिद्धि मिलनी चाहिए थी वह नहीं मिल पाई। इसका और चाहे जो कारण हो अक्खड़ स्वभाव और स्वाभिमानी होना भी सरकार एवं सहयोगी को अखरा। पर मेरा विश्वास है कि आने वाले

दिनों में न केवल इनकी कृतियों से भावी पीढ़ी को प्रेरणा मिलेगी, बल्कि आज न कल रचनाएँ सम्मानित भी होंगी। वैसे ग़ैर सरकारी स्तर पर कुछ वर्ष पूर्व यानी 19 अक्टूबर, 1987 ई॰ को इनके 62 वें जन्म दिवस पर पोद्दार टाइल्स के सांस्कृतिक प्रकोष्ठ के द्वारा इन्हें सम्मानित किया जा चुका है, इसी प्रकार 11 अक्बूर, 1992 ई॰ को पटना सिटी के 'रंगमंच' की ओर से भी कौमुदी महोत्सव के अवसर पर इन्हें सम्मानित किया गया था।

बाबूराम सिंह 'लमगोड़ा' के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर डॉ॰ लाल सिंह त्यागी ग्रामीण महाविद्यालय, औंगारी (नालंदा) के प्रो॰ लोक भूषण भारतीय ने प्रो॰ राम कृष्ण प्रसाद सिन्हा के निर्देशन में 'बाबूराम सिंह 'लमगोड़ा': व्यक्तित्व और कृतित्व' पर शोध कर पीएच॰डी॰ की डिग्री प्राप्त की। इसी प्रकार उसमानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद के द्वारा 'लमगोड़ा' जी के बौद्धकालीन नाटक एवं इनके गीत नाट्य विषय पर एम॰ फील के लिए मो॰ आलम और श्रीमती शारदा ने शोध प्रबंध तैयार किया। श्रीमती शारदा ने डॉ॰ चक्रवर्ती के निर्देशन में इसी शोध पर पीएच॰ डी॰ की। राँची विश्वविद्यालय के डॉ॰ सिद्धनाथ कुमार तथा कानपुर विश्वविद्यालय के डॉ॰ धर्मध्वज त्रिपाठी के निर्देशन में 'लमगोड़ा' जी की कृतियों पर शोध किया गया। हिंदी एवं मगही नाट्य साहित्य के ऐसे सशक्त नाटककार बाबूराम 'लमगोड़ा' को हार्दिक श्रद्धांजलि।

❖❖❖

सुरेन्द्र प्रसाद सिंह :
जिनकी याद पटना के साहित्यकार संजोए रखेंगे

सुप्रसिद्ध चिकित्सक एवं समाज सेवी डॉ॰ रंगी प्रसाद सिंह 'रंगम' के 8 दिसंबर, 2001 ई॰ को चले जाने के बाद अभी उनका ग़म पटना वासी भूल भी नहीं पाए थे कि सुप्रसिद्ध कथाकार सुरेन्द्र प्रसाद सिंह को जगन्नियंता ने 20 दिसंबर, 2001 ई॰ को हमसे छीन लिया। भाई नृपेन्द्र गुप्त जी से उनके निधन का दुखद समाचार सुनकर अहले सुबह स्व॰ सुरेन्द्र प्रसाद सिंह के पार्थिव शरीर पर श्रद्धा के दो फूल अर्पित करने उनके राजेन्द्रनगर निवास पर जब मैं पहुँचा, तो उन्हें देखकर मुझे लगा कि वे गहरी नींद में सोए हैं। चेहरे पर वही आभा और वही भाव जैसे मौन हो वे मुझे स्नेह दे रहे हों। सच तो यह है कि उनका स्नेह पाकर मैं गर्व का अनुभव करता था।

कुछ दिनों पूर्व यानी 30 नवंबर, 2001 ई॰ को पटना कॉलेज के अपने सहपाठी डॉ॰ विनोद कुमार के सुपुत्र की शादी में कथाकार सुरेन्द्र प्रसाद सिंह से मेरी मुलाक़ात हुई थी। हमारे मित्र डॉ॰ विनोद के वे अपने ससुर थे और वर उनका अपना नाती। बड़ी प्रसन्न मुद्रा में सुरेन्द्र प्रसाद सिंह अपने रिश्तेदारों तथा आमंत्रित अतिथियों को बड़े आदर के साथ स्वागत करते हुए वे उन सभी से मेरी जान-पहचान करा रहे थे। सुरेन्द्र जी की सुपूत्री ने मुझे बताया कि अपनी अस्वस्थता के बावजूद रात भर जागकर अपने नाती का जश्न मना रहे थे मानो अपनी सारी पीड़ा को भूल बैठे हों।

बिहार प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ अधिकारी के पद से सेवा निवृत्त होने के बाद भी सुरेन्द्र प्रसाद सिंह की क़लम अनवरत रूप से चलती रही और हिंदी साहित्य की सेवा वे अबाध गति से करते रहे। हिंदी और अँग्रेज़ी पर उनकी पकड़ काफ़ी गहरी थी। आख़िर तभी तो आपने कई उपन्यास लिखे जिसमें 'डाक्टर रंजना' की काफ़ी सराहना हुई। मंदिर का वह बूढ़ा पुजारी भी काफ़ी सराहा गया। मैंने 'डाक्टर रंजना' को पढ़ा है। मैंने पाया कि भारतीय पृष्ठभूमि पर यह उपन्यास परंपरागत है जिसमें स्वाभाविकता के साथ आधुनिक विश्लेषण किया गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कथा के क्रम में जीवन की वास्तविकता का यह एक अद्भुत पुट है। इसे पढ़ने के उपरांत पाठक निश्चित रूप से न केवल आत्मसंतोष महसूस करता है, बल्कि अपने को एक परिष्कृत पाठक अनुभव करता है। इस उपन्यास का प्रथम

संस्करण सन् 1968 ई॰ में प्रकाशित हुआ था, जिसकी हज़ारों प्रतियाँ कुछ ही महीनों में हाथों हाथ बिक गई थीं। यह इसकी लोकप्रियता का परिचायक है। कहना नहीं होगा कि इसके कथ्य अभूतपूर्व, हृदयस्पर्शी तथा मर्मस्पर्शी हैं। हालांकि इसके सभी पात्र कल्पित हैं, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि किसी व्यक्ति के जीवन की वास्तविकता प्रतिबिंबित हुई है। अतएव सुरेन्द्र बाबू का उपन्यास व्यक्तिगत जीवन का यथार्थ बोध कराता है। आख़िर तभी तो उपन्यासकार सुरेन्द्र प्रसाद सिंह ने अपने प्राक्कथन में यह आशा व्यक्त की है कि यदि इस उपन्यास से एक भी लांछण-पीड़ित व्यक्ति का कल्याण हो जाए, तो वह अपनी मेहनत सार्थक समझेगा। उनका विश्वास है कि कतिपय जनहित संस्थाओं को प्रशासनिक ख़ामियों को दूर करने की दिशा में सरकार से संबंधित अधिकारियों का कदाचित खिंच जाएगा। उपन्यासकार का मानना है कि मानव स्वभाव कुछ ऐसा है कि समाज के सूखे पत्ते की ढेर में बेबुनियाद रुसवाई के अँगारे डाले जाने में रोकथाम की आवश्यकता हमेशा बनी रहेगी। लेखक आचरण की बेहतरी का हिमायती है, क्योंकि इसी से जनहित क्षेत्रों में सुधार की गुंजाइश है और वांछित उन्नयन की आधार-शिला केवल इसानियत का विस्तार ही बन सकता है। मेरा भी मानना है कि स्व॰ सुरेन्द्र प्रसाद सिंह के इस उपन्यास को पढ़कर प्रत्येक व्यक्ति अपने को बेहतर इंसान महसूस करेगा।

खंड-दो

पत्रकार

राजेन्द्र यादव : जिनका साहित्य हाशिए के लोगों की आवाज बनी

हिंदी साहित्य के जिन लेखकों-संपादकों ने अपने लेखन से स्त्री, दलित, अल्पसंख्यक और हाशिए के लोगों की आवाज उठाई उनमें राजेन्द्र यादव का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाएगा। सच कहा जाए तो उन्होंने हिंदी साहित्य को जनतांत्रिक बनाया। वह मूलतः लोकतांत्रिक मूल्यों में विश्वास करने वाले साहित्यकार थे। मेरी समझ से राजेन्द्र यादव अपने सामाजिक सरोकारों और लेखन में ही नहीं, बल्कि अपने व्यक्तित्व में भी पूरी तरह जनतांत्रिक थे। राजेन्द्र यादव प्रबुद्धजनों में एक ऐसे हस्ताक्षर थे जो साहित्य, संस्कृति, राजनीति औ समाज के हर पहलू पर प्रगतिशील दृष्टिकोण रखते थे। अपनी उम्र के 84 वें पड़ाव पर रहते हुए भी बौद्धिक दृष्टि से वह इतने जागरूक, चुनौती से भरे, सवाल उठाते हुए, हर वक्त बहस की मुद्रा में रहते थे।

भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग की सेवा से स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति के पश्चात् मैं दिल्ली में रहने लगा था, क्योंकि 'राष्ट्रीय विचार मंच' और उसके मुखपत्र 'विचार दृष्टि' के संपादन के लिए दिल्ली में रहना मेरे लिए जरूरी हो गया था। उसी दौरान कई बार साहित्यिक सभा-संगोष्ठियों में राजेन्द्र जी को देखने-सुनने का मुझे मौका मिला था और दरियागंज स्थित 'हंस' के कार्यालय में उनसे बातचीत करने का मुझे गर्व प्राप्त हुआ था, मगर उनसे मेरी अधिक अंतरंगता कभी नहीं रही, पर जितनी बार उनसे मैं मिला मुलाकात में वह खुले दिल के इंसान के रूप में नजर आए। वेतक्लुफ अंदाज और गर्मजोशी उनका स्वभाव था। गंभीर माहौल को भी अपने चुटीले मज़ाक से हलका कर देते थे। पटना के पारिजात प्रकाशन की बैठकी में शंकर दयाल सिंह जी के ठहाके मेरे मानस-पटल पर उभर आते थे जब भी मैं राजेन्द्र यादव जी से मिलने दिल्ली स्थित उनके हंस कार्यालय में गया। सच मानिए मुलाकातों में राजेन्द्र यादव ठहाकों के सम्राट थे।

28 अगस्त, 1929 को उत्तर प्रदेश के आगरा में जन्में राजेन्द्र यादव मथुरा, झांसी और कोलकाता में विचरण करते हुए दिल्ली पहुँचे और दिल्ली ने उन्हें फिर कहीं जाने ही न दिया। कथा सम्राट मुशी प्रेमचंद द्वारा सन् 1930 से प्रकाशित पत्रिका 'हंस' जब 1953 में बंद हो गई, तो राजेन्द्र यादव ने उसे पुनः 31 जुलाई, 1986 से प्रकाशित करना प्रारंभ किया और वे उसे आजीवन प्रकाशित करते रहे। राजेन्द्र जी ने जब से प्रेमचद की विरासत 'हंस' को संभाला उसे उसी रूप में आगे बढ़ाया। फिर कभी ऐसा नहीं हुआ कि वह अनियंत्रित हुआ। इसके माध्यम से उन्होंने लघुपत्रिका आंदोलन का नया प्लैटफार्म दिया और उसे अधिक व्यापक बनाया। जब उन्होंने 'हंस' की शुरुआत की उस समय कहानियों की प्रतिष्ठित पत्रिकाएँ - सारिका, धर्मयुग आदि बंद हो चुकी थी। ऐसे समय में हंस सन्नाटों में एक आवाज़ की तरह से उभरा। जिस पत्रिका ने इतिहास की बेशुमार किरचे देखीं हो वह खुद 1953 में इतिहास हो गई थी। यह राजेन्द्र यादव ही थे जिन्होंने 1986 में प्रेमचंद की इस विरासत को विस्तार देने का जोखिम उठाया। उसके बाद तो हंस ने जो उड़ान भरी, उसे देखते-सुनते, पढ़ते हुए लोग भूल गए कि यह वही हंस है जिसका विरवा मुशी प्रेमचंद ने रोपा था। इतिहास को वर्तमान में बदलने का यह साहस बेशक दुर्लभ है जो राजेन्द्र यादव को उनके समकालिनों से अंदग लड़ा करता है।

मैं हंस का पाठक रहा हूँ। मैंने राजेन्द्र यादव के समूचे व्यक्तित्व और लेखन में उन्हें परंपरा भंजक और विद्रोही के रूप में पाया। इसीलिए उन्होंने अपने व्यक्तित्व और लेखन द्वारा लगातार नयी बहसों और विवादों को जन्म दिया। मैं मानता हूँ कि हंस के 'मेरी तेरी उसकी बात' सरीखे संपादकीय स्तंभ के जरिए राजेन्द्र जी ने भारतीय समाज और संस्कृति के मुद्दों पर जो वैचारिक हस्तक्षेप किया, उसने साहित्यकार की भूमिका को नया आयाम भी प्रदान किया। मुझे अच्छी तरह याद है दिल्ली से प्रकाशित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' के हमारे संपादकीय पर अपनी टिप्पणी प्रस्तुत करते हुए आकाशवाणी, पटना के पूर्व कंेद्र निदेशक तथा मेरे वरिष्ठ सहपाठी बाँकेनंदन प्रसाद सिन्हा जी ने कहा था कि 'मैं संपादकीय लंबा लिखता हूँ'। इसके उत्तर में मैंने उनसे कहा कि 'हंस' के संपादक राजेन्द्र यादव तथा 'कादम्बिनी' के संपादक राजेन्द्र अवस्थी के संपादकीय से हमारा संपादकीय छोटा ही होता है जिसे सुनकर वे चुप्पी लगा गए। इस बात की भनक जब लोकप्रिय कवि भाई सत्यनारायण जी को लगी

तो उनकी टिप्पणी थी कि 'कोई भी संपादक जब अपनी पत्रिका के संपादकीय में पूरी बात नहीं कहेगा, तब वह कहाँ कहेगा?' इस टिप्पणी से मुझे तसल्ली मिली और तब से लंबा सेपादकीय लिखना मैंने जारी रखा। इस प्रकार कहा जाए, तो राजेन्द्र यादव के लेखन से भी मुझे प्रेरणा प्राप्त हुई वैसे विचारधारा में भी हम एक-दूसरे को समान पाते हैं। मैं भी प्रगतिशील लेखन का पोषक हूँ और उसी रास्ते पर मेरी लेखनी चलती है।

पिछले 28 अक्टूबर, 2013 को हिंदी के इस वरिष्ठ साहित्यकार का 84 वर्ष की उम्र में निधन दिल्ली में हो गया। उनके परिवार में उनकी पत्नी कथाकार मनु भंडारी और उनकी पुत्री रचना हैं। इनके निध न के साथ हिंदी साहित्य के बौद्धिक जगत में वंचितों को मुख्यधारा से जोड़ने वाला तथा धर्मनिरपेक्ष एवं प्रगतिशील मूल्यों के लिए लड़ने वाला एक लोकतांत्रिक लेखक चला गया। उनके निधन से साहित्य एवं निर्भीक पत्रकारिता की अपुरणीय क्षति हुई। हंस के माध्यम से हिंदी साहित्य का जो उन्होंने मंच प्रदान किया और लघु पत्रिका आंदोलन की जो भूमिका उन्होंने तैयार की उसके लिए उन्हें साहित्य एवं पत्रकारिता के क्षेत्र में हमेशा के लिए याद किया जाएगा। विलक्षण प्रतिभा के धनी राजेन्द्र यादव में तमाम अच्छाइयों-बुराइयों के साथ जो उनका व्यक्तित्व था उसके कई मानवीय पक्ष थे। छोटे-बड़े का भेदभाव उनमें विल्कुल नहीं था। सभी से उनका बराबरी का रिश्ता था। हंस कार्यालय में एक जमावड़ा लगा रहता था। वह न सिर्फ दूसरों के ऊपर बल्कि अपने ऊपर भी व्यंग्य करते करते थे। अपनी कमियाँ एवं खामियाँ दूसरों को बताते थे। स्त्री विमर्श और दलित विमर्श उन्होंने इन दो विमर्श शुरू किए। उन्होंने कभी अपने विचार नहीं दिए। राजेन्द्र जी ने अपने विचार तथा व्यक्तिगत आचरण के चलते शत्रुओं के हमले झेले। जिस यौनिकता की वजह से उनकी व्यक्तिगत जिंदगी में अनेक शुभ-अशुभ हिलोरें उठीं, वह उनकी सबसे बड़ी ताकत भी थी। उनके संपर्क में आने वाले किसी लेखक-संपादक अथवा लेखिका की दबी-ढकी, परतचढ़ी आवरित यौनिकता को वह कुरेद देते थे उसमें दरारें डाल देते थे। हिंदी में लेखक तो बहुत हुए पर जैसी उदारता और सच कहने का जैसा साहस राजेन्द्र यादव जी में था वह विरले में देखने में आता है। और व्यवहार में जनतांत्रिक राजेन्द्र यादव मतभेदों से न तो डरते थे न घबराते थे और न बुरा मानते थे। यही कारण है कि साहित्यकारों से उन्होंने जितनी दोस्ती निभायी उतनी दुश्मनी भी, पर अपनी विचारधारा से कभी समझौता नहीं किया।

जहाँ तक राजेन्द्र यादव जी के रचना-संसार का सवाल है कहानी संग्रह में देवताओं की मूर्तियाँ 1952, खेल-खिलौने 1953 जहाँ लक्ष्मी कैद है: 1957, अभिमन्यु की आत्म कथा: 1959, छोटे-छोटे ताजमहल: 1961, किनारे से किनारे तक: 1962, टूटना: 1966, चौखट तोड़ते त्रिकोण: 1987, श्रेष्ठ कहानियाँ, प्रिय कहानियाँ, प्रतिनिधि कहानियाँ, अब तक की समग्र कहानियाँ, यहाँ तक पड़ाव-1, पड़ा-2: 1989 वहाँ तक पहुँचने की, होड़: 1991 हासिल और अन्य कहानियाँ: 2006 में प्रकाशित हुईं। इसी प्रकार उपन्यास में 'सारा आकाश'- 1959, 'प्रेत बोलते हैं' के नाम से - 1951, उखड़े हुए लोग - 1956, कुलटा - 1958, शह और मात - 1959, अनदेखे अनजाने पुल - 1963 एक इंच मुस्कान- (मनु भंडारी के साथ) - 1963, मंत्री विद्ध - 1967 में छपे कविता-संग्रह में आवाज तेरी है- 1968 में छपा। समीक्षा-निबंध में कहानी: स्वरूप और संवेदना - 1968, प्रेमचंद की विरासत-1978, अट्ठारह उपन्यास - 1981, औरों के बहाने - 1981, कांटे की बात (बारह खंड) - 1994, कहानी: अनुभव और अभिव्यक्ति- 1996, उपन्यास: स्वर और वेदना - 1998, आदमी की निगाह में औरत - 2001 वे देवता नहीं हैं - 2001, मुड़ - मुड़ के देखता हूँ - 2001 आत्मकथा। संपादन - एक दुनिया समानान्तर 1967, कथा-दशक हिंदी कहानियाँ 1981-90, मेरे साक्षात्कार - 1994, आत्म तर्पण - 1994, अभी दिल्ली दूर है - 1995, काली सुर्खियाँ (अश्वेत कहानी संग्रह) - 1995, कथा-यात्रा- 1965, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य - 2001 औरत: उत्तरकथा - 2002, पितृसत्त के नए रूप - 2003, कथा - जगत की बागी मुस्लिम औरतें - 2006, अब वे वहाँ नहीं रहते - 2006, प्रेमचंद द्वारा स्थापित कथा मासिक 'हंस' - अगस्त 1986 से, अनुवाद में चेखव के तीन नाटक (सीगल तीन बहनें, चेरी का बागीचा), उपन्यास में टक्कर चेखव, हमारे युग का एक नायक - लमन्तोव, प्रथम प्रेम (तुर्गनेव), वसंत प्लावन (तुर्गनेव), एक मछुआ: एक मोटी- स्टाइन बैंक, अजनबी (कामू) - ये सारे उपन्यास कथा शिखर के नाम से दो खंडों में - 1994 नरक ले जाने वाले लिफ्ट - 2002 (विदेशी कहानियाँ)।

राजेन्द्र यादव की प्राय: सभी कहानियाँ, उपन्यास अथवा समीक्षाएँ चर्चित रहीं। इनके कहानी संग्रह 'अपने पार' की कहानी 'अपने पार' उत्कृष्ट है। उनका उपन्यास 'उखड़े हुए लोग अपने बड़े आकार के बावजूद जितना नहीं कह पाता, उतना उनकी छोटी कहानी 'हनीमून' कह

जाती है। यह मास्टर पीस एवरेस्ट की शीर्ष चोटी की तरह है, जिसे छूपाना किसी भी लेखक के लिए गर्व की बात हो सकती है। 1951 में प्रकाशित उनका पहला उपन्यास 'प्रेत बोलते हैं' था 1960 के दशक में नया शीर्षक 'सारा आकाश' दिया गया। इसी नाम से बॉस चटर्जी ने इस पर फिल्म बनाई थी। वे 1999 से 2000 तक प्रसार भारती बोर्ड के नामांकित सदस्य भी रहे।

नई कहानियों का जो दौर शुरू हुआ था, उसके संस्थापक त्रिमूर्ति यानी मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव थे। राजेन्द्र यादव इस त्रयी के आखिरी स्तंभ थे। अपने संपादकीय लेखों के माध्यम से राजेन्द्र जी ने जिस सामाजिक परिवर्तन की धारा चलायी, उसका मुकाबला कोई संपादक या कोई लेखक नहीं कर सकता। हनुमान को भारत का पहला आतंकवादी राजेन्द्र यादव ही कह सकते थे। निठल्ले साधु-संतों को ए०के०-47 से उड़ाने की बात कहने का साहस भी वह ही कर सकते थे। वह राजेन्द्र यादव ही थे जिन्होंने दलित साहित्य को सबसे पहले मान्यता दी थी। उनकी इसी प्रतिबद्धता का परिणाम था कि उन्होंने 'हंस' का दलित साहित्य विशेषांक प्रकाशित किया। क्रांतिकारी ढंग से सोचने की वजह से ही उन्होंने भारतीय मुस्लिम समाज के भीतर चल रहे विमर्श को बहस के केंद्र में लाने के लिए 'हंस' का 'भारतीय मुसलमान' विशेषांक निकाला था जिसकी बहुत आलोचना हुई थी।

राजेन्द्र जी रचनाशीलता को उचित सम्मान देने में कभी चूकते नहीं थे। इसे भुलाना मुश्किल है कि अपने से आगे की पीढ़ी के कहानीकारों को गढ़ने में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वे लिखते तो थे ही, मगर लिखवाते भी कम नहीं थे। लिखने वालों का विद्यालय खड़ा करना राजेन्द्र यादव के ही बूते की बात थी और इस काम के बहाने उन्होंने साहित्य पर वाकई बहुत बड़ा उपकार किया।

पूरी जिंदगी अपनी शर्तों और अपनी मर्जी से जीने वाले लेखक-संपादक राजेन्द्र यादव जी को इन पंक्तियों से उनकी स्मृति को नमन करता हूँ . . . . .

वह आदमी कैसा होता है?
जो जमीन पर रहते हुए भी आकाश का होता है।
वह आदमी कैसा होता है?
जो काँटों के बीच रहते हुए भी
फूलों को ही जानता है।

चन्देश्वर प्र. विद्यार्थी :

जो संपादकीय को रचनात्मक लेखन न मानकर उसे वैचारिक लेखन मानना ठीक समझते थे

मेरी समझ है कि रचनात्मकता और वैचारिकता किसी के कृतित्व को आँकने के कमतर पैमाने हैं, मुख्य बात है उसके सरोकार और दृष्टि। दैनिक 'आज' के पटना संस्करण के पूर्व संपादक चन्देश्वर प्रसाद विद्यार्थी एक ऐसे ही सुलझे पत्रकार थे जिनकी दृष्टि और सामाजिक सरोकार की लोग तारीफ किया करते थे। जबतक वे आज से जुड़े रहे वह पत्र-पत्रिका से बढ़कर साहित्य-कला-संस्कृति के एक बहुत सक्रिय मंच की भूमिका विगत वर्षों में निभाते रहे। विद्यार्थी जी के साथ मैं एक अरसे से जुड़ा रहा। उनका वह वाक्य मेरे मानस-पटल पर आज भी रेखांकित है जिसमें वह कहा करते थे कि जो रचनाकार अपने वर्ग को, अपने यथार्थ को भूल जाता है, तब वह निरंतर तो लिखता रह जाता है, मगर उसमें गहराई की संभावना नहीं रह सकती। यह रचना और रचनाकार के बारे में एक स्थापित सच्चाई है और वह आइना भी, जिसमें विद्यार्थी जी स्वयं और उनके अन्य समकालीन रचनाकार अपना चेहरा देख सकते हैं।

विद्यार्थी जी संपादकीय को रचनात्मक लेखन न मानकर उसे वैचारिक लेखन मानना ठीक समझते थे। विद्यार्थी जी के संपूर्ण कृतित्व को संपादकीय लेखों और वैचारिक निबंधों के रूप में देखा जा सकता है। इसके साथ ही वे हिंदी भाषा और साहित्य में भी काफ़ी दिलचस्पी रखते थे।

जबतक विद्यार्थी जी पटना में रहे प्रायः हमसे उनकी मुलाकात होती रहती थी। मुझे अच्छी तरह याद है जब पटना में विधानसभा अध्यक्षों का राष्ट्रीय अधिवेशन होना था, तो उस अवसर पर प्रकाशित होने वाली स्मारिका के लिए तत्कालीन बिहार विधान सभाध्यक्ष सदानन्द सिंह ने विधानसभा की एक प्रकाशन समिति का गठन किया था जिसके अध्यक्ष थे भारतीय प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ अधिकारी राम उपदेश सिंह 'विदेह' और सदस्य के रूप में चन्देश्वर प्रसाद विद्यार्थी के साथ मैं भी था। उस समिति की जब भी बैठकें होती थीं हम दोनों प्रायः एक साथ उन बैठकों में सम्मिलित होते थे तथा स्मारिका के सुरूचिपूर्ण प्रकाशन के लिए विचार-विमर्श करते थे। आज भी विद्यार्थी जी के द्वारा व्यक्त विचारों को जब मैं स्मरण

करता हूँ तब उनका पूरा व्यक्तित्व मेरी आँखों के सामने उभर आता है।

पत्रकारिता से जुड़े रहने की वजह से विद्यार्थी जी ने समय-समय पर नई पीढ़ी के मूल्याँकन का कार्य पूरी तन्मयता और गरिमा के साथ किया है। ऐसे समय में जब हिंदी में पाठकीयता का खतरा, पत्रकारिता में खेमेबाजी और सत्ता से जुड़े लोगों की चाटूकारिता की बात जब-जब सुनी जाती थी, विद्यार्थी जी उन सबकी अनदेखी कर युवाओं की पीठ थपथपाते हुए उनके पीछे पूरी सहृदयता के साथ खड़े नजर आते थे जैसे एक वरिष्ठ पत्रकार की हैसियत से वह उनके साथ हौसला अफजाई के लिए खड़े हों। सहृदयता, नएपन की स्वीकार्यता एवं अपने समय की रचनात्मक संवेदना से गहरी संपृक्ति विद्यार्थी जी के कृतित्व व व्यक्तित्व की धुरी थी।

पत्रकारिता के प्रति अपनी नैतिक जिम्मेदारी मानते हुए विद्यार्थी जी अक्सर उन क्षेत्रों में भी चले जाते थे, जिनकी आवाज पहले व्यवस्थित रूप से कोई एकत्र नहीं कर पाया था। उनके जैसा व्यस्तम एवं सहृदय पत्रकार आज ढूँढ़ पाना, जरा कठिन है। यही वह बात है जो उन्हें जीवन के प्रति अटूट आसक्ति और पत्रकारिता के प्रति गंभीर आस्था रखने वाले की छवि प्रदान करती है। हालांकि पत्रकारिता के क्षेत्र में कभी धीमे तो कभी तेज स्वर में, कभी पत्र के मालिकों द्वारा, तो कभी सहकर्मियों द्वारा उनपर वार होते रहे। फिर भी वे उन सबके प्रति अप्रतिहत रहते हुए कम से कम उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में लिखना कभी बंद नहीं किया। हाँ, उनका लेखन तब बंद हुआ जब वे अस्वस्थ हुए और चिकित्सकों ने घोषित किया कि उनकी किडनी खराब हो चुकी है। इसका इलाज लंबे समय तक चलता रहा और फिर काफी प्रयास के बाद आखिरकारं उनकी अपनी बहन ने एक किडनी देना स्वीकार किया। अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान(एम्स), नई दिल्ली में उनकी किडनी का प्रत्यारोपण (Transplant) हुआ, लेकिन खुदा को यह भी मंजूर नहीं हुआ और अंत में विगत सितंबर 2006 को उन्होंने इस दुनिया को अलविदा कह दिया।

सबको तो एक दिन जाना ही है, पर जब कोई कुछ करके जाता है उसी को लोग याद रख पाते हैं और बाकी सारी चीजें यों ही धरी की धरी रह जाती हैं। विद्यार्थी जी का हम सभी पत्रकारों के बीच से चला जाना नागवार इसलिए लगा कि उनके जैसा इंसान और साहसी पत्रकार मिलना मुश्किल है। एम्स जाकर मैं बराबर उनसे मिलता था और दुख-सुख बाँटता था। एम्स में भर्ती होने के पूर्व भी दिल्ली के पाण्डवनगर स्थित फ्लैट

में जाकर अक्सरहा देश-दुनिया की बात मैं करता था। स्वस्थ हो जाने के बाद मेरे संपादकत्व में दिल्ली से प्रकाशित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' को सहयोग करने को उन्होंने मुझे आश्वासन दे रखा था और साथ मिलकर इसे और पठनीय एवं स्तरीय बनाने की बात की थी, क्योंकि हम दोनों का मन तो मिलता ही था विचार भी मिलता था। सच मानिए, उनके चले जाने के बाद हम अपने एक सच्चे एवं सहृदय मित्र से महरूम हो गए जिसकी भरपाई तो आज तक नहीं हो पाई, मगर वे पूरी समग्रता और जीवंतता के साथ वर्षो-वर्षो तक मेरी स्मृति में विद्यमान रहेंगे, यह मैं मानता हूँ और उन्हीं स्मृतियों के बल पर पत्रकारिता के क्षेत्र में मेरी ऊर्जा का उपयोग होता रहेगा, क्योंकि जिस कलात्मक ढंग से मेरी जिजीविषा को वे रेखांकित करते रहे वही पत्रकारिता के प्रति मेरी निष्ठा को ऊर्जा और चमक प्रदान करती रहेगी। यह संस्मरण विद्यार्थी जी की निष्ठा के प्रति सम्मान है।

थोड़े ही दिन पूर्व तो दिल्ली के एम्स में श्री विद्यार्थी जी से मिलकर पटना गया था कि फोन की घंटी बज उठी... फोन करने वाले की आवाज सामान्य न थी। कुछ लिख रहा था, शायद 'समकालीन संपादकीय' पुस्तक के लिए अपने सभी संपादकीय अग्रलेखों को एकत्रित कर रहा था, सो तुरत फोन पर सुना- 'चाचा जी, दिल्ली से मैं पियूस बोल रहा हूँ, आपके लिए एक दुःखद समाचार दे रहा हूँ। पिछली रात चाचा चन्देश्वर प्रसाद विद्यार्थी जी चल बसे।' यह शोक-संदेश सुनकर ऐसा लगा जैसे शरीर का कोई खास हिस्सा किसी ने काट लिया हो। एक बार पुनः अतीत की ओर मैं लौट गया और विद्यार्थी जी की सारी स्मृतियाँ हमारे मानस-पटल पर रेखांकित हो आईं। मुझे याद है यमुना पार के स्कूल ब्लॉक, शकरपुर स्थित गार्डन में प्रातः टहलने के पश्चात् पाण्डवनगर के फ्लैट में जब विद्यार्थी जी से मिलकर उनके स्वास्थ्य की जानकारी लेने मैं जाता था, तो घंटों वे मुझे अपने पास बैठा लेते थे और चाय के साथ उनकी बातों का दौर जब शुरू हो जाता था, तो वह अंतहीन दौर होता था। यकीन मानिए, जब वे मुझे 'विचार दृष्टि' पत्रिका को आगे आने वाले दिनों में अपेक्षित सहयोग करने की बात करते थे, तो न जाने क्यों मेरी आँखों में आँसू आ जाते थे, शायद मेरे मन में यह बात आती थी कि भविष्य को कौन जानता है। इन पंक्तियों के लिखते वक्त भी विद्यार्थी जी की बातें किसी शून्य से आती हुई सुनाई दे रही हैं। वे अपराजेय जिजीविषा के प्रतीक पुरुष थे।

बिहार के वैशाली जिलांतर्गत जागोडीह गाँव में जन्मे

चन्देश्वर प्रसाद विद्यार्थी लगभग तीस वर्षों तक लगातार पत्रकारिता से जुड़े रहे। 'आज' के अतिरिक्त कई पत्र-पत्रिकाओं का उन्होंने संपादन किया। मात्र अट्ठावन वर्ष की आयु में उनका इस संसार से अलविदा कहना हमारे जैसे सैकड़ों शुभेच्छुओं को नागवार लगा, पर विधि के विधान को तो कोई टार नहीं सकता। वे अपने पीछे अपनी विधवा पत्नी, एकमात्र पुत्र तथा दो पुत्रियाँ छोड़ गए और छोड़ गए मेरे जैसे अनेक शुभेच्छुओं को जिन्होंने देखा उनमें पत्रकारिता की एक प्रखर प्यास और उनके व्यक्तित्व में साहस, चरित्र, कर्मठता तथा एक तेजस्वी मन। दरअसल, जब उम्र नहीं होती वक्त पकड़ने और रोके रखने की सारी कोशिशें नाकामयाब हो जाती हैं। भाई विद्यार्थी जी के साथ भी ऐसा ही हुआ। नवगीत की अन्यथा कवयित्री डॉ. शांति जैन के 'अनगाए गीत' शीर्षक गीत की इन पंक्तियों से अपने मित्र विद्यार्थी जी की पावन स्मृति को मैं नमन करता हूँ-

'अनपढ़ा-सा लेख तेरे प्यार का
अंधबनां-सा चित्र मन के ज्वार का
सुधि गगन में नखत-सा एकांत बन
बिन झकोरो सो गया स्वर लहर का।'

डॉ॰ धर्मवीर भारती : जिनकी संवेदनशीलता अंतःसलिला थी

ये पंक्तियाँ हैं 'मुनादी' कविता की जिसे धर्मयुग के श्रेष्ठ संपादक धर्मवीर भारती ने आपात्काल को ललकारते हुए आज से लगभग तीन दशक पहले लिखी और इसे लोकनायक जयप्रकाश नारायण को समर्पित किया था। उन्होंने हर जगह आंदोलन खड़े कर दिए थे। लेखक भी समाज का उसी तरह एक हिस्सा होता है, जिस तरह अन्य लोग। उसकी भी समाज के प्रति जवाबदेही होती है। इसलिए जो कुछ भी वह रचता है, उसके मन से उपजी हुई चीज़ें होती हैं। लेखक के अनुभव ही उसकी रचना के स्रोत होते हैं।

कवि, कथाकार, नाटककार, उपन्यासकार तथा निबंधकार के साथ-साथ मुबई से प्रकाशित 'धर्मयुग' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका के डॉ॰ धर्मवीर भारती यशस्वी संपादक थे। जो 'धर्मयुग' एक लंबे अरसे तक लेखकों को 'सेठश्री' बनाने का एक षड्यंत्र समझा जाता रहा और जिसकी खेल-कूद, साज-सिंगार, कढ़ाई-बुनाई, व्यंग्य, फ़िल्म आदि से जुड़ी रंगीन व्यावसायिक पत्रिका बताकर जिसकी नाक़द्री होती रही, उसके महत्त्व को अंततः वृहत्तर पाठक समुदाय ने पहचाना कि डॉ॰ धर्मवीर भारती के संपादकत्व में वह केवल हिंदी के माध्यम से समग्र भारतीय साहित्य के परिचय का माध्यम बना और साथ ही युवा पत्रकारों की बड़ी क़तार उसके नाते उठकर खड़ी हो गई। हाँ, इतना ज़रूर है कि 'धर्मयुग' के संपादन से जब उन्हें प्रस्ताव मिला, तो उसकी स्वीकृति देते वक़्त उन्होंने रचनाशीलता को दावं पर लगा दिया जिसके चलते ही यह 'धर्मयुग' पत्रिका सर्जनात्मकता के शिखर पर पहुँची। हालांकि उन्होंने अपने प्रति सचमुच यह एक क्रूर निर्णय किया था। स्वयं की सृजनात्मकता को ज़ोखिम में डालकर उन्होंने इसे संभव बनाया। उनके संपादक बनने से 'धर्मयुग' की जो प्रचार संख्या हज़ारों में थी, वह लाखों तक पहुँच गई थी और वह पत्रिका इतिहास बन गई थी। निःसंदेह उनके पत्रकारिता में आने के बाद समय की कमी के कारण डॉ॰ धर्मवीर भारती का सृजन के क्षेत्र में बहुत कम योगदान रहा, किंतु 'धर्मयुग' के संपादक का दायित्व संभालकर उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में एक मानदंड स्थापित किया। दरअसल, सन् 1960 ई॰ में जब भारती जी ने इलाहाबाद

विश्वविद्यालय की प्राध्यापकी छोड़कर मुंबई में 'धर्मयुग' के संपादक का दायित्व संभाला तब उनके सामने बहुत बड़ी चुनौती थी। उनसे पहले 'धर्मयुग' के संपादक इलाचंद्र जोशी और सत्यकाम विद्यालंकार रह चुके थे। दोनों ही अपने समय के ख्यात और दिग्गज संपादक थे। डॉ॰ धर्मवीर भारती को उन दोनों से अलग कुछ दिखाना था। इसलिए उन्होंने बँधे-बँधाए स्वरूप और ढर्रे को तोड़ने का ही बीड़ा उठाया। उनकी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा की सूझबूझ ने 'धर्मयुग' का एक अलग और विशिष्ट स्वरूप निर्मित्त किया। साहित्य, कला, धर्म, संस्कृति, संगीत, राजनीति, चित्रपट, इतिहास, विज्ञान, क्रीड़ाजगत, बालजगत, नारी संसार कोई भी तो ऐसा विषय नहीं था जिसका 'धर्मयुग' के पृष्ठों में समावेश न किया हो। डॉ॰ धर्मवीर भारती अपने विषय में विशिष्ट और सुप्रसिद्ध मनीषियों को 'धर्मयुग' में लिखने के लिए अनुप्राणित ही नहीं करते थे, बल्कि उनको आदर-सम्मान देकर उनकी उपस्थिति को रेखांकित भी। चेतन मानव के परिवेश को संपूर्णता से विस्तार देने के निमित्त जितना कुछ पुरातन से ग्राह्य था उसे भारती जी ने 'धर्मयुग' में संजोकर तो रखा ही, साथ ही नवीन की कल्पना को साकार कर समाहित किया।

साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में स्वीकृत विधाओं के साथ-साथ हाशिए पर पड़ी विधाओं की ओर भी डॉ॰ धर्मवीर भारती ने उचित ध्यान दिया। हास्य-व्यंग्य, कार्टून और बाल साहित्य की स्तरीयता को उन्होंने एक बहुआयामी और एक नया स्वरूप दिया। डॉ॰ धर्मवीर भारती ने वैचारिकता को भी खुली दिशाएँ दीं और किसी एक विचार या सिंद्धात की रूढ़िवादिता को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। किसी राजनीतिक मतवाद को उन्होंने कभी मान्यता नहीं दी। वे स्वयं प्रगतिशील समाजवादी विचारधारा से जुड़े थे।

संपादक के रूप में डॉ॰ धर्मवीर भारती की रचनाएँ प्यारी थीं, रचनाकार नहीं। हालांकि देखा जाए तो किसी लेखक को छापने के लिए उसकी रचना से ज़्यादा उसकी जाति, गोत्र और संप्रदाय पर विचार आज के तथाकथित संपादकों के लिए न सिर्फ़ आवश्यक है, बल्कि उनके चयन का मुख्य आधार ही वही होता है। ऐसे वक़्त में जब अपनी जाति अथवा धर्मावलंबियों को ही चुन-चुनकर छापने और विभिन्न साहित्यिक पदों और पुरस्कारों से नवाज़ने का माहौल रहा, डॉ॰ धर्मवीर भारती ने अपने को इन सभी दुष्प्रवृत्तियों से दूर रखा। भारती जी जैसे संपादक को आज याद करना मेरे लिए एक अनूठा अनुभव है।

साहित्यिक रचनाओं के प्रकाशन में डॉ॰ धर्मवीर भारती की

भी रुचि थी और उसे वे बड़ी गंभीरता से लेते थे। यही नहीं, वे ऐसी साहित्यिक रचनाओं के अंतर्निहित सत्य को अपने चंद सधे शब्दों में संपादकीय टिप्पणी के रूप में प्रस्तुत करके पाठकों के लिए उन्हें और अधिक सशक्त बना देते थे। मुझे याद है विभागीय पत्रिका 'प्रहरी' के संपादन की अवधि की रचनाओं पर की गई मेरी संपादकीय टिप्पणियों को भी पाठकों ने मुक्त कंठ से सराहा था। डॉ॰ धर्मवीर भारती शायद इसी वजह से 'धर्मयुग' के लिए वैसी ही रचनाओं को स्वीकार करते थे जो उनकी कसौटी पर खरी उतरती थीं। आख़िर तभी तो 'वागर्थ' के संपादक प्रभाकर श्रोत्रिय ने एक बार कहा था कि ''भारती के हाथों में आकर 'धर्मयुग' पत्रिका साहित्य, समय और लोक मन का सेतु बन गई थी और प्रबुद्धवर्ग से लेकर आम आदमी तक तथा पाँच सितारा से लेकर पान की दुकान तक पढ़ा जाता था।'' 'धर्मयुग' में छपना एक लेखकीय सुख पाना था जो आज दुर्लभ है।

डॉ॰ धर्मवीर भारती जैसे श्रेष्ठ संपादक की यादों की पिटारी खोलकर जब मैं बैठा हूँ तो इस संदर्भ में मैं यह भी बताता चलूँ कि प्रायः प्रति वर्ष डॉ॰ धर्मवीर भारती नए वर्ष के उपलक्ष्य में 'धर्मयुग' की ओर से अपने लेखकों एवं शुभेच्छुओं के पास अभिनन्दन (ग्रीटिंग कार्ड) भेजते थे जो अन्य कार्ड की तरह सामान्य नहीं होकर पर्याप्त कलात्मक सुरुचिपूर्ण और विचारोत्तेजक होते थे। वर्ष 1983 ई॰ में उनके द्वारा भेजे गए ग्रीटिंगकार्ड पर मनकों की एक माला बनी थी, जो जाप करने वाले एक मनुष्य के हाथ लटकी थी। उस माला के मोती प्रायः सभी धर्मों के प्रतीक चिह्न थे तथा माला पर कविता की निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी थीं –

सारे मनके
एक धागे में बँधे
तब ही माला बने
एक एक मनका
अलग रहा तो ...
उसका मूल्य घटे !!

मैं समझता हूँ कि राष्ट्रीय एकता, अखंडता और सांप्रदायिक सद्भाव के संदर्भ में इस ग्रीटिंग कार्ड से ज़्यादा सार्थक अभिव्यक्ति और क्या हो सकती है।

जहाँ तक डॉ॰ धर्मवीर भारती की कृतियों के प्रकाशन का प्रश्न है 'अंधायुग', 'कनुप्रिया', 'ठंडा लोहा', 'गुनाहों का देवता', 'सात गीत वर्ष',

'संशय की रात', 'एक कंठ विषपायी', 'शंबूक', 'आत्मजयी', 'परिणति' और 'सूरज का सातवां घोड़ा' जैसी दर्जनों पुस्तकें प्रकाश में आईं जिनके पात्र और घटनात्मक फ़लक भले ही अपने आप में पुराने थे, किंतु उनकी रचनाओं की दृष्टि आधुनिकता संपन्न थी। ख़ासकर 'अंधायुग' और 'कनुप्रिया' दोनों ही ऐसे जागरूक और अध्येता रचनाकार क़ी कृतियाँ हैं जिनमें डॉ॰ धर्मवीर भारती की इतिहास-दृष्टि अतीत और वर्तमान दोनों पर समान रूप से केंद्रित रही है। वैसे भी इतिहास न कभी मरता है न कभी नितांत अनुपयोगी ही होता है। इतिहास की ऊर्वरा भूमि पर ही वर्तमान एक बिरवे की भाँति अंकुरित होकर एक विशाल वृक्ष का रूप धारण करता है और एक दिन अनागत भविष्य के सम्मुख स्वयं को जराजीर्ण पत्तों की तरह समर्पित कर देता है। इस प्रकार एक सतत जागरूक रचनाकार अपने रचनाक्षणों में गत का पुनर्मूल्याँकन और पुनःसृजन करता है।

'अंधायुग' का कथावृत्त जहाँ कौरव और पांडवों में हुए महाभारत के समर की अठारहवें दिन की संध्या से संबद्ध है, वहीं 'कनुप्रिया' एक प्रकार से राधा की उत्तम पुरुष एक वचन शैली में लिखी गई आत्मकथा है। इसे हम प्रणय-वियोगिनी राधा का कृष्ण के प्रति सुदीर्घ मौनालाप भी कह सकते हैं।

डॉ॰ धर्मवीर भारती एक प्रकृति-कवि रहे हैं। उनकी प्रकृति-कविता कुछ ओढ़ती नहीं - नयापन भी नहीं। दरअसल सहज कवि कभी सोता नहीं। वह युगबोध को मुट्ठियों में बाँधे भी युगातीत हो सकता है। सिद्धांततः रचनाकार भारती यथार्थवादी और आधुनिकतावादी होकर भी अपनी सृजनात्मकता में रोमानी संस्कारों से अभिभूत रहा है। चाहे 'ठंडा लोहा' के गीत हों अथवा 'गुनाहों का देवता' जैसे अपने समय का लोकप्रिय और 'बेस्टसेलर' उपन्यास हो अथवा 'सात वर्ष' के कतिपय गीत - सभी इस तथ्य के प्रमाण हैं कि डॉ॰ धर्मवीर भारती स्वभावतः एक रोमांटिक रचनाकार थे। उनके अंतिम कविता-संग्रह 'सपना अभी भी' के 'एक कविता इलाहाबाद पर' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों को आप देखें -

> वही जाड़े की धूप जरतार
> जोगिया नैस्टर्शियम, अलसाई यमुना
> काँपता कोहरा, सड़कें छायादार
> अपने पुराने शहरों में
> सब कुछ वही है प्रिय अजित कुमार
> मगर कुछ है जो अब वहाँ नहीं रहा

चला गया हमारे तुम्हारे गिरधर सर्वेश्वर रमानाथ के साथ
कभी कभी वापस न लौटने के लिए
वही तो था जिसने इस शहर को
देश की हथेली पर मेंहदी की तरह रचा
• मगर फिर वह गया कहाँ?
हमारे तुम्हारे गिरधर सर्वेश्वर किसी के भी पास तो नहीं बचा!

डॉ॰ धर्मवीर भारती ने छायावाद से अपनी मूल असहमति व्यक्त की थी, कारण कि छायावादी कवि अपने को विशिष्ट, महान और पृथक मानकर चलता है और भारती जी इसे ग़लत मानते थे। इन्होंने महानता का निषेध किया था, किंतु वे क्षुद्रता की ओर नहीं बढ़ना चाहते थे। महानता का निषेध करके वे निजात की ओर बढ़ना चाहते थे, क्योंकि वह जो हैं उसको वह पा सकें और सामान्य होते हुए वे सार्थक हो सकें।

डॉ॰ धर्मवीर भारती अपने संपादकीय दायित्व के प्रति आरंभ से ही सतर्क और मुस्तैद थे। उनके लिए हर अगला अंक चुनौती जैसा होता था। 'धर्मयुग' के पृष्ठों पर छपने वाली हर छोटी-बड़ी सामग्री का चयन वे स्वयं ही करते थे। वे हमेशा किसी न किसी नई घटना के बारे में अविलंब कुछ छापने को उत्सुक रहते थे। भारत-पाकिस्तान का जब युद्ध हुआ था और बंगला देश बना था, डॉ॰ धर्मवीर भारती युद्ध के दिनों में विष्णुकांत शास्त्री को लेकर स्वयं मुजीबुर्रहमान से मिलने, प्राण की बिना परवाह किए गए थे और बंग देश की स्वतंत्रता और मुक्तिवाहिनी के संबंध में 'धर्मयुग' के पृष्ठों पर लगातार महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित की थी। उन्होंने 'मुक्ति क्षेत्र : धर्म क्षेत्र' शीर्षक से एक आँखों देखी रिपोर्ट के रूप में लिखी थी वह आज भी सांस्कृतिक-राजनीतिक संदर्भों को रेखांकित करने वाला दस्तावेज़ है। इस प्रकार डॉ॰ धर्मवीर भारती की संवेदनशीलता एक अंत:सलिला नदी थी जो उनके शब्दों में नहीं, उनकी सक्रियता में व्यक्त होती थी।

खद्दर के कुरते पायजामे में सिर पर लंबे बाल लहराता श्याम वर्ण पतले-दुबले डॉ॰ धर्मवीर भारती हँसोड़ स्वभाव, प्रफुल्लित वदन और खनखनाती आवाज़ के व्यक्ति थे। जब वह इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में नियुक्त हुए थे, तो उन दिनों प्रतिभा और मेधा के शिखर पुरुष डॉ॰ धर्मवीर वर्मा तथा डॉ॰ रसाल उस विभाग के विकट त्रिमूर्ति थे। इसलिए डॉ॰ धर्मवीर भारती के लिए प्राध्यापकी एक चुनौती थी जिसका सामना उन्होंने

बड़ी मुस्तैदी से किया। आख़िर तभी तो विद्यार्थी न होने पर भी उनकी कक्षाओं में भारती जी को सुनने वालों का हुजूम उमड़ पड़ता था। उनके विद्यार्थी के रूप में आज के अनेक स्वनामधन्य साहित्यकारों में से कन्हैयालाल नंदन भी एक हैं। उनकी वाणी और विचार सारस्वत साधना का विलक्षण गुण था। उनके स्वभाव में एक अनोखी बात यह भी थी कि वह अपने साहित्यक्रम के प्रति जितने सहज, गंभीर और एकनिष्ठ थे, उसी अनुपात में सहज, मुक्त और आनंदवादी भी थे। लेखन ने उन्हें कभी अनावश्यक रूप से गंभीर और भारी-भरकम नहीं होने दिया। भावों और विचारों की नौका में बैठकर उन्होंने साहित्य धारा में संतरण किया, उसे अपने सिर पर लादे नहीं घूमे।

इलाहाबाद में 'परिमल' की गोष्ठी हो या वह इलाहाबाद से बाहर कोई साहित्यिक सभा हो डॉ॰ धर्मवीर भारती को उन्मुक्त ठहाके लगाते, चुहलबाज़ी करते, गपियाते देखना एक सामान्य दृश्य था। गहन चर्चाओं में सूक्ष्म विवेचना, विश्लेषण और मुद्दों की गहराई तक जाना उनका प्रकृत गुण था, पर अवसरानुकूल खुलापन भी उनका साथ कभी नहीं छोड़ता था। गुस्साते, ललकारते अथवा फ़तवे देते उन्हें शायद ही कभी देखा गया हो। साथ ही हास्य-व्यंग्य करते वक़्त इतने सहज और शिष्ट भी थे कि किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप या फ़ब्ती नहीं कसते थे।

हालांकि यह भी सच है कि वह भीतर ही भीतर कितने स्तरों पर द्वंद्व झेलते थे। उनकी मानसिक बनावट बहुत सूक्ष्म और संश्लिष्ट थी। न कुछ लेने वाली छोटी-सी बात भी उनके मन में फाँस बनकर गड़ जाती थी। से॰ रा॰ यात्री जी ने डॉ॰ धर्मवीर भारती के व्यक्तित्व पर एक रचना में लिखा है कि "उनके भीतर एक रचनाकार और स्रष्टा का अहम भी कम नहीं था। जो गलत ढंग से छूते ही भयावह नाग की तरह फुफकार उठता था। सीधे, परम भोले, आनंदजीवी मस्तमौला उन्हें आसानी से रास आ जाते थे, पर चालाक और गणितजीवी उनकी मानसिकता में अट नहीं पाते थे। उनके लिए भारती हमेशा सवा सेर ही सिद्ध होते थे। उन्हें समर्पणशीलता से ही जीता जा सकता था।"

जहाँ वे अपने आत्म सम्मान के लिए निरंतर संघर्षरत रहे थे, वहीं दूसरों का सम्मान करना भी जानते थे। अपने निकट आने वालों पर अपनी प्रतिभा का आतंक जमाकर उसे लघु बनाना अथवा सिद्ध करना उन्हें इष्ट नहीं था। डॉ॰ धर्मवीर भारती पारस्परिक संबंधों के प्रति अत्यंत संवेदनशील थे। इस विषय में वह हल्की-सी खरोच भी बर्दाश्त नहीं कर पाते थे। सहयोगियों के दु:ख-सुख को लेकर हमेशा चिंतित बने रहते थे।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन':

जो पत्रकारिता की कला-साधना के वरद् पुत्र थे

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का सारा व्यक्तित्व व कृतित्व गाँधी युग की देन है। इक्कीसवीं शताब्दी के शुभारंभ और वैश्वीकरण के युग में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का कृतित्व सांस्कृतिक विरासत का एक हिस्सा बन गया है। इनके माध्यम से पूरी आज़ादी की लड़ाई 20 वीं शताब्दी, गाँधी युग, देश का नवनिर्माण तथा हिंदी साहित्य की महत्त्वपूर्ण झाँकी तो मिलती ही है, पत्रकारिता तथा संसदीय जीवन, क्रांतिकारिता तथा विद्रोह, शोक-गीत, रामकात्य तथा मस्तमौला फक्कड़ व्यक्तित्व के अनेक रंग देखने को मिलते हैं।

8 दिसंबर, 1897 ई॰ को मध्य प्रदेश के ग्वालियर राज्य के शाजापुर ज़िले के शुजालपुर तहसील के एक छोटे तथा पिछड़े गाँव म्याना की टूटी-फूटी झोपड़ी में जन्में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' अपने त्याग, पराक्रम तथा तेजस्विता के बल पर गाँधी, नेहरू, पटेल,, सुभाष, आज़ाद तथा राजेन्द्र प्रसाद एवं लोकमान्य तिलक के सान्निध्य में तो आए ही, राष्ट्रीय पत्रकारिता, राष्ट्रीय आंदोलन तथा आर्य समाज ने भी उनके व्यक्तित्व की रेखाओं में गहरे रंग भरे। हुआ यह कि कुछ वर्षों तक अपनी माँ के कंपित कंठ-स्वर के गीत - 'पौढ़ि रहो घनश्याम बलैया ले हों' के उनकी गोद में बीता फिर बाद के बहुत साल पिता के साथ गुज़रे। इनके पिता श्रीमद् वल्लभाचार्य के वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी थे और राजस्थान के उदयपुर स्थित वेष्णवों के प्रधान तीर्थ-स्थल नाथद्वारा में रहते थे सो इनकी माँ बालक 'नवीन' को लेकर नाथद्वारा चली गईं। फिर 'नवीन' ने स्वयं एक रचना में लिखा कि शाजापुर में अँग्रेज़ी मिडिल स्कूल पास करने के बाद हाई स्कूल की शिक्षा के लिए वह उज्जैन चले गए जहाँ पर माधव कॉलेज नामक शिक्षा संस्थान में उनकी शिक्षा हुई।

उज्जैन में नवीन जी ट्यूशन तथा कानपुर में पत्रकारिता का धंधा करके पढ़े। वह जब उज्जैन में पढ़ाई कर रहे थे, तभी क्रांतिकारियों के दल में शामिल हो जाना चाहते थे, परंतु शिक्षकों के समझाने-बुझाने पर किसी प्रकार मान गए। पद्मश्री लक्ष्मी नारायण दूबे ने अपनी एक रचना में लिखा है कि अपने अध्ययन काल में 'नवीन' जी कभी जूते नहीं पहने, परंतु भोजन के मामले में उनके जोड़ीदार रविशंकर शुक्ल और वृंदावन लाल वर्मा रहे। कपड़ों की भी ऐसी कोई परवाह नहीं रहती थी। पैवंद लगे कपड़े पहनना और साल में दो धोतियों पर गुज़र करना एक मामूली और स्वाभाविक बात

थी। किताबें कुछ ख़रीदी जाती थीं। इसी तरह जीवन के ये बरस बीते।

सन् 1916 ई॰ में जब 'नवीन' जी दसवें दर्जे में थे, एक ऐसा योग आया जिसकी वजह से उनका सारा जीवन बदल-सा गया। उस साल लखनऊ में काँग्रेस होने वाली थी। लोकमान्य तिलक ने मुंबई में एक भाषण के ज़रिए लखनऊ काँग्रेस में शामिल होने का निमंत्रण दिया। तिलक नवीन जैसा युवा वर्ग उन दिनों हृदय सम्राट थे। बस क्या था कुछ पैसों का जुगाड़ कर वे चल दिए लखनऊ की ओर। 1916 ई॰ की दिसंबर की कड़कड़ाती ठंड में लखनऊ काँगेस में जाने के बाद तो उनके जीवन में परिवर्तन आ गया। यहाँ मध्य प्रदेश की तीन विभूतियों ने तिलक के रथ को खींचा था। -- बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', राम प्रसाद बिस्मिल, और चंद्रशेखर आज़ाद।

यहाँ 'नवीन', तिलक, गाँधी, नेहरू, एनीवेसेंट, रविशंकर शुक्ल गणेशशंकर विद्यार्थी, माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद तथा आचार्य जे०बी० कृपलानी के संपर्क में आए। इसी दौरान 'नवीन' जी गणेश शंकर विद्यार्थी, जो उन दिनों 'प्रताप' के संपादक थे, से उन्हें बातचीत करने का मौक़ा मिला और वह निहाल हुए तथा उसी समय से असहयोग आंदोलन में वे कूद पड़े।

पहली बार जब 'नवीन' जी डेढ़ वर्ष के लिए सन् 1921 ई० के दिसंबर में जेल गए जहाँ उनकी मुलाक़ात जवाहर लाल नेहरू से हुई। उसी समय 'नवीन' जी ने अपनी कृति 'उर्मिला' लिखनी शुरू की जो सन् 1932 ई० की ढाई बरस की जेल सज़ा में पूरी हुई। हालांकि इनकी पहली रचना 'संतु' कहानी 1918 ई० में सरस्वती में छपी। 'उर्मिला' उपन्यास लिखने के पीछे कहा जाता है कि जब 'नवीन' जी लखनऊ के जेल में थे, तो नेहरू जी उन्हें जेल में ही 'मैकबेथ' पढ़ाया करते थे जिसके प्रेरणा का स्रोत आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का लेख 'कवियों की उर्मिला' विषयक उदासीनता थी।

सन् 1936 ई० में निराला ने लखनऊ में 'राम की शक्ति पूजा' लिखी। उसी वक़्त 'नवीन' जी ने 'झूठे पत्ते' लिखी जिससे हिंदी साहित्य में प्रगतिवाद आया। इसी वर्ष प्रेमचंद जी का देहावसान हुआ जिसके साथ 'नवीन' जी कानपुर के मारवाड़ी विद्यालय में शिक्षक रह चुके थे। जेल में ही अमर शहीद विद्यार्थी जी के बलिदान पर लिखा गया 'नवीन' जी का खंडकाव्य 'प्राणार्पण' उनके निधन के बाद प्रकाशित हुआ। सन् 1939 ई० में

'कुमकुम' नाम्नी पहला कविता-संग्रह 'नवीन' जी का छपा। इनका दूसरा काव्य-संग्रह 'रश्मि-रेखा' सन् 1951 ई० में प्रकाशित हुआ और 1952 ई० में 'क्वासि' और 'अपलक' दो गीत-संग्रह एक के बाद एक प्रकाशित हुए। इन गीत-संग्रहों में मुख्य रूप से प्रेम-संबंधी एवं गौण रूप से अध्यात्मपरक दार्शनिक गीत हैं। सन् 1957 ई० में 'नवीन' जी के काव्य का कीर्ति-स्तंभ 'उर्मिला' महाकाव्य प्रकाशित हुआ। 'हम विषपायी जनम के' नामक मुकम्मिल कविता-संग्रह भी प्रकाशित हुआ। 'उर्मिला' को इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ इसलिए माना जाता है कि इस महाकाव्य में 'नवीन' जी ने 'उर्मिला' की वेदना को वाणी दी है। 'नवीन' जी ने अपनी 25 वर्षों की काव्य-साधना में जितना लिखा, आकार और प्रकार में दोनों दृष्टि से वह विविध और बहुल है। इस प्रकार कुल मिलाकर 'नवीन' जी के छह कविता-संग्रह, दो प्रबंध-काव्य और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अनेक लेख, कहानी आदि गद्य-साहित्य पर जिस दिन विचार होगा उस दिन उनके अजस्र यश को नई गरिमा मिलेगी।

"हमारे बलवान बने बिना बने स्वतंत्रता मिल ही नहीं सकती। स्वतत्रता तभी मिल सकती है जब हम बलवान होंगे। जिसका कलेजा सवा हाथ का नहीं वह क्या स्वतंत्रता प्राप्त करेगा?" ये पंक्तियाँ हैं बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की "ताश के सारे पत्ते खोलकर खेलता हूँ।" के कहने वाले नवीन जी का व्यक्तित्व पूर्णतया पारदर्शी था। वे जन-सेवा और कविता में इस तरह लगे थे कि जनसेवा करके जब जेल जाते थे, तो वहाँ कविता भी लिखते तथा काम करते थे और जेल से मुक्त होते ही फिर जनसेवा में लग जाते।

एक बार की दिलचस्प घटना यह है कि साहित्य अकादमी के वार्षिक पुरस्कार के लिए जब 'नवीन' जी की कृति 'उर्मिला' का नाम कई जगहों से भेजा गया, तो 'नवीन' जी को यह बात मालूम हो गई। तत्काल उन्होंने अकादमी को सूचित किया कि उनकी पुस्तक पर विचार न किया जाए। 'दिनकर' जी ने उनसे जब इस बाबत शिकायत की, तो 'नवीन' जी बोले, "सुयश और पुरस्कार अब मेरे अनुजों को मिलना चाहिए।" इसी प्रकार एक बार दिल्ली विश्वविद्यालय में आयोजित एक भाषण प्रतियोगिता के निर्णायक मंडल में थे बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और रामधारी सिंह 'दिनकर'। प्रतियोगिता का कार्यक्रम आकाशवाणी से प्रसारित किया जा रहा था। पुरस्कार निर्णय की घोषणा 'नवीन' जी को करनी थी। अचानक उन्होंने घोषणा की 'दिनकर' जी पुरस्कार की घोषणा करेंगे। इसका कारण बताते हुए 'नवीन' जी ने कहा कि परिणाम घोषित करने में भी छोटा-मोटा सुयश बँधा होता है और

सुयश मैं अनुज को देना चाहता हूँ। इस प्रकार इन घटनाओं से यह स्पष्ट होता है कि 'नवीन' जी स्वयं सुयश न लेकर दूसरों को देना पसंद करते थे।

समुदाय के सामने 'नवीन' जी कविता पाठ करते थे, तो समुदाय वही रहता था जब तल्लीन होकर वह सागर मिटकर जैसे•भावबिंदु में बँध जाता था। कई बार उनकी पंक्तियाँ जनता को आंदोलन के दिनों में उन्हें आगे बढ़ने के लिए प्रेरित कर देती थीं।

"बालकृष्ण शर्मा सरस्वती के वरद् पुत्रों में थे जिनकी रससिद्ध तप:पूत आत्मा को मृत्यु स्पर्श नहीं कर सकती। 'नवीन' जी की लेखनी ने-ब्रिटिश शासन के क़दम को चुनौती दी और इसके लिए उन्होंने निरंतर सज़ा भी पाई। सरस्वती की उष्मा ने तत्कालीन नवयुवकों में स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए उत्साह और ललक पैदा की जिसकी वजह से स्वाधीनता संग्राम की बेदी पर अपनी आहुति देने वाले अनेक सेनानी तो सामने आए ही, 'प्रताप' पत्रिका कार्यालय क्रांति के संमर्थकों का केंद्र भी बन गया।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जी पत्रकारिता से लंबे समय तक जुड़े रहे। सन् 1920 ई० में कानपुर से प्रकाशित मासिक 'प्रभा' का संपादन कर 'नवीन' जी ने उसे साहित्यिक से पूर्णत: राजनीतिक बना दिया और इसमें राजनीतिक टिप्पणियाँ, कहानियाँ, स्वदेशी कविताएँ तथा राष्ट्रीय नेताओं के चित्र आदि प्रकाशित होते थे। प्रारंभ में ही इसकी मासिक प्रसार संख्या लगभग 2000 थी। सन् 1924 ई० के विभिन्न दंगों पर प्रभा में 'नवीन' जी ने क्षोभ और आक्रोश से परिपूर्ण अपने संपादकीय में लिखा- "अपनी माँ के हाथ रंगने वाले पापियो! क्या तुम ज़िम्मेदारी को समझो। बिना हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के हिंदुस्तान को राजनैतिक आजादी नहीं मिल सकती-नहीं मिल सकती" 'नवीन' जी द्वारा प्रकाशित 'झंडा विशेषांक' की सर्वत्र प्रशंसा हुई थी। 'प्रभा' में प्रकाशित संवेदनशील नब्ज़ कहा जा सकता है।

'प्रभा' के अतिरिक्त 'प्रताप' भी उन दिनों अपनी क्रांतिकारिता एवं स्पष्ट राजनैतिक विचारों के कारण उत्तर भारत का एक प्रमुख राजनैतिक पत्र बन गया था। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने 'प्रताप' के सह संपादक की हैसियत से अनेक अंकों में लेख तथा टिप्पणियाँ प्रकाशित कर अधिकारियों-कर्मचारियों की निंदा की तथा किसानों को संघर्ष करने के लिए आह्वान किया। 'नवीन' जी ने काकोरी षड्यंत्र अभियोग, नेता जी सुभाषचन्द्र बोस, सरदार वल्लभभाई पटेल पर जो संपादकीय लिखीं हिंदी साहित्य में

अमर तथा अप्रतिम हैं। वह हिंदी के एकमेव ऐसे पत्रकार थे जिनके अग्रलेखों को अँग्रेज़ी पत्रकारिता में उद्धृत किया जाता था। नवीन जैसे प्रखर, निर्भीक तथा साहसी पत्रकार एवं साहित्यकार कभी नहीं हुए। इसी कारण उनका एक पैर हमेशा जेल में रहता था। इस तरह इन्होंने भी दस बार जेल यात्रा की थी।

जयशंकर प्रसाद और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के प्रति 'नवीन' जी के हृदय में बड़ी आस्था थी। प्रसाद जी की 'कामायनी' को अंतरराष्ट्रीय ग्रंथ बनाने का श्रेय भी 'नवीन' जी को जाता है। जब युनेस्को से नेहरू जी के पास पत्र आया कि विश्व की भाषाओं में अनुवाद के लिए 'रामचरित मानस' के अतिरिक्त किसी और महाकाव्य का नाम सुझाया जाए तो सभी अपना-अपना महाकाव्य लेकर दौड़ पड़े। लेकिन 'नवीन' जी ने अपने महाकाव्य का नाम न सुझाकर नेहरू जी को 'कामायनी' का सुझाव दिए जिसे नेहरू जी ने तुरत मान लिया।

कानपुर, लखनऊ और दिल्ली में रहते हुए भी 'नवीन' जी अपने प्यारे मालवा को हमेशा याद करते थे और मालवी में ही बातचीत किया करते थे। उन्होंने हमेशा दूसरों को आगे बढ़ाया। संभवत: इसी कारण वह राजनीति और समाज के बीच झूलते रहे। सन् 1950 से 1960 ई० के बीच भारत सरकार को उनके राष्ट्रीय संघर्ष की याद नहीं आई और 'नवीन' जी के देहांत के सिर्फ़ चार दिन पूर्व ही उनको पद्मभूषण का सम्मान मिला।

'नवीन' जी जब विधान परिषद् में उत्तर प्रदेश से चुनकर आए, तो वायसराय लार्ड उनके संस्कृत ज्ञान से मुग्ध हो गया था। 'नवीन' जी संविधान सभा तथा राज्य सभा के भी सदस्य रहे। हिंदी को राजभाषा बनाने में भूमिका सक्रिय और अहम रही है। उनका जीवन मंत्र था न पलायनम्। उनके व्यक्तित्व में कबीर तथा रसखान का समन्वय था। भारतीय साहित्य में मृत्युगीत सिर्फ़ टैगोर, 'निराला' और नवीन ने ही लिखी। बज्रभाषा में लिखने वाला यह कवि आईंस्टाइन को अपनी कविता का विषय बनाता है और शरीर त्याग करता है। 'नवीन' जी ने साहित्य को ही नहीं, बल्कि समकालीन इतिहास को जो कुछ प्रदेय दिया वह हमारी निधि है। सचमुच सांस्कृतिक इतिहास के पुरोधा उन्नायकों के लिए इस पक्ष पर अभी शोध की अधिक आवश्यकता एवं संभावना है।

उदय राज सिंह :

जिन्होंने जीवन के हर मोड़ पर नए दृश्य देखे

''हमने आज़ादी की लड़ाई आम आदमी की हालत सुधाने को लड़ी और आज भी हम उसी आदमी के लिए खून-पसीना एक किए हुए हैं। यदि उनकी हालत न सुधरी तो हमारी आज़ादी बेमानी हो जाएगी।'' ये पंक्तियाँ हैं उजाले के बीच के उपन्यासकार और उस साहित्य-अध्यात्म के साधक उदयराज सिंह की, जिसने अपने संपूर्ण जीवन में आम आदमी के प्रति करुणा के भाव को संजोया और जीवन के हर मोड़ पर नए दृश्य देखे। जिस प्रकार आम आदमी अपना सुख-दुःख सब में बाँटना चाहता है, सामाजिक होने का भरपूर प्रमाण देना चाहता है। व्यवहार को धन-संपत्ति से नहीं जोड़ता, किसी के खाने और कपड़े पर उतना ध्यान नहीं देता जितना उसके विचारों पर, ठीक उसी प्रकार उदयराज बाबू भी आम आदमी की तरह एक भावना-प्रधान व्यक्ति थे। उन्हें अपनत्व की भावना ही सबसे बड़ी और अच्छी लगती थी। सच कहा जाए तो संसार में सुख से जीने के लिए यही अपनत्व की भावना भवसागर में पतवार का काम करती है। आम आदमी कभी किसी से कुछ धन-संपत्ति चाहता भी नहीं, वह अपने काम से जो कुछ पाता है, उससे संतुष्ट होकर अपना जीवन परिवार के साथ बिताने में लगा रहता है। ईर्ष्या, द्वेष उसके मन में बचता ही नहीं, कौन क्या कह रहा है उस पर उसका ध्यान भी नहीं जाता। किंतु अच्छाई और सच्चाई का उसे पूरा ज्ञान होता है। उसको भ्रम में कोई नहीं डाल सकता। उसकी याददाश्त भी कमज़ोर नहीं होती, अन्यथा वह राम, कृष्ण, विवेकानंद, कबीर, गाँधी, बुद्ध और महावीर जैसे उदात्त संतों को याद नहीं रखता। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि उदयराज सिंह भी आम आदमी के प्रति इन्हीं विशेषताओं और गुणों के चलते आकृष्ट हुए थे। आम आदमी की पीड़ा और दुःख-दर्द को वह बखूबी समझते थे। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि अनोखी शैली के सम्राट राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह के सुपुत्र उदयराज सिंह का जन्म 5 नवंबर, 1921 ई० को बिहार के सूर्यपुरा के राजवंश में हुआ था। राजघराने के संपन्न परिवार के होते हुए भी वे जन-सामान्य की संवेदनाओं से पूर्ण रूप से जुड़े हुए थे। आख़िर तभी तो उनकी क़लम से उपयुक्त उपन्यास के ज़रिए आम आदमी के प्रति

उनके करुणामय भाव पाठकों के सामने आए। कहा जाता है कि धन की गर्मी जेब तक तो ठीक है, पर जब वह दिमाग़ तक पहुँचती है, तो उसका अभिमान व्यक्ति को दबोच लेता है। ऐसा अभिमानी व्यक्ति किसी काम का नहीं होता। उदयराज बाबू धनी होते हुए भी अभिमानी नहीं थे, क्योंकि धन की गर्मी उनके दिमाग़ तक नहीं पहुँची थी, इसलिए अभिमान ने उन्हें नहीं दबोचा था।

धन होना अच्छा है पर धन पाकर मानवता को भूलना जीवन की सबसे बड़ी भूल होती है, जो जीवन के अंत में समझ में आती है। उदयराज बाबू के व्यक्तित्व और कृतित्व ने आरंभ में ही इस विचार को आत्मसात कर लिया था, तभी तो धन पाकर भी मानवता को वे नहीं भूल पाए। यह उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी। पटना में रहने के नाते मेरा यह भी सौभाग्य रहा कि पिछले दो दशक में कई साहित्यिक आयोजनों के माध्यम से उदयराज बाबू से मिलने का मुझे मौक़ा मिला। अधिकतर आयोजन तो उनके श्रीकृष्णपुरी स्थित निवास-प्रांगण में ही होते थे और जब भी मैं पटना में रहा, उनके निवास पर जाकर न केवल संगोष्ठियों में अपने विचार व्यक्त कर मैंने गौरवान्वित महसूस किया, बल्कि उदयराज बाबू का सान्निध्य पाकर मैं गर्व का अनुभव करता रहा। दिल्ली से प्रकाशित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' जब उन्हें अवलोकनार्थ देता था, तो वे बधाई देते हुए प्रोत्साहित करना नहीं भूलते थे। मुझे अच्छी तरह याद है पत्रिका पर एक विहंगम दृष्टि डालने के तुरत बाद ही उसके अच्छे विचारों को सुना देने की आदत उन्हें थी। वे अक्सर कहा करते थे – "जैसे सागर में लहर अपनेआप उठती रहती है वैसे ही मन में विचार भी उठते रहते हैं। अगर समय पर इन दोनों को नहीं समझा, देखा तथा उपयोग में लिया जाए, तो बाद में इनका निशान भी नहीं बचता। हर लहर और विचार अपनी तरह के अलग एवं अनोखे होते हैं। विचारों को शब्द में बाँधकर लहर को बाँधने के समान है। कब आया और कब गया इसका पता ही नहीं लगता। यही कारण है कि उदयराज बाबू हर क्षण के विचार को उपयोग में लाने की क्षमता रखते थे और उनकी इसी क्षमता का प्रतिफल है कि अनेक लोगों का भविष्य उनके सान्निध्य में जाने पर सुधर गया। ऐसा करने से ही समाज में सुधार आता है। आदमी आदमी के काम आए यही आदमी का सबसे बड़ा गुण है। उदयराज बाबू का व्यक्तित्व इस गुण से परिपूर्ण था।

यह हाड़-माँस का आदमी ही है जिसने प्रकृति की समस्त शक्तियों को अपनी मुट्ठी में बंद कर रखा है और यह उद्यमी आदमी ही है जिसके पुरुषार्थ के आगे असंभव को भी अपनी पराजय स्वीकार कर लेनी

पड़ती है। ऐसा पराक्रमी उत्कट साहस से भरा हुआ मानव जब उड़ता है तो अंतरिक्ष को भी झुकना पड़ता है। आज के समाज में उदयराज बाबू भी एक ऐसे ही मानव थे जिनके आगे सभी संवेदनशील एवं सजग नागरिकों को झुकना पड़ता था, क्योंकि वे समानता की भावना से ओत-प्रोत थे और समानता की भावना मानवतावादी विचारधारा की ही एक प्रवृत्ति है। सब मनुष्य बराबर है। वर्ण, लिंग, जाति, भाषा और मत आदि से मानव समुदाय को बाँटना उचित नहीं। उदयराज बाबू इसी विचारधारा के पोषक थे। कारण कि अनेक ऐसे दृश्य उनकी आँखों के आगे से गुज़र चुके हैं जिनसे प्रभावित होकर समाज में व्याप्त विषमता को हटाने का उन्होंने आह्वान किया था।

आज के इस भौतिकवादी युग में अर्थ, सत्ता और संप्रदायों को संकीर्णताओं ने मानव को इतना स्वार्थी और आत्मकेंद्रीत बना दिया है कि उसके हृदयस्थल में प्रेम, भ्रातृत्व की भाव-सरिताएँ सूख-सी गई हैं। ऊपर से पर्याप्त सुगठित और आकर्षक दिखने वाली आधुनिक सभ्यता को यदि बेनक़ाब कर दिया जाए, तो उसके विकृत रूप को पहचानने में देर नहीं लगेगी। मनुष्य की इसी विकृत दोहरी भूमिका को उदयराज बाबू ने अपनी रचनाओं में शब्दांकन कर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है - 'कुहारस और आकृतियाँ', 'रोहिणी', 'अधूरी नारी', 'भागते किनारे', 'अँधेरे के विरुद्ध', आदि। इसके अतिरिक्त ग्रामीण समाज के यथार्थ को भी इन्होंने अपनी पुस्तक 'गाँव के खिलौने' में दर्शाया है।

देश की हिंदी पत्रकारिता के ऋषि उदयराज सिंह जी ने आधी शताब्दी से अधिक अवधि से नियमित रूप से प्रकाशित 'नई धारा' के माध्यम से न केवल साहित्य की सेवा की, बल्कि हिंदी पत्रकारिता को एक नया आयाम दिया और अपनी आहुति देते हुए 'नई धारा' को जीवित रखा। यह उनकी साहित्य-चेतना का द्योतक है। यदि हम उन्हें साहित्य-पत्रकारिता के एक सबल स्तंभ की संज्ञा से विभूषित करें, तो इसमें कोंई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

जहाँ तक मुझे स्मरण है एक बार अपने निवास पर आयोजित संगोष्ठी में उदयराज बाबू ने देवता के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि देवता वे नहीं हैं जो स्वर्ग में निवास करते हैं, प्रत्युत वे हैं जो जीवन में निरंतर संघर्षशील रहकर चेतना का प्रकाश बिखेरते हैं और प्रत्येक निराश हृदय को आशा के स्वरों से स्पंदित कर देते हैं। 'आरती और अंगारे' में कविवर हरिवंश राय बच्चन ने भी कुछ इसी तरह के भावों को अभिव्यक्ति दी है इन पंक्तियों में -

देवता मेरे वही हैं
जो कि जीवन में पड़े संघर्ष करते,
गीत गाते
मुस्कराते
और जो छाती बढ़ाते
एक होने के लिए
हर दिल जले से

परंपरा और आधुनिकता का समन्वय करने वाले रचनाकार उदयराज सिंह की रचनाएँ आधुनिक युग का यथार्थ करने वाली रचनाएँ हैं। प्रयोग के लिए उन्होंने परंपरा का तिरस्कार नहीं किया, वरन् जब भी आवश्यक समझा उसमें नवीकृत संस्करण का सहारा लिया। इस प्रकार प्रयोग और दो मर्यादित कूलों के बीच में उन्होंने अपनी भाव-स्रोतस्विनी को प्रवाहित करके हिंदी की रचनाशीलता को अर्थवत्ता प्रदान की। अपने मन की दुर्बलता को और मानव-हृदय की संकीर्णता को अनावृत करते हुए किंचित भी नहीं हिचकिचाए। यह ईमानदारी उनकी चारित्रिक नैतिकता का परिचायक है। यह ईमानदारी और चारित्रिक नैतिकता आज के युग में रचनाकारों में मुश्किल से देखने को मिलती है। वह प्यार के आदान को तो स्वागत करता है, किंतु प्रदान का अवसर आते ही बगलें झाँकने लगता है। सुप्रसिद्ध रचनाकार शिवदान सिंह चौहान ने अपनी पुस्तक 'आलोचना-स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य विशेषांक' में कहा है कि "लेखक अपने और अपनी रचना के प्रति ईमानदार हो, एक सामर्थ रचनाकार से यह अपेक्षा ही नहीं हो जाती, यह उसकी बौद्धिक चेतना का सहज गुण भी होता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धिक अंतश्चेतना, प्रयोग के क्षेत्र में निडरता और भावाभिव्यक्ति में नितांत मौलिकता उदयराज बाबू के व्यक्तित्व की निजी विशेषता थी।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि उदयराज बाबू एक कृति पुरुष थे और अपनी कृति से उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास में अमरत्व प्राप्त किया। 'नई धारा' के निरंतर प्रकाशन और अपनी रचनाशीलता से उन्होंने यह साबित कर दिया कि साहित्य-सेवा वास्तव में एक वृक्ष है जो किसी चीज़ की प्राप्ति के लोभ से नहीं, वरना सरस्वती के प्रति अप्रतिम निष्ठा की वजह से संपन्न होता है। ऐसे स्पृहणीय जीवन जीने वाले और सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति आस्थावान उदयराज बाबू की स्मृति को मैं प्रणाम करता हूँ।

आत्माराम फोन्दणी 'कमल' : जिनके निधन से हिंदी पत्रकारिता का एक ज्योतिर्मय दीप बुझ गया

जो अतीत है, जो गत-विगत है, जो कांत है, उसके आइने में ही व्यक्ति अपने वर्तमान को संवारता है और भविष्य की योजना बनाता है। और यादें? वे केवल खंडहर नहीं, वे वह चंदन भी हैं, जिसके लेप से मन वृंदावन महक उठते हैं। यह सत्य है कि दिल्ली स्थित कार्यालय, भारत के नियंत्रक-महालेखापरीक्षक से प्रकाशित हिंदी पत्रिका 'लेखापरीक्षा प्रकाश' के संपादक आत्माराम फोन्दणी 'कमल' आज हमारे बीच नहीं हैं, पर उनकी यादें शेष बच रही हैं। उनके साथ बीते क्षण, उनकी हास्य और विनोद भरी बातें, उनके होठों पर सदैव मुस्कराहट, राजभाषा हिंदी के प्रचार-प्रसार तथा उसकी समृद्धि के लिए किए गए योगदान सब कुछ एक-एक कर हमारे मानस-पटल पर अंकित हैं और रह रहकर मन स्फूर्ति से भर आते हैं। एक मात्र चिंता है कि उन यादों को शब्दों में परिणत कर कागज के पन्नों पर उड़ेल दूँ, क्योंकि हमारा दायित्व हमें अंदर से कुरेद रहा है। आज उसी दायित्व के निर्वाह में कुछ कहने जा रही है हमारी कलम आत्माराम जी के बारे में।

सर्वप्रथम मैं याद करता हूँ उस सुनहरे दिन को जब राष्ट्रीय विचार मंच ने ''स्वतंत्रता-संग्राम की पृष्ठभूमि में हिंदी एवं विधि पत्रकारिता की दशा और दिशा'' विषय पर दिल्ली के भगवान दास रोड स्थित भारतीय विधि संस्थान के सभागार में विचार संगोष्ठी सह काव्य-संध्या का आयोजन किया था जिसका संचालन स्वयं आत्माराम जी द्वारा किया गया था। और मुझे यह भी याद है कि उनकी सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'अर्द्धशती यूँ बोली' का लोकार्पण डॉ० विजय नारायण मणि त्रिपाठी ने किया था। हिंदी जगत के सुपरिचित रचनाकार गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव, अपर उपनियंत्रक-महालेखापरीक्षक, नई दिल्ली की अध्यक्षता में हुई इस गोष्ठी में हिंदी एवं संस्कृत के उद्भट्ट विद्वान माननीय न्यायमूर्ति श्री बी०एल० यादव के अतिरिक्त डॉ० विजय नारायण मणि त्रिपाठी, जे०एन०पी० सिन्हा, प्रो० कुमार सुरेश, नारायण खान, डॉ०बी०के०झा, डॉ०बी०के० मोहन्ती, अवधेश शर्मा, अवधेश कुमार सिन्हा, सतीशचन्द्र पंत, डॉ० राजेन्द्र गौतम, राजगोपाल सिंह, मिथिलेश श्रीवास्तव, सुशीला सितारिया तथा डॉ० मेदिनी राय जैसे लोग उपस्थित थे। इस संगोष्ठी

की चर्चा इसलिए की जा रही है कि संचालक आत्माराम ज्री ने अपने संचालन के क्रम में जो उद्‌गार व्यक्त किए वे उनका राजभाषा के प्रति इतना समर्पित होना चकित करता है, क्योंकि एक अधिकारी के पद पर कार्यरत रहते हुए भी राजभाषा के प्रति इतनी प्रतिबद्धता तथा उसके उन्नयन के लिए निर्बाध रूप से काम करना सब के लिए प्रेरणादायक रहा।

कुछ लोग युग और सीमाओं को लाँघने की क्षमता रखते हैं और आत्माराम जी निश्चय ही उनमें से एक थे। इस क्रम में उनके काव्य-संग्रह 'अर्द्धशती यूँ बोली' की कविताओं की चर्चा करना इसलिए लाजिमी प्रतीत होता है कि इनसे उनकी भावनाओं का पता चलता है। उनकी कविताओं में राष्ट्र प्रेम एवं राष्ट्रभाषा से लगाव सहज ही परिलक्षित होता है। उनका चिंतन बहुमुखी था। उनकी राष्ट्रीय अवधारणाओं की तरंगवती सरिता भारतीय समाज के लोक जीवन की ओर प्रवाहित थी। आत्माराम जी की भाषाशैली सबसे अलग किस्म की थी जिसमें गोमुख फूटती गंगा की भांति अबाध प्रवाह रहता था। उनके शब्द अंतस को छूते जान पड़ते थे। शब्द-विवेक सिद्ध साहित्यकार की पहली पहचान है। किस शब्द का कहाँ प्रयोग हो, जो सटीक, सक्षम और प्रभावोत्पादक हो, संदर्भ को ज्योतिर्मय बनाने में समर्थ हो, इसके लिए प्रत्येक सिद्ध सर्जक जागरूक एवं पर्यत्नशील रहता है फोन्दणी जी एक ऐसे ही असाधारण सर्जक थे, जो शब्द-विवेक के द्वारा साधारण शब्दों में नयी प्राण प्रतिष्ठा कर देते थे। हिंदी गद्य के वे अप्रतिम शब्दकार थे।

सृजन और सृजनहार आत्माराम जी को जैसे भीतर से खींचते थे। इसीलिए अपने अतिव्यस्त सामाजिक जीवन में से वे कुछ न कुछ समय निकाल लेते थे और साहित्य से अपने प्रगाढ़ रिश्ते को कुछ और मजबूत कर डालते थे। आत्माराम जी एक संस्कृतिकर्मी मानवीय मूल्यों के पक्षधर और हिंदी व संस्कृत साहित्य के शिखर निर्माता कलाकार थे इतना सब कुछ होते हुए भी वे नितांत सहज एक ग्रामीण-सी सादगीवाले व्यक्ति थे। बेहद नम्र और भावुक एवं साधनारत तपस्वी। वे सादा जीवन उच्च विचार रखने वालों में थे और उन्होंने आजीवन यह व्रत निभाया।

हिंदी भाषा-जिसने इस देश को सुषुप्ति से जगाकर आजादी का प्रकाश दिलाया, के अन्यतम-साधक आत्माराम फोन्दणी 'कमल' को अनेक सम्मान उनके कृतित्व, मानवतावादी दृष्टिकोण, सदाशयता एवं राजभाषा हिंदी की सेवा के लिए मिले। आत्माराम जी जैसे व्यक्ति कभी-कभार ही

जन्म लेते हैं। इस अनन्य सेवक ने साहित्य की धरती पर लगभग पाँच दशकों तक जो अमूल्य निधि बरसाई वह सचमुच एक व्यक्ति नहीं, अपितु आंदोलन था। वे अँधकार के समय में आलोक की एक जादुई किरण थे। इनकी कृतियों के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि इनका भावफलक अत्यंत व्यापक और विस्तीर्ण था। व्यक्तिगत सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों के अतिरिक्त राष्ट्र, मानवात्मा और परमात्मा विषयक इनके भाव विचार एवं उक्तियाँ भारतीय दर्शन और आध्यात्म से विशेष प्रभावित हैं। दर्शन आध्यात्म के साधक फोन्दणी जी रचनात्मक जीवन दर्शनवाले सच्चे कर्मयोगी थे। उनकी कृतियों में सांप्रदायिक सद्भाव के फलक तो मिलते ही हैं राष्ट्रीय चेतना तथा राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति उनकी प्रतिबद्धता भी स्पष्ट झलकती हैं। देखें उनके काव्य-संकलन 'अर्द्धशती यूँ बोली' से ली गयी कुछ पंक्तियों को।

खूब नचाओ आजादी की स्वर्ण जयंती डोली
कथनी-करनी भिन्न देखकर अर्द्धशती यूँ बोली।
आजादी के परवानों की कुर्बानी सब धो ली
''हर शाख पे उल्लू बैठा है'' यह कथनी सच्ची हो ली।
राष्ट्रभाव से उभरे इनके एक चित्र को और देखें-
क्या छाती पर पत्थर रख अब अँग्रेजियत झेल सकूँगा?
बची हुई आयु के छिन पल अमन चैन से ठेल सकूँगा?
और सचमुच अपनी शेष उम्र को चैन से नहीं ठेल सके।

मैं नहीं जानता, उनके सानिध्य में मैं कब आया। किंतु इतना अवश्य है कि हमारे मिलने में सघनता तब आई जब अपने महालेखाकार कार्यालय, पटना से प्रकाशित हिंदी पत्रिका 'प्रहरी' के संपादक की हैसियत से उनसे मिला। दिल्ली के मुख्यालय में 'प्रहरी' की प्रति देखकर न केवल उन्होंने अपनी प्रसन्नता जाहिर की, बल्कि इसे त्रैमासिक करने की सलाह भी दी। मुझे इस बात की खुशी है कि आत्माराम जी के सुझाव को कार्यान्वित करते हुए 'प्रहरी' अब नियमित रूप से त्रैमासिक होकर निकल रही है। यों तो वे हमें बड़े भाई कहकर संबोधित करते थे, पर व्यवहार में मैं उनसे छोटे भाई-सा स्नेह पाता था। बाद फिर उसके जब राष्ट्रीय विचार मंच की दिल्ली शाखा का गठन हुआ और वे उसकी कार्यकारिणी के एक सदस्य के रूप में निर्वाचित हुए तब तो हमारा संपर्क घनिष्ठता में बदल गया। तब से जब भी मैं उनसे नई दिल्ली के बहादुरशाह जफर मार्ग स्थित भारत के नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के कार्यालय में मिला, घंटों उनसे बातें होती थीं

कारण कि वे प्रशासन अधिकारी के पद पर आसीन हो राजभाषा अधिकारी थे और मुख्यालय से प्रकाशित विभागीय पत्रिका 'लेखापरीक्षा प्रकाश' के संपादक भी, मुझे अच्छी तरह याद है कि पटना के महालेखाकार (ले.प.) बिहार के कार्यालय से प्रकाशित पत्रिका 'प्रहरी' को त्रैमासिक करने की सलाह उन्होंने ही दी थी उनके इस योगदान के लिए मैं उनका कृतज्ञ हुआ। तबसे हम आपस में लगातार मिलते रहे, साहित्यिक संगोष्ठियों में भाग लेते रहे और विचार-विमर्श में सदैव साथ रहे। अच्छा लिखने, सीखने और परस्पर सहयोग करने की बातें हमेशा होती रहीं। दुर्भाग्य यह कि फोन्दणी जी के निधन के कुछ माह पूर्व जगन्नियंता के क्रूर हाथों ने अंसारी जी को भी हमसे छीन लिया। कैंसर की जानलेवा बीमारी से वे भी बच नहीं पाए। तब से, सच मानिए वह कमरा ही सूना हो गया, जो कभी फोन्दणी और अंसारी के प्रगाढ़ प्रेम से गुँजायमान रहता था।

आत्माराम जी में अपूर्व धैर्य, साहस और तितिक्षा का संबल था। अस्तु उन्होंने अपने दुख-क्लेश और आँसुओं को अंदर ही अंदर सहा, उनहें प्रकट नहीं होने दिया और न किसी हीन भावना को अपने पास फटकने दिया। वस्तुत: जीवन और संवेदना का संबल लेकर पनपने वाले अक्षयवर आत्माराम जी ने संघर्षमय परिस्थितियों एवं कंटकाकीर्ण मार्गो में अपनी दृढ़ता को बनाए रखा।

जातस्य दिध्रुवं मृत्युः ध्रुवं जनम मृतस्य च

अर्थात जन्म लेने वाले की मृत्यु और मरने वाले का जन्म सुनिश्चित है। इस ब्रह्मसत्य को स्वीकारना ही अस्तिकता है। सो आत्माराम जी अनंत में विलीन हो गए हैं 1 अगस्त, 1999 को। इसपर बिश्वास तो नहीं होता पर सत्य बहुत कठोर है और कलम का कर्ज चुकाने के लिए वे अपने अंतिम समय तक लिखते रहे जिसका प्रतिफल है 'लेखा परीक्षा प्रकाश' का चौतालीसवाँ अंक। इस अंक का पन्ना-पन्ना उनकी जीवंत लेखनी का द्योतक है। इसकी हर रचनाओं पर उनकी संपादकीय टिप्पणी इस बात का साक्षी है कि वे कलम के जादूगर थे। उपमहालेखाकार किशोरीलाल के लेख पर की गई टिप्पणी से यह स्पष्ट झलकता है कि आत्माराम जी की पकड़ न केवल गंभीर विषयों पर थी, बल्कि प्रेम, शृंगार, नैतिकता, यौन, आदि में भी उनकी गहराई असाधारण थी। उन विषयों में उनकी पैठ काबिलेतारीफ थी। यही कारण है कि हिंदी के कार्यान्वयन की अदम्य चाहना एवं अनवरत प्रयास से कार्यालय के कर्मचारियों/अधिकारियों के बीच वे श्रद्धा एवं आदर के पात्र ही

नहीं बने, बल्कि अपने अध्ययनशील और सृजनात्मक क्षमता के द्वारा विद्वत्जनों के बीच भी सर्वदा प्रतिष्ठा पाते रहे। आखिर तभी तो मुख्यालय, नई दिल्ली में पदस्थापित इनके तत्कालीन उपनिदेशक (राजभाषा) और फिर वरीय उपमहहालेखाकार, बिहार, पटना श्री जी०सी०एल० श्रीवास्तव आत्माराम जी के निधन का समाचार सुनकर अत्यंत भाव विह्वल हो उठे और इन शब्दों में अपने भाव व्यक्त किए– ''आत्माराम फोन्दणी के देहावसान के समाचार ने मुझे भीतर से झकझोर दिया है। वेदना की टीस ऐसी है कि आँसूओं के भी ऊपर है। जीवन में चंद लोग होंगे जिन्हें हमने देखा-समझा और अच्छा पाया। जिनमें अपनापन पाया उनमें आत्माराम जी एक थे। वे संस्कृत के विद्वान, हिंदू जीवन पद्धति के कर्मकाण्डों के अद्भुत ज्ञाता, चरित्र के धनी, कर्मठ सहृदय एवं सहज व्यक्ति थे। वैचारिक स्तर पर अधिकांश बिंदुओं पर हम दोनों में मतैक्य था। मुख्यालय में मेरे पदस्थापन की अवधि में उनके साथ काम करने का मुझे सौभाग्य मिला था। मुख्यालय की पत्रिका ''लेखा परीक्षा प्रकाश'' का एक-एक शब्द, शब्दांश एवं पूर्ण विराम उनका आभारी था। उनके संपादकीय अत्यंत सराहनीय व रोचक होते थे। उस पत्रिका के वे प्राण थे''। पुनः उन्होंने कहा –

''वे कवि थे, कवि हृदय रखते थे। जीवन ने उन्हें कई विकटतम परिस्थितियों में रखा। पतनी शोक भी उन्हें मिला था। उससे उत्पन्न हृदय की टीस को भी उन्होंने कविताबद्ध किया था। उनकी पुस्तक ''हरि हर विधि बेचैन'' इसी वेदना व टीस की शाश्वत अनुगूँज है। दर्द से उनका अटूट रिश्ता था, दूसरे के दर्द को भी वे भलि-भांति अवगाहते थे।

मुझे जब पुत्र शोक का असाद्य दुःख मिला था तो उस समय उनके शोकाभिव्यक्ति और अपनापन ने मुझे संभाल लिया। कई घंटों तक जिस प्रकार उन्होंने मेरी व्यथित पत्नी को ढाढ़स बंधाया था उससे मेरा रोम-रोम उनका आभारी है। मैं संभल पाया, तो ऐसे ही व्यक्तियों के अपनेपन की वजह से। मेरी पीड़ा सब समझ सकते हैं जब मुझे उनके ही देहावसान का दुःखद समाचार मिला। क्या करूँ? शब्द ही सिकुड़ गए हैं, अभिव्यक्तिविहीन हो गए हैं।

बस, ईश्वर से यही प्रार्थना है कि उनकी आत्मा को शांति प्रदान करे और उनके अपनों को सामर्थ्य दे कि यह पीड़ा वे झेल सकें। ''लोकाः समस्ता सुखिनां भवन्तु'' का अनवरत जयघोष करने वाला शरीरधारी फोन्दणी जी आज शरीर छोड़ गए, परंतु भगवान विष्णु के आशीर्वाद सें कि

''न में भक्र: प्रनस्यति'' मेरे भक्त का नाश नहीं होता, वे आत्मा हैं। वे केवल एक व्यक्ति व जीवधारी ही नहीं थे, वरन् एक संस्था थे, सुविचार की अजस्र धारा थे जो कभी विनष्ट नहीं होती।''

इसी प्रकार अपर उपनियंत्रक-महालेखापरीक्षक श्री गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव ने इनके काव्य संग्रह 'अर्द्धशती यूँ बोली' पर इन शब्दों में अपने अभिमत व्यक्त किए हैं-

'हिंदी में गीत तो बहुत लिखे गए हैं और लिखे जा रहे हैं, किंतु अपने ही देश में उसी हिंदी की वर्तमान स्थिति को विषय बनाकर गीत लिखना एक अलोकप्रिय प्रसंग रहा है एवं स्वार्थपरक राजनीति के धरातल पर पनपने वाली अवसरवादी व्यवस्था की नींद में खलल डालने का कार्य भी कर सकता है। फिर भी जोखिम उठाते हुए आत्माराम फोन्दणी 'कमल' ने हिंदी तथा उसकी अस्मिता को सालते हुए उन तमाम अनछुए बिंदुओं को लेकर अनेक गीतों का सृजन किया है जिन्हें हम देखकर भी प्राय: अनदेखा करते आए हैं। 'अर्द्धशती यूँ बोली' नामक उनके नवीनतम काव्यसंग्रह में उनके वे छप्पन गीत संकलित हैं जो किसी न किसी रूप में अँग्रेजी के व्यामोह के चलते स्वाधीनता के छह दशकों बाद भी अपने ही गृह में बेगानी हुई हिंदी की त्रासदी के अनेक आयामों के इर्द-गिर्द मँडराते रहते हैं और स्वराष्ट्र के प्रति निष्ठा रखने वाले किसी भी भारतीय के मर्म को छू जाने की क्षमता रखते हैं।'

जब तक वे जीवित रहे हिंदी साहित्य की सेवा में मन-प्राण से लगे रहे। उनके असामयिक देहावसान से राष्ट्रभाषा हिंदी ने अपना एक अनन्य सेवक खो दिया। किसी शायर की रूबाई की ये पंक्तियाँ मुझे याद आती हैं-

''वक्त दरवाजे पर आया है, ठहर जाने को,
कौन आता है सदी वक्त यूँ मनाने को,
कलम का कर्ज़ चुका और रोशनी से लिख
लाखों सूरज हैं सरेराह फिर जगाने को।''

यह सत्य है कि आत्माराम फोन्दणी 'कमल' जी अब हमारे बीच नहीं हैं, किंतु हिंदी साहित्य जल में अपने उपनाम 'कमल' के रूप में सदैव खिलते रहेंगे। इस नश्वर संसार में हर चीज टूटने के लिए ही बनती है। लगता है हमारा उनका अथवा हमारे सरीखे सैकड़ों उनके शुभेच्छुओं का संपर्क भी टूटने के लिए ही बना था। फोन्दणी जी वीतराग पुरुष की भांति

जीवन के अधीती थे और भोक्ता भी। सुख के प्रति कोई स्पृहा नहीं, दुख में किसी प्रकार की कोई उदिग्नता नहीं। फोन्दणी जी अपने पीछे भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग के हजारों शुभचिंतकों के साथ-साथ हिंदी जगत के सैकड़ों प्रशंसकों को छोड़ गए हैं। वे अविस्मरणीय हैं विभाग के धरोहर के रूप में वे हमेशा स्मरणीय हैं। उनकी विलक्षण प्रतिभा और मेधा से युक्त उनका दिप्तिमय कृतिकाय अपनी दिव्यता और तेजस्विता का प्रभामंडल अक्षुण्ण रूप में प्रोद्भाषित होता रहेगा। उनकी कर्मठता, पौरुष और सृजनशीलता के सामने मैं मन ही मन नतमस्तक हूँ। सच कहा जाय, तो किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व की पहचान उसके आचरण एवं चिंतन से होती है। आत्माराम जी के आचरण में 'साई इतना दीजिए जामे कुटुंब समाय' हू-ब-हू उतरता दिखता था। सुंदर विचार रखने तथा सुंदर साहित्य की रचना करने वालों में यदि आचरण की सभ्यता और कर्म-सौंदर्य भी हो, तो उसका व्यक्तित्व साहित्य की देव-प्रतिमा बन जाता है। आत्माराम जी का व्यक्तित्व ऐसा ही बन गया था। जिन लोगों ने उन्हें करीब से देखा, वे मेरा आशय ज्यादा अच्छी तरह समझेंगे।

आज जब वे हमारे बीच नहीं हैं मैं इन पंक्तियों से उनकी स्मृति को नमन करता हूँ-

दूर कहीं एक बस्ती होगी, जिसमें बैठ वो हँसते होंगे,
बादल ही बादल पर देखो, रख रख पाँव वो चलते होंगे।
साथ में उनके तारे होंगे, गुजरे लम्हे सारे होंगे,
अर्श पर बैठे देख वो हमको, देर देर तक तकते होंगे।

खंड : तीन

कलाकार

शमशाद बेगम :

जिनके इंतकाम से गुजर गया पुराना जमाना

मेरे पिया गए रंगून, वहाँ से किया है टेलीफून . . . . रेशमी सलवार कुर्ता जाली का, रूप सहा नहीं जाए नखरेवाली का . . . कभी आर कभी पार जरा धीरे चलो . . . जैसी अनेक मधुर गीतों की गायिका शमशाद के इंतकाम के साथ एक पुराना जमाना ही गुजर गया। अब उस शोख, मदहोश और अल्हड़ आवाज की याद बाकी है जिसने न जाने कितने संगीत प्रेमियों के दिल में तकरीबन सौ वर्षों तक राज किया।

14 अप्रैल, 1919 को अविभाजित भारत के पंजाब के अमृतसर में जन्मी शमशाद बेगम का निधन विगत 23 अप्रैल, 2013 को मुंबई के पवई स्थित अपनी बेटी उषा और दामाद योग वत्रा के घर 94 वर्ष की उम्र में हो गया। सन् 1955 में ही शमशाद के शौहर गनपत लाल बट्टो के देहावसान के बाद अपनी बेटी के यहाँ वह रह रही थी। अपने जमाने की लता मंगेशकर जैसी शीर्ष गायिकाओं में शुमार होने के बावजूद शमशाद बेगम ने फिल्म उद्योग जगत की चकाचौंध से खुद को दूर रखा था, क्योंकि एक तो वह सुर्खियों में रहना पसंद नहीं करती थी और दूसरे कि उन्होंने अपने पिता से वादा किया था कि वह कैमरे के सामने कभी नहीं आएगी। उनके पिता नहीं चाहते थे कि वह अभिनय करे। पिता की बात रखते हुए वह लंबे समय तक न तो फिल्मी कैमरे के सामने आई और न स्टील कैमरे के। 20 वीं सदी के आठवें दशक के अंत में संभवत: पिता के निधन के बाद उन्होंने तस्वीरें खींचने की अनुमति दी। तब जाकर उनके प्रशंसकों ने उन्हें पहचाना।

शमशाद बेगम का हिंदी सिनेमा की प्रारंभिक पार्श्व गायिकाओं में एक महत्त्वपूर्ण नाम रहा है। अपनी दिलकश आवाज से कई गीतों को सदाबहार नगमों में शुमार करवाने वाली यह गायिका भले ही अब हमारे बीच नहीं रही, लेकिन उनके गाए गीत आने वाले दिनों में मकबूल रहेंगे। शमशाद के साथ काम कर चुके लोगों के जेहन में वह एक बेहतरीन गायिका के साथ, एक खुशमिजाज, मिलनसार और जिंदादिल

शख्सीयत के तौर पर जिंदा रहेंगी। सुप्रसिद्ध संगीतकार ओ०पी०नय्यर ने उनकी आवाज की तुलना मंदिर की घंटी की पवित्रता से की थी। कहा जाता है कि शमशाद नए कलाकारों, गायक-गायिकाओं का कभी मज़ाक नहीं उड़ाती थीं। वे सबको सम्मान देती थीं। शमशाद बेगम ने उस वक्त गाया, जब लता मंगेशकर की धूम मची थी। 13 साल की उम्र से गाने वाली गायिका शमशाद को गाना गाने पर मात्र 13 रुपए मिलते थे। जब उन्होंने एक्सेनोफोन कंपनी के साथ पहली बार गाने का अनुबंध कराया, तो उन्हें पाँच हजार रुपए मिले थे। शमशाद ने यों तो 1933 में ही गाना शुरू कर दिया था, पर जब 1941 में पहली बार खजांची फिल्म में गाना गाया, तो वह स्थापित गायिका बन चुकी थीं। आजादी से पूर्व वह लाहौर रेडियो तथा पेशावर रेडियो पर गाने गाती थीं। उस जमाने के मशहूर संगीतकार गुलाम हैदर ने उनकी प्रतिभा को पहचान उन्हें पहले खजांची फिल्म में और फिर बाद में खानदान फिल्म में गाने का अवसर दिया। वैसे उनके गुरु थे सारंगीवादक उस्ताद हुसैन बख्स वाले साहब। सन् 1944 में शमशाद मुंबई आईं और तब से उनका सदाबहार फिल्मी संगीत शुरू हुआ।

सन् 1940 से 1950 के दशक में शमशाद बेगम सी० रामचंद्र, नौशाद, ओ०पी० नय्यर के साथ उनकी जोड़ी खूब जमीं। सी०आई०डी०, आर-पार, मदर इंडिया, नया दौर, मुगले आजम, बाबूल, दीदार, पतंगा तथा किस्मत में शमशाद के गाए गीत लोग आज भी भूलाए नहीं भूलते। इनके फिल्मों में गाए गीतों के बोल 'लेके पहला-पहला प्यार', 'मिलते ही आँखें दिल हुआ दीवाना', 'कजरा मोहब्बत वाला', 'गाड़ीवाले गाड़ी धीरे हांक रे', 'होली आई रे कन्हाई होली आई रे' तथा 'कहीं पे निगाहें कहीं पे निशाना' आज भी लोगों के ओठ पर अक्सर ही आ जाते हैं। शादी-विवाह के अवसर पर शमशाद बेगम के गाए 'छोड़ बाबूल का घर', मुझे पिया के नगर आज जाना पड़ा जैसे गीत बजे बिना पूरा नहीं होता। बैसाखी के अवसर पर तो उनका गीत 'रेशमी सलवार कुरता जाली का' गुनगुनाए बिना कोई रह नहीं सकता। सच मानिए तो फिल्म संगीत को एक अलग पहचान देने का श्रेय अगर किसी गायिका को जाता है तो वह हैं शमशाद बेगम।

लगभग सोलह सौ से अधिक गीत गाने वाली शमशाद बेगम ने पंजाबी, उर्दू, राजस्थानी, भोजपूरी एवं तमिल भाषा में भी गीत गाए। उन्होंने एक बार कहा था कि 'मेरे गीतों को दुनिया गा रही है, मुझे इस बात का संतोष है। अपने गीतों के जरिए मैं अपने प्रशंसकों के दिलों में जिंदा रहना चाहती हूँ।' सचमुच शमशाद बेगम को भुला नहीं जा सकता। सन् 2009 में शमशाद बेगम ने व्हील चेयर पर बैठे राष्ट्रपति से पद्मभूषण का सम्मान प्राप्त किया था।

गिरिजा देवी उर्फ अप्पा जी : जिनकी ठुमरी व कजरी युगों-युगों तक गूँजती रहेंगी

गिरिजा देवी बनारस घरानों की एक प्रसिद्ध भारतीय शास्त्रीय गायिका थीं। करीब छह दशक तक भारतीय शास्त्रीय संगीत और ठुमरी गायिकी को वह बड़े मुकाम तक ले गयीं। उन्होंने शास्त्रीय, उपशास्त्रीय, टप्पा, कजरी, लोकगायिकी हर क्षेत्र में मुकाम हासिल किया। आठ मई, 1929 को वाराणसी में जमींदार रामदेय राय के घर जब गिरिजा देवी का जन्म हुआ, तब संगीत की स्वर साधना का पूरा माहौल घर में ही कायम था। उनके पिता संगीत साधक थे। वे हारमोनियम बजाया करते थे। उन्होंने अपनी बेटी गिरिजा देवी की उँगली पकड़कर उन्हें भी इस साधना की राह पर आगे बढ़ाया। गिरिजा देवी ने संगीत साधना को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया और पिता के बाद गायक और सारंगी वादक सरजू प्रसाद मिश्रा को अपना गुरु बनाया। तब उनकी उम्र केवल पाँच साल की थी, मगर ख्याल और टप्पा गायन की शिक्षा हासिल करने में उन्होंने पूर्ण समर्पण और लगन का परिचय दिया। वहीं उन्होंने संगीत की विभिन्न शैलियों और उनकी बारीकियों को सीखा। जब नौ साल की हुई, तब फिल्म 'याद रहे में' उन्होंने अभिनय किया। हालांकि अभिनय का क्षेत्र उनके लिए संगीत की साधना के बाद ही आता रहा। बनारस उनके तन, मन, स्वर और साधना में पूरे वजूद के साथ जीवन के अंतिम समय तक बसता रहा। इस प्रकार बनारस उनकी जन्मभूमि तो थी ही, साधनाभूमि भी रही। उन्होंने बनारस को अपने संगीत में खूब जीया और उनकी अंतिम इच्छा थी कि भारतीय संगीत और संस्कृति को फिर से समृद्धि देने के लिए बनारस में बड़ी शुरुआत हो। बनारस से उनका खास लगाव था। जब वह महज दो साल की थी, तब उनका परिवार बनारस में आकर बस गया था। उनका कहना था कि बनारस में सदियों से संगीत बह रहा है। 15वीं सदी में सूफी कवि कबीर भी गंगा किनारे बैठकर लिखा करते थे। शहनाई वादक विस्मिल्ला खां भी गंगा किनारे बैठकर प्रतिदिन शहनाई वादन का रियाज करते थे।

गिरिजा देवी की संगीत की प्रारंभिक शिक्षा भी बनारस में

ही हुई। बनारस के कबीर चौरा में उनकी संगीत शिक्षा हुई जहाँ कंठे महाराज, किशन महाराज, हनुमान प्रसाद, बड़े रामदास, राम सहाय, साजन व राजन मिश्रा समेत कई दिग्गजों ने संगीत की शिक्षा ली। 20वीं शताब्दी में जब महिलाओं पर तमाम तरह की पाबंदियाँ थीं उस वक्त भी गिरिजा देवी को उनके पिता ने उन्हें तलवारबाजी और घुड़सवारी सिखाई। बाद में फिर उन्हें संगीत सिखाया गया जिसे उनकी माँ नहीं पसंद करती थीं, क्योंकि उन्हें लगता था कि वह समय बर्बाद कर रही है। हालांकि बाद में वही मां उनकी सबसे बड़ी प्रशंसक बनीं। गिरिजा देवी बनारस में अपनी सहेलियों के साथ गंगा किनारे घंटों बैठकर मछलियाँ पकड़ती और पुनः उन्हें वापस पानी में छोड़ देती थी। वह कहती थीं कि मछली को जिंदगी के लिए संघर्ष करते देखना अच्छा लगता है। आगे चलकर संगीत के दौर में बने रहने के लिए संघर्ष करने की ताकत उन्हें मछली के संघर्ष से ही मिली।

ठुमरी गायन को नए मुकाम तक पहुँचाने वाली गिरिजा देवी की शादी 15 साल की उम्र में ही कारोबारी मधुसूदन जैन से हो गयी थी और 16 साल की उम्र में तो वह बेटी की मां भी बन गई थी। उनके पति जैन ने उनका काफी साथ दिया। शादी के बाद गायन के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए वह सारनाथ में अलग कमरा लेकर रहने लगी थी। 20 साल की उम्र में 1949 में उनका पहला रेडियो शो इलाहाबाद आकाशवाणी से प्रसारित किया गया। इसी प्रकार 1951 में बिहार के आरा में उन्होंने अपना पहला सार्वजनिक संगीत क़ार्यक्रम दिया। फिर 1975 में उनके पति का निधन होने से गिरिजा देवी के जीवन में बड़ा खालीपन आया। 1980 के दशक में कोलकाता में आईटीसी संगीत रिसर्च एकेडमी में काम किया और फिर 1990 के दशक के दौरान बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के संगीत संकाय के एक सदस्य के रूप में उन्होंने काम किया।

जहाँ तक पुरस्कार और सम्मान दिए जाने का सवाल है 1990 में गिरिजा देवी को पद्मश्री, 1977 में संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार, 1989 में पद्म विभूषण, 2010 में संगीत नाटक अकादमी फेलोशिप तथा 2016 में पद्म विभूषण सम्मान से उन्हें नवाजा गया।

'ठुमरी की रानी' कही जाने वाली गिरिजा देवी का ठुमरी गायन को परिष्कृत करने और इसे लोकप्रिय बनाने में बड़ा योगदान रहा। पूरब अंग की ठुमरियों की विशेषज्ञ गिरिजा देवी की ठुमरीं, कजरी और चैती में बनारस का खास लहजा और विशुद्धता का पुट उन्हें विशिष्ट बनाता है।

इसके अतिरिक्त उन्हें होरी, झूला, दादरा और भजन के अनूठे प्रदर्शनों के लिए भी जाना जाता है।

भारत की इस प्रसिद्ध ठुमरी गायिका गिरिजा देवी का 88 वर्ष की उम्र में 24 अक्टूबर, 2017 की रात 9 बजे कोलकाता के बी.एम. बिरला अस्पताल में दिल का दौरा पड़ने से निधन हो गया। बनारस घराने की सशक्त आवाज और संगीत की जीवंत मिशाल मानी जाने वाली गिरिजा देवी के निधन से भारतीय शास्त्रीय संगीत की एक बड़ी साधिका हम सबों के बीच• से गुजर गई। अपने संगीत से कई पीढ़ियों के लोगों को प्रभावित करने वाली और भारतीय शास्त्रीय संगीत को लोकप्रिय बनाने वाली गिरिजा देवी भले ही इस दुनिया में नहीं रहीं, लेकिन उनकी ठुमरी और शास्त्रीय गायन युगों-युगों तक गूँजती रहेगी। गिरिजा देवी का अवसान शास्त्रीय संगीत की दुनिया के उस अध्याय का समाप्त होना है, जिसने रागों को नए अर्थ दिए। यह एक पूरे संगीत युग का अवसान है। गिरिजा देवी के गुजर जाने से ऐसा लगा कि संगीत के आकाश में उस सूनेपन का एहसास हुआ जिसे कोई भर नहीं पाएगा। उस बड़ी परंपरा में रसूलनबाई, सिद्धेश्वरी देवी, बड़े रामदास, महादेव मिश्र, अप्पा जी यानी गिरिजा देवी जैसे मूर्धन्य गायकों का नाम लिया जाता है जिसकी गिरिजा जी आखिरी कड़ी थीं। अनोखी कलाकार गिरिजा देवी संगीत के हर पक्ष में निपुण थीं; संगीत को सहज भाव में प्रस्तुत करने की कला में माहिर। संगीतज्ञ होना अलग बात है और अपनी विधा में माहिर होना इतर मामला है, लेकिन जिसे संगीत की समझ नहीं, उसके प्रति भी संवेदनशील होना, यह एक कलाकार के उम्दा इनसान होने जैसा ही है। गिरिजा देवी कहती थीं कि 'संगीत में जातिवाद नहीं, संगीतवाद चलता है।'

गिरिजा देवी ने सावन और कजरी गाने में महारत हासिल कर ली थी- 'नहीं आए घनश्याम घिर आयी बदरी' या 'भीगी जाऊँ मैं पिया बचाय लइहों' जैसे सावनी गीतों को उन्होंने अमर बनाया है। इसी प्रकार झूला गाने में, बारामासा गाने में, होली गाने में, भजन गाने में भी उन्हें महारत हासिल था और ठुमरियों में नए अर्थ भरने में भी वे बड़ी गायिका थीं। नवाब वाजिद अली शाह द्वारा विरचित 'बाबूल मोरा नइहर छूटो जाए' गीत को राग भैरवी में गाकर गिरिजा जी ने अमर बना दिया। वैसे तो पूरी दुनिया में इस गीत को गाया जाता है, लेकिन माना जाता है कि गिरिजा देवी की आवाज में यह सबसे ज्यादा कर्णप्रिय लगता है। एक कलाकार के रूप में गिरिजा जी की महानता या लोकप्रियता का आलम इस बात से लगाया जा सकता है कि

88 साल की उम्र में उनका अवसान हुआ, जिसमें सत्तर साल उनकी गायिका का लंबा कालखंड रहा है।

गिरिजा जी को इस मामले में महान कहा जाएगा, क्योंकि सभी बड़ी गायिकाओं के जाने के बाद उनकी परंपरा को उन्होंने न सिर्फ बरकरार रखा, बल्कि आगे भी बढ़ाया। यह कहने में मुझे कोई हिचक नहीं कि गिरिजा जी के देहावसान के बाद से शास्त्रीय गायिका की एक समृद्ध परंपरा समाप्त हो गई, क्योंकि जो बात गिरिजा देवी की गायिकी में थी, अब वैसी बात अब कब और किसकी आवाज में देखने को मिलेगी, यह कहना असंभव सा जान पड़ता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत का एक चमकता हुआ सितारा डूबा तो उनकी आवाज के चाहने वालों में मायूसी छा गई। अप्पा जी के नाम से मशहूर गिरिजा देवी संगीत की पाठशाला तो थीं ही, बहादुर, साहसी और संघर्षशील तथा कभी न हारने वाली गायिका थी। किसी भी स्थिति–परिस्थिति को जीत कर अपने लक्ष्य को हासिल करना ही गिरिजा जी का जीवन मंत्र था। अपने आत्मविश्वास की बदौलत वह अपनी एक अलग छाप बना पाई। जो उनमें आत्मबल था वह आज की महिलाओं में नहीं दिखता है। वह आत्मबल काबिलेतारीफ था। अपने परिवार और अपने काम के बीच उन्होंने इतना अच्छा समन्वय स्थापित किया कि वो सच में दिखता था कि कैसे आप अपने आदर्शों और अपनी मान्यताओं को लेकर आगे बढ़ सकते हैं। लाखों संगीत प्रेमियों के हृदय में उनका जो विशेष स्थान था, वह हमेशा बना रहेगा। जिस प्रकार उस्ताज विस्मिल्ला खां ने जनमानस में शहनाई को और पं. कुमार गन्धर्व ने मालवी लोक धुनों के माध्यम से निर्गुणी भजनों को लोकप्रिय बनाया, उसी तर्ज पर चलकर गिरिजा देवी जी ने उपशास्त्रीय गायन सारे प्रकारों का सदाबहार ढंग से गाकर अमर किया है।

महान सुर साधिका गिरिजा देवी तो विगत 24 अक्टूबर, 2017 को अपने प्रशंसकों को सदमा देकर इस दुनिया से चली गईं, मगर उनकी बेटी सुधा दत्ता उनकी स्मृति को अपने स्मृतिपटल पर आज भी संजोए हुई है जो कहती है कि 'अप्पा जी अपने आप में बनारस थी। उनकी रगों में बनारस ही बहता था।' 1975 में पिता की मृत्यु के बाद सुधा अपनी माँ गिरिजा देवी के ही ज्यादा निकट थीं। बनारस के कबीर चौरा में बीते अपने बचपन के दिनों को याद करते हुए सुधा पुनः कहती है, 'अपनी युवावस्था में अप्पा जी ने लगभग एक साल तक सारनाथ में रहकर सुर–साधना की थी। अनुशासन ही उनके इतने सक्रिय जीवन का राज था। अपनी मृत्यु से

एक दिन पहले कोलकाता के संगीत शोध संस्थान में उन्होंने 'गोविंद गुण' नाम का भजन गाकर लोगों को गुनगुनाने पर मजबूर कर दिया था।'

भारतेन्दु हरिश्चंद्र और चौधरी बद्री नारायण 'प्रेमधन' के हजारों पदों को गिरिजा देवी ने अपने गायन में अमर कर दिया। उन्होंने खुद भी कई कजरियाँ लिखीं, जिनमें 'घिर आई है कारी बदरिया, राधे बिन लागे ना मोरा जिया' जैसी उत्कृष्ट बंदिश भी शामिल है। मंच पर बच्चों जैसी मुस्कान श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देती थी, लेकिन इस मासूमियत के पीछे एक गुरु की गरिमा भी थी, जो अपने शिष्यों को हमेशा प्रेरित करती रहती थी। फिल्म संगीतकारों में लता मंगेशकर और आशा भोंसले की आवाज गिरिजा देवी को बहुत पसंद थी। लता जी तो उनकी सहेली भी थी, बल्कि दोनों का जन्म भी एक ही 1929 में हुआ था। आजकल के फिल्मी गानों से गिरिजा देवी को जरूर कभी-कभी कोफ्त होती थी। उनकी सबसे पसंदीदा फिल्में दो थीं-एक पाकीजा और दूसरा उमराव जान। इसी प्रकार फिल्मी अभिनेत्रियों में मीना कुमारी और वैजयंती माला उन्हें बहुत पसंद थी। उन्हें कॉमेडी और ऐतिहासिक फिल्में अच्छी लगती थीं, लेकिन हिंसा से भरी एक्शन फिल्मों से उन्हें सख्त परहेज था। डेरा सच्चा सौदा के गुरमीत राम रहीम को जब जेल की सजा हुई और पंचकुला से हिंसा की खबरें आईं तो वे बहुत परेशान हुईं। ऐसे ही उत्तरी कोरिया ने जब परमाणु परीक्षण किया, तब भी वे दुखी थीं। गिरिजा जी मजाक में अक्सर कहती थीं कि वे नब्बे साल जिएंगी और तभी गाने की दुनिया छोड़ेगी। उन्होंने किसी रानी की तरह अपनी शर्तों पर जीवन जिया और वैसी ही शानदार मौत भी पाई।

किसी भी देश का संगीत उसकी अपनी विरासत होती है। अपनी विरासत को संभाले रखने वाले लोग महान होते हैं। गिरिजा देवी एक ऐसी ही संगीत साधिका थी जिन्होंने अपनी विरासत को संभाले रखकर भारतीय संगीत को दुनिया भर में पहचान बनाने का प्रयास किया, लेकिन चिंता की बात यह है कि आज पश्चिमी संस्कृति और संगीत का नशा भारतीयों पर इस हद तक छा गया है कि भारतीय संगीत अपनी यह पहचान भी खोती जा रही है। भारतीय संगीत इंसान को मानसिक शांति प्रदान करता है, लेकिन आज की आधुनिक संगीत शांति भंग करने का काम कर रहा है। तेज आवाज में बजता संगीत एक तरह से ध्वनि प्रदूषण पैदा कर रहा है। ऐसी विषम स्थिति में गिरिजा देवी ने ठुमरी और कजरी के माध्यम से भारतीय संगीत के मूल स्वरूप को बरकरार रखने की कोशिश की और

भारतीय संगीत परंपरा को संभालने की तरफ भी ध्यान दिया, ताकि दुनिया में इसकी पहचान कायम रह सके। गिरिजा देवी के लिए संगीत आनंद की स्थिति थी और सुरों की साधना ही उनकी आध्यात्मिकता थी। मध्यकालीन ठुमरी में नायिका के बनाव-शृंगार, मान-मनौवल, उपेक्षा-विरह, ताने-उलाहने, रास-रंग, छेड़छाड़ की चरम अभिव्यक्ति शामिल होती थी। उन्होंने इसमें आध्यात्मिकता घोलने की कोशिश की। उसे भक्ति-साधना का माध्यम बनाना चाहा। उन्हें प्लेबैक सिंगिंग के लिए बहुत-से ऑफर मिले। मशहूर निर्देशक वी. शांताराम ने कई बार कहा कि वह उनके लिए गायन करें, लेकिन उन्हें शास्त्रीय संगीत ही बाँधता है, सो उन्होंने बड़ी विनम्रता से मना कर दिया। उनका मानना था कि जो लोग शास्त्रीय संगीत को केवल मन बदलाव के लिए सुनते हैं, वे इसकी आत्मा को चोट पहुँचाते हैं।

गिरिजा देवी के व्यक्तित्व में संगीत से अलग भी जीवन का दर्शन और उससे बड़ा अनुशासन कुछ सीखने लायक था। उन्होंने बगैर नहाए कोई कार्यक्रम नहीं किया। कार्यक्रमों में किसी का सहारा लेकर न तो स्टेज पर चढ़ीं और न उतरीं।

गिरिजा देवी ने अपनी शिष्याओं को आत्मनिर्भर बनने की राह पकड़ायी। वे धर्मपरायण महिला थीं और हमेशा प्रसन्न रहती थीं इसीलिए तो अप्पा जी 88 वर्ष की एक भरी-पूरी उम्र में कला-साधना करते और गाते-बजाते हुए ही अपनी बेटी सुधा दत्त और उनके चाहने वालों लाखों को छोड़ वह इस दुनिया से प्रस्थान कर गयीं और उनके जाने के बाद निश्चित ही बनारस अब कुछ कम सुरीला दिखेगा। गायन के प्रति उनके अद्‌भुत समर्पण को दाद देते हुए गिरिजा जी की स्मृति को मैं नमन करता हूँ और कबीर की इन पंक्तियों से अपनी श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ-

'कहना था सो कह दिया
अब कुछ कहा न जाए।
कबिरा जो था सोइ भया
अब कुछ कहा न जाय।'

<u>सईद जाफरी</u> :
विविधतापूर्ण किरदार को पूरी शिद्दत से निभाना जिनकी खासियत थी

भारतीय सिनेमा जगत में कई ऐसे कलाकार हैं, जिन्होंने भारत ही नहीं, बल्कि विदेशों में भी अपनी धाक जमाई है जिनमें सईद जाफरी का नाम भी बड़ी प्रमुखता से लिया जाता है। सईद जाफरी ने भारतीय सिनेमा के साथ विदेशों में भी अपनी चमक बिखेरी, खासकर ब्रिटेन में। सईद ने दिल्ली के एक थियेटर कंपनी की स्थापना की और यहीं से उन्होंने अपने अभिनय जीवन की शुरुआत की। सईद ड्रामा के जरिए पर्दे तक पहुँचे और फिर सत्यजीत रे, जेम्स आइवरी और रिचर्ड एटनबरों जैसे निर्देशकों की पसंद बन गए। सईद ने कई सालों तक दिल्ली के आकाशवाणी में भी काम किया था। वह 1951–1956 तक रेडियों निदेशक रहे।

सईद जाफरी का जन्म 8 जनवरी, 1929 को पंजाब के शहर मालेर कोटला में हुआ था। उन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त करने के बाद सेंट जॉर्ज कॉलेज मैसूर से उच्च शिक्षा प्राप्त की। फिर सईद जाफरी ने लंदन के रॉयल अकादमी ऑफ ड्रामेटिक आर्ट में शिक्षा ग्रहण की तथा कैथोलिक विश्वविद्यालय ऑफ अमेरिका से अपनी दूसरी स्नातकोत्तर की डिग्री प्राप्त की।

सईद जाफरी पहले भारतीय थे जो शेक्सपियर के नाटकों को लेकर अमेरिका की यात्रा पर गए और इसी दौरान उनकी शादी 19 साल की उम्र में मधुर मेहरूनिमा से हुई, जो उस वक्त 17 साल की थी। सईद अपनी डायरी में लिखते हैं कि वह ब्रिटिश संस्कृति पर मुग्ध थे। धारा प्रवाह अँग्रेजी बोलना और महंगे सूट पहनना उनका शगल था। शिष्टाचार तो ताक पर रख दिया था। महरूरिमा मधुर ठीक उलट थी। आज्ञाकारी पत्नी, उदार मां और अच्छी होम मेकर। पर वो नहीं जो वह चाहते थे। उनकी सलाह भी उसे बदल न सकी। इस कोशिश में वह दूर होते गए और अंत में मधुर से तलाक हो गया। फिर सईद जाफरी ने जेनिफर से शादी कर ली, मगर उन्हें छह–सात में ही यह महसूस होने लगा कि जेनिफर को उनकी फिक्र ही नहीं थी। उसे तो उसकी महत्वाकांक्षाओं की चिंता थी। तब सईद को मेहरूनिमा मधुर का अपनापन याद आने लगा। सात साल बाद सईद जाफरी ने मधुर

के बारे में एक रचना पढ़ी और उसमें उसकी तस्वीर देखकर दंग रह गए। मधुर ने दूसरी शादी कर ली थी और नाम बदलकर अमेरिका में रह रही थी। जब सईद उससे मिलने अमेरिका पहुँचे, तो वह उनसे मिलने से इनकार कर दिया, मगर उसके बच्चे सिर्फ एक बार बात करने को तैयार हुए। उस बच्चे ने सईद जाफरी से कहा, नए पिता जानते हैं कि सच्चा प्यार क्या होता है। उन्होंने मां को बदला नहीं, जैसी हैं, वैसी स्वीकार कर लिया। इसी ताकत ने मां को आत्मनिर्भर बना दिया।' सईद जाफरी को तब समझ में बात आई कि खुलेपन की वजह से उनकी शादी टिक पाई, जबकि उनके स्वार्थ ने उसके व्यक्तित्व को कुचल दिया था। इसलिए रिश्ते टूट गए। सईद जाफरी अपनी डायरी में पुनः लिखते हैं, 'सच तो यह है कि मैंने सिर्फ खुद से प्यार किया। और जो खुद से प्यार करते हैं, वो दूसरों को प्यार कर ही नहीं सकते।'

सईद जाफरी ने 'गाँधी' फिल्म में लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल का किरदार निभाया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने संजीव कुमार के साथ सत्यजीत रे की फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी8 के अलावा 'मासूम', 'किसी से ना कहना', 'मंडी', 'मशाल', 'राम तेरी गंगा मैली', 'रामलखन', 'अजूबा', 'हिना', 'चश्मे बद्दूर' समेत करीब 100 फिल्मों में शानदार अभिनय की। जाफरी के अंतरराष्ट्रीय कैरियर के दौरान वह सीनकोनरी, माइकल केन, जेम्स आइवरी स्टीफन फ्रेरर्स जैसे महान अभिनेताओं के संपर्क में आए।

'माय ब्युटीफुल लांड्रेट' के लिए जाफरी को बाफ्टा पुरस्कारों में नामांकन मिला था। 'तंदूरी नाइट्स' जैसे कई टी.वी. कार्यक्रमों में आने के बाद वह ब्रिटेन में घर-घर पहचाने जाने लगे। उन्होंने दर्जनों रेडियों नाटकों के लिए लिखा और अभिनय किया। बीबीसी रेडियो के 'फोर द पंप' में माइकल रोडग्रेव के साथ काम करने को लेकर उन्हें प्रिक्स इतालिया मिला। वह पहले ऐसे भारतीय थे जिन्हें आर्डर ऑफ द ब्रिटिश एंपायर प्रदान किया गया था। यह सम्मान उन्हें नाट्य जगत में उनके योगदान के लिए दिया गया था। बेशक सईद जाफरी ऐसे पहले कलाकार थे, जिसने बॉलीवुड से ब्रॉडवे तक अपने सफर को खुल कर जीया। एक ऐसा कलाकार जिसने एक तरफ तो महान फिल्मकार सत्यजीत रे के साथ 'शतरंज के खिलाड़ी' में काम किया तो दूसरी तरफ ब्रिटिश फिल्मकार रिचर्ड एटनबरों के साथ फिल्म 'गाँधी' में। इसी प्रकार उन्होंने शेखर कपूर की फिल्म 'मासूम' में सूरी का किरदार अदा किया। फ्रेंच कट दाढ़ीवाली सूरी, जो दिल्ली का एक टिपिकल

लाउड पंजाबी किरदार था। जोर-जोर से हँसना, बात-बात में मजाक, हँसोड़ और कभी-कभी फिकरमंद भी। सच कहा जाए तो विविधतापूर्ण किरदार को पूरी शिद्दत से निभाना और फलां किरदार की तह में पूरी तरह से उतर जाना ही सईद जाफरी की खासियत थी, किसी कलाकार के लिए शायद यही सबसे बड़ा पुरस्कार होगा कि उसके अभिनय को इस तरह से आंका जाए। हालांकि इस तरह के चुनौतिपूर्ण किरदार उन्हें काफी कम मिले। या कहिए कि सईद जाफरी को उनकी प्रतिभा के अनुरूप काम नहीं मिला। बॉलीवुड के चरित्र अभिनेता सईद जाफरी का विगत 15 नवंबर, 2015 को 86 वर्ष की उम्र में निधन हो गया। जाफरी लंदन स्थित अपने घर में गिर पड़े थे। उन्हें अस्पताल में भर्ती कराया गया, लेकिन उनका ब्रेन हैमरेज हो जाने की वजह से निधन हो गया। वह अपने पीछे अपनी पत्नी और तीन बेटियाँ-जिया, मीरा और सकीना जो उनकी पूर्व पत्नी और अदाकारा मधुर से ये संताने हैं, को छोड़ गए। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने सईद जाफरी के निधन पर शोक व्यक्त करते हुए उन्हें एक हरफनमौला कलाकार कहा जिनका बहुआयामी अंदाज हमेशा याद किया जाएगा।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्ष 1988-89 के बीच प्रसारित हुई दूरदर्शन की हिट सीरीज 'तंदूरी नाइट्स' में सईद जाफरी ने अपने अभिनय का लोहा मनवाया था। वर्ष 2010 में उन्हें प्रवासी भारतीय सम्मेलन में लाइफ टाइम

राजेश खन्ना

जिन्होंने राजनीति के आखाड़े में भी आडवाणी जैसे दिग्गज को दी थी कड़ी टक्कर

हिंदी फिल्मों के सुपर स्टार रहे राजेश खन्ना ने यों तो लोकप्रियता की जबरदस्त ऊचाई हासिल की थी, किंतु राजनीति के अखाड़े में भी आडवाणी जैसे दिग्गज को कड़ी टक्कर दी थी। सन् 1991 के लोकसभी चुनाव में दिल्ली के संसदीय चुनाव क्षेत्र से काँग्रेस ने राजेश खन्ना उर्फ 'काका' को भाजपा के कद्दावर नेता लालकृष्ण आडवाणी के मुकाबले चुनावी मैदान में उतारा था। राजनीति का गहन अनुभव रखनेवाले आडवाणी खन्ना को 92073 वोट के मुकाबले 93662 मत पाकर जीत तो गए, पर मात्र 1589 मतों के अंतर से। उसी समय गुजरात के गाँधीनगर संसदीय क्षेत्र से भी आडवाणी जी चुनाव लड़े थे और उन्होंने सवा लाख से भी अधिक मतों जीत हासिल की थी। बाद में उन्होंने नई दिल्ली की सीट छोड़ दी और आज तक वहाँ से चुनाव नहीं लड़ा। राजेश खन्ना हिंदी फिल्म दर्शकों की तीन पीढ़ियों के रोमांटिक हीरो थे। ऐसे बहुत कम अभिनेता होते हैं जिनके इतनी संख्या में और इतने लंबे समय तक प्रशंसक होते हैं। राजेश खन्ना ने कुल 163 फिल्मों में अभिनय किया। इनमें से 106 में वह नायक थे। उन्होंने रोमांटिक हीरो की शुरुआत 'राज' और 'बहारों के सपने' जैसी फ्लॉप फिल्मों से की थी।

राजेश खन्ना ने 1969 से 1972 के बीच एक के बाद एक अराधना, सच्चा झूठा, दो रास्ते, खामोश बंधन, डोली, इत्तेफाक, सफर, आनंद, कटी पतंग, अमर प्रेम आदि 15 हिट फिल्मों दीं। उन्हें 'सच्चा झूठा' फिल्म के लिए सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का पहला फिल्म फेयर अवार्ड मिला। साल 1971 और 1972 राजेश खन्ना के कैरियर के स्वर्णिम वर्ष कहे जा सकते हैं। इन दानों सालों में उनकी आन मिला सजना, अंदाज मर्यादा, छोटी बहु, हाथी मेरे साथी, महबूब की मेंहदी, दुश्मन, अपना देश, दिल दौलत, दुनिया, बाबर्ची, जोरु का गुलाम, मेरे जीवन साथी, मालिक, शाहजादा और गुलाम जैसी सफल फिल्मों आई। उनकी एक साल में 15 फिल्में हिट हुई थीं।

रोमांस के राजो के नाम से मशहूर राजेश खन्ना की रोमांटिक फिल्मों ने नया अहयोय लिखा। वक्त अपनी जरुरत के हिसाब से नायक ईजाद का लेता है। राजेश खन्ना ने स्टार डमके चंद सालों में कामयाबी का किर्तिमान स्थापित किया। दुर्भाग्य यह रहा कि राजेश खन्ना अपने स्टारडम

की छवि पे कभी बाहर नहीं निकल सकें। उनकी व्यक्तिगत जिंदगी पर यह स्टारडम हावी रही और इसी ने उनकी जिंदगी को तनहा और एकाकी बना दिया। वह आत्ममुग्ध और आत्म केंद्रित होते चले गए। स्टारडम का नशा बरकरार रखने के लिए उन्हें दूसरे नशों की लत पड़ी नतीजतन अपने भी उन्हें पराए लगने लगे। यहाँ तक कि उनकी पत्नी डिम्पल कपाड़िया भी उन्हें छोड़कर अलग रहने लगी। हालांकि यह भी सच है कि राजेश खन्ना ने स्वीकर किया था कि डिम्पल को पत्नी के रूप में बच्चों की माँ चाहिए थी। अपनी व्यस्तता की वजह से राजेश खन्ना डिम्पल को समय और ध्यान भी नहीं दे पाते थे। यही कारण था कि डिम्पल अलग रहने लगी। टिक्कल और रिंकी दोनों बेटियों की वजह से उन्होंने तलाक नहीं लिया। उम्र बढ़ने के बाद जब परिपक्वता आई, तो दोनों की परस्पर समझदारी बढ़ी फिर भी वे अलग-अलग छत के नीचे ही रहे। मबर राजेश खन्ना की बीमारी के वक्त दुख के दिनों में डिम्पल राजेश खन्ना का साथ दिया और उन्हें संभाले रखा।

अमृतसार के निवासी राजेश खन्ना का नाम जतिन खन्ना था। 1965 में जब एक टैलेंट हट प्रतियोगिता का जब वे विजेता बने तो राजेश खन्ना बन गए। 70 के दश में उन्होंने अपनी पहचान उस वक्त बनाई जब फिल्म उद्योग में दिलीप कुमार, देवानंद और राजकपूर की तिगड़ी का राज था। कहा जाता है कि इस दौर में लड़कियाँ उनके लिए पागल रहती थी और श्रीमती खन्ना कहलाना पसंद करती थी और जिस वक्त राजेश खन्ना की सफेदी गाड़ी किसी निर्माता-निर्देशक के कार्यालय के बाहर खड़ी दिख जाती, तो लड़कियाँ उसे अपनी लिपस्टिक से गुलाबी कर देती थी। राजेश खन्ना के लिए लड़कियों में ऐसी दीवानगी थी कि उस दौर में अपने खून से राजेश खन्न को खत भेजा करती थी। उस दौर में राजेश खन्ना जो कर दें वही फैशन हो जाता था। उनकी गर्दन झुकाने की आदा, टेढ़ी गर्दन कर मुस्कराना और गुरु कुर्त्ता पहनना ही फैशन बन गया था। शर्ट के ऊपर बेल्ट लगाने के शुरुआत राजेश खन्ना ने की। अस्सी के दशक आते-आते राजेश खन्ना का जलवा कम होने लगा और 90 का दशत आते-आते उन्होंने फिल्मों का अलविदा का दिया। फिर वे राजनीति में आ गए और 1991 मे नई दिल्ली संसदीय क्षेत्र से चुनाव लड़े और आडवाणी जी से पराजित हो गए। फिर आडवाणी के द्वारा दिल्ली सीट खाली पड़ने पर जब 1972 में उपचुनाव हुआ तो राजेश खन्ना का मुकाबला नई दिल्ली के उसी सीट पर भाजपा के शत्रुधन सिन्हा से हुआ। दो अभिनेताओं की लड़ाई में राजेश खन्ना का पलड़ा भारी पड़ा और उन्होंने 101625 मत

हासिल कर 28256 मतों के अंतर से शत्रुधन सिन्हा को पटखनी दे दी। राजेश खन्ना यह चुनाव जीतकर 1972 से 1993 तक लोकसभा के सदस्य रहें। फिर 1996 के आम चुनाव में राजेश खन्ना का मुकाबला भाजपा के दिग्गज नेता जगमोहन से हुआ और जगमोहन 68315 मतों से जीत गए। इस हस्ती को यह मलाल रहा कि उन्हें राज्य सभा के लिए मनोनीत नहीं किया गया। फिर भी राजेश खन्ना ने काँग्रेस के स्टार प्रचारक के रूप में विभिन्न चुनावों में अपनी भूमिका निभाई। काफी दिनों से बीमार चल रहे राजेश खन्ना का निधन 69 वर्ष की उम्र में 18 जुलाई, 2012 को मुंबई के बांद्रा स्थित उनके बंगले 'आर्शिवाद' में हो गया। जिस वक्त राजेश खन्ना ने इस दुनिया को अलविदा कहा उस समय उनकी पत्नी डिम्पल, दोनों बेटियाँ टिवंकल और रिंकी अभिनेता दामाद अक्षय कुमार समेत पूरा परिवार उनके पास मौजूद था। फिल्म 'आनंद' राजेश खन्ना के कैंसर से मरने पर डॉ॰ भास्कर के रूप में अभिनेता अमिताभ बच्चन भावुक होकर कह उठते हैं- आनंद (राजेश खन्ना) मरा नहीं आनंद मरते नहीं.....' मुझे लगता है कि सौ साल के भारतीय सिनेमा के सफ़र को यह चमकता सितारा- राजेश खन्ना अपने पीछे जो अफसाने छोड़ गया है, वह उनके देहावसान के बाद भी उनके चाहने वालों के बीच उनकी मौजूदगी 'अपने समय' मुट्ठी में भरने के आत्म विश्वास का एहसास तो खुब हुआ पर उसे रेत की तरह मुट्ठी से फिसलते चले जाने का पता नहीं चला और न बदलते हुए समय, समाज और सिंनेमा को समझ सके। अपनी निंजी जिंदगी में बदलती वास्तविकताओं से समन्वय बैठाने में भी वे असफल रहे। यहाँ तक की राजनीति का रूख भी उन्होंने किया, पर मैदान बीच में ही वे छोड़ चले। हाँ, इतना जरूर है कि 'आनंद' फिल्म में मौत तो एक कविता है 'और जिंदगी लंबी नहीं, बड़ी होनी चाहिए। जैसे संवादों के जरिए जीवन दर्शन का पाठ पढ़ाने वाले राज़ेश खन्ना ने सचमुच बड़ी जिंदगी जी ली।

हँसमुख व्यक्तित्व के धनी राजेश खन्ना को लगातार सिगरेट पीने की आदत थी, लेकिन वे समय के बहुत पक्के और काम को बड़ी तत्परता से करते थे। दुसरों के साथ बहुत ज्यादा नहीं घुलने-मिलने वाले राजेश खन्ना अदाकारा मुमताज से बहुत ज्यादा करीब थे। फिल्मी पर्दे की सबसे हिट जोड़ी के तौर पर दोनों ने आपकी कसम, रोटी, अपना देश, सच्चा झुठा समेत दस सुपर हिट फिल्में दीं। मजाक करना और ठहाके लगाकर हँसना उनकी आदत थी। राजेश खन्ना के निधन पर लंदन में अपने परिवार के साथ रह रहीं मुमताज बहुत दुखी होकर कहीं- देखी जमाने की भारी बिछड़े सभी बारी-बारी।'

तबला वादक पं. लच्छू महाराज : जो हिन्दुस्तानी संगीत परंपरा को अपने तबले की ताल और थाप से नयी ऊँचाइयाँ दीं

संगीत समेत कला के अन्य रूपों में तेज बदलाव तथा मनोरंजन के विविध नए तौर-तरीकों के सिलसिले के बीच शास्त्रीय परंपरा का स्वर और उसकी ध्वनि अगर आज भी ठाट से बची हुई है, तो उसका असली श्रेय पंडित लच्छू महाराज जैसे साधकों को जाता है। पं. लच्छू महाराज, जिनका पूरा नाम लक्ष्मी नारायण सिंह था हिंदुस्तानी संगीत परंपरा को अपने तबले की ताल और थाप से नयी ऊँचाइयाँ प्रदान कीं। बनारस घराने के इस तबलावादक ने जहाँ अपने घराने के साथ अन्य प्रमुख घरानों-दिल्ली, अजरारा, लखनऊ और पंजाब की शैली में भी खूब बजाया और उन्हें समृद्ध किया, वहीं सिनेमा जैसी विधा में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। तबलावादन की शिक्षा उन्होंने अपने पिता बासुदेव नारायण सिंह से ली।

पं. लच्छू महाराज का परिवार मूलरूप से उत्तर प्रदेश के सुलतानपुर के कोईरीपुर गाँव का रहने वाला था। उनके पिता कला की साज संभाल व अपने पेशे को विस्तार देने के लिए बनारस आ गए थे। सुदीर्घ रचनात्मक जीवन में देश-विदेश में कला-प्रेमियों को भाव-विभोर करने वाले लच्छू महाराज हमेशा बनारस में ही रहे और बनारस के ही रहे। कलात्मक मेघा, मस्तमौला स्वभाव, अक्खड़पन और कस्वाई मिथकों के इस अनोखे शहर के समकालीन इतिहास में उनके जीवन और जीने के अंदाज की एक खास जगह है। उनकी फ्रांसीसी पत्नी और बेटी स्विट्जरलैंड जा बसीं। लच्छू महाराज वहाँ आते-जाते रहे, पर बनारस नहीं छोड़ा। तबले की साधना करते रहे, अगली पीढ़ी को सिखाते-बताते रहे, पर पद और पुरस्कार के फेर में कभी नहीं पड़े। पद्म पुरस्कार यह कहकर उन्होंने ठुकरा दिया कि कलाकार को पुरस्कार की जरूरत नहीं होती, श्रोताओं की वाह और प्रशंसा ही सबसे बड़ा सम्मान है। धन और प्रसिद्धि की चाह उन्हें मुंबई में भी न रोक सकी। जब मर्जी हुई, तब बजाया, किसी के कहने पर नहीं। अपना काम करते रहे, नाम होता रहा। शोहरत की बुलंदी पर भी खांटी बनारसी स्वभाव बचाए रखा। 8 साल की उम्र में मुंबई के एक कार्यक्रम में तबला बजा रहे थे, तो मशहूर तंबला नवाज अहमदजान थिरकवा ने कहा था कि काश लच्छू मेरा बेटा

होता। जिस तरह पं. लच्छू महाराज ने अपने पिता पं. वासुदेव नारायण सिंह से तबले की बारीकि सीखी थीं, उसी तरह उन्होंने उसे अपने शिष्यों को भी सिखाया। उनकी शिष्य परंपरा में सैकड़ों तबलावादकों के नाम दर्ज हैं जो विभिन्न देशों में अनूठे वादन कौशल का प्रदर्शन कर गुरु का नाम रोशन कर रहे हैं। पं. लच्छू महाराज ने बॉलीवुड की कई फिल्मों में भी ताल दिया था। उन्होंने अपनी कला के हुनर से दुनिया भर के संगीत रसिकों को मुग्ध किया। 16 अक्टूबर, 1944 को जन्में पं. लच्छू महाराज का विगत 28 जुलाई, 2016 को 72 वर्ष की उम्र में भिखारीपुर स्थित निजी अस्पताल में निधन हो गया। हृदय में दर्द उठने पर उन्हें अस्पताल में भर्ती कराया गया था, लेकिन अथक प्रयास के बाद भी स्वाभिमानी व जीवट का धनी कलाकार चौथे हृदयाघात से नहीं उबर सका। सामान्य प्रतिभा चलताऊ प्रशिक्षण और थोथे प्रदर्शन की होड़ से त्रस्त हमारे वर्तमान कलाजगत में वे रोशनी के मीनार थे, जहाँ से संगीत की गहराई, विस्तार और ऊँचाई के असीम का अनुभव किया जा सकता है तथा उससे प्रेरणा ली जा सकती है। लच्छू महाराज का निधन एक बड़ी सांस्कृतिक क्षति है। उनके जाने के दुख में डुबे बनारस को देखकर शहर से उनके लगाव का अंदाजा लगाया जा सकता है। उन्होंने अपने पीछे अपनी 96 वर्षीय मां, जिनकी आँखों से अश्रुधारा टूटने का नाम ही नहीं ले रही थी। बीच-बीच में बस इतना ही कह पा रही थी, इस बेटे ने पिता का बड़ा नाम किया। अभिनेता गोविंदा उनकी बड़ी बहन निर्मला अरुण के पुत्र हैं जबकि गायक शमशेर अली समेत कई नामी कलाकार इनके शिष्य।

बनारस को पूरब अंगगायिकी और तबला का गढ़ माना जाता है। बनारस घराने की शैली में एक से बढ़कर एक दिग्गज हस्तियाँ-पंडित राम सहाय, अनोखे लाल, कंठे महाराज, वीरू मिश्र, किशन महाराज, गुदई महाराज जैसे वादक हुए और सबका फन और अंदाज अपने में अनूठा और निराला था, मगर लच्छू महाराज का तबलावादन भी किसी से कम अनोखा नहीं था, पर वे तुनुक मिजाज और मूडी कलाकार थे। वे शोहरत और पैसे के पीछे कभी नहीं भागे। वैसे भी उनके पास धन की कमी नहीं थी। शायद इसलिए भी लच्छू महाराज कार्यक्रम पाने के चक्कर में नहीं रहे।

बनारसी अंदाज के तबला वादन के चलन में तोड़े-टुकड़े, गत और लयकारी में उनकी उँगलियों की फिरत देखने लायक थी। आखिर तभी तो कला-जगत में उनका नाम एक कुशल और अनूठे तबलावादक के

रूप में दर्ज है। उनके गुरु वीरू मिश्र ठुमरी, चैती, कजरी, दादरा, ग़ज़ल आदि के साथ संगत करने में ग़ज़ब का समां बाँधते थे। संगीत के क्षेत्र में लच्छू महाराज के कार्यक्रम की लंबी सूची नहीं है, पर उनके वादन का लोहा बनारस के तबलावादक मानते हैं। वादक के अलावा एक प्रतिष्ठित गुरु के रूप में भी वे स्थापित थे, क्योंकि बड़ी लगन और ईमानदारी से अपने शिष्यों को तबला का प्रशिक्षण देते रहे। उनके खास शिष्यों में दिलेर मेंहदी के भाई शमशेर मेहंदी हैं, जो उनकी शैली के कुशल वादक के रूप में जाने जाते हैं।

जिस प्रकार बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में पं. रामसहाय द्वारा स्थापित 'बनारस बाज' परंपरा को पुनर्जीवित करने वाले तबला वादक पं. कंठे महाराज का नाम आज भी संगीत की दुनिया में बड़े सम्मान से लिया जाता है उसी प्रकार संगीत साधना के प्रति समर्पित तबलावादक पं. लच्छू महाराज के हाथ और अंगुलियों में निहित ऊर्जा, शक्ति व कला को बड़े सम्मान से लोग आज भी याद करते हैं जिनके अनवरत कई घंटों तक जहाँ एकल तबला वादन के कीर्तिमान आज भी कायम हैं, वहीं संगत में भी वह किसी मुख्य कलाकार से पीछे नहीं रहे। दरअसल, पं. लच्छु महाराज ने जीवन भर सिर्फ तबले का वादन ही नहीं किया, बल्कि संगीत को अपने मन-वचन और कर्मो से जिया।

लच्छू महाराज की पहली शादी पांडे महाराज की बेटी और कथक की शिखर नृत्यांगना सितारा देवी की भतीजी अन्नपूर्णा से हुई थी। अन्नपूर्णा अच्छी कथक नृत्यांगना थी। बाद में वह फिल्मों में भी सक्रिय हुई, लेकिन अचानक एक छोटी-सी बीमारी ने अन्नपूर्णा के जीवन का पटाक्षेप कर दिया। अन्नपूर्णा के देहावसान के साथ ही जैसे लच्छू महाराज के सांगीतिक जीवन का वनवास शुरू हो गया। वे अपने-आप में सिमटते चले गए और कार्यक्रमों से कटते चले गए। फिर बाद में दूसरी शादी उन्होंने एक फ्रांसीसी महिला से की थी जिनकी बेटी नारायणी भी कला से जुड़ी है।

लच्छू महाराज आर्थिक रूप से संपन्न थे, इसलिए कार्यक्रम करना उनकी मजबूरी नहीं थी। लच्छू महाराज संगीत के व्यावसायिक मंचों से भले ही दूर थे, लेकिन लोगों में उनका स्थान अब भी सम्मानीय है। उन्होंने कभी भी अपने सिद्धांतों से समझौता नहीं किया। वे आज हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन उनके गुणों की कद्र करने वाले लोग आज भी हैं। ऐसे लब्ध प्रतिष्ठित तबला वादक पं. लच्छु महाराज की स्मृति को मैं नमन करता हूँ।

<u>शशि कपूर</u> :
जो रूपहले पर्दे पर अपनी रूमानी अदाओं से लोगों को दीवाना बना देने वाले सदाबहार अभिनेता थे

भारतीय सिनेमा के प्रथम परिवार (फर्स्ट फेमिली) कहे जाने वाले पृथ्वीराज कपूर परिवार से ताल्लुक रखने वाले शशि कपूर ने कपूर परिवार की विरासत को कभी आगे बढ़ाने में कोई कोताही नहीं की, लेकिन परिवार की परंपराओं को भी तोड़ा। कपूर परिवार में बेटियों के फिल्मों में जाने की परंपरा नहीं थी, लेकिन शशि कपूर ने अपनी बेटी संजना कपूर को यह मौका दिया। शशि कपूर का असली नाम बलवीर राज कपूर था। प्यार से शशि कहलाए जाने वाले अभिनेता ने फिल्मों में इसी नाम से आने का फैसला किया, मगर उन्होंने इस भारी-भरकम नाम को कभी अपने जेहन पर हांवी नहीं होने दिया। साफगोई से बात करने के शशि कपूर को कभी प्रयास नहीं करना पड़ता था। वह बड़ी सहजता से बात चाहे अपने जन्म की हो या फिल्मों की, कह देते थे। उनके शब्दों में, 'मैं आलसी अभिनेता था। मैं फिल्मों में नहीं आना चाहता था। जब मुझे यह करना पड़ा तो मैंने अपना कर्तव्य निभाया और काम किया।' समय का पाबंद और बहुत अनुशासित शशि कपूर ने कभी रविवार को काम नहीं किया और अपने परिवार के साथ समय बिताने के लिए छह हफ्तों का ब्रेक ले लिया था जिसके चलते इनके कई निर्माता खफा हो गए थे जिनमें इनके बड़े भाई राज कपूर भी शामिल थे। शशि कपूर ने खुद कहा है-जब मैं 'सत्यम शिवम सुन्दरम' की शूटिंग कर रहा था, तब मैंने इतवार, क्रिसमस, नए साल, दिवाली और होली के दिन काम करने से इनकार कर दिया था। दरअसल, हिंदी सिनेमा जगत में छुट्टी जैसी कोई चीज नहीं होती।'

पृथ्वी राजकपूर के तीन बेटों-राज कपूर, शम्मी कपूर और शशि कपूर में शशि कपूर सबसे छोटें थे। शशि कपूर का जन्म 18 मार्च, 1938 को कोलकाता में हुआ था। शशि कपूर ने अपने सिने जीवन की शुरुआत बाल कलाकार के रूप में की। चालीस के दशक में उन्होंने कई फिल्मों में बाल कलाकार के रूप में काम किया। इनमें 1948 में प्रदर्शित फिल्म 'आग' और 1951 में प्रदर्शित 'आवारा' शामिल है जिसमें उन्होंने अभिनेता राज कपूर के बचपन की भूमिका निभाई। पचास के दशक में शशि कपूर अपने पिता के थियेटर से जुड़ गए। इसी दौरान भारत और पूर्वी एशिया

की यात्रा पर आई बर्तानवी नाटक मंडली शेक्सपिएराना से वह जुड़ गए जहाँ उनकी मुलाकात संचालक ग्रोदफ्रे कैंडल की बेटी जेनिफर कैंडल से हो गई गोरी चिट्टी जेनिफर भी अपने पिता की नाटक मंडली शेक्सपिएराना में काम करती थी। जब शशि कपूर भी इस नाटक मंडली से जुड़े तो जेनिफर के साथ काम करते हुए दोनों में प्रेम हो गया और फिर 20 वर्ष की उम्र में शशि कपूर ने अपने से बड़ी उम्र की लड़की जेनिफर से शादी कर ली। सिनेमा में व्यस्त हो जाने के बाद रंगमंच पर वह भले ही काम न कर पा रहे थे, लेकिन रंगमंच उनके जीवन में शामिल रहा, क्योंकि जेनिफर की प्राथमिकता रंगमंच थी और शशि कपूर की प्राथमिकता जेनिफर थी। रंगमंच शशि कपूर के लिए पहला प्यार था, मगर बाद में उन्होंने अपना अभिनय कैरियर भी 1944 में पृथ्वी थियेटर के नाटक 'शकुंतला' से शुरू किया था।

कहा जाता है कि पृथ्वी राज कपूर अपने बेटों को सबसे पहले पृथ्वी थियेटर में सफाई का काम सौंपते थे। सफाई करते और कराते अपनी क्षमता के अनुसार उन्होंने जो सीखा उसके अनुसार जीवन में आगे बढ़े। वास्तव में रंगमंच शशि कपूर के नास्टेलजिया में शामिल रहा। शायद यही कारण रहा कि जो मौके उन्हें अभिनेता के रूप में नहीं मिले उसे उन्होंने निर्माता बनकर साकार करने की कोशिश की। निर्माता के रूप में उत्सव जैसी फिल्म बनाने का फैसला शशि कपूर जैसे ही कर सकते थे। 'मृच्छ कटिकम' पर आधारित इस फिल्म को निर्देशित करने के लिए भी उन्होंने गिरीश कनार्ड जैसे प्रख्यात रंगकर्मी का चयन किया। थियेटर के प्रति उनका यह नास्टेलजिया उनके अंतिम दिनों तक कायम रहा।

हमें अच्छी तरह याद है जब मैं मैट्रिक की परीक्षा 1956 में पास कर आईए के प्रथम वर्ष में पटना कॉलेज में अपना नामांकन कराया था, तब पटना जिले के छोटे से गाँव पंडारक में 29 अगस्त, 1956 को शशि कपूर अपने पिता पृथ्वी राज कपूर व भाई शम्मी कपूर के साथ पहुँचे थे जहाँ हिंदी नाटक समाज के रंगमंच पर महान कलाकारों का भव्य स्वागत हुआ था। एक छोटे से गाँव में बेहतरीन अभिनय शशि कपूर के दिल को छू गया था। उन्होंने रंगमंच की आगंतुक डायरी में स्थानीय प्रतिभावान कलाकारों की जम कर प्रशंसा की थी। हिंदी नाटक समाज के रंगकर्मी भले ही आज इस दुनिया में मौजूद नहीं है, पर पंडारक में रंगमंच आज भी है। वही रंगकर्मी अभिनेता शशि कपूर की कला को आदर्श मानते हैं। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने शशि कपूर के पंडारक आगमन में सार्थक पहल की थी। उन

दिनों राष्ट्रकवि दिनकर और पृथ्वी राज कपूर अच्छे दोस्त हुआ करते थे। इधर दिनकर का पंडारक के रंगकर्मियों से खासा लगाव था। इसीलिए दिनकर जी ने पृथ्वी राज कपूर को पटना जाकर उनसे पंडारक आने का निमंत्रण दिया था, क्योंकि उस समय पृथ्वी राज कपूर का पटना में थियेटर चल रहा था। पिता के साथ पंडारक आने के दौरान शशि कपूर के बाढ़ स्थित एएनएस कॉलेज के प्रांगण में आयोजित एक कार्यक्रम में भी उन्होंने शिरकत की थी।

फिल्मों में शशि कपूर की शुरुआत 1961 में यश चोपड़ा की फिल्म 'धर्मपुत्र' से हुई थी। इसके बाद उन्हें विमल राय की फिल्म 'प्रेम पत्र' में भी काम करने का अवसर मिला, लेकिन दुर्भाग्य से दोनों ही फिल्में टिकट खिड़की पर असफल साबित हुई। यही हाल हुआ शशि कपूर के साथ फिल्म 'मेहंदी लगी मेरे हाथ', 'होली डे इन बाम्बे' और 'बेनजीर' जैसी फिल्मों में भी। मगर 1965 में शशि कपूर की 'जब जब फूल खिले' प्रदर्शित हुई और बेहतरीन गीत-संगीत और अभिनय से सजी इस फिल्म की जबर्दस्त कामयाबी ने उन्हें 'स्टार' के रूप में स्थापित कर दिया। इसी साल शशि कपूर की सुपरहिट फिल्म 'वक्त' प्रदर्शित हुई जिसमें उनके सामने बलराज साहनी, राज कुमार और सुनील दत्त जैसे नामी सितारे थे। इसके बावजूद शशि कपूर अपने अभिनय से दर्शकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में सफल रहे।

सन् 1965 से 1976 के बीच शशि कपूर की फिल्मों की सफलता के बाद उनकी छवि रोमांटिक हीरो की बन गयी और निर्माता निर्देशकों ने अधिकतर फिल्मों में उनकी रूमानी छवि को भुनाया। इस कामयाबी के दौर में शशि कपूर ने जिन फिल्मों में काम किया उनमें अधिकतर फिल्में हिट हुई और फिर तो रूपहले पर्दे पर अपनी रूमानी अदाओं से लोगों को दीवाना बना देने वाले शशि कपूर सदाबहार अभिनेता कहलाने लगे।

अस्सी के दशक में शशि कपूर ने फिल्म निर्माण के क्षेत्र में जब कदम रखा, तब फिल्म 'जुनून', 'कलयुग', '36 चौरंगी लेन', 'विजेता', 'उत्सव' आदि फिल्मों का निर्माण किया। वर्ष 1971 में अपने मित्र अमिताभ बच्चन को लेकर उन्होंने अपनी महत्वाकांक्षी फिल्म 'अजूबा' का निर्माण और निर्देशन किया, लेकिन पटकथा कमजोर होने की वजह से इस फिल्म को कामयाबी नहीं मिल सकी, हालांकि यह फिल्म बच्चों के

बीच काफी लोकप्रिय हुई।

शशि कपूर के सिने कैरियर में उनकी जोड़ी अभिनेत्री शर्मिला टैगोर और नंदा के साथ काफी पसंद की गयी। इन सबके बीच शशि कपूर ने अपनी जोड़ी सुपर स्टार अमिताभ बच्चन के साथ भी बनायी और सफल रहे। यह जोड़ी सर्वप्रथम फिल्म 'दीवार' में एक साथ दिखाई दी। बाद में इस जोड़ी ने 'ईमान धर्म', 'त्रिशूल', 'शान', 'कभी कभी', 'रोटी, कपड़ा और मकान', 'सुहाग', 'सिलसिला', 'नमक हलाल', 'काला पत्थर' और 'अकेला' में भी काम किया और दर्शकों का मनोरंजन किया।

वर्ष 1998 में प्रदर्शित फिल्म 'जिन्ना' शशि कपूर के सिने कैरियर की अंतिम फिल्म है जिसमें उन्होंने सूत्रधार की भूमिका निभाई। शशि कपूर ने लगभग 200 फिल्मों में काम किया है। शशि कपूर को फिल्म इंडस्ट्री के सर्वोच्च सम्मान 'दादा साहब फाल्के' से भी नवाजा गया था।

सदाबहार अभिनेता शशि कपूर का विगत 4 दिसंबर, 2017 को 79 साल की उम्र में निधन हो गया। उन्होंने 4 दिसम्बर, 2017 की शाम मुंबई की किलाबेन धिरूभाई अंबानी अस्पताल में आखिरी सांस लीं। उन्हें पिछले कई सालों से किडनी से जुड़ी समस्या थी और वे डायलिसिज करा रहे थे। शशि कपूर की पत्नी जेनिफर का निधन कैंसर की बीमारी से 1984 में ही हो गया था। जेनिफर के देहावसान के बाद शशि कपूर काफी अकेले पड़ गए थे। उनके तीन बच्चे हैं- कुणाल कपूर, करन कपूर और संजना कपूर। अमिताभ बच्चन ने अपने जिगरी यार शशि कपूर जिसे वह प्यार से 'बबूआ' कहकर संबोधित करते थे, के साथ जिए पलों को याद कर अपने ब्लॉग की शुरुआत रूमी जाफरी के एक शेर से की है-

'हम जिंदगी को अपनी
कहाँ तक संभालते
इस कीमती किताब का
कागज खराब था।'

निधन के पूर्व जब शशि कपूर अशक्त हो गए तो अपनी बेटी संजना कपूर को उन्होंने पृथ्वी थियेटर की जवावदेही सौंपी। कहा जाता है कि अशक्त होने के बाद भी वह पृथ्वी थियेटर की सीढ़ियों पर समय बिताने आ जाया करते थे, नए कलाकारों से मिलते और बातचीत करते। निश्चित रूप से हिंदी सिनेमा के सबसे खूबसूरत नायक के रूप में ही नहीं, रंगमंच के प्रति अपने स्नेह और अपनी विरासत को संभालने की जिद के

लिए वे याद आते रहे हैं।

वर्ष 2011 में शशि कपूर को भारत सरकार ने पद्म भूषण से सम्मानित किया था। इन्हें कई नेशनल और फिल्मफेयर अवार्ड्स भी मिल चुके हैं। शशि कपूर ने अपने हिस्से की खुशियाँ, अपने हिस्से के दुख, अपने हिस्से की कामयाबी और अपने हिस्से की असफलताएँ बड़ी गरिमा के साथ झेलीं। मुंबई या मुख्यधारा सिनेमा में दशकों गुजारने के बावजूद शशि कपूर के संजीदा व सार्थक सिनेमा को प्रश्रय देने के पीछे सच को समझना बिल्कुल मुश्किल नहीं है।

शशि कपूर ने अपने जन्म के बारे में एक रोचक संस्मरण साझा किया था –''मेरी मां मुझे 'फ्लूकी' कहती थीं, क्योंकि मेरे माता-पिता ने मेरे जन्म की कोई तैयारी नहीं की थी। राजकपूर और शम्मी के बीच में दो और बेटे हुए थे जो छोटी उम्र में ही चल बसे थे। 1933 में मेरी बहन उर्मिला का जन्म हुआ और मेरी मां को लगा कि उनका परिवार पूरा हो गया है। लेकिन पाँच वर्ष बाद उन्हें पता चला कि वह फिर से गर्भवती हैं और यह जानकर वह अपने आप पर बहुत शर्मिंदा हुईं। उन्होंने मुझे बताया कि फिर वह जान-बूझकर साइकिल से गिरीं, सीढ़ियों से गिरीं, कुनैन खाई, लेकिन ज़िद्दी शाशि कपूर को दुनिया में आना ही था। लिहाजा मैं एक फ्लूक एक्टर, एक फ्लूक स्टार और फ्लूक शख्स हूँ, जो दुनिया में अनायास ही आ गया।'

शशि कपूर का खुद को फ्लूक कहना बेशक उनकी चारित्रिक विनम्रता और उनका परिहास था, पर सच यह है कि 'फ्लूक' से कोई शशि कपूर नहीं बन सकता। कुछ इन्हीं शब्दों के साथ जिंदगी और सिनेमा की लंबी पारी खेल गए हरफनमौला शशि कपूर की अनमोल धरोहर हमेशा जगमगाती रहे, यही कामना करते हुए उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ कवि चंद्रकांत देवताले की 'पुनर्जन्म' कविता की इन दो पंक्तियों से-

'एक जिंदगी में एक ही बार पैदा होना
और एक ही बार मरना।'
जिन लोगों को शोभा नहीं देता
मैं उन्हीं में से एक हूँ

हबीब तनवीर :
जिन्होंने भारतीय रंगमंच का चरित्र निर्माण किया

हबीब तनवीर भारतीय रंगमंच के उन रंगकर्मियों में से एक थे जिन्होंने रंगमंच का चरित्र निर्माण किया। वे ऐसे रंगकर्मी थे जिन्होंने भारतीय रंगमंच को देशज स्वरूप प्रदान करने में न केवल आरंभिक और अग्रणी भूमिका निभाई, बल्कि हमारे रंगमंच की निजता को आधुनिक भावबोध के साथ फिर से आविष्कृत किया और हमारे रंगमंच को प्रयोगधर्मी बनाते हुए अनौपचारिक अभिनय पद्धति की अदम्य शक्ति से परिचित कराया। यह उनकी जिद और जुनून ही था जिसने रंगकर्म को बड़े सभागारों और संस्थानों से निकालकर आम लोगों के जीवन का हिस्सा बनाया। आमलोगों के साधारण जीवन और उनकी समस्याओं को जीवंतता के साथ सामने रखने में हबीब तनवीर का कोई सानी नहीं था। वे सामयिक समस्याओं पर बेजाप्ता कटाक्ष करते रहे और वह भी कड़े विरोध का बिना परवाह किए। यही नहीं उन्होंने अपने जीवन में कभी अपनी विचारधारा से समझौता नहीं किया। हिंदी रंगमंच को आँचलिकता से जोड़कर उन्होंने भारतीय रंगमंच को नई पहचान दी।

1 सितंबर 1923 को रायपुर में जन्में हबीब तनवीर ने 1940 में मैट्रिक और 1944 में नागपुर के मौरिस कॉलेज से बी.ए. किया और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से एम.ए. प्रथम वर्ष की पढ़ाई। 1930 में सात साल की उम्र में 'मोहब्बत के फूल' नामक नाटक देखा और नाटकों से दिल लगा बैठे। 1945 में 22 साल की उम्र में मुंबई पहुँचकर आकाशवाणी के लिए उन्होंने कार्यक्रम बनाए और बतौर पत्रकार 'फिल्म इंडिया', 'टेक्सटाइल जर्नल' तथा 'बॉक्स ऑफिस' में काम किया। सन् 1945-52 के बीच ही उन्होंने कुछ हिंदी फिल्मों में अभिनय भी किया और साथ ही फिल्मों के लिए गाने और डायलॉग भी लिखे। मुंबई में उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ की सदस्यता ग्रहण की। वर्ष 1954 में दिल्ली कुदमा जैदी के हिंदुस्तान थियेटर के साथ काम किया। फिर कलाकार और निर्देशिका मोनिका मिश्रा से शादी की। श्याम बेनेगल के साथ मिलकर अपने चर्चित नाटक 'चरणदास चोर' पर हिंदी फिल्म बनाई जिसमें स्मिता पाटिल ने मुख्य भूमिका निभाई थी। सन् 1958 में संस्कृत नाटक मृच्छ कटिकम पर आधारित नाटक 'मिट्टी की गाड़ी' का निर्माण किया। सन् 1959 में उन्होंने

भोपाल में नए थियेटर की स्थापना की। 1990 के दशक में उन्होंने धार्मिक ढकोसलों पर आधारित नाटक 'पोंगा पंडित' बनाया जिसका आरएसएस तथा अन्य कट्टरपंथी हिंदू संगठनों ने विरोध किया।

भारतीय रंगमंच के आज तक के इतिहास में हबीब तनवीर एकदम अकेले दिखाई देते हैं, जिन्होंने नई तकनीक द्वारा लोकराग को, लोकचेतना को लोकमंच के इस आधुनिक रूप को संवारते हुए एक अनोखी रंगशैली का निर्माण किया। अपनी जमीन, अपनी संस्कृति से जुड़कर लोकशैलियों को अपने आधुनिक नाटकों में गूंथने की अनोखी परिकल्पना द्वारा अपनी सांस्कृतिक धरोहर को परिमार्जित करते हुए एक नया आयाम दिया। इतिहास और संस्कृति में घुले हुए समकालीन यथार्थ को अपने नाटक का विषय बनाया। हबीब तनवीर रूपांतरकार, शायर, जागरूक नागरिक, सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता के साथ-साथ गीतकार और गायक भी रहे। उन्होंने अपने बहुविध योगदान से भारतीय रंगमंच को समृद्ध तो किया ही है, उसे अपने बहुरंगी फलक द्वारा ख्याति के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचाया। 20वीं शताब्दी के भारतीय रंगमंच के इतिहास में संस्कृत नाटक हो या आधुनिक नाटक रंगमंच पर लोकशक्ति का चमत्कार इनके सभी नाटकों में दिखाई देता है। कर्मठ रंग जीवन की निरंतरता में उनका आत्मविश्वास पूरी चमक के साथ मौजूद रहा।

अपनी रचनात्मकता द्वारा रंगमंच को एक विलक्षण ताजगी प्रदान करने वाले हबीब तनवीर ने एक नया भरोसा दर्शकों को दिलाया। छतीसगढ़ी लोकनाट्य के साथ ही भारतीय और पाश्चात्य रंगशैलियों के मिश्रण से ऐसे शिल्प और मुहावरे में अपने नाटक प्रस्तुत किए जिसे सारी दुनिया ने सराहा। उनके नाटकों में रंगशाला प्रेक्षकों से ठसाठस भरी रहती थी। भिलाई में जब 'चरणदास चोर' ओपन एयर थियेटर में हुआ तो दर्शकों की संख्या 18 हजार से अधिक थी। उनके नाटकों में अंतर्वस्तु की श्रेष्ठता, समग्रता का बोध कराती रही है। यही कारण है कि रंगशाला प्रबुद्ध दर्शकों से भी ठसाठस भरी रहती थी। 'गाँव के नाव ससुराल मोर नाव दामाद' और 'चरणदास चोर' के पिछले चालीस वर्षों में न जाने कितने प्रदर्शन हो चुके हैं, फिर भी दर्शकों के बीच इन नाटकों का आकर्षण बना हुआ है।

आम आदमी की आकांक्षाओं और वास्तविकताओं के दर्पण में हबीब तनवीर के नाटक जनजीवन के बहुत करीब रहे हैं। नाटक 'मिट्टी की गाड़ी' और 'आगरा बाजार' में सागर जैसी गहराई है। 'गाँव के नाव

ससुराल मोर नाव दामाद' में हँसी-मजाक से भरा-पुरा खिलंदड़ापन है। इसी प्रकार 'हिरमा की अमर कहानी' आदिवासियों के सही अधिकार और उनकी समस्याओं के सामने रखता है। इसके अंतर्गत धार्मिक विसंगतियों के साथ भ्रष्ट राजनीति दांव-पेंच का सजीव चित्रण है। अपनी बहुमुखी प्रतिभा के अनुरूप ही हबीब तनवीर ने आकाशवाणी, मुंबई में बच्चों के लिए रूपक लिखे। फिल्मों के लिए समीक्षाएँ लिखीं। स्वतंत्र रूप से पत्रकारिता भी की। तत्कालीन प्रसिद्ध पत्रिका फिल्म इंडिया के पहले सहायक संपादक बने। अनेक फिल्मों में अभिनय किया। इलस्ट्रेड वीकली ऑफ इंडिया में भी पुस्तक समीक्षा लगातार करते रहे। धीरे-धीरे इप्टा और प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ गए। हबीव तनवीर ने तीन-चार वर्षों तब बलराज साहनी, शंभुमित्रा, दीना पाठक और अनेक कलाकारों के साथ इप्टा में काम किया। फिर 1954 में मुंबई से दिल्ली चले आए। दिल्ली के जामिया-मिलिया विश्वविद्यालय में नजीर अकबराबादी की शायरी को केंद्र में रखकर तैयार किया गया अपना नाटक 'आगरा बाजार' प्रस्तुत किया जिसमें सफल होने के बाद इन्हें एक अच्छे निर्देशक के रूप में मान्यता मिली। कुछ समय बाद इन्हें नाट्य प्रशिक्षण के लिए तीन सौ रुपए माहवार की स्कॉलरशिप मिली।

1955 में हबीब तनवीर ने लंदन की रॉयल अकादमी ऑफ ड्रामेटिक आर्ट्स में प्रवेश लिया। इंग्लैंड जाने के लिए उनके पास पैसे नहीं थे, तब अलीगढ़ विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. हुसैन ने 'ओल्ड ब्वायज फंड' से यात्रा व्यय की व्यवस्था करवाई। एक वर्ष के प्रशिक्षण के बाद ही हबीब तनवीर को लगने लगा कि अपनी भाषा और अपनी संस्कृति में काम करना अधिक बेहतर होगा। प्रशिक्षण के बाद छुट्टियों में लंदन में ही एसोसिएट ऑफ द ड्रामा बोर्ड से भी नाट्य प्रशिक्षण की एक डिग्री प्राप्त की। भारत वापस आने के पूर्व उन्होंने यूरोप घूमते हुए वहाँ के रंगमंच को देखने और वहाँ के नाटककार से मिलने की योजना बनाई। यात्रा व्यय के लिए क्लबों में गाने गाए, रेडियो के लिए लिखा। रोजमर्रा की जरूरतों के लिए अनेक काम किए जिसमें अँगूर तोड़ने जैसा मेहनत-मजदूरीवाला काम भी था। यूरोप में जाने के दौरान उन्होंने अल्जीरिया, ट्रीस्ट, बेलग्रेड, गैगरेव, दुब्रोबनिक की यात्रा करते हुए युगोस्लाविया भी गए। सब जगह नाटक देखते हुए हंगरी और बुडापेस्ट के क्लबों में हिंदुस्तानी गाना भी इन्होंने गाया। प्रसिद्ध नाटककार ब्रेख्त से मिलने के लिए वे जर्मनी के बर्लिन भी गए, लेकिन एक सप्ताह पूर्व ही ब्रेख्त की मृत्यु हो चुकी थी। बर्लिन में 7-8 माह रहकर

ब्रेख्त के सभी नाटक खोज-खोजकर देखे और 1957 में दिल्ली वापस चले आए। 'हिंदुस्तानी थियेटर' में निर्देशक के रूप में काम कर रही मोनिका मिश्रा को हटाकर इस थियेटर के बेगमजैदी ने हबीब तनवीर को निर्देशक बना दिया, मगर 1958 में ही तनवीर को थियेटर से अलग कर दिया गया। हबीब तनवीर और मोनिका मिश्रा ने मिलकर एक साथ ही थियेटर की शुरुआत की। फिर 1964 में एक नया थियेटर की स्थापना कर उसे एक रजिस्टर्ड सोसायटी बनाया और 1972 में वह एक पेशेवर थियेटर कंपनी बन गया जिसकी पहली प्रस्तुति हबीब तनवीर द्वारा लिखा गया एकांकी नाटक 'सात पैसे' का निर्देशक मोनिका मिश्रा ने किया। 1960 में 'रूस्तम सोहराब' और 'लाला शोहरत राय' दो नाटक प्रस्तुत किए गए। हबीब और मोनिका मिश्रा 1961 में दोनों शादी के बंधन में बंध गए जिसके बाद 1964 में बिटिया नगीन का जन्म हुआ। उसी समय हबीब तनवीर को सोवियत प्रकाशन विभाग में वरिष्ठ संपादक के रूप में एक अच्छी नौकरी मिल गई। फिर 1970 में हबीब तनवीर को संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार मिला।

1972 में हबीब तनवीर राज्यसभा के लिए मनोनीत किए गए। इस प्रकार कहा जाए तो हबीब तनवीर केवल नाटककार ही नहीं, अभिनेता, गायक के साथ-साथ राज्यसभा के सदस्य होने पर बहुत प्रभावशाली वक्ता भी हो गए। मुझे अच्छी तरह याद है एक बार जब उन्हें एक ऐसी सभा में हबीब तनवीर को बोलने के लिए कहा गया जहाँ नामवर सिंह जी मौजूद थे। उन्होंने जो भाषण के दौरान उसका एक नमूना प्रस्तुत करने के लोभ का संवरण मैं नहीं कर पा रहा हूँ। उन्होंने कहा-'लुटेरे की तरह आते हैं और सब कुछ लूटकर ले जाते हैं। नामवर जी की यह खासियत है। उनके जादुई व्याख्यान के बाद अब आप लोगों ने मुझे बोलने के लिए खड़ा कर दिया है। बहुत कठिन हो जाता है ऐसे में सब कुछ संभालना।' ऐसा कहते हुए हबीब तनवीर ने अपनी अनोखी शैली द्वारा समूची सभा को, समूचे रंगकर्मियों को अपनी वक्तृत्वता के मोहपाश में बाँध लिया। अपने बीस मिनट के व्याख्यान में समाज से रूबरू होते हुए, अपने समय के ज्वलंत प्रश्नों से ग्रहण तादात्मय रखा।

1990 में मध्यप्रदेश सरकार ने हबीब तनवीर को कालिदास सम्मान से नवाजा। उत्कृष्टता और सृजनात्मकता के असंदिग्ध प्रतिमानों तथा लंबी साधना के आधार पर दिए जाने वाले इस सम्मान के अवसर पर जूरी ने अपने प्रतिवेदन में लिखा- 'श्री तनवीर का रंगमंच में योगदान सिर्फ इसलिए उल्लेखनीय नहीं है कि उन्होंने रंगाभिव्यक्ति के नए मुहावरों की

रचना में नई जमीन तोड़ी, बल्कि इसलिए भी है कि उनके काम में निरंतर गुणवत्ता रही है। वे ऐसे पहले रंगकर्मी हैं जो रॉयल अकादमी ऑफ ड्रामेटिक आर्ट्स(लंदन) में प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद भारत लौटे और जिन्होंने लोक कलाकारों के साथ काम किया। उन्होंने छतीसगढ़ के कलाकारों के साथ न केवल एक नया रंगमंच तैयार किया, बल्कि एक बहुत सशक्त रंगशैली को संरक्षित भी किया।' कालिदास सम्मान के अतिरिक्त हबीब तनवीर को शिखर सम्मान, जवाहर लाल नहेरु फेलोशिप, पंडित सुन्दर लाल शर्मा पीठ रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर में विजिटिंग प्रोफेसर, 1982 में पद्मश्री, इंदिरा कला एवं संगीत विश्वविद्यालय, खेरागढ़ द्वारा डी.लिट् की मानद उपाधि, 'चरणदास चोर' के लिए इंटरनेशनल फ्रिज फर्स्ट एवार्ड एडिनबरा, मध्यप्रदेश हिंदी साहित्य सम्मेलन का भवभूति अलंकरण के बाद रवीन्द्र भारती, कोलकाता द्वारा डी.लिट् की मानद उपाधि प्रदान की गई। फिर 2002 में पद्मभूषण से अलंकृत, छतीसगढ़ शासन के 2002 के लिए दाऊ मदरा जी सम्मान सहित ढेर सारे सम्मानों और अलंकरणों से लदे हबीब तनवीर दर्शकों के प्रेम को अपना सबसे बड़ा सम्मान मानते हैं।

हबीब तनवीर के नाटक रंजक और लोक हितकारी तो होते ही हैं, उनमें दर्शकों को अभिभूत करने की क्षमता भी होती है। अपने नाटकों में वे समाज, राजनीति धर्म, इतिहास, संस्कृति के अंतर्विरोध खोलकर दिखाते हैं। सामाजिक सरोकार से ओत-प्रोत नाटक दर्शकों की संवेदनशीलता को परिष्कृत करते हुए जन चेतना का विकास करते हैं। मानवीय संवेदना उनके नाटकों को जीवंतता प्रदान करती है। उनके नाटक दर्शन की चेतना को झकझोरते हुए जनता की आकांक्षाओं और जीवन संघर्ष को मुखर अभिव्यक्ति देते हैं। यह कहने की आवश्यतकता नहीं कि उन्होंने लोकनृत्य, गीत, संगीत और विचार के अभूतपूर्व सामंजस्य द्वारा अपने सांस्कृतिक स्वप्न को साकार किया और छतीसगढ अंचल को विश्वव्यापी उत्कर्ष तक पहुँचाया। और तो और कालिदास के संस्कृत नाटक और शेक्सपीयर के अँग्रेजी नाटक भी छतीसगढ़ी में अनुदित होकर अपनी चमक बनाए रखते हैं। अपने समूचे युगबोध में यह कमाल हबीब तनवीर के नाटकों में सहज ही देखा जा सकता है। उनके नाटकों की प्रतीकात्मकता युगीन संदर्भो को व्यापकता प्रदान करती है। मानना होगा कि इस एक आदमी की रंगचेतना ने छतीसगढी लोक संस्कृति से विश्वदृष्टि बनाई। हबीब तनवीर का रंगकर्म, उनका रंग आंदोलन और उनकी रचनाशीलता सतत् प्रवाहमान रही है।

साधना :
जिनकी अदायगी के दीवाने थे दर्शक

साधना बॉलीवुड की एक ऐसी अभिनेत्री थी जिसने साठ और सत्तर के दशक में अपनी विशिष्ट अदायगी से सिने प्रेमियों एवं दर्शकों को अपना दिवाना बनाया। अभिनेत्री साधना बोस के नाम पर उसके पिता ने अपनी इकलौती बेटी का नाम रखा था साधना। उसने सिंधी भाषा में बनी फिल्म में बाल कलाकार के रूप में अपने कैरियर की शुरुआत की थी। वैसे बॉलीवुड में साधना ने अपने कैरियर की शुरुआत 1960 में प्रदर्शित फिल्म 'लव इन शिमला' से की जिसके निर्देशक थे आर. के. नैयर और उन्होंने ही साधना को नया लुक दिया था साधना कट। दरअसल, साधना का ललाट बहुत चौड़ा था उसे बालों से ढंका गया, फिर उस स्टाईल का नाम ही पड़ गया साधना कट। कहा जाता है कि फिल्म के सेट पर उसे निर्देशक आर. के. नैयर से प्रेम हो गया और बाद में उसने उनसे शादी कर ली। वर्ष 1961 में प्रदर्शित फिल्म 'हम दोनों' साधना के कैरियर की एक और सुपरहिट फिल्म साबित हुई। इस फिल्म में उन्हें देवानंद के साथ काम करने का मौका मिला। साधना और देवानंद की जोड़ी को दर्शकों ने बेहद पसंद किया। साधना की कुछ यादगार फिल्मों में 'लव इन शिमला' और 'हमदोनों' के अलावा 'एक मुसाफिर एक हसीना', 'असली नकली', 'मेरा महबूब' और 'वो कौन थी' शामिल हैं।

2 सितंबर, 1941 को तत्कालीन हिंदुस्तान के कराची शहर के एक सिंधी परिवार में जन्मी साधना का पूरा नाम साधना शिवदासनी था। भारत-पाक विभाजन के बाद वह परिवार के साथ मुंबई आकर बस गयी। माता-पिता की इकलौती संतान होने के कारण साधना का बचपन बड़े प्यार के साथ व्यतीत हुआ था। राज कपूर की फिल्म 'श्री 420' में नृत्य दृष्य की शुटिंग के रिहर्सल के लिए साधना का जब चयन किया गया तो वह प्रतिदिन रिहर्सल में जाती थी और 'रमैया वत्ता मइया' के गाने के बाद 'श्री 420' के गीत 'ईचक दाना बीचक दाना' में साधना को कोरस लड़की की भूमिका मिली थी। फिर 1958 में सिंधी फिल्म 'अबाणा' में भी उसे काम करने का अवसर मिला था। 1965 में प्रदर्शित फिल्म 'वक्त' साधना के कैरियर की एक और सुपरहिट फिल्म साबित हुई। इस फिल्म के लिए उसे सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री के फिल्म फेयर पुरस्कार के लिए नामित किया गया।

साधना के बात करने का अंदाज भी सबसे जुदा था। वह

जितनी खूबसूरत थी, उतनी ही मीठी उसकी आवाज थी। राज कपूर की फिल्म 'श्री-420' में 'मुड़-मुड़ के ना देख' गीत में भीड़ का हिस्सा बनी साधना ने अपने कैरियर में कभी मुड़ कर नहीं देखा। आज की अभिनेत्रियाँ साधना के फैशन का नकल कर रही हैं। साधना की कजरारी आँखें और लंबे-लंबे आइलाइना आज भले ही कई नामों से पुकारे जाने लगे हों, लेकिन उस दौर में यह उनका खास स्टाइल सिग्नेचर था। उनका हेयरस्टाइल आज भी काफी लोकप्रिय है और लड़कियाँ उन्हें 'साधना कट' के नाम से जानती हैं। चुड़ीदार के साथ कुर्ते का फैशन भी उन्होंने ही शुरू किया था।

अभिनेत्री साधना शिवदासानी का विगत 25 दिसंबर, 2015 को देहावसान 74 वर्ष की उम्र में हो गया। वह एक लंबे अरसे से मुँह के कैंसर से पीड़ित थीं। 1995 में साधना के पति आर. के. नैय्यर का निधन हो चुका था। दोनों नि:संतान थे। साधना ने अपने दौर के सभी सफल नायकों-सुनील दत्त, मनोज कुमार, शम्मी कपूर, राज कपूर, शशि कपूर, संजय खान, फिरोज खान, किशोर कुमार आदि के साथ काम किया था। उनकी सफल फिल्मों में 'मेरा साया', 'अनीता', 'राज कुमार', 'इंतकाम', 'एक फूल दो माली', 'आरजू' आदि हैं। बतौर निर्देशक उनकी फिल्म थी 'गीता मेरा नाम'। वर्ष 2002 में आईफा ने उन्हें लाइफ टाइम अचीवमेंट सम्मान से नवाजा। साधना अपने प्रशंसकों के दिलों में सदा एक खूबसूरत याद बनकर रहना चाहती थी। यही वजह थी कि बाद के दिनों में उन्होंने चरित्र भूमिकाओं से इनकार कर दिया था। भले ही आज वह इस दुनिया से रूखसत हो गयी हैं, पर अपनी यादगार फिल्मों के जरिए वह सदा प्रशंसकों के हृदय में जीवित रहेंगी। उन्होंने एक रोमांटिक और सस्पेंस फिल्मों में काम किया और हर क्षेत्र में सफल रहीं। कहा जाता है कि साधना अपने पूरे वजूद से अभिनय करती थीं। खिलखिलाती थीं तो पूरी कायनात खिल उठती थी। उदास होती थी, तो पूरा समागम के समंदर में गर्क हो जाता था। साधना का सौंदर्य, शिष्टता और सादगी की विरासत सदैव याद रहेगी।

सच मानिए बिना कुछ बोले भी आपकी आँखें आपकी चुप्पी, आपकी उदासी, वे सारी चीजें जिससे जिंदगी की बात का मतलब निकलता है अगर बोल रही हों और मुंबई जैसी मायानगरी की पचास या साठ के दशक की कोई फिल्म हो, तो सिर्फ एक नाम पर आपकी उँगली टिकेगी। वह नाम है साधना जिन्होंने विगत 25 दिसंबर, 2015 को मुंबई के एक अस्पताल में इसफानी दुनिया को अलविदा कह चल दिया उस दुनिया में जहाँ से कोई वापस नहीं आता।

मदवूर वासूदेवन नायर :

जिनका कथकली नृत्य को शीर्ष पर ले जाने के अलावा नवाचार करने में भी योगदान था

कथकली नृत्य में दो मुख्य संप्रदाय प्रचलित हैं-उत्तर और दक्षिण संप्रदाय। दक्षिण संप्रदाय को दर्शाता है कप्पिलिंगाड़ शैली। यहाँ कलाकार को क्रियात्मक प्रतिभा दिखाने की स्वाधीनता मिलती है। केरल में कला-संस्कृति को बढ़ावा देने के लिए सन् 1930 में महान कवि वी. नारायण मेनन ने केरल कलामंडलम केंद्र की स्थापना की थी जिसमें दक्षिण संप्रदाय को लाने का श्रेय मदवूर वासुदेवन नायर को ही जाता है। रेलवे हिंदी सलाहकार समिति का एक सदस्य होने के नाते भारतीय रेलवे के केरल स्थित रेलवे के विभिन्न कार्यालयों में राजभाषा के क्रियान्वयन की स्थिति का निरीक्षण करने हेतु मुझे कई बार मौका मिला जहाँ प्रो. पी. लता के अतिरिक्त उत्तर और दक्षिण के हिंदी सेतु कहे जाने वाले डॉ. नायर से मेरी मुलाकात और हिंदी सहित केरल की कला के संबंध में मुझे जानने-समझने का अवसर मिला। प्रख्यात कथकली नर्तक मदवूर वासुदेवन नायर की कला-साधना के बारे में मुझे बहुत कुछ जानकारी डॉ. नायर से ही मिली थी। 30 साल तक वे कथकली के वेशम 'मिनुक्कू' में महिला चरित्र निभाते रहे। गुरु चेगेनूर रामन पिल्ले के सान्निध्य में आकर स्त्री वेश को छोड़कर पुरुष वेश जैसे कत्ती में निपुण हो गए। नायर आसानी से कई तरह के वेशम जैसे पच्चा(हरा), काठी(चाकू) और थाडी(दाड़ी) में प्रस्तुति देते थे। वासुदेवन ने सात्विक गुणवाले चरित्रों को प्रारंभ में किया, लेकिन उनकी विशेषता और महारत तामसिक गुणोंवाले चरित्रों में थी। तामसिक में काठी वेशम में नरकासुर, दुर्योधन, वाणासुर, कीचाता जैसे पात्रों को उन्होंने प्रस्तुत किया। 13वर्ष की उम्र में कथकली के स्त्री नृत्य पात्र से उन्होंने अपनी कला यात्रा की शुरुआत की। खुद को कथकली नृत्य के लिए समर्पित करने वाले वासुदेवन नायर का कथकली को शीर्ष पर ले जाने के अलावा नवाचार करने में भी योगदान रहा है।

केरल की राजधानी तिरूवनंतपुरम के नायर अगस्त्यकोदु महादेव मंदिर परिसर में मदवुर वासुदेव नायर नृत्य की प्रस्तुती दे रहे थे कि अचानक उनका विगत दिनों निधन हो गया। 1998 में उन्हें संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार और 2009 में राज्य कथकली पुरस्कार भी प्रदान किया

गया था। 2011 में उन्हें देश के प्रमुख नागरिक अलंकरण पद्म भूषण से भी नवाजा गया था। 89 वर्षीय मदवुर वासुदेवन नायर का पार्थिव शरीर जब अस्पताल में रखा हुआ था, तब भी उनके चेहरे पर श्रृंगार था। उनकी बंद आँखें भावों से भरी और चेहरा मासूमियत से भरा हुआ था। दरअसल रावण विजयम की प्रस्तुति के दौरान वासुदेवन निश्चेत होकर गिर पड़े थे।

विगत 6 फरवरी, 2018 का जिस दिन वासुदेवन नायर का निधन हुआ था उस समय रम्भा प्रवेशम के रूप में उनकी आखिरी प्रस्तुति थी। प्रस्तुति के वक्त वे रावण के रूप में शंकरभ्रमण राग के साथ प्रस्तुति दे रहे थे। इत्तेफाकन उसी दिन दक्षिण भारतीय संगीत के प्रख्यात संगीतकार श्याम शास्त्री की पुण्य तिथि थी। श्याम शास्त्री के नाम 300 से अधिक रचनाएँ हैं। इनमें कुछेक शंकरभ्रमण राग में है।

वासुदेवन की पहचान कथकली नर्तक से कहीं आगे भी थी। आज के दौर में प्रस्तुति के दौरान कलाकार गायन नहीं करते। साथी कलाकार मंच से परे गायन करते हैं, लेकिन वासुदेवन नृत्य के साथ खुद गायन भी करते थे। आकाशवाणी के लिए कथकली गायक के रूप में भी वे प्रस्तुति दे चुके थे। 6 फरवरी की प्रस्तुति में वे मुद्रा आधारित उस क्षण तक नहीं पहुँच पाए थे, जिसमें भगवान शिव रावण को तलवार देने वाले थे।

प्रख्यात कलाकार के रूप में चमक-दमक से दूर वासूदेवन पारिवारिक व्यक्ति थे। पुरस्कार या किसी तरह के सराहना की ओर उनका ध्यान नहीं गया। एक साक्षात्कार में उनसे पूछा गया कि आपको कौन से सम्मान से नवाजा गया है, तो वे पद्मश्री और पद्मभूषण में वे भ्रम में थे।

फिल्म अभिनेत्री श्रीदेवी : मादकता और मासूमियत का अनोखा संगम जिसकी लोकप्रियता का रहस्य रहा है

फिल्म अभिनेत्री का असली नाम 'श्रीअम्मा यंगर अय्यपन' था जिन्हें लोग प्यार से श्रीदेवी कहकर बुलाते थे। श्रीदेवी एक ऐसी अभिनेत्री थीं जिन्होंने अपनी खूबसूरती और जबरदस्त एक्टिंग से करोड़ों दिलों पर अमिट छाप छोड़ी। वह एक ऐसी अभिनेत्री थी जिसने पर्दे पर इमोशनल दृश्य किए, तो लोगों की आँखों में आँसू ला दिए, जब कॉमेडी की तो लोग अपनी हँसी नहीं रोक पाए और जब एक्शन किया, तो देखने वाले दंग रह गए। श्रीदेवी की काबिलियत किस्मत के भरोसे नहीं थी, बल्कि बचपन से परिश्रम का नतीजा था। वह प्रतिदिन आगे बढ़ती थी और सीखती थी।

श्रीदेवी का जन्म स्थान तमिलनाडु का शिव काशी था। इनकी पहली तमिल फिल्म 'थुना इवन' 1969 में बनी थी और हिंदी में बाल कलाकार की भूमिका में 'जूली' फिल्म 1975 में आई थी। सोलहवां सावन में श्रीदेवी हीरोइन के रूप में उनकी पहली फिल्म 1979 में आई थी। श्रीदेवी की प्रमुख फिल्मों में हिम्मतवाला, सदमा, सरफरोश, नगीना, घर-संसार, मि. इंडिया, निगाहें, चालबाज, खुदागवाह लम्हे, हीर रांझा, चाँदनी, रूप की रानी चोरों का राजा, गुमराह, लाडला, जुदाई, इंग्लिश विंग्लिश, मॉम आदि थीं।

श्रीदेवी ने 1978 में फिल्म सोलहवां साल से दस्तक दी थी, लेकिन कामयाबी पाँच साल बाद फिल्म 'हिम्मतवाला' से मिली। फिल्म जुदाई के बाद 15 साल फिल्मों से दूर रहीं फिर फिल्म इंग्लिश-विंग्लिश से उनकी वापसी हुई। वर्ष 2017 में रिलीज हुई 'मॉम' उनकी 300वीं फिल्म थी।

कुछ वर्ष पूर्व ही श्रीदेवी को एक कार्यक्रम में नृत्य प्रस्तुत करना था जिसके लिए उन्होंने अपने नृत्य दल को घर बुलाया और 15 दिनों तक घंटों रियाज करती रहीं। उनसे पूछा गया कि फिल्म में आप यह नृत्य प्रस्तुत कर चुकी हैं। शुटिंग के समय आपने बहुत रिहर्सल किए होंगे, अत: रियाज की आपको क्या आवश्यकता है? श्रीदेवी का कहना था कि रियाज निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। हर बार लगता है कि कुछ और बेहतर किया जा सकता था। यह लगन और ललक ही श्रीदेवी को अन्य सितारों से अलग

पहचान दिलाती है।

चार्ली चैपलिन बनना हर किसी के बस की बात नहीं है, कितनों ने कोशिश की और नहीं कर पाए, ऐसे में एक बार शेखर कपूर ने फिल्म मिस्टर इंडिया में श्रीदेवी को चार्ली चैपलिन का एक माइम करने को दिया। श्रीदेवी काफी नर्वस थी, कई दिनों तक वो चार्ली चैपलिन की फिल्में वह देखती रहीं, जब वो शूट करने आई तो शेखर कपूर भी काफी नर्वस थे, बात आखिर चार्ली चैपलिन की थी। श्रीदेवी से पहले ये काम केवल शोमैन राजकपूर ने किया था पर जब श्रीदेवी ने दृश्य शूट करना प्रारंभ किया तो शेखर कपूर भी दंग रह गए।

इसी प्रकार एक दूसरे फिल्म में वो दृश्य जहाँ छोटी बच्ची को दफनाने का था, उस दृश्य में श्रीदेवी सचमुच रो पड़ी थी.... जी हाँ, उस दृश्य में श्रीदेवी के आँसू असली थे। ऐसे कितने ही किस्से हैं जिनकी वजह से जिसने भी उनके साथ काम किया वो उनके फैन हो गए।

असल जिंदगी में भी श्रीदेवी भावुक थीं, सामाजिक कार्यकर्ता हरीश अय्यर की जिंदगी में श्रीदेवी की काफी बड़ी जगह थी। बचपन से डोमेस्टिक रेप की अग्नि में जल रहे हरीश अय्यर जब 'सत्यमेव जयते' के एक एपिसोड में आए तो उन्होंने श्रीदेवी को अपनी हिम्मत का स्रोत कहा, बताया कि कैसे सामने न होते हुए भी श्रीदेवी ने उन्हें फिल्मों के जरिए हरीश और उनके जैसे कई लोगों को हालातों से लड़ने की ताकत दी। आमिर खान के इनकी ये बताते ही वो खुद सत्यमेव जयते के सेट पर आईं और हरीश की कहानी सुनकर रो पड़ी पर हरीश का कहना था कि वो दिन उनके जीवन का सबसे खास दिन था जब उन्होंने हरीश को गले लगाया था। हरीश जैसे कई लोगों के लिए उनके द्वारा निभाए गए किरदार हिम्मत का प्रतीक है।

श्रीदेवी सिर्फ एक अदाकारा नहीं थी, वो मील का पत्थर है, जो सिनेमा के रास्ते पर सदैव रहेगा। श्रीदेवी असल में फिल्म जगत की 'आनंद' है.... और आप तो जानते ही हैं, 'आनंद मरा नहीं, आनंद मरते नहीं।'

सच तो यह है कि एक्टिंग भाव और भंगिमाओं का समिश्रण हैं, ये बात श्रीदेवी बखूबी जानती थीं। इसलिए जिन-जिन गीतों पे उन्होंने नृत्य किया वो भी अमर हो गए, चाहे वो चाँदनी का 'मेरे हाथों में' हो या फिर मिस्टर इंडिया का 'हवा हवाई' हो, या लम्हे का मोरनी या

चालबाज का 'न जाने कहाँ से आई है' हो या हिम्मतवाला का 'नैनों में सपना' हो, जब ये गीत बजते हैं तो स्वतः ही श्रीदेवी का मुस्कुराता हुआ भाव-भंगिमाओं से भरा चेहरा आँखों के सामने आ जाता है। भले ही किसी समय श्रीदेवी से सरोज खान जी का अलगाव रहा हो, पर सरोज खान ने हमेशा ये माना है कि इन और ऐसे ही कई गीतों में श्रीदेवी के अलावा वो किसी को लेने का सोच भी नहीं सकती थी। मनमुटाव अपनी जगह है श्रीदेवी ने भी सरोज खान को जो 'मास्टर जी' का दर्जा दिया वो कभी नहीं छोड़ा। श्रीदेवी सरोज खान की इतनी बड़ी प्रशंसक थीं कि वो अक्सर कहतीं, 'आप करके दिखाओ, मैं आपको ही कॉपी करूँगी, दोनों को एक-दूसरे की नृत्य प्रतिभा पे पूरा भरोसा था। उनकी नृत्य प्रतिभा के सब मुरीद है, सबसे बड़े तो करन जौहर ही हैं और उन्होंने ये बात एक बार नहीं कई बार कही है, शायद करन जौहर का यही लगाव है कि उन्होंने श्रीदेवी की बेटी जहान्बी को खुद लांच करने की ठानी, दुख बस यही रहा कि वो अपनी बेटी की फिल्म नहीं देख पाई।

श्रीदेवी की एक और खास बात यह थी कि अगर उनके लिए किसी ने कुछ भी किया होता था, तो वो उसको अपने सिर आँखों पे बिठा कर रखती थीं। जैसा कि हम सब जानते हैं कि श्रीदेवी दक्षिण की थीं, इसलिए उन्हें हिंदी बोलने में खासी-दिक्कत आती थी, ऐसे में उनकी रिकॉडिंग मशहूर बाल कलाकार बेबी नाज करती थीं। जब बेटी नाज गुजर गई, तो श्रीदेवी ने बेहद दुख से कहा 'आज का दिन मेरे जीवन का सबसे दुखद दिनों में से है, आज मेरी आवाज चली गई' बेबी नाज के देहावसान के बाद काफी समय तक श्रीदेवी ने कोई फिल्म नहीं की, ऐसा था उनका लगाव और ऐसी थीं श्रीदेवी।

मादकता और मासूमियत का अनोखा संगम जिस अभिनेत्री श्रीदेवी की लोकप्रियता का रहस्य रहा है वह 'रूप की रानी' और बॉलीवुड की 'चाँदनी' श्रीदेवी विगत 24 फरवरी, 2018 को हम सबको छोड़कर चली गई सदा के लिए। जी हाँ, जिस श्रीदेवी को पर्दे पर देखकर लोगों का दिल धड़कता था उस 'चंदमुखी' के दिल ने दुबई में आधी रात को धड़कना बंद कर दिया और पूर्णिमा के पाँच दिन पहले ही अमावस आ गई। कहा जाता है कि श्रीदेवी अपने भांजे मोहित की शादी में शामिल होने के लिए दुबई गई थी और वहीं हृदयाघात के कारण उनका निधन हो गया और जैसे ही उनके निधन की ख़बर हिंदुस्तान पहुँची, उनके करोड़ों चाहने वालों की

धड़कने मानों थम सी गई। जीवन में कुछ लम्हे ऐसे भी आते हैं जब किसी की जुदाई दिल तोड़ने वाला 'सदमा' दे जाती है। 'रूप की रानी' श्रीदेवी का चला जाना भी ऐसा ही हुआ। पिछले साल यानी 2017 में ही तो उन्होंने फिल्मों में 50 साल पूरे किए थे और 54 की उम्र में जीवन को अलविदा कह दिया।

कुछ वर्ष पूर्व ही तो श्रीदेवी ने अपने श्वसुर श्री सुरेन्द्र कपूर का 75वां जन्मदिन चेन्नई के अपने बंगले में मनाया था। चेन्नई स्थित उस बंगले की छत पर एक कांच की दीवार और कांच की छतवाला कमरा है जिसमें बैठकर व्यक्ति आकाश में टिमटिमाते सितारों को देख सकता है। बरसात में बिना भींगे आप फुहारों को अपनी आत्मा में महसूस कर सकते हैं। इस तरह से सितारों की रोशनी श्रीदेवी की आत्मा का ताप बन गई और वर्षा की फुहारों ने उनके मादक जिस्म को धार दे दी। श्रीदेवी की कोशिश का रहस्य ये था कि उनके चेहरे पर बला की मासूमियत नजर आती थी।

श्रीदेवी उन कलाकारों में थीं, ज़िन्होंने एक्टिंग की दुनिया में इसलिए कदम नहीं रखा था कि उनको यहाँ बहुत कुछ पाने की तमन्ना थी, बल्कि घर के हालात ऐसे थे कि चार साल की बच्ची को कैमरे की रोशनी के सामने ला खड़ा किया गया था। श्रीदेवी का परिवार साधारण था। पिता अधिवक्ता थे और माँ घरेलू महिला थी। घर में छोटी बहन लता थी। हालात अच्छे नहीं थे, इसलिए बचपन से श्रीदेवी ने फिल्मों में काम करना शुरू कर दिया और फिर तीन दशकों तक लगातार काम करती रही। श्रीदेवी ने कभी अपनी घरेलू जिंदगी की चर्चा नहीं की, लेकिन उनकी जिंदगी में सहजता कतई नहीं थी। खास तौर पर दो सौतेले भाइयों की वजह से उनका जीवन अशांत रहा। घरेलू कलह ने श्रीदेवी की जिंदगी को एकाकी कर दिया था। कहा जाता है कि बोनी कपूर को श्रीदेवी कभी अपने भाई जैसा मानती थीं। उनके साथ रिश्तों की बानगी इसलिए बदली, क्योंकि जब श्रीदेवी के पिता बीमार हुए और कोई उनकी देखभाल करने वाला नहीं था तब बोनी कपूर ढाल बनकर श्रीदेवी के साथ खड़े रहे। श्रीदेवी ने बाद में माना कि बोनी कपूर के साथ उनका भावनात्मक लगाव इतना ज्यादा हो गया था कि उनके बिना अपनी जिंदगी को समझ पाना नामुमकिन हो चुका था।

इसी सन्दर्भ में एक और वाक्या यह हुआ कि जब चिकित्सकों से परामर्श के बाद इलाज के लिए श्रीदेवी की माँ को अमेरिका ले जाने की सलाह दी गई तो बोनी कपूर ने न केवल सारी व्यवस्था की,

अपितु खुद श्रीदेवी और उनकी माता जी के साथ अमेरिका गए। वहाँ शल्य क्रिया में की गई एक त्रुटि के कारण श्रीदेवी की माता का निधन हो गया। शोक की इस घड़ी में बोनी कपूर श्रीदेवी का संबल बने रहे। बोनी कपूर ने अस्पताल पर मुकदमा किया जिसके बाद बाहर में समझौता हुआ, जिसके तहत श्रीदेवी को मोटी रकम अदा की गई। संभवत: उन्हीं दिनों श्रीदेवी से उनका प्रेम हुआ होगा। रिश्ता शुरु हुआ सहानुभूति से और वही फिर प्रेम में बदल गया।

यथार्थ भी कभी कल्पनाओं से परे जाता है और उसका यही रहस्य जीवन को रोमांचक बनाता है। चार साल की उम्र से जो श्रीदेवी अभिनय करती रही हो वह अब कैमरा उनकी जुदाई को कैसे बर्दाशत करेगा। संभवत: कैमरा गुनगुनाएगा। विरह ने कलेजा यूँ छलनी किया जैसे जंगल में कोई बांसुरी पड़ी हो। बस क्या था बोनी कपूर के साथ श्रीदेवी की बांसुरी बज गई। यानी बोनी कपूर के साथ श्रीदेवी की शादी हो गई। श्रीदेवी ने जब अपनी जिंदगी का नया सफ़र शुरू किया, तो इस रास्ते पर उनके लिए चुनौतियों की कमी नहीं थी, लेकिन संयम से श्रीदेवी ने हर चुनौती का सामना किया और यहीं से उनकी जिंदगी में ठहराव का दौर शुरू हुआ। बोनी कपूर से उनको सब कुछ मिला, जो एक महिला अपनी जिंदगी में चाहती है और उन्होंने बोनी कपूर को सब कुछ दिया, जो एक महिला अपने घर-संसार में चाहती है। दो बेटियों के साथ छोटी सी दुनिया में श्रीदेवी ने बोनी कपूर के कुनबे के साथ एक अच्छा तालमेल बैठाया और एक आदर्शमय जीवन जीया।

श्रीदेवी और बोनी कपूर की कहानी एक फिल्म मिस्टर इंडिया से शुरु हुई थी। बोनी फिल्म निर्माता थे और श्रीदेवी लीड एक्ट्रेस। श्रीदेवी ने फिल्म की स्क्रिप्ट सुनने के लिए ही बोनी कपूर को 10 दिन इंतजार कराया था। श्रीदेवी और अपनी कहानी पर बोनी कपूर ने एक बार बताया था कि-'मैंने श्रीदेवी को पहली बार 70 के दशक में एक तमिल फिल्म में देखा था। उन्हें पहली बार देखकर ही मुझे उनसे प्यार हो गया था। मैंने उन्हें मिस्टर इन्डिया में साइन किया, तब उनकी माँ उनके फैसले लिया करती थी। मैं श्रीदेवी को साइन करने के लिए उनकी माँ से मिला। तब वे सबसे महंगी अभिनेत्री थीं। उनकी माँ ने मुझे 10 लाख की फीस बताई, शायद मुझे टरकाने के लिए। मैंने कहा कि मैं 11 लाख दूँगा। धीरे-धीरे मैंने उन्हें यकीन दिलाया कि मैं उनके साथ हूँ। आखिरकार श्रीदेवी को मेरे प्यार

पर भरोसा हुआ।' फिर इसी भरोसा का नतीजा यह निकला कि दोनों का प्यार शादी में बदल गया।

मौत पर विवाद होने पर दुबई में श्रीदेवी की मौत के मामले की जाँच के बाद लोक अभियोजक ने पुलिस की थ्योरी पर सहमति जताते हुए उन्होंने फॉरेंसिक रिपोर्ट के आधार पर माना कि बेसुध होकर बाथ टब में गिरने के बाद दुर्घटनाग्रस्त डूबने से श्रीदेवी की मौत हुई। इसके बाद उनकी मौत के कारण को लेकर लगाई जा रही तमाम अटकलों पर विराम लग गया और लोक अभियोजक की मंजूरी के बाद ही श्रीदेवी का शव मुंबई लाया गया और 28 फरवरी, 2018 को अंतिम संस्कार हुआ। शाहरूख खान की फिल्म 'जीरो' इस साल यानी 2018 के दिसम्बर में रिलीज होगी। फिल्म में श्रीदेवी ने भी कैमियों किया है। फिल्म से जुड़े एक सूत्र के मुताबिक 'फिल्म में एक दृश्य होगा जहाँ कई एक्टर्स अपनी मौजूदगी दर्ज कराएँगे। इस दौरान के दृश्य के लिए श्रीदेवी ने कुछ दिनों पहले ही शूट किया था अगर वाकई ऐसा है तो 'जीरो' श्रीदेवी की आखिरी फिल्म ही थी। श्रीदेवी की मौत के साथ अपने-अपने हिस्से की श्रीदेवी को मरते हर प्रशंसक ने महसूस किया है। हिंदी सिनेमा में श्रीदेवी का उदय वीसी आर युग के साथ हुआ था। जहाँ पूरा मोहल्ला इकट्ठा होकर रात भर कैसेट लगाकर फिल्म देखता था। श्रीदेवी का जुड़ाव लोगों की खुद की पुरानी सुनहरी यादों से है इसीलिए श्रीदेवी से लोगों का भावात्मक रिश्ता गहरा, मजबूत और स्थाई है। लोकप्रियता में अपने समय में श्रीदेवी किम्बदंती बन चुकी थीं।

कहा जाए तो एक तरह से श्रीदेवी ने भारतीय फिल्मों में नायिका के कद को बढ़ाया। बोल्ड विषयों पर काम करने की चुनौती स्वीकार की और उसे यादगार ढंग से निभाया। उन्होंने महिला केंद्रित फिल्मों का चलन बढ़ाया। श्रीदेवी एक पीढ़ी की नायिका रही है, सिनेमा के नए युग की वाहक रही है। लोग उन लम्हों को कभी नहीं भूल पाएँगे। श्रीदेवी को स्टारडम किसी से विरासत में नहीं मिला था। बाल कलाकार से लेकर कामयाबी के शिखर तक उनका यह सफर एक ऐसी गाथा है, जिसमें जिंदगी और सिनेमाई दुनिया के हर रंग की चमक मिल जाती है। श्रीदेवी की फिल्मी दुनिया के आकलन में खामोशी, शर्त और समर्पण ये तीन बातें अहम थीं।

श्रीदेवी के पति बोनी कपूर ने श्रीदेवी के देहावसान के बाद अपने संदेश में लिखा- 'एक दोस्त, पत्नी और अपनी दो बेटियों की माँ को खो देने के दर्द को शब्दों में बयां नहीं किया जा सकता।' दुनिया के

लिए भले ही श्रीदेवी उनकी चाँदनी थीं, एक बेहतरीन अदाकारा, लेकिन बोनी कपूर के लिए वह उनका प्यार थीं, उनकी दोस्त, उनकी दो बेटियों जाह्न्वी और खुशी की माँ और वह उनकी दुनिया थीं। उनकी दुनिया उनके इर्द-गिर्द ही थी।

वास्तव में श्रीदेवी एक ऐसी अभिनेत्री थी जिनका कोई विकल्प नहीं था। पद्मश्री से सम्मानित श्रीदेवी का अंतिम संस्कार राजकीय सम्मान के साथ 28 फरवरी, 2018 को मुंबई के विले पार्ले श्मशान घाट पर हुआ। मुखाग्नि उनके पति बोनी कपूर ने दी। श्रीदेवी की इच्छानुसार उनकी अंतिम यात्रा के लिए फूलों से लेकर हरेक चीज सफेद रंग की रखी गई थी।

निःसंदेह श्रीदेवी का जाना बहुत नुकसानदेह है, मगर वे हमेशा लोगों के दिलों में जिंदा रहेंगी। वह शानदार अभिनेत्री तो रही हीं, उनमें अभिनय की नैसर्गिक प्रतिभा थी जिसकी वजह से करोड़ों मन को जीतने वाली और भारतीय समाज खासतौर पर ग्रामीण भारत में सौन्दर्य का सबसे प्रचलित उपमान बन चुकी श्रीदेवी का यूँ जाना अखर गया। मुझे तो ऐसा लगता है कि जितना गाँव मैंने अभी तक देखा है वह हेमामालिनी और श्रीदेवी के अलावा कोई अभिनेत्री नहीं पहुँची है आज तक। असामयिक मृत्यु, मृत्यु का क्रूरतम स्वरूप है। हम निश्चित रूप से श्रीदेवी की कमी महसूस करेंगे। ऐसे वक्त कवि ओम प्रकाश तिवारी की ये पंक्तियाँ मुझे याद आ रही हैं-

'श्रीदेवी कुम्हला गईं जैसे हरसिंगार,
असमय ही जाय चल जैसे एक बहार।
जैसे एक बहार बीच तूफां फँस जाए,
कहकर टाटा-बाय सितारों में बस गए।
अंतिम तुम्हें प्रणाम कला की अद्भुत सेवी,
आओगी तुम याद बहुत दिन तक श्रीदेवी।'

बहुमुखी प्रतिभा की धनी और बेहद प्रतिभाशाली अभिनेत्री श्रीदेवी, जिन्होंने तेलुगु, तमिल और हिंदी फिल्मों में बेहतरीन भूमिका निभाई की स्मृति को मैं नमन करता हूँ और रामेश्वर सिंह कश्यप लिखित काव्य रूपक नीलकंठ निराला की इन पंक्तियों से अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ-

'हार गया जीवन-रण,
छोड़ गए साथी जन।
एकाकी नैश क्षण,
कंटक पथ, विगत पाथ।'

खंडः चार

राजनीतिज्ञ

मौलाना अबुल कलाम आजाद : जो हिंदू मुस्लिम एकता क प्रतीक थे

आजाद भारत के प्रथम शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रतीक थे। सउदी अरब के मक्का शहर में 11 नवंबर, 1888 को जन्मे मौलाना आजाद के पिता मोहम्मद खैरूद्दीन एक फारसी और मां अरबी मूल की थी। मौलाना अभी माँ की गोद में ही थे कि उनके पिता मक्का से हिजरत कर भारत आ गए और कोलकाता में रहने लगे। मौलाना आजाद की शिक्षा-दीक्षा मदरसा, कॉलेज या विश्व-विद्यालय में न होकर उस समय की परिपाटी के अनुरूप धार्मिक शिक्षा उनके घर पर ही हुई थी। 14 साल की आयु में उन्होंने फारसी, अरबी की शिक्षा प्राप्त की।

तकरीबन 24 साल की उम्र में ही मौलाना आजाद ने 'अल हिलाल' नामक पत्रिका 13 जुलाई 1912 से निकालना प्रारंभ कर दिया। इसके पूर्व 1908 से ही वे लखनऊ से प्रकाशित विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के सहायक संपादक का अनुभव प्राप्त कर चुके थे। मौलाना आजाद के संपादकत्व में 'अल-हिलाल' की ख्याति इतनी बढ़ी कि वे अँगेजी सरकार की आँख की किरकिरी हो गई और 23 मार्च, 1916 को अँग्रेज सरकार ने उसका निकालना बंद करा दिया और मौलाना आजाद को तत्काल बंगाल छोड़ने का आदेश दे दिया। उत्तर प्रदेश और पंजाब सरकार ने पूर्व में ही अपने राज्य में मौलाना के प्रवेश पर रोक लगा रखी थी। इस वजह से वे तत्कालीन बिहार अब झारखण्ड के राँची स्थिल मोरहाबादी गाँव में जाकर रहने लगे। 8 जुलाई, 1916 को अँग्रेज सरकार ने उन्हें राँची में ही नजरबंद कर दिया जहाँ वे 1916 से 1919 तक रहे।

'अल-हिलाल' के बाद मौलाना आजाद ने 'अल-बलाग' नामक पत्रिका की शुरुआत कर मुसलमानों में देश की आजादी का नया जोश और जज्बा भरना शुरू किया, तो अँग्रेज सरकार ने उसे भी वंद करवा दिया

और मौलाना आजाद को जेल भेज दिया गया। उन्होंने अपनी जिंदगी के नौ साल जेल में गुजारे। शिमला में क्रिप्स मिशन के आने पर हिंदुस्तान की आजादी के स्वरूप पर विचार-विमर्श करने के लिए मौलाना अबुल कलाम आजाद को ही भेजा गया। उस वक्त वे काँग्रेस के अध्यक्ष थे। क्रिप्स मिशन के समक्ष आजाद हिंदुस्तान के लिए उन्होंने योजनाएँ प्रस्तुत कीं जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक इंडिया विन्स फ्रीडम (India Wins freedom) में किया है। सन् 1942 में जब और नेताओं के साथ मौलाना जेल में थे, तभी उनकी पत्नी गंभीर रूप से बीमार पड़ गई जिन्हें देखने के लिए अँग्रेज सरकार ने जब सहूलियत दी, तो मौलाना आजाद ने उसे यह कहकर ठुकरा दिया कि जब तक उनके साथियों को जेल से रिहा नहीं किया जाता है तो वे जेल से बाहर नहीं जाएँगे। पर मौलाना को दूसरी बार जब अपनी पत्नी की मृत्यु का तार मिला, तो समाचार सुनकर उन्होंने सहन किया और सरकार ने जब सभी नेताओं को जेल से छोड़ा, तब अपनी पत्नी के मजार पर जाकर मौलाना आजाद काफी रोए, क्योंकि पत्नी के सिवाय उनके परिवार में कोई नहीं था और वह भी उन्हें छोड़ कर चली गई।

मौलाना अबुल कलाम आजाद एक सधे राजनीतिज्ञ होने के साथ-साथ एक साहित्यकार भी थे। इंडिया विन्स फ्रीडम के अतिरिक्त उन्होंने 'गुब्बारे खातिर', 'तजकिए' शीर्षक से जो पुस्तकें लिखीं उसे काफी प्रसिद्धि मिली। वे शेरो-शायरी भी करते थे। अँग्रेजी की जानकारी तो उन्हें बहुत नहीं थी, मगर राजनीति में सक्रिय होने की वजह से सरकारी भाषा जानना उन्होंने जरूरी महसूस किया और अखबार एवं शब्दकोष के माध्यम से उन्होंने उतनी अँग्रेजी तो सीख ली जिससे कि अँग्रेजी में बात करना और लिखना उन्हें आ गया था। उनके सचिव प्रो॰ हिमायु कबीर ने जब मौलाना की पुस्तक इंडिया विन्स फ्रीडम का अँग्रेजी अनुवाद किया, तो उसे उन्होंने स्वं पढ़ा और उसमें प्रयोग किए अनुपयुक्त अँग्रेजी शब्दों को शुद्ध कर किताब की शक्ल दी। इस किताब में पं॰ जवाहर लाल नेहरू के द्वारा की गई गलतियों का भी मौलाना आजाद ने उल्लेख किया था। मौलाना के जीवन काल तक तो वह किताब नहीं छपी थी उनकी मृत्यु के पश्चात् जब वह किताब छप कर आई, तो नेहरू ने उसका अध्ययन किया, लेकिन उसके किसी वाक्य पर उन्होंने कोई आपत्ति नहीं जताई। इस किताब के हर एक-दो वाक्य के बाद अरबी, फारसी या उर्दू के बहुत बड़े शायर का शेर जरूर अंकित किया गया था जिसके परिणामस्वरूप इसमें चार चाँद लग गए थे।

मौलाना आजाद इतने तेज तर्रार व्यक्ति थे कि बिना कोई पूर्व सूचना के दो-तीन घंटों तक वे लगातार किसी विषय पर बोल सकते थे। हिंदू-मुस्लिम एकता के सच्चे प्रतीक मौलाना आजाद ने एक बार अपने भाषण में कहा था कि अगर आसमान से कोई फरिश्ता अभी यह आकर पेशकश करे कि भारत को आजादी मिल सकती है, लेकिन शर्त यह है कि हिंदू-मुस्लिम एक साथ नहीं रहेंगे, तो उन्होंने कहा कि अच्छा हो आजादी सौ साल के बाद आजादी मिलना उतना घातक नहीं हो सकता जितना हिंदू-मुस्लिम का आपस में बँट जाना। उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि उससे न केवल हिंदुस्तान का, बल्कि पूरे विश्व का नुकसान होगा। लगभग यही बात उन्होंने गाँधी जी से तब कहा था जब आजादी मिलने से पहले गाँधी जी ने मौलाना आजाद के निवास पर मिलकर यह कहा था कि अब हिंदू-मुस्लिम एक साथ नहीं रह सक़ते। उस वक्त मौलाना आजाद ने गाँधी जी को याद दिलाई थी कि आपने तो कहा था कि हिंदुस्तान का बँटवारा उनकी लाश पर होगा और अभी रात भर में यह तब्दीली कैसे हो गई कि हिंदू-मुस्लिम एक साथ नहीं रह सकते। अपने अंतिम वाक्य में मौलाना आजाद ने गाँधी जी से कहा थ कि इतना बड़ा सदमा उन्हें अपने पूरे जीवन में कभी नहीं लगा था जो अभी हो रहा है। इन सभी बातों का उल्लेख मौलाना आजाद ने अपनी पुस्तक इंडिया विन्स फ्रीडम में कर डाला है।मौलाना अबुल कलाम आजाद का देहावसान जब 1958 में हुआ, तो जवाहर लाल नेहरू जी ने अपने शोक संदेश में कहा था कि उनका दांया हाथ टूट गया। उसूलों के पक्के मौलाना आजाद आला दर्जे के एक नेक इंसान थे जिनकी कथनी और करनी में कोई फर्क नहीं था। देश के नवनिर्माण और राष्ट्रीय एकता को अक्षुण्ण बनाए रखने में सभी संप्रदायों के लोगों की भागीदारी सुनिश्चित हो सके और वे अपने धर्म, संस्कृति तथा अपनी पहचान की स्वायत्तता महसूस कर सकें, एक ऐसे ही आदर्शवादी ढाँचे को तैयार करना देश के प्रथम शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद का उद्देश्य था। उनका मानना था कि धर्म अकेले राष्ट्रवाद या राष्ट्र निर्माण का आधार नहीं बन सकता।

मौलाना आजाद ने देश के विभाजन का विरोध किया था। जिसके लिए उन्हें मुस्लिम लीग की आलोचना झेलनी पड़ी, फिर भी वे डिगे नहीं। मुस्लिम लीग ने आजाद के लिए छद्म राष्ट्रवादी एवं छद्म धर्मनिरपेक्षवादी जैसे शब्दों का प्रयोग करते हुए उनके प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया अपना लिया था।

भारत की धर्मनिरपेक्ष छवि के समर्थक मौलाना आजाद ने देश में शिक्षा की स्थिति बेहतर बनाने के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, साहित्य अकादमी, ललित कला अकादमी, संगीत नाटक अकादमी, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (आई.आई.टी.) जैसे संस्थाओं की स्थापना की, क्योंकि वे भारतीयों की शैक्षिक आवश्यकताओं को समझते थे।

शिक्षा के स्तर में सुधार के लिए उन्होंने शिक्षा के अध ारभूत ढाँचे को मजबूत करने का प्रयास किया। उनका कहना था कि जिस प्रकार अच्छी सड़कों के जरिए देश विकास का रास्ता तय करता है उसी तरह अच्छी शिक्षा भविष्य का रास्ता बनाती है। इसलिए यदि देश का भविष्य बेहतर बनाना है, तो शिक्षा प्रणाली में आमूलचूल परिवर्तन करना होगा।

मौलाना अबुल कलाम आजाद ने मानव संसाधन की गुणवत्ता पर बल दिया जिसके लिए उन्होंने मिशनरी उत्साह की जरूरत जताई और आजादी के बाद गुणवत्तापूर्ण मानव संसाधन के निर्माण के लिए भौतिक ढाँचा को निराशाजनक तरीके से उन्होंने अपर्याप्त पाया था। आजादी के बाद एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिज्ञ के रूप में उभरे मौलाना आजाद ने आजीवन हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए कार्य किया और मुसलमान होते हुए भी अलग मुस्लिम राष्ट्र के सिंद्धातों का विरोध किया। खिलाफत आंदोलन में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका के लिए उन्हें हमेशा याद किया जाएगा।

11 नवंबर, 1888 को जन्मे मौलाना अबुल कलाम आजाद सन् 1933 में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के वे सबसे कम उम्र के अध्यक्ष रहे इस दौरान भारत छोड़ो आंदोलन हुआ था। काँग्रेस के दूसरे नेताओं की तरह उन्हें भी तीन साल जेल में बिताने पड़े। अफगान उलेमाओं के खानदान से ताल्लुक रखने वाले मौलाना आजाद बाबा के वक्त हेएत से भारत आए थे। उनकी मां अरबी मूल की थी और उनके पिता मोहम्मद खैरूद्दीन एक फारसी थे।

मौलाना आजाद के जन्म दिवस को शिक्षा दिवस के रूप में मनाया जाता है। ऐसे वक्त मोतिहारी के 27 वर्षीय सुशील की चर्चा करना इसलिए लाजिमी दिखता है, क्योंकि दो नवंबर 2011 को टीवी के कौन बनेगा करोड़पति कार्यक्रम के हॉटसीट पर अमिताभ बच्चन के सामने बैठकर उनके द्वारा पूछे गए 13 सवालों का जवाब देने में सुशील ने जिस अद्भुत साहस और बुद्धिमत्ता का परिचय दिया वह काबिले तारीफ है। सुशील कुमार पटेल ने जो जीवंतता का परिचय दिया वह बेमिसाल है। सुशील की इस

अनोखी जीत से आज बिहारवासी अपने आपको गौरवान्वित महसूस कर रहा है। सभी प्रश्नों के उत्तर देकर पाँच करोड़ रुपये जीतने वाले सुशील ने युवाओं में यह संदेश जरूर दिया है कि अगर इरादे अटल हों, तो बुलंदी और कामयाबी उनके कदम एक दिन अवश्य चुमेगी। सुशील का यह कहना कि दुनिया में सब साथ छोड़ दे मगर शिक्षा कभी साथ नहीं छोड़ती शत-प्रतिशत सही है।

आप इस बात से अवगत हैं कि 2010 में शिक्षा का अधिकार कानून लागू होने के बाद तीन साल में भारत देश के सभी विद्यालयों को कानून के अनुसार न्यूनतम सुविधाएँ देनी होंगी। यह कानून अनिवार्य बनाता है कि हर स्कूल में ठीक-ठीक भवन हो, खेल और पुस्तकालय की सुविधा हो, हर कक्षा के लिए कमरा हो, बिना कागजी झमेले के 6 से 14 साल के हर बच्चे का नामांकन हो, कक्षा में जरूरत से ज्यादा बच्चे न हों, शिक्षक अपना ध्यान फिजूल के कर्त्तव्य की बजाय शिक्षा पर लगाए। बच्चा बिना भय और भेद के अच्छी शिक्षा प्राप्त कर सके। 31 मार्च 2013 तक देश के हर स्कूल को इस स्तर तक पहुँचाना है। मगर दो साल गुजरने के बाद बुनियादी हकीकत यह है कि स्कूली शिक्षा का पूरा सरकारी ढाँचा चरमरा गया है, शिक्षा व्यवस्था की रीढ़ टूट चुकी है और शिक्षक का मनोबल और स्वाभीमान चूर हो चुका है। एक जमाने में गुरुजी का सम्मान पाने वाला शिक्षक आज सिर्फ मास्टर ही समाज की दुत्कार और अधिकारी की फटकार का शिकार है शिक्षा दिवस के अवसर पर शिक्षा में गुणात्मक परिवर्तन के लिए पूरे देश को जगाना होगा। अन्यथा स्रोतों का यह अभियान केवल सरकारी वायदे बनकर रह जाएँगे।

नेताजी सुभाष चन्द्र बोस : जो एक क्रांतिकारी स्वतंत्रता सेनानी थे

भारत के स्वाधीनता आंदोलन में नेताजी सुभाष चंद्र बोस और आजाद हिंद फौज की निर्णायक भूमिका थी। सुभाष चन्द्र बोस का दृढ़ विचार था कि ब्रिटिश सरकार 'अनुनय विनय' तथा अहिंसात्मक आंदोलन से भारत को स्वतंत्रता नहीं देगी। उनका मत था कि क्रांति की तरह और भारतीय सैनिक मिलकर सशस्त्र क्रांति करें। क्रांतिकारियों की प्रमुख पार्टी 'हिंदुस्तान गदर पार्टी' ने भी इसी ढंग से क्रांति करने का आह्वान किया। नेताजी सुभाषचंद्र बोस एक ऐसे महान क्रांतिकारी योद्धा, अपूर्व साहसी, विलक्षण स्वभाव एवं तीक्ष्ण बुद्धि के धनी व्यक्तित्व थे जिन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा के बल पर भारत में अँग्रेज शासन की जड़ें हिला दी थीं। बीसवीं सदी के पूर्व दशकों में भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के जिन महानायकों की चर्चा होती है, सुभाष चन्द्र उनमें अग्रगण्य हैं। वैसे युवाशक्ति के तो वे प्रतीक थे ही गरम दल के नेता के रूप में उन्हें ज्यादा याद किया जाता है।

23 जनवरी, 1897 को ओडिशा के कटक में जन्में सुभाषचन्द्र बोस के पिता का नाम जानकी नाथ बोस था, जो कटक के सुप्रसिद्ध अधिवक्ता थे। बाद में फिर वे सरकारी वकील बन गये और 1912 में बंगाल विधान परिषद् के सदस्य भी हुए। जानकी दास बोस की पत्नी का नाम था प्रभावती जिनके आठ पुत्रों और छह पुत्रियों में से सुभाष उनकी नौंवी संतान थे। सुभाष चन्द्र बोस की प्रारंभिक शिक्षा कटक के प्रोटेस्टैन्ट यूरोपियन स्कूल में हुई थी जहाँ अपने क्लास में पढ़ने-लिखने में प्रथम थे। 1909 में इस स्कूल को छोड़कर फिर रेवेन्शा कॉलेजियट स्कूल में इनका नामांकन कराया गया जिसके प्रधानाध्यापक बेनी माधवदास के व्यक्तित्व का प्रभाव सुभाष पर पड़ा, क्योंकि वे नैतिक मूल्यों को सर्वोपरि स्थान देते थे और प्रकृति के बड़े प्रेमी थे।

15 वर्ष की आयु में ही सुभाष चन्द्र बोस के जीवन पर विवेकानन्द के उपदेशों का भी गहरा प्रभाव पड़ा जिसकी वजह से उनमें वैचारिक क्रांति का संचार हुआ। परिणामस्वरूप मानवता की सेवा में सुभाषचंद्र बोस ने अपने जीवन को समर्पित करने का मन बनाया। इसी बीच

उन्होंने रामकृष्ण-विवेकानन्द युवजन सभा का गठन किया। आई.ए. की परीक्षा में विश्वविद्यालय भर में उन्होंने द्वितीय स्थान प्राप्त किया। फिर आगे के अध्ययन हेतु उनका नामांकन कोलकाता के प्रेसिडेन्सी कॉलेज में हुआ जहाँ से सन् 1919 में दर्शनशास्त्र में ऑनर्स के साथ प्रथम श्रेणी से उतीर्ण हुए। इसके बाद उनके पिताजी ने उन्हें 15 सितम्बर, 1919 को आईसीएस करने के लिए इंग्लैंड भेज दिया जहाँ से आईसीएस की परीक्षा में वे सफल हुए और योग्यता-क्रम में चौथा स्थान मिला। अंक पत्र से पता चला कि अँग्रेजी रचना में वे प्रथम आए। आई.सी.एस. की परीक्षा में उतीर्ण होने के बाद उन्होंने नौकरी कर ली, पर उनका मन नौकरी करने का नहीं था इसलिए उन्होंने शरतचंद्र को पत्र लिखकर परामर्श माँगा। 22 अप्रैल, 1921 को ही कैम्ब्रिज से भारत सरकार के सचिव ई.एस. मांटेग्यू को सुभाष ने पत्र लिखा कि अगस्त, 1920 में आई.सी.एस. की प्रतियोगी परीक्षा द्वारा चयन किए गए प्रोबेशनरों की सूची से वे अपना नरम वापस ले रहे हैं काफी सोच-समझकर। देशबन्धु चितरंजन दास को भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के बारे में सुभाष चन्द्र बोस ने तीन प्रस्ताव भेजा था अपनी सेवाओं के क्षेत्र के संबंध में जिनमें देशबन्धु द्वारा संचालित राष्ट्रीय महाविद्यालय में अध्यापन प्रथम था और दूसरा था देशबन्धु के 'स्वराज्य' अखबार के अँग्रेजी संस्करण में उपसंपादक का दायित्व संभालना और तीसरा था काँग्रेस में शोधकार्य करना। अंत में सुभाष चन्द्र ने यह भी लिखा था कि काँग्रेस को संविधान के लेखन का भी श्रीगणेश कर देना है स्वराज्य की जो धारणा है उसको लेकर।

सुभाष चन्द्र बोस द्वारा आईसीएस की नौकरी छोड़ने की खबर फैली, तो इंग्लैंड के प्रवासी भारतीय समाज में खलबली मच गई और भारत में यह चर्चा का विषय बन गया। अपने बड़े भाई शरत को इन शब्दों में सुभाष ने अपने त्यागपत्र के संदर्भ में लिखा- 'मैं जानता हूँ कि मैंने कितनों का दिल तोड़ा है और कितने गुरुजनों की अवज्ञा मैंने की है, पर मेरा यह निवेदन है कि मैंने जो किया है वह देश के हित के लिए किया है।' सुभाष चन्द्र की माँ प्रभावती ने भी सुभाष को जो चिट्ठी लिखी उससे सुभाष चंद्र को बहुत बल मिला। माँ ने पत्र में लिखा- 'और लोग चाहे जो सोंचे, पर मैं गाँधी जी के ही आदर्शो को सबसे श्रेयस्कर समझ रही हूँ।' माँ के इस आश्वासन से सुभाष चंद्र बोस को अपेक्षित सान्त्वना मिली। फिर सुभाष चंद्र बोस अपने स्वार्थ-सिद्धि से मुँह मोड़कर देश के हित में जिस रास्ते पर चल पड़े उससे फिर कभी मुँह मोड़कर नहीं देखा।

भारत में आने के बाद सुभाष चंद्र बोस गाँधी जी से मिले और फिर चितरंजन दास को अपना गुरु मानकर अपने देश की आजादी के संग्राम में कूद पड़े। देशबंधु चितरंजन दास के सान्निध्य में आने की वजह से सुभाष चंद्र बोस मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, लाला लाजपत राय तथा मौलाना मुहम्मद अली जैसे काँग्रेस के दिग्गज नेताओं के सम्पर्क में आए।

ब्रिटिश राजसिंहासन के उत्तराधिकारी प्रिंस ऑफ वेल्स की नवम्बर, 1921 में भारत दौरे की जब घोषणा हुई तो काँग्रेस ने उनके मुंबई उतरने के दिन ही पूर्ण हड़ताल का आह्वान कर दिया। सुभाष के संरक्षण में काँग्रेस के स्वयंसेवकों ने शहर को पूर्ण रूप से संभाल लिया, मगर ब्रिटिश सरकार ने काँग्रेस पार्टी को ही गैर-कानूनी घोषित कर दिया। फिर इसकी प्रतिक्रिया में स्वयं सेविकाओं के एक जत्थे ने इसको चुनौती दे डाली जिसमें देशबन्धु चितरंजन दास की पत्नी वासन्ती देवी भी शामिल थीं जिन्हें सरकार ने अपने गिरफ्त में ले लिया। इसे देखकर युवक-युवतियाँ सभी ने अपनी गिरफ्तारी दीं। फिर 1921 के दिसम्बर माह में देशबन्धु और अन्य नेताओं सहित सुभाष चंद्र बोस भी कैद कर लिए गए और उनको छह माह की सजा हो गई।

आठ माह के दौरान जेल में देशबंधु से सुभाष चंद्र बोस को बहुत कुछ सीखने का मौका मिला। सन् 1922 में चौरी-चौरा में उत्तेजित ग्रामवासियों ने थाने में आग लगा दी तथा कुछ पुलिसजनों को रोष में मार डाला। इस घटना से नाराज होकर उनके आग्रह पर काँग्रेस कार्यकारिणी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित कर दिया गया। सुभाष चंद्र बोस देशबंधु के साथ उस जेल में थे। जब सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित होने की खबर सुभाष चन्द्र को मिली तो उन्हें दुख हुआ और वे क्षुब्ध हो गए तथा काँग्रेसजनों में घोर निराशा छा गई। मार्च, 1922 में गाँधी जी को दो वर्षो की सजा हो गई, तो बचे हुए नेताओं ने मोतीलाल नेहरू के संरक्षण में स्वराज्य दल का गठन किया गया, ताकि इस दल के माध्यम से लोग चुनाव लड़कर विधानमंडलों में जा सकें और सरकार का पुरजोर ढंग से विरोध कर सकें।

इसी बीच सुभाष चन्द्र बोस के जेल से छूटने के बाद सर सी. पी. राय द्वारा संचालित राहत के कार्यो में वे लग गए। उत्तर बंगाल में आई भीषण बाढ़ और वर्षा से मची तबाही में सुभाष चंद्र बोस ने राहत कार्य में जी-जान से काम किया, जिससे पूरी मानवता को पूर्णतः त्राण मिला। राहत

कार्य की इस सफलता से जहाँ काँग्रेस की प्रतिष्ठा प. बंगाल में बढ़ गई वहीं इस अवधि में स्वराज्य पार्टी द्वारा संचालित दैनिक पत्र 'बांग्लार कथा' के सुभाष चन्द्र संपादक हो गए और साथ ही स्वराज्य पार्टी के सचिव भी। इसी प्रकार कोलकाता नगर निगम बना तो देशबंधु हुए उसके प्रथम महापौर और सुभाष चन्द्र बोस उसके मुख्य कार्यपालक पदाधिकारी जिन्होंने विविध सुधार के कार्य किए। दोनों नेता अपने वेतन का आधा गुजर-बसर के लिए रखकर आधा दीन-दुखियों को दान कर देते थे। इस प्रकार सुभाष चन्द्र बोस ने हर लोग के दिल में अपनी जगह बना ली और इनकी सराहना चतुर्दिक होने लगी। देखते ही देखते वे एक महत्वपूर्ण युवा नेता हो गए। इसी क्रम में जब सुभाष चंद्र बोस जवाहर लाल नेहरू के सम्पर्क में आए तो सुभाष ने काँग्रेसी युवकों की 'इन्डिपेन्डेन्ट्स लीग' की स्थापना की, किंतु नेताजी सुभाष चन्द्र बोस का गरम एवं तीखे तेवरों की काँग्रेसी का नरम रवैया पसन्द नहीं आया।

गुजरात के हरिपुरा में आयोजित 51वाँ काँग्रेस अधिवेशन में सुभाष चन्द्र बोस को पार्टी का अध्यक्ष चुना गया। काँग्रेस अध्यक्ष के रूप सुभाष चंद्र बोस ने देश का व्यापक दौरा किया, ताकि जनता संघर्ष के लिए तत्पर हो जाए। हरिपुरा अधिवेशन के पश्चात् तीन माह के अन्दर उन्होंने काँग्रेस के मुख्यमंत्रियों का सम्मेलन दिल्ली में बुलाया जिसमें आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से भारत को समृद्ध राष्ट्र बनाने के हित के महत्व की व्याख्या की जा सके। राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के बाबत सुभाष चन्द्र बोस के विचार स्पष्ट और सुनिश्चित थे। वे मानते थे कि औद्योगिक क्रांति के बिना भारत समृद्ध नहीं हो सकता है। बेरोजगारी की समस्या हल हो सकती है तो केवल उद्योग धंधों से ही। पर वे कुटीर उद्योगों की भी उपेक्षा नहीं करते थे। लेकिन इतना सब कुछ करने के बावजूद दक्षिणपंथी काँग्रेसी उनके विरूद्ध थे और दूसरी बार उन्हें अध्यक्ष नहीं बनाने देना चाहते थे। अत: दूसरी बार अध्यख बनने की जब सुभाषचंद्र ने घोषणा की तो काँग्रेसी नेताओं ने बहुमत से इनको नकारा। वे अपनी उम्मीदवारी को वापस लेने को तत्पर हो गए, लेकिन शर्त थीं कि आचार्य नरेन्द्र देव चुने जाएँ। लेकिन ऐसा न हो सका, तब दक्षिण पंथी नेताओं ने पट्टाभि सितारमैया को उनके विरोध में खड़ा किया। अंतत: दो सौ मतों के बहुमत से सुभाष चंद्र बोस ही जीत गए। इस चुनाव ने सिद्ध कर दिया कि सारे देश में व्यापक और प्रभविष्णु समर्थन है सुभाष चंद्र बोस का। गाँधी जी बोले कि यह हार पट्टाभि सितारमैया की नहीं

हुइ है, यह हार है मेरी, जवाहर लाल नेहरू भी क्षुब्ध थे इन सब घटना के चलते।

इन सभी घटनाओं को लेकर 19 अप्रैल, 1939 को कोलकाता में अखिल भारतीय काँग्रेस कमिटी की बैठक बुलाई गई और उस बैठक में ही सुभाष चन्द्र बोस ने अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया और 3 मई, 1939 को उन्होंने कोलकाता में ही फॉरवर्ड ब्लॉक की स्थापना की। यह पदत्याग सुभाष चन्द्र बोस के जीवन के अत्यंत ही एक महत्वपूर्ण अध्याय का अंत था और एक माने में आरम्भ भी था। भारत की आजादी की खोज में उनकी नई दिशा की यात्रा का नि:संशय। फॉरवर्ड ब्लॉक की स्थापना के बाद तुरन्त उन्होंने पार्टी के परिवर्तनवादी और प्रगतिशील व्यक्तियों को एकत्र कर एक धड़े का संगठन बनाने में जुट गए और इस प्रकार मई, 1939 से फॉरवर्ड ब्लॉक का कार्यक्रम प्रारंभ हो गया।

सुभाष चंद्र बोस 3 दिसम्बर, 1939 को मद्रास के सागर तट पर एक विशाल आमसभा को संबोधित कर ही रहे थे कि उन्हें यह सूचना मिली कि जर्मनी और ब्रिटेन में युद्ध छिड़ गया है। बस क्या था उन्होंने घोषणा की कि यह अच्छा अवसर है कि हम अपनी आजादी के लिए अविलम्ब ही ब्रिटेन पर धावा बोल दें। मगर गाँधी जी ने वक्तव्य दिया कि इस संकट बेला में भारत को चाहिए कि ब्रिटेन को इस मोड़ पे सब तरह से सहयोग करें। इस प्रकार काँग्रेस में परस्पर दो विरोधी धाराएँ बहने लगीं। 21 जून, 1939 को मुंबई में फॉरवर्ड ब्लॉक का प्रथम अखिल भारतीय सम्मेलन प्रारम्भ हुआ जिसमें वैसे काँग्रेसियों ने सुभाष चन्द्र बोस का साथ दिया जो ब्रिटेन के विरूद्ध शीघ्र ही संघर्ष करना चाह रहे थे।

अक्टूबर, 1939 में नागपुर में साम्राज्यवाद विरोधी सम्मेलन का आयोजन सुभाष चंद्र बोस ने किया जिसमें उन्होंने कहा कि हम एक युग का पटाक्षेप कर रहे हैं और एक नये युग का अभिनन्दन।

सन् 1939 के अगस्त माह से फॉरवर्ड ब्लॉक नामक सप्ताहिक पत्रिका का सम्पादन सुभाष चन्द्र बोस ने प्रारम्भ किया जिसमें उन्होंने सम्पादकीय लेख लिखकर अपने राजनीतिक विचारों से सबको अवगत कराया। फिर सन् चालीस के जून में फॉरवर्ड ब्लॉक के द्वितीय सम्मेलन का आयोजन सुभाष चन्द्र बोस ने नागपुर में किया जिसमें उन्होंने ब्रिटिश सरकार को सारी सत्ता भारतीय जनता को सौंपने का नारा दिया। नागपुर से कोलकाता वापस होने के दौरान वे गाँधी जी से मिलने सेवाग्राम

गए और उन्होंने गाँधी जी से अनुरोध किया कि वे इस संकट-काल में राष्ट्रीय संग्राम की तत्क्षण बागडोर संभाल लें, मगर गाँधी जी सहमत नहीं हुए और गाँधी जी ने सुभाष से कहा कि उसे अपनी अंतरात्मा जो करना चाहे वह बेखटक करें, उन्हें उसमें कुछ नहीं करना है। गाँधी जी ने यह भी कहा कि सुभाष अपने रास्ते से यदि देश को आजादी दिलाएँगे तो वह पहला व्यक्ति होंगे जो उनका अभिनन्दन करेंगे।

सुभाष चन्द्र बोस के समक्ष समस्या यह थी कि एक ओर जहाँ दक्षिणपंथी काँग्रेसी और महात्मा गाँधी जन-संग्राम छेड़ने के अनिच्छुक थे, वहीं दूसरी ओर वामपंथी दलों की कथनी और करनी में बड़ा ही अन्तर था जिसकी वजह से वे कुछ ठोस नहीं कर सकते थे। हिंदू सभा तथा मुस्लिम लीग जैसे दल भी राष्ट्रीय स्वाधीनता के सवाल पर कुछ भी नहीं करना चाहते थे। वे उल्टे साम्प्रदायिक और पृथकतावादी माँगे प्रस्तुत करते रहते थे। इन्हीं सब बातों को सोचकर सुभाष चन्द्र बोस ने विदेश में ही जाकर सीमा पार से सशस्त्र आक्रमण करके ब्रिटिश इन्डियन आर्मी को विनष्ट करना चाहते थे, क्योंकि उनकी समझ थी कि ब्रिटिश सत्ता को भारत में टिकाए रखने वाला यही तत्व है।

सन् 1940 में जब नेताजी सुभाष ने फॉरवर्ड ब्लॉक द्वारा अवज्ञा आन्दोलन बंगाल में शुरू किया और अपने नेतृत्व में सत्याग्रह करने लगे तो भारत रक्षा कानून के तहत उन्हें गिरफ्तार कर कोलकाता के प्रेसिडेन्सी जेल में डाल दिया गया। जेल में रहकर ब्रिटिश सत्ता को उन्होंने चुनौती दी कि या तो उन्हें जेल से मुक्त करें अन्यथा वे आमरण अनशन प्रारंभ करेंगे। इस बावत उन्होंने ब्रिटिश सरकार को कई पत्र लिखे कि भले ही उन्हें उनके इस कदम को कोई व्यर्थ कहे, मगर उनका मानना था कि कोई त्याग व्यर्थ नहीं जाता। यह संसार नश्वर है और यहाँ की हर चीज नश्वर है, लेकिन उनके विचार, आदर्श और स्वप्न नश्वर नहीं हैं। इसलिए यदि कोई व्यक्ति अपने विचार और आदर्श की खातिर मर सकता है तो अनंतर वही विचार फिर जन्म लेता है सहस्राधिक मनुष्यों के उर में। यदि हम अपने लक्ष्य के लिए मर मिटते हैं और अपने जीवन को भारत माँ के लिए अर्पित कर देते हैं तो इससे बढ़कर परम गति और क्या हो सकती है?

इस प्रकार नवम्बर, 1940 में कालीपूजा के दिन से नेताजी सुभाष चंद्र बोस ने अनशन शुरू किया जिसकी वजह से ब्रिटिश शासन खिन्न हुआ। अनशन एक सप्ताह तक जारी रहा जिसके बाद बंगाल हुकुमत

डर गई यह सोचकर कि कहीं नेताजी का जीवन जेल में अंत हो गया तो भारी बवाल मचेगा। फिर प्रशासन ने गुप्त बैठक कर यह निर्णय लिया कि नेताजी सुभाष को जेल से मुक्त कर दिया जाए।

जब नेताजी जेल से मुक्त हो गए तो उन्होंने छल-बल से योजना बनाना शुरू किया। उन्हें विदेश की गुप्त-यात्रा करनी थी क्योंकि अब कोई राह नहीं बची थी। उन्होंने उत्तर-पश्चिम सीमान्त से होकर बाहर जाने की योजना को कार्यान्वित गुप्त रूप से किया। सुभाष के बड़े भाई शरत जी का बेटा शिशिर सुभाष को चुपके से कार में बैठाकर स्टेशन छोड़ आए। और वहाँ से सुभाष पेशावर चले जाएँगे। सुभाष ने एक बीमा कम्पनी के इन्सपेक्टर बनकर जियाउद्दीन नाम से यात्रा करने की योजना बनाई। सुभाष और अकबर दोनों ने मिलकर प्रस्थान करने की तिथि निर्धारित की। अपने घरवालों से सुभाष ने 14 जनवरी, 1941 को एकान्तवास करने की बात बताई और 17 जनवरी, 1941 को निर्धारित गुप्त प्रस्थान कर गए। सुभाष ने भूरी शेरवानी और पायजामा, फीतेदार अँग्रेजी जूते, सिर पर काली टोपी पहन रखी थीं। 17 जनवरी, 1941 की रात 1.30 बजे शिशिर ने कार में गुपचुप उन्हें बेखोफ छोड़ दिया। आसनसोल में पेट्रोल डलवाया। 17 जनवरी, 1941 को 9 बजे धनवाद के निकट बराडी जहाँ शरत का सबसे बड़ा पुत्र अशोक रहता था वहाँ दिन में ठहरे और फिर रात में शिशिर संग कार से पहुँचे गोमो स्टेशन और दिल्ली-कालका मेल से सुभाष अकेले अपनी राह से निकल पड़े। दिल्ली से फ्रन्टियर मेल पकड़कर सुभाष 19 जनवरी को पेशावर पहुँचे जहाँ अकबर ने उन्हें पहचान लिया और सुभाष को एक तांगे में बैठाकर दीन होटल गए और फिर ताजमहल होटल में उन्हें ले गया। कई दिनों तक लुका-छिपी करके 30 जनवरी, 1941 को तांगे से काबुल को हो गए रवाना और 31 जनवरी 1941 को सुबह ग्यारह बजे सुभाष पहुँच गए काबुल। काबुल से वे मास्को और वहाँ से बर्लिन पहुँचे वायुयान से।

जर्मनी पहुँचकर सुभाष ने भारत की आजादी के आंदोलन और विश्वयुद्ध के दौरान भारत-जापान के सहयोग के संबंध में एक विस्तृत विवरण पत्र तैयार कर जर्मन सरकार को दिया जिसमें स्वाधीन भारत सरकार की स्थापना और जर्मनी एवं इटली के संग संधि की भी चर्चा थी। योजना बनी कि युद्ध जीत जाने पर ये दोनों ही देश भारत की आजादी के जमानतदार निःसंशय होंगे और सुभाष ने उसमें ब्रिटिश भारतीय सेना में विद्रोह फैलाने के हित एक सशस्त्र बल के संगठन का भी प्रस्ताव रखा था।

फिर सुभाष ने लोगों को संगठित करने के लिए इटली, फ्रांस, ऑस्ट्रिया आदि देशों का दौरा किया जिसमें उनको सफलता मिली क्योंकि 1941 के अंत में बर्लिन में उन्होंने 'फ्री इन्डिया सेन्टर' स्थापित करने में सफलता पाई। फ्री इन्डिया सेन्टर को विदेशी दूतावास का दर्जा दिया गया था और इसके सारे सदस्यों को विदेशी कूटनयिकों की सारी सुविधाएँ भी दी गई।

सन् 1942 के फरवरी माह में रेडियो प्रसारण आरम्भ हुआ सुभाष चंद्र बोस का। अपने प्रथम प्रसारण में नेताजी सुभाष ने कहा-'अब भारत की मुक्ति का समय आ गया। भारत उठेगा और अब गुलामी की जंजीरों को काटेगा जो उसे जमाने से जकड़े हैं। विश्व के अन्य देश और जो हैं गुलाम, वे स्वाधीन हो जाएँगे निश्चय भविष्य में।'

इस बीच एक और घटना यह घटी कि ब्रिटिश शासन ने नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की मृत्यु का अफवाह उड़ा दिया, लेकिन 25 मार्च, 1942 को आजाद हिंद रेडियो, जर्मनी से नेताजी सुभाष ने क्रिप्स मिशन और ब्रिटिश शासन के उस अफवाह के संबंध में यह संदेश दिया- 'मैं सुभाष चन्द्र बोस अब भी जिन्दा हूँ। आजाद हिंद रेडियो से मैं बोल रहा हूँ। मेरी मृत्यु के संबंध में ब्रिटिश शासन ने बेसिर पैर की जो अफवाहें फैलाई हैं वह उनकी सदा से रणनीति रही है, सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारत में आखिर इसीलिए तो भारत गए हैं, 'फूट डाल राज करो'। आखिर यही तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीति रही है, पर भारत की जनता इसमें सावधान है, क्योंकि ब्रिटिश राजनैतिकों की काली करतूतों को वह जान रही है, ब्रिटिश शासन अल्पसंख्यकों, दलितों और नरेशों के मुद्दों को भी उछाल रही है, क्योंकि भारतीयों में ऐक्य नहीं है, इसलिए मैं अपने वासियों को सचेत कर रहा हूँ कि वे ब्रिटेन के इस युद्ध किसी रूप में भाग न लें। किसी रूप में यदि उन्हें सहायता दी गई तो ब्रिटेन की हार दूर होती जाएगी और स्वाधीनता प्राप्ति निश्चित रूप असह्य विलम्ब और बड़ा त्रासद हो गया यह।' इस संबंध में नेताजी सुभाष ने मई, 1942 में हिटलर से भी प्रथम और अंतिम बार भेंट की थी, लेकिन इस भेंट से वह संतुष्ट न थे, हाँ, इस भेंट से एक लाभ यह मिला कि हिटलर ने उन्हें पूर्वी क्षेत्र में जाने की सुविधा मुहैया करा दी। फिर इधर काँग्रेस ने 8 अगस्त, 1942 को मुंबई में 'अँग्रेजों, भारत छोड़ो' का एक प्रस्ताव पारित किया जिसके फलस्वरूप महात्मा गाँधी आदि सारे बड़े नेताओं को गिरफ्तार कर भारत की निरीह जनता पर जुल्म ढाना शुरू कर दिया पर भारत की जनता ने भी इस चुनौती को स्वीकार कर जी-जान से अँग्रेजों के विरूद्ध हर

तरह से बगावत कर दी। भीषण नरसंहार, पुलिस थानों पर आक्रमण होने लगे और 'करेंगे या मरेंगे' हरेक हिंदुस्तानी का नारा बन गया।

फिर 31 अगस्त, 1942 को नेताजी सुभाष ने आजाद हिंद रेडियो, जर्मनी से दूसरी बार प्रसारण कर भारतीय जनता को अद्यतन स्थिति की जानकारी देते हुए संदेश दिया कि ब्रिटिश शासन जितना अत्याचार करेगी हम उतना ही जुल्म सहेंगे और बलिदान देंगे जिससे उतना ही भारत की प्रतिष्ठा दुनिया में बढ़ेगी, क्योंकि दुनिया का नैतिक समर्थन हमें मिल रहा है। इस प्रसंग में मैं आपसे विनम्र अनुरोध करूँगा कि जो अपने देशवासी देश की आजादी के हित में जी-जान से काम कर रहे हैं विदेश में, उनपर भी विश्वास दिलोजान से करना, क्योंकि हम इस देश के प्रहरी हैं इसमें कोई शक नहीं है और देश या विदेश जहाँ भी हम मौजूद हैं भारत की आजादी के लिए कटिबद्ध हैं। ब्रिटिश शेर दाँतों और पंजों से काटेगा, इसका ख्याल रखना है कि यह मरणासन्न शेर है और हम इसके घातों-प्रतिघातों से बच जाएँगे। इससे निराश नहीं होना कि नेता अपने जेल में बन्द हैं, बल्कि उनको जो यातना दी जा रही है उससे सारे राष्ट्र को संवेदना एवं सतत प्रेरणा और कुछ भी करने की तमन्ना मिलती रहेगी। इसलिए उन्होंने तुम्हें जो योजनाएँ दी हैं उसे तुम्हें कार्यान्वित करना है। मैं ऐसा कोई काम नहीं करूँगा जिसमें मेरे देश की जनता की सहमति न होगी। जबसे मैंने घर छोड़ा है तबसे अबतक देशवासियों से सम्पर्क करता रहा हूँ। ब्रिटिश शासन के खुफिया अफसरों का यह मजाल नहीं कि मुझे पकड़ ले भारत आने में या भारत से भी कहीं बाहर जाने में। वर्तमान स्थिति में जितने देश ब्रिटिश शासन द्वारा शासित हैं या प्रताड़ित हैं वे सब बगावत करने पर आमादा हैं। ऐसी स्थिति में यदि हम भारत में अपना संघर्ष जारी रखेंगे तब ही शीघ्र दासता से मुक्ति मिल जाएगी, इसमें कोई शक नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि जो और देश ब्रिटेन से शासित हैं वे सब भी आजादी पा के रहेंगे। अंत में मैं कहना चाह रहा हूँ कि यह मुहिम हफ्तों तक नहीं, महीनों तक चलनी ही चाहिए। यदि यह अहिंसक छापामार युद्ध चलता रहेगा तो ब्रिटिश साम्राज्य ध्वस्त हो ही जाएगा। 'अभी नहीं तो कभी नहीं', 'विजय या कि मौत चाहिए', 'इन्किलाब जिन्दाबाद' 'इन्किलाब जिन्दाबाद'। नेताजी ने प्रसारण में भारतीय जनता से यह भी अनुरोध किया कि सभी टेक्सों का भुगतान रोक दें, क्योंकि इससे शासन को राजस्व मिलता है, उद्योग-धंधे में जितने भी कर्मचारी काम कर रहे हैं वे उत्पादन बंद कर दें और उत्पादक के यंत्रों का तोड़-फोड़ करें,

विद्यार्थीगण भी गुरिल्ला जत्था कायम करके रहें, देश के भिन्न-भिन्न भागों में तोड़-फोड़ वे चालू कर दें, डाकघरों पर हमले करके स्टाम्पों को जला दें, महिलाएँ भी छिपे-रूस्तम काम करें और आश्रय दें उनको जो छापामार युद्ध में लगे हैं। मित्रों, जब ये काम अपनाए जाएँगे सारे देश में, तो प्रशासन तंत्र ठप्प पड़ जाएगा, इसमें सन्देह नहीं है।'

नेताजी सुभाष ने मध्य जून, 1943 में जापानी प्रधानमंत्री तोजो से मिलकर जो मंत्रणा की उससे तोजो पर जैसे पूरे तौर पर जादू सा छा गया। दो मुलाकातों के बाद तोजो ने नेताजी का दाइत संसद में आमंत्रित कर कहा कि भारत को आजादी पाने का जो लक्ष्य है उसका उसे बिना शर्त हम समर्थन देते हैं। नेताजी की यह बेशक बड़ी सफलता थी, क्योंकि किसी विदेशी शक्ति के शासन-प्रमुख द्वारा अपने ढंग की यह एकमात्र घोषणा थी, फिर नेताजी ने जापान में अपनी उपस्थिति की घोषणा कर दी।

आजाद हिंद आन्दोलन के साहसिक कृत्यों से उत्प्रेरित होकर समग्र राष्ट्र सब भेद-भाव भूलकर, देशभक्ति पूर्ण वातावरण में अंगड़ाई लेने लगे। उल्लेख्य है कि आजाद हिंद फौज के शाहनवाज, सहगल और ढिल्लों जो तीन बंदी अधिकारी थे उनकी पैरवी के लिए काँग्रेस ने भूला भाई दो साई की अध्यक्षता में बचाव समिति गठित की और वे तीनों तब राष्ट्रनायक बन गए तथा जयहिंद बन गया नारा देश का, इसके साथ ही ब्रिटिश सेना में खलबली भी होने लग गयी। फिर तो रॉयल इन्डियन एयर फोर्स और इन्डियन नेभी में खुला विद्रोह हुआ और सन् छियालिस आते-आते भारत की आजादी का द्वार खुल गया। नेताजी सुभाष भारतीय सशस्त्र सेना की ब्रिटिश शासन के प्रति जो वफादारी थी, उसे ध्वस्त करके उसको भारत की आजादी के प्रति आस्थावान बनाकर अपने मकसद में कामयाब हो गए। पूर्व एशिया में नेताजी ने अपने भाषणों से आजाद हिंद फौज में भर्ती होने के लिए तथा आर्थिक सहायता का आह्वान कर भारतीयों को यह संदेश दिए कि तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा।'

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान आजाद हिंद फौज ने जापानी सेना के सहयोग से अँग्रेजों के विरूद्ध भारत पर आक्रमण कर दिया। अपनी फौज को प्रेरित करने के लिए नेताजी ने 'दिल्ली चलो' का नारा दिया। इनकी दोनों फौजों ने अँग्रेजों से अंडमान और निकोबार द्वीप जीत लिए पर अँग्रेजों का पलड़ा भारी पड़ने के कारण इनकी फौज को पीछे हटना पड़ा।

6 जुलाई, 1944 को आजाद हिंद रेडियो पर भाषण के

नाध्यम से नेताजी सुभाष की जो बातें गाँधी जी से हुई उसमें जापान से सहायता लेने का उन्होंने कारण बताते हुए आजाद हिंद फौज की स्थापना के उद्येश्यों के बारे में बताया। इस भाषण के दौरान नेताजी ने गाँधी जी को राष्ट्रपिता से संबोधित कर अपने जंग के लिए उनका आशीर्वाद माँगा। यह वह नेताजी सुभाष ही थे जिन्होंने सर्वप्रथम गाँधी जी को 'राष्ट्रपिता' की संज्ञा दी थी। 18 अगस्त, 1945 को नेताजी सुभाष ने आजाद हिंद फौज के अपने मित्रों से यह कहा- 'दोस्तों! मातृभूमि की मुक्ति के लिए हम जो संघर्ष करते आए, पर अब ही घिर गए एक अनहोनी से हम। इस संकट की घड़ी में मेरा तुमसे यही आग्रह है कि क्रांति सेना के ही योग्य अनुशासन और आचरण करो तुम, निष्ठावान रहो भारत के प्रति तुम और अपनी आस्था को तुम कभी नहीं डोलने दो। दिल्ली तक पहुँचने की अनेक राहें हैं, अब भी हमारा लक्ष्य दिल्ली ही है। भारत तो आजाद निश्चित ही होगा और इसमें जरा भी संदेह नहीं कि भारत शीघ्र ही आजाद होगा। 17 अगस्त, 1945 को एक संदेश में नेताजी ने पूर्व एशिया में रहने वाले भारतीय लोगों से कहा- भाइयो और बहनो! सुन लो मेरा अब यह विशेष संदेश, भारत की आजादी के संघर्ष का एक विशिष्ट अभी समाप्त हो गया है जिसमें पूर्वेशिया में रहने वाले बेटों और बेटियों ने भी इसमें अपनी जगह स्थायी बना ली है और तुमने भी इसमें धन-जन और रसद देकर देशभक्ति तथा बलिदान का ज्वलंत उदारहरण पेश कर दिया है। मैं कभी न भूल सकता हूँ तेरे इस उदार और साहसिक सहयोग को।

सन् 1942 के आंदोलन के कुचल और दबा दिए जाने पश्चात् से लेकर सन् 1945 के युद्ध के अंत तक देश में मुश्किल से कोई राजनैतिक गतिविधि रही, क्योंकि देश के प्रायः अधिकांश नेता जेल में थे और परिस्थिति ऐसी नहीं थी, जिसमें नया नेतृत्व सामने आ सके। आमतौर पर लोगों में असंतोष और खिन्नता की भावना थी हालांकि अप्रकट रूप से भीतर-भीतर आग सुलग रही थी। युद्ध आगे खिंचा, लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन में ठहराव आ गया था। सुभाष चन्द्र बोस रूस से भारत की स्वतंत्रता के संघर्ष में मदद लेने के उद्येश्य से मार्च, 1941 में चुपचाप देश से चले गए थे, लेकिन जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया और वह मित्र राष्टों में शामिल हो गया। नेताजी सुभाष रूस से इस उद्येश्य से जर्मनी चले गए कि वहाँ पर मदद प्राप्त कर सकें। जर्मनी से थोड़े आश्वासन पाकर वह जापान गए, ताकि उसकी मदद से मुक्ति-युद्ध का संगठन कर सकें। उन्होंने

जापानियों के साथ मिलकर भारत की तरफ बढ़ना शुरू किया। आजाद हिंद फौज के अफसरों और सैनिकों में देशभक्ति की भावना थी और उन्होंने मुक्तिदाता के रूप में भारत में प्रवेश करना चाहा। सुभाष चन्द्र बोस स्वतंत्र भारत की अस्थायी सरकार के अध्यक्ष होने वाले थे, मगर जापान की पराजय के साथ आजाद हिंद फौज की योजना असफल हो गई। तोक्यो जाते वक्त हवाई जहाज की एक दुर्घटना में सुभाष चन्द्र बोस के घायल हो जाने के बाद तो उनकी मृत्यु हो गई। लेकिन यह सत्य है कि युद्ध के अंतिम वर्षो में सुभाष चन्द्र बोस और आजाद हिंद फौज ने भारत में उन राष्ट्रवादियों की हताश भावना को ढाढ़स बंधाया जो निराशा और असहायता से त्रस्त थे। उन्होंने सेना के जवान और भारतीय जनता के हर वर्ग के सामने साहस और देशभक्ति की ऐसी मिसाल रखी जो प्रेरणा देने वाली भी थी और मर्यादा से जोड़ने वाली भी।

नेताजी जैसे स्वतंत्रता सेनानी, अप्रतिम सेनानायक, क्रांतिकारी देशभक्त और देश-समाज के हितचिंतक के समग्र जीवन चरित और उनकी वैचारिकता को समेटना तो एक दुष्कर कार्य है फिर भी मैंने उन्हें स्मरण करते हुए उनके कार्यकलापों पर एक दृष्टि डाली है। आईसीएस जैसी पद व प्रतिष्ठा की परीक्षा में चौथा स्थान पाकर भी नेताजी के मन में नौकरी करने को लेकर जो अंतर्द्वन्द्व रहा वह इस बात का द्योतक है कि अपने देश व समाज की दुर्दशा के बारे में सोचकर वह विचलित हुए। आखिर तभी तो अपने मन की उलझन के बारे में एक परिचित बुटस परिवार को उन्होंने कहा था- 'मेरे लिए सिविल सर्विस की प्ररंपरा में बंधकर देश के लिए वास्तविक कार्य करना संभव नहीं है, क्योंकि कानूनों का अनुगामी होकर राष्ट्रीय व आध्यात्मिक भावों का समन्वय नहीं हो सकेगा। मेरे लिए सुख-दुख व्यक्तिशः मेरे भी नहीं हैं। पूरे भारतीय समाज और संपूर्ण मानव जाति के हैं।' भारतीय राजनीति के मौजूदा परिदृश्य में क्या आज किसी देशवासी या राजनेता से ऐसी उम्मीद की जा सकती है? मुझे तो ऐसी उम्मीद कतई नहीं है।

विभिन्न मंचों से देशसेवा कार्य का करना, आंदोलनों व गतिविधियों में भाग लेना, जेल जाना और फिर नजरबंदी की जगह से वेश बदलकर अफगानिस्तान के रास्ते जर्मनी पहुँचना, बर्लिन में लंबे प्रवास के दौरान हिटलर से मुलाकात व अपने देश की आजादी के लिए सैन्य सहायता की बात करना ये सब बातें आज इस देश की जनता को क्या अकल्पनीय

नहीं लगता? नेताजी ने हिटलर से कहा था- 'मुझे अपना देश आजाद कराना है। इस वक्त मेरा एक ही उद्येश्य है जैसा आपका दुश्मनों को पराजित करना। साफ है जैसी आधी दुनिया का मालिक ब्रिटेन आपका शत्रु है ठीक उसी तरह हमारा भी वह शत्रु है। क्या हमदोनों के लिए इतना काफी नहीं है?' द्वितीय महायुद्ध के समय सुभाष चन्द्र बोस जापान की बढ़ती विजयी ताकत को देखकर अपने भारत की आजादी के लिए जापान से मदद पाने को उददत होते हैं। वर्मा व सिंगापुर में प्रवासी भारतीयों के बीच स्वतंत्रता का आह्वान करते हुए वह आजाद हिंद फौज का गठन कर जापानियों की सहायता से ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध 'दिल्ली चलो' के नारे के साथ युद्ध की घोषणा कर अपनी फौज वे आगे बढ़ा देते हैं। इसे देशवासियों को बताना हमारा-आपका यह दायित्व बनता है।

सशस्त्र क्रांति का यह नायक जापान की द्वितीय विश्वयुद्ध की हार के बाद पीछे हटने को विवश हो जाता है और अपने को दुनिया के सामने मौत के परदे में छिपा लेता है और वह अपनी विचारित योजना के तहत आकाशवाणी टोकियो से हवाई दुर्घटना में अपनी मौत का समाचार सुन माँ दुर्गा से कह उठता है 'मां दुर्गे! तू धन्य है तूने अपने लाल को एक बार फिर उबार लिया। पर मां तू यह तो संकेत दे कि तेरा यह लाल अपनी मातृभूमि के चरण स्पर्श कब कर सकेगा?' देश के करोड़ों दिलों की जिज्ञासा भरा यह प्रश्न कि सुभाष इस भूमि की ओर फिर क्यों नहीं मुड़े या अपना पता क्यों नहीं दिया है उनके जैसा व्यक्तित्व क्या शांत रह सकता था?

देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने भी अपनी आत्मकथा में लिखा है कि नेता जी की देशसेवा, निर्भिकता और त्याग के सभी कायल थे अत: आजादी में योगदान के लिए उन्हें उचित सम्मान मिलना चाहिए, ताकि उनके देशप्रेम बलिदान, उनके विचारों एवं संघर्षो की जानकारी देशवासियों को हो सकें। मुझे लगता है कि इक्कीसवीं शताब्दी में नेताजी के विचार राष्ट्र के भविष्य एक जीवित सिद्धांत के रूप में व्यावहारिक है।

ऐसा माना जाता है कि वर्मा पतन के बाद से ही नेताजी चाह रहे थे कि अब सोवियत क्षेत्र में जाकर भारत की आजादी के हित राजनीति कुछ और बनाएँ, लेकिन जापानी हाई कमान जो टोकियो में थे उनके इस विचार से सहमत नहीं हो सके। अंत में 15 अगस्त, 1945 की मंत्रिमंडल की बैठक में निर्णय लिया गया कि नेताजी के संग में एस.ए. अय्यर, आबिद हसन और हबिबुर्रहान भी टोकियो चले जाएँ, वहीं कुछ बने

योजना। वे लोग टोकियो के लिए रवाना हो गए और रास्ते में बैंकाक में रूके और सैगाँन में भी। वहाँ उन्हें बैठाया गया एक जापानी बमवर्षक वायुयान में, तब एक सीट ही खाली बची थी, अतः सिर्फ रहमान ही बैठ सके नेताजी के संग। सैगाँन के बाद नेताजी और उनके मेजमानों ने उत्तर हिंद चीन में टूरेन में भी रात बिताई थी। फिर वहाँ से ताइवान के लिए वे दोनों रवाना हुए और उन्हें टोकियो भी जाना था। 23 अगस्त, 1945 को रेडियो टोकियो से प्रसारित हुआ यह दुःसंवाद कि ताईहोक्यू के हवाई अड्डे से, जब विमान उड़ान भरने लगा तभी उड़ान ध्वस्त हो गया जिसमें जापानी जनरल शीदेई और पायलट के ही साथ मारे गए परन्तु नेताजी बुरी तरह से जल गए थे जिन्हें उसी रात को ताईहोक्यू सैनिक अस्पताल पहुँचाया गया इलाज वास्ते, तभी नेताजी ने अंतिम सांस ले ली और कहानी खत्म हो गई। कहा जाता है कि हबीबुर्रहमान ने नेताजी का अंतिम संस्कार ताईहोक्यू में ही कर दिया था। फिर सितम्बर के मध्य में जापान पहुँचाई गई उनकी अस्थियाँ और टोकियो के रेंकाजी मंदिर के पास रख दी गई थीं। इस खबर से खासतौर भारतीय समाज संतुष्ट नहीं है और इस प्रकार आज तक नेताजी की मौत रहस्यमय बनी हुई है। पर इतना मैं जरूर कहूँगा कि भारतीय स्वतंत्रता के संग्राम में अपने वैशिष्ट्य की वजह से नेताजी सुभाष चन्द्र बोस सबसे कुछ भिन्न नजर आते हैं अपने व्यवहार और सिद्धांत के कारण, अपनी साहसिकता और जीवन शैली में वे निश्चित रूप से एक चमत्कारिक व्यक्तित्व हो गए थे। आखिर तभी तो भारत की आजादी के सात दशक बीत जाने के बाद भी नेताजी सुभाष भारतीयों के लिए आस्था के स्रोत बने हुए हैं और सदियों तक भारतवासी उन्हें नहीं भुला पाएँगे उनके योगदान को और वे राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध और गाँधी जैसे ही अमर हो गए हैं।

नेताजी के तमाम योगदान और उनकी रचनात्मक दृष्टि का स्मरण दुष्यंत कुमार की एक ग़ज़ल के इस मिसरे की मुझे याद दिलाता है–

'दुकानदार तो लुट गए मेले में यारों,
तमाशबीन दुकाने लगा के बैठ गए।'

भारतरत्न डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम : देश के इकलोते राष्ट्रपति, जिन्होंने आजन्म अविवाहित रहकर देश सेवा का व्रत लिया था

डॉ० अब्दुल पाकिर जैनुलआबेदीन अब्दुल कलाम देश के इकलौते राष्ट्रपति थे, जिन्होंने आजन्म अविवाहित रहकर देश सेवा का व्रत लिया था और आजीवन देश-सेवा करते रहे। चमत्कारिक प्रतिभा के धनी डॉ० कलाम भारत के पहले वैज्ञानिक हैं जो देश के राष्ट्रपति बने और राष्ट्रपति बनने से पहले देश के सभी सर्वोच्च नागरिक सम्मान यथा पद्मश्री, पद्मभूषण, पद्म विभूषण और भारत रत्न पाने वाले एकमात्र राष्ट्रपति हुए। आधुनिक भारत के वे सबसे लोकप्रिय राष्ट्रपति, महान भविष्य द्रष्टा और जन-जन के प्रेरणा स्रोत रहे। साधारण पृष्ठभूमि में पले-बढ़े कलाम तमाम अभावों से दो-चार होने के बावजूद एक सफल वैज्ञानिक बने और फिर एक चिंतक, पथ-प्रदर्शक एवं राष्ट्र के सच्चे हितैषी के रूप में समस्त देश को प्रेरणा प्रदान की।

डॉ० एपीजे अब्दुल कलाम का मूल दर्शन था 'जीवन एक जटिल खेल है। इंसान बने रहकर ही आप इसे जीत सकते हैं।' उस कर्मयोगी वैज्ञानिक का पैर जमीन पर लेकिन सपने आसमान से ऊँचे थे। वे हमेशा कहते थे। 'सपने सच हों, इसके लिए सपने देखना जरूरी है।' वैज्ञानिक होकर भी वे कोरी आशावादिता या बड़बोले भाषण तक ही सीमित नहीं थे, बल्कि सपनों को पूरा करने की एक ठोस सोच और रोडमैप के साथ वह आवाम के बीच आए और उन्होंने नई सदी के भारत की सोच को 'अग्नि का उड़ान' दी। बच्चों और युवाओं के 'तेजस्वी मन' में कुछ कर गुजरने का जज्बा भरा। विजन-20 से लेकर शहरी सुविधाओं को गाँवों तक पहुँचाने की उनके 'पूरा' दर्शन ने भारतीय सत्ता प्रतिष्ठान को एक नई दृष्टि प्रदान की।

डॉ० कलाम हर रूप में एक आदर्श और सच्चे अर्थों में बिरले थे। वह भारतीय मूल्यों में रचे-बसे एक ऐसे शख्स के रूप में उभरे जो वस्तुतः भारतीयता के पर्याय बने। उन्होंने राष्ट्रपति के तौर पर राजनीति की दिशा बदलने की हर संभव कोशिश की। वह पहले ऐसे

राष्टपति थे जिन्होंने सांसदों को कर्त्तव्य पथ पर अडिग रहने की शपथ दिलाई। उन्होंने न केवल देश को महाशक्ति बनाने का मूलमंत्र दिया, बल्कि लोगों में यह विश्वास भी जगाया कि भारत वास्तव में उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है। उन्होंने राष्ट्रपति के पद पर रहकर यह भी दिखाया किं अपना काम करते हुए विवादों से कैसे दूर रहा जा सकता है। विडंबना यह रही कि संकीर्ण स्वार्थवाली क्षुद्र राजनीति ने उन्हें राष्ट्रपति के रूप में दूसरी बार अवसर देने में आनाकानी दिखाई। यह एक ऐसी भूल थी जिसे स्वीकार करना ही होगा। इन सबके बावजूद वह कर्मयोगी की तरह अपना काम करते रहे।

भारत के पूर्व राष्ट्रपति डॉ० एपीजे अब्दुल कलाम को बिहार से खास लगाव था। उन्होंने इस राज्य के विकास के लिए दस सूत्री मंत्र सुझाए थे, जिसे बिहार आज भी याद कर रहा है। उन दस 'कलाम' में कृषि पर विशेष ध्यान की सलाह पहला 'कलाम' था। उन्होंने धान का उत्पादन 5.5 मिलियन टन से बढ़ाकर 15 मिलियन टन और गेहूँ का उत्पादन 4 मिलियन टन से बढ़ाकर 12 मिलियन टन तक चार सालों में ले जाने का टास्क दिया था। उन्होंने महाराष्ट्र की तरह सूगर को-ओपरेटिव बनाने को कहा था जो मिलकर कम से कम 10 चीनी मिलें खोले, ताकि सूबे में करीब एक करोड़ मीट्रिक टन पैदा हो रहे गन्ने का भरपूर उपयोग हो सके। बिहार स्टेट को-ओपरेटिव मिल्क प्रोड्यूसर्स फेडरेशन (काम्फेड), को सभी 38 जिलों में अपनी सक्रियता बढ़ाने का सुझाव भी उन्होंने दिया था, ताकि तीन से चार सालों में अतिरिक्त 7.5 लाख परिवारों को खुद का रोजगार मिल सके। शिक्षा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता पर जोर देते हुए साक्षरता दर को तत्कालीन 47.5 प्रतिशत से बढ़ाकर 2010 तक 75 प्रतिशत और 2015 तक शत प्रतिशत करने का सुझाव दिया था। डॉ० कलाम 2006 में बिहार विधान सभा एवं विधान परिषद् के सदस्यों को संबोधित करते हुए बिहार की पूरानी गरिमा की याद दिलाई थी और कहा था कि सदस्यों को उससे प्रेरणा लेते हुए प्रदेश के विकास और समृद्धि के लिए नई शुरूआत करने का सलाह दी थी। मुझे आज भी अच्छी तरह याद है कि उनके सम्मान में आयोजित समारोह में बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड के राज्यमंत्री का दर्जा प्राप्त अध्यक्ष की हैसियत से मुझे भी आमंत्रित किया गया था और अपनी उपस्थिति दर्ज कर मैं न केवल गौरवान्वित हुआ था, बल्कि डॉ० कलाम की हर बातों को बड़ी तन्मयता से सुना था।

मिशन बिहार 2020 का बुनने वाले पूर्व राष्ट्रपति डॉ०

एपीजे अब्दुल कलाम ने एक ओर जहाँ पटना जिले के पालीगंज प्रखंड के खेतों की पगडंडियों पर किसानों को लगातार आगे बढ़ने की प्रेरणा दी थी, वहीं दूसरी ओर हमारी जन्म भूमि जिला नालंदा की यात्रा भी 30 मई, 2003 को की थी। पावापुरी में भगवान महावीर की निर्वाण भूमि और जलमंदिर का दर्शन कर पंच पहाड़ियों के बीच राजगीर में बन रहे आयुध निर्माणी का निरीक्षण किया था और रक्षा विशेषज्ञों के साथ आयुध निर्माणी में कैलिबर 150 के गुर बताए थे। नालंदा विश्वविद्यालय भ्रमण के बाद डॉ० कलाम ने हमारे प्रखंड हरनौत में रेल कोच कारखाने का शिलान्यास भी किया था और राष्ट्रपति विशेष ट्रेन से पटना लौटे थे। नालंदा में एक साथ पाँच कार्यक्रमो में राष्ट्रपति डॉ० कलाम का शामिल होना, यादगार बन कर रह गया है।

भारत के पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी 1998 में डॉ० एपीजे अब्दुल कलाम को मंत्रिमंडल में शामिल करना चाहते थे, लेकिन कलाम ने इससे इनकार कर दिया था। डॉ० कलाम ने अपनी पुस्तक 'टर्निंग प्वायंट्स: ए जर्नी थ्रू चैलेंजेज' में यह रहस्योद्घाटन उन्होंने किया है। वे उस समय रक्षा अनुसंधान एवं विकास संगठन (डी.आर.डी.ओ.) के प्रमुख थे। चुकि उस वक्त वे राष्ट्रीय महत्व के कार्यक्रमों से जुड़े थे, इसलिए उसे छोड़कर मंत्रिमंडल में शामिल होना उन्होंने लाजिमी नहीं समझा और अगले दिन अहले सुबह प्रधानमंत्री वाजपेयी जी के निवास 7, सफदरजंग रोड जाकर डॉ० कलाम ने बताया कि अग्नि मिसाइल तैयार करने और परमाणु ऊर्जा विभाग के साथ परमाणु कार्यक्रम पर काम करने पर वह देश के लिए अधिक योगदान दे सकेंगे और इसके लिए उन्होंने प्रधानमंत्री से अनुमति माँगी। वाजपेयी जी ने कलाम के विचारों को महत्त्व दिया और उन्हें अपने काम को ही आगे बढ़ाने को कहा।

राष्ट्रपति के रूप में अपने कार्यकाल के दौरान डॉ० कलाम दो बार अपने फैसलों को लेकर चर्चित रहे। पहले जब उन्होंने रूस यात्रा के दौरान केंद्रिय मंत्रिमंडल की सलाह पर बिहार विधान सभा को भंग किया। इस पर हुए विवाद के बाद वह राष्ट्रपति पद से इस्तीफा तक देने को तैयार थे। दूसरे तब, जब कलाम ने लाभ के पद का विधेयक संसद को लौटा दिया था। कलाम के इस फैसले को लेकर भी काफी आलोचना हुई। इस बिल पर हस्ताक्षर करने से इनकार करने की वजह से ही प्रधानमंत्री ने एक संयुक्त संसदीय समिति गठित की थी।

सन् 2007 में जब राष्ट्रपति का कार्यकाल समाप्त होने को

था, तो 'दूसरी बार राष्ट्रपति चुनाव लड़ने का प्रस्ताव आने पर डॉ० कलाम ने स्पष्ट कर दिया था कि यदि उन्हें सर्वसम्मति से बिना चुनाव लड़े राष्ट्रपति बनाया जाए तभी वह इसके लिए तैयार होंगे।

एक बार डॉ० कलाम के बड़े भाई राष्ट्रपति भवन में उनसे मिलने आए। उस वक्त उनकी उम्र करीब 91 साल थी। उनके पैरों में भी तकलीफ थी। फिर भी डॉ० कलाम ने उनके लिए एक बार भी सरकारी गाड़ी का इस्तेमाल नहीं किया। उनके भाई अजमेर शरीफ भी गए, लेकिन डॉ० कलाम का स्पष्ट निर्देश था कि किसी को नहीं बताना कि वे उनके भाई हैं।

डॉ० कलाम के निजी सचिव रहे पी.एम. नायर ने अपनी पुस्तक 'द कलाम इफेक्ट: माई ईयर्स विद प्रेसिडेंट' में लिखा है कि एक बार आगरा की एक लड़की ने उन्हें खत लिखा। उसने बताया कि एक पार्क जहाँ वह खेलती है वहाँ का झूला खराब है। उन्होंने तुरंत जिला कलेक्टर को फोन करवा कर उसे ठीक करा दिया।

राष्ट्रपति रहते रमजान के वक्त डॉ० कलाम ने एक बार कंबल और गर्म बनियानें खरीदीं और कुछ खाने पीने का समान लिया। सभी चीजों को एक अनाथ आश्रम में जाकर दान कर दिया। कलाम ने अलग से एक लाख रुपए भी दिए। इसी प्रकार एक बार उनके निजी सचिव रहे पी. एम. नायर की पत्नी सड़क हादसे में घायल हो गईं। वह राष्ट्रपति से मिलकर उन्हें बधाई देना चाहती थी। नायर ने उन्हें जब यह बताया तो कलाम खुद उनके घर चले गए। सन् 1992-99 के दौरान डॉ० कलाम प्रधानमंत्री के मुख्य वैज्ञानिक सलाहकार और डी.आर.डी.ओ. के सचिव रहे। उसी दौरान 1998 में उनके नेतृत्व में पोखरण-2 परमाणु परीक्षण किया गया। उस दौरान वह आर चिदम्बरम के साथ मुख्य योजना समन्वयक थे।

सन् 2002 के राष्ट्रपति चुनाव में डॉ० कलाम लगभग एक तरफा मुकाबले में लक्ष्मी सहगल को पराजित कर देश के 11 वें राष्ट्रपति बने। वह 2007 तक देश के राष्ट्रपति रहे। वह शुद्ध शाकाहारी थे और उनका अनोखा हेयर स्टाइल लोगों में लोकप्रिय था। वह राष्ट्रपति बनने से पहले 1997 में भारत रत्न से सम्मानित होने वाले तीसरी शख्सियत थे। उनसे पहले डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन 1954 में और डॉ० जाकिर हुसैन 1963 में राष्ट्रपति बनने से पहले भारत रत्न से सम्मानित हुए।

15 अक्टूबर, 1931 को तमिलनाडु के रामेश्वरम कस्बे के एक मध्यमवर्गीय परिवार में पैदा हुए कलाम ने मद्रास इंस्टीच्यूट ऑफ

टेक्नोलॉजी से स्नातक करने के बाद भौतिकी और एयरोस्पेस इंजीनियरिंग का अध्ययन किया और फिर उसके बाद रक्षाशोध एवं विकास संगठन से जुड़ गए। डॉ० कलाम के पिता के पास कई नौकाएँ थीं जिन्हें वह स्थानीय मछुआरों को किराए पर देते थे, लेकिन उन्होंने अपना खुद का कैरियर समाचार पत्र विक्रेता के रूप में शुरू किया था। कलाम की माता का नाम अशियम्मा था। कलाम का बचपन बड़ा संघर्षपूर्ण रहा। वे प्रतिदिन सुबह चार बजे उठकर गणित का ट्यूशन पढ़ने जाते थे। वहाँ से पाँच बजे लौटकर वे अपने पिता के साथ नमाज पढ़ते फिर घर से तीन किलोमीटर दूर स्थित ध नुषकोडी रेलवे स्टेशन से अखबार लाते और पैदल घूम-घूमकर बेचते। आठ बजे तक वे अखबार बेचकर घर लौट आते। उसके बाद तैयार होकर वे स्कूल चले जाते। स्कूल से लौटने के बाद वे अखबार के पैसों की वसूली के लिए निकल जाते थे। सात भाई-बहनों वाले परिवार में कलाम सबसे छोटे थे।

प्राइमरी स्कूल के बाद कलाम ने श्वार्ट्ज हाई स्कूल, रामनाथपुर में प्रवेश लिया। वहाँ की शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने 1950 में सेंट ज़ोसेफ कॉलेज, त्रिची में नामांकन कराया। वहाँ से उन्होंने भौतिक और गणित विषयों के साथ बी.एस.सी. की डिग्री प्राप्त की। अपने अध्यापकों की सलाह पर उन्होंने स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए मद्रास इंस्टीच्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी, चेन्नई जाकर एयरोनोटिकल इंजीनियरिंग का चयन किया। इस प्रकार मेहनत के बल पर डॉ० कलाम फर्श से अर्श तक पहुँचे।

डॉ० कलाम की योग्यता के मद्देनजर सम्मान स्वरूप उन्हें देश की तकरीबन पचीस विश्वविद्यालयों ने उन्हें 'डॉक्टर ऑफ साइन्स', 'डॉक्टर ऑफ लिटरेचर' की मानद उपाधियाँ प्रदान कीं। कई इंजीनियरिंग कॉलेज के मानद सदस्य, प्रोफेसर तथा इसरो के विशेष प्रोफेसर रहे। इसके अतिरिक्त इन्हें नेशनल डिज़ाइन आवार्ड-1980, डॉ० बिरेन राय स्पेस अवार्ड- 1986, ओम प्रकाश भसीन पुरस्कार, राष्ट्रीय नेहरू पुरस्कार-1990, आर्यभट्ट पुरस्कार 1994, प्रो० वाई नायुडम्मा मेमोरियल गोल्ड मेडल-1996, जी.एम. मोदी पुरस्कार-1996, एच. के. फिरोदिया पुरस्कार 1996, वीर सावरकर पुरस्कार-1998 तथा राष्ट्रीय एकता के लिए इंदिरा गाँधी पुरस्कार-1997 भी प्रदान किया गया। भारत सरकार ने उन्हें पद्म भूषण, पद्म विभूषण तथा भारत रत्न से भी विभूषित किया।

डॉ० कलाम भारतीय इतिहास के ऐसे पुरुष हुए जिनसे लाखों लोग प्रेरणा ग्रहण करते हैं अरुण तिवारी लिखित उनकी जीवनी 'विंग्स

ऑफ फायर' भारतीय युवाओं और बच्चों के बीच बेहद लोकप्रिय है। उनकी लिखी पुस्तकों में 'गाईडिंग सोल्स: डायलॉग्स ऑन द पर्पज ऑफ लाइफ' एक गंभीर कृति है। इसके अतिरिक्त उनकी चर्चित पुस्तकें हैं-- 'इगनाईटेड माइड्स: अनलीशिंग द पावर विदिन इंडिया' 'एनिवजनिंग अन एमपावर्ड नेशन: टेक्नालॉजी फॉर सोसायटल ट्रांसफारमेशन', 'डेवलपमेंट्स इन पल्यूड मैकेनिक्स एण्ड स्पेश टेक्नालॉजी', '2020: ए विजन फॉर द न्यू मिलेनियम-' सह लेखक-ए सिवाथनु पिल्लैई। डॉ० कलाम ने तमिल भाषा में कविताएँ भी लिखी हैं जो अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। उनकी कविताओं का एक संग्रह 'द लाइफ ट्री' के नाम से अँग्रेजी में भी प्रकाशित हुआ है।

आधुनिक भारत के सबसे लोकप्रिय राष्ट्रपति, महान भविष्य द्रष्टा, जन-जन के प्रेरणा स्रोत और अनमोल रत्न सरीखे भारत रत्न डॉ० ए. पी.जे. अब्दुल कलाम का निधन विगत 27 जुलाई, 2015 को उस समय हुआ जब वे शिक्षक की भूमिका निभा रहे थे। 27 जुलाई, 2015 को डॉ० कलाम गुवाहाटी से आई.आई.एम के कार्यक्रम में भाग लेने जा रहे थे। आगे की गाड़ी में एक सुरक्षाकर्मी खड़ा होकर जा रहा था। डॉ० कलाम को पीड़ा हुई। अपने सहयोगी से उन्होंने कहा- 'वह सुरक्षा कर्मी बहुत देर से खड़ा है। थक जाएगा। उसे वायरलेस से कहो कि वह बैठ जाए।' डॉ० कलाम को बताया गया कि वह उन्हीं की सुरक्षा के लिए खड़ा होकर गाड़ी पर जा रहा है। वायरलेस से संपर्क नहीं हो सका। जब शिलांग में गाड़ी रूकी, तो डॉ० कलाम उस सुरक्षा कर्मी से मिलने उसके पास गए। उससे हाथ मिलाया और उससे इस बात के लिए क्षमा माँगने पहुँच गए। इतिहास में ऐसे उदाहरण बिरले ही होंगे। गरीब से गरीब व्यक्ति का साम्मान तो मानो उनके खून में था, क्योंकि उन्होंने गरीबी देखी थी उससे संघर्ष किया था और कड़ी मेहनत के बल पर सर्वोच्च स्थान पाया था। डॉ० कलाम जब भी जनप्रतिनिधियों से मिलते थे, तो उन्हें समझाते थे, लेकिन अफसोस इस बात का है कि उनके तमाम प्रयास के बावजूद भारतीय राजनीति में अपेक्षाकृत सुधार नहीं हो सका। जीवन के अंतिम दिन भी उन्होंने अपने सहयोगियों से कहा था-- संसद में गतिरोध खतम नहीं हो रहा। इसके लिए कुछ करना चाहिए, लेकिन इसके लिए उन्हें मौका नहीं मिल सका।

डॉ० अब्दुल कलाम उस राजकीय अहंकार को तोड़ने वाले राष्ट्रपति थे, जो ब्रिटिश गुलामी की जूठन की तरह वायसराय की याद दिलाते हुए राष्ट्रपति भवन में पसरी हुई थी। आजादी पायी, लेकिन आजाद देश ने

अपने प्रोटोकॉल और शिष्टाचार नहीं ढूँढ़े। अब्दुल कलाम ने उन सबको तोड़ा। राष्ट्रपति भवन साधारण जनता के लिए खोला। मुस्लिम होते हुए भी दाराशिकोह की तरह उपनिषदों और भगवतगीता का भक्तिपूर्वक अध्ययन किया। अपने सैकड़ों भाषणों में वें भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्राचीन स्वर उद्धृत करते थे। वे अपने उस कथन के प्रतीक बन गए, जिसमें उन्होंने कहा था-- 'जो तट से ममता तोड़ता है, वही अथाह सागर की संपदा पा सकता है। कितनी बड़ी बात है, तट के बने रहोगे, तो तट पर ही तो पड़े रहोगे। तट छोड़ोगे तभी तो आकाश या सागर का ओर-छोर नाप सकोगे'।

राष्ट्र ने अपने अनमोल रत्न 'अब्दुल कलाम को हजारों लोगों के साथ भावनात्मक विदाई तब दी जब तमिलनाडु के रामेश्वरम में उनके पार्थिव शरीर को पेईकांरूबू में करीब डेढ़ एकड़ में फैली जमीन के टुकड़े के बीच में दफनाया गया। 'जनता के राष्ट्रपति' को पूरा सैन्य सम्मान प्रदान किया गया। 83 वर्षीय इस वैज्ञानिक की आखिरी विदाई के वक्त भारत के प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी सहित उनके मंत्रिमंडल के अनेक मंत्री भी मौजूद थे।

एक महान वैज्ञानिक और एक राष्ट्रपति के साथ-साथ एक भले-सच्चे इनसान के रूप में डॉ० कलाम का योगदान देश ही नहीं, पूरी दुनिया को ऊर्जा प्रदान करता रहेगा। उनकी सोच हमेशा जिंदा रहेगी और उनकी ऐसी महान आत्मा मरकर भी अमर रहेगी। हमारी आने वाले पीढ़ी को उनके जीवन और कार्यों के बारे में जरूर विस्तार से जानना-समझना चाहिए। पाँच जुलाई, 2015 को डॉ० कलाम ने ट्वीट कर कहा था कि तिरंगा मेरे दिल में फहरता रहेगा। उन्होंने यह भी कहा था 'वर्षा के दौरान सभी पक्षी आश्रय स्थल ढूँढ़ते हैं, जबकि चील बारिश की परवाह न करते हुए बादलों को पार करने का हौसला दिखाती है। समस्याएँ तो एक जेसी होती हैं, लेकिन उनसे निपटने का जज्बा जुदा होता है। विफलता नाम की बीमारी को मारने की दवा है आत्म विश्वास और कड़ी मेहनत। यह हमें सफल व्यक्ति बनाती है।' डॉ० कलाम का मूल दर्शन था-- 'जीवन एक जटिल खेल है। इनसान बने रहकर ही आप इसे जीत सकते हैं।' वैज्ञानिक प्रयोगों में तल्लीन कलाम के हाथ रुद्र वीमा पर भी देखते बनते थे। वे स्वर लहरियाँ जैसे उनके अंतस से निकलती थीं। सामाजिक जीवन उच्च स्तर पर उठाने के लिए अपना पूरा जीवन समर्पित करने वाले और सार्वजनिक जीवन में रहकर भी शुचिता बरतने वाले डॉ० कलाम की स्मृति को मैं उन्हीं की इन पंक्तियों से सलाम करता हूँ--

'अगर आप सूर्य की तरह चमकना चाहते हो, तो सूर्य की तरह जलना होगा।'

जननायक कर्पूरी ठाकुर : जिनकी छवि में साधारण जनता आज भी अपनी आकांक्षा का प्रतिरूप देखती है

एक पुरुषोत्तम व्यक्ति के संसार में जन्म लेने से बहुत जनों का हित होता है एवं बहुत जनों को सुख प्राप्त होता है। एकोसप्पुरिषों मिक्खवे लोके उप्पज्ज्मानों उपज्जति यानि बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।

स्वतंत्रता के पूर्व सन् 1942 के राष्ट्रीय आंदोलन और स्वतंत्रता-संग्राम की लड़ाई में देश के जिन महान देशभक्तों, समाजवादी नेताओं का योगदान रहा है उनमें से नए भारत के नए नेता के रूप में कर्पूरी ठाकुर जी भी एक हैं जिनका साधनामय लोकजीवन का शुभारंभ 1942 की अगस्त-क्रांति के साथ ही हुआ। इस क्रांति में सक्रिय भाग लेने के लिए कर्पूरी जी को दो वर्ष दो महीने के कारावास की सजा भुगतनी पड़ी। सन् 1948 में गाँधी जी के महाप्रयाण के बाद जयप्रकाश नारायण के प्रयास से काँग्रेस से अलग होकर जब काँग्रेस सोसलिस्ट पार्टी एक स्वतंत्र राजनीतिक दल के रूप में स्थापित हुई, तो कर्पूरी जी उसके सक्रिय सदस्य हुए और कालक्रम में समाजवादी दल के नेता के रूप में प्रख्यात हुए। किसान आंदोलन में भी उसी हैसियत से प्रमुख भूमिका निभाने की वजह से कर्पूरी जी को अनेक बार जेल भी जाना पड़ा। सन् 1942 से 1977 की अवधि में उन्हें सब मिलाकर बारह बार जेल की यंत्रणाएँ भुगतनी पड़ी। वे अनेक वर्ष तक काँग्रेस समाजवादी दल के सचिव रहे। कालांतर में जब समाजवादी दल प्रजा समाजवादी दल के रूप में परिवर्तित हो गया, तब कर्पूरी जी उसके भी सक्रिय सदस्य के रूप में प्रमुख भूमिका अदा की और सन् 1969 में वे अखिल भारतीय संयुक्त समाजवादी दल के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। सन् 1977 में लोकनायक जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के विकल्प के रूप में जब जनता पार्टी का गठन हुआ, तो कर्पूरी जी उस पार्टी में सम्मिलित हो गए। कुछ वर्ष बाद फिर भारतीय लोकदल की स्थापना होने पर कर्पूरी जी उसके राष्ट्रीय नेता के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

आजाद भारत में भारतीय संविधान के अनुसार पहली बार 1952 में आम चुनाव होने पर कर्पूरी जी समस्तीपुर जिले के ताजपुर विधनसभा क्षेत्र से विधायक चुने गए और तब से लगातार 1972 तक पाँच-पाँच

चुनावों में उसी विधानसभा क्षेत्र से निर्वाचित होते रहे। उसी दौरान सन् 1967 में काँग्रेस की हार होने पर महामाया प्रसाद सिन्हा के मुख्यमंत्रित्व काल में कर्पूरी जी संयुक्त विधायक दल की सरकार में उपमुख्यमंत्री के पद पर आसीन हुए और लगभग एक वर्ष तक शिक्षामंत्री एवं वित्तमंत्री के रूप में उन्होंने महत्त्वपूर्ण सेवाएँ की थी। सन् 1970 में पुनः काँग्रेसी मंत्रिपरिषद् के भंग होने पर कर्पूरी जी संयुक्त समाजवादी दल के नेता के रूप में बिहार में मुख्यमंत्री के पद पर प्रतिष्ठित हुए।

मई, 1974 में लोकनायक जयप्रकाश नाराण के आह्वान पर कर्पूरी जी बिहार विधानसभा की सदस्यता का परित्याग कर संपूर्ण क्रांति आंदोलन में सक्रिय योगदान किया। फिर जून, 1975 में प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी की सरकार ने जब देश भर में आपातकाल की घोषणा की, तब कर्पूरी जी ने भूमिगत होकर शासन विरोधी आंदोलन का संचालन कर अहिंसात्मक चरित्र का परिचय दिया। इस अभिनव प्रयोग के जरिए जुल्म के खिलाफ बग़ावत का यह शांतिपूर्ण तरीका अनूठा था। 25 जून 1975 को जब आपातकाल लागू हो गया, तो जयप्रकाश नारायण सहित विरोधी दल के कई नेता गिरफ्तार हुए। उस वक्त कर्पूरी जी पूर्णिया के एक सार्वजनिक कार्यक्रम में भाग लेकर राज विराज पहुँचे हुए थे, क्योंकि कर्पूरी जी ने गिरफ्तार होने की बजाय भूमिगत आंदोलन चलाने के लिए एक व्यापक और असरदार कार्यक्रम तैयार करना लाजिमी समझा और इसके तहत नेपाल के पास वीरपुर के निकट जंगल में उन्होंने एक सशस्त्र क्रांति की योजना तैयार की थी। प्रतिरोध की चेतना चलाने के लिए उन्होंने गुप्त रास्ते खोजे और व्यापक जन-संपर्क किया तथा विभिन्न तरीकों से जनता के भीतर उस मूल संघर्षशक्ति को उद्‌बुद्ध रखने का काम किया जिसका प्रतिफल यह निकला कि लोकसभा के चुनाव में मतदाताओं ने काँग्रेस के खिलाफ मतदान किया। सच कहा जाए, तो पूरे उन्नीस महीने की भाग-दौड़ अभाव और यातनाओं के बीच जिन नेताओं व कार्यकर्ताओं ने अपने-अपने क्षेत्र में संघर्ष के गुप्त कार्यक्रम किए, कर्पूरी जी उनके बीच एकता के सूत्र जैसे थे। 17 जून, 1975 को कर्पूरी जी नेपाल के राजविराज, हनुमाननगर, विराटनगर, चतरा आदि स्थानों का भ्रमण कर योजनाएँ बनाते रहे और बिहार में भूमिगत नेताओ और कार्यकर्ताओं से लगातार संपर्क बनाए रखा। जब पुलिस को उन्होंने नेपाल में उनके छिपे रहने की सूचना मिली, तो कर्पूरी जी नेपाल से भाग निकलने के लिए अपनी दाढ़ी-मूँछ का सफाया और सिर के बालों को भी

छोटा कराकर 5 सितंबर, 1975 की रात दस बजे लुंगी पहन भाग निकले और काठमांडू चले आए। फिर वहाँ से भी मोहन सिंह के नाम से 'थाई एयर वेज' का टिकट लेकर कोलकाता होते हुए मद्रास के लिए प्रस्थान किए, मगर कोलकाता के दमदम हवाई अड्डे से वे एक रिश्तेदार के घर पहुँचे और वहाँ से फिर वे मद्रास पहुँच कर मसानी, नानाजी देशमुख, स्नेहलता रेड्डी अच्युत पटवर्द्धन आदि से आपातकालीन स्थिति का विश्लेषण किया। वहाँ दस दिन रहने के बाद कर्पूरी जी बैंगलुरू चले गए। बंगलुरू में उनकी मुलाकात के० एस० हेगड़े, वीरेंद्र पाटिल देवरस, रामकृष्ण हेगड़े के अलावा कई राजनीतिक कार्यकर्ताओं से हुई। उन दिनों संघर्ष के दौरान विभिन्न विचार के लोगों के बीच जैसा सहयोग, सहचिंतन और स्नेह बढ़ रहा था वह भारत के विपक्षी रानीतिक इतिहास में अभूतपूर्व घटना थी। सभी आपसी वैमनस्य भूल गए थे तथा एक हो गए थे। इस सिलसिले में कर्पूरी जी मुंबई भी गए तथा वहाँ से फिर दिल्ली चले आए।

पटना पहुँचने पर कर्पूरी जी को गिरफ्तार कर फूलवारी शरीफ जेल भेज दिया गया। तेरह दिन के बाद उन्हें छोड़ दिया गया। फिर वे लोकसभा चुनाव की तैयारी में लग गए।

गौर वर्ण, नाटा कद, बलवान भुजाएँ, उन्नत ललाट, विशाल वक्ष, बड़ी-बड़ी चमकीली आँखें, बिखरे श्वेत केश, संयमित जीवन, निर्भीक दृष्टि, समदर्शी राष्ट्रीय चिंतन, मानवीय उत्थान की अटूट लालसा राजनीतिक के अतिरिक्त साहित्य-संस्कृति-कला के प्रति पूरी भारतीय निष्ठा, अध्ययन-मनन में अनवरत रुचि, मैत्री-निर्वाह, अनुकरणीय सहिष्णुता, विजय-पराजय में संतुलित स्वभाव, वैचारिक मतभेद में भी मानवीय सद्भाव जननायक कर्पूरी ठाकुर जी के व्यक्तित्व की विशेषता थी।

बिहार के समस्तीपुर जिले के पितौजिया गाँव के एक अत्यंत सामान्य नाई परिवार में 24 जनवरी, 1921 को जन्मे कर्पूरी जी का बचपन खेत-खलिहानों, आम-कटहल तथा बरगद-पाकड़ की सघन छाया में बीता। मिट्टी, पानी और खुली हवा के बीच पलने वाला शैशव पूरी तरह ग्रामीण-गंधी रहा। आखिर तभी तो अपनी बेटी का राँची जिले के तमाड़ नामक गाँव में अत्यंत सादगी के साथ विवाह कर बिहार के तत्कालीन मुख्यमंत्री कर्पूरी जी ने पूरे देश के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत किया था। निधनता से साक्षात्कार करने वाले कर्पूरी जी अपने कर्म के आधार पर वे ख्याति के उस शिखर पर पहुँचे, जहाँ सहज ही उनसे कोई ईर्ष्या कर सकता है।

उन्हें राजनीति विरासत में नहीं मिली थी, बल्कि राजनीति को ही उन्होंने अपने साथ चलना सिखलाया।

कर्पूरी जी की आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय थी कि एक बार जब वे इंटरमीडियट की परीक्षा के लिए शुल्क जमा करना चाह रहे थे, तो इनके अभिभावक के पास पैसे नहीं थे। इनके पिताजी दौड़े-दौड़े काफी समय तक केंद्र में मंत्री और मध्यप्रदेश के राज्यपाल पद पर रहे सत्यनारायण सिंह के पास पहुँचे और अपनी स्थिति से उन्हें अवगत कराया। सत्यनारायण सिंह जी ने उन्हें पैसा दिया और तब वे परीक्षा-शुल्क जमा कर सके। इस घोर निर्धनता में पले-बढ़े कर्पूरी जी निश्चित रूप से मौजूदा दौर की राजनीति और समाज में आदर्श और चुनौती हैं।

कर्पूरी जी की जिस कन्या से शादी हुई, वह दो बहन थी। बाद में जब एक बहन का स्वर्गवास हो गया, तो ससुराल की 10 कट्ठे जमीन जो इनकी पत्नी को होना था, किंतु कर्पूरी जी ने ससुराल के दूर के रिश्तेदारों में वह जमीन बाँट दी। कर्पूरी जी ने अपने छोटे-भाई रामस्वार्थ ठाकुर के द्वारा अपनी झोपड़ी बनाने के ख्याल से बनाई गई ईटों से कर्पूरी जी ने अपने गाँव में अपनी माँ और जयप्रकाश जी की धर्मपत्नी प्रभावती देवी के नाम पर रामदुलारी प्रभावती उच्च विद्यालय का निर्माण कराया, जिसे बाद में सरकार द्वारा अधिग्रहण कर लिया गया। इस विद्यालय में आज भी तकरीबन पाँच सौ लड़के-लड़कियाँ अध्ययन करती हैं। त्याग का इससे सुंदर उदाहरण शायद ही कहीं देखने या सुनने को मिले।

कर्पूरी जी की विनम्रता का एक और उदाहरण प्रस्तुत करने के लोभ का संवरण मैं नहीं कर पा रहा हूँ। मुझे बताया गया कि एक बार पूर्व केंद्रिय मंत्री सत्यनारायण सिंह जी के यहाँ एक संस्कार कार्यक्रम था जिसमें एक नाई की उपस्थिति आवश्यक थी। कर्पूरी जी के पिता जी की बुलाहट हुई। संयोग से उस वक्त घर में वे मौजूद नहीं थे। जब मंत्री जी के यहाँ से बुलाहट पर बुलाहट आने लगी, तो कर्पूरी जी स्वयं, जो वहाँ संयोग से गए हुए थे और उस वक्त वे बिहार के मुख्यमंत्री भी थे, एक झोले में दाढ़ी व बाल बनाने के सामान उन्होंने रखा और सत्यनाराण्या सिंह जी के घर पर जा पहुँचे। जब कर्पूरी जी ने सत्यनारायण सिंह जी से यह कहा कि अपने पिता जी के बदले वे ही इस दायित्व का निर्वहण करने को तैयार हैं, तो मंत्री जी उनकी विनम्रता देखकर आश्चर्यचकित हो गए और उनकी आँखों में आँसू आ गए। उन्होंने कर्पूरी जी को गले लगा लिया। इस प्रकार

एक अत्यंत निर्धन नाई परिवार में जन्म लेकर कर्पूरी जी ने अनेक विषम परिस्थितियों का सामना किया। जीवन के आरंभिक अवस्था से उनमें जो समानता की भूख जगी, उसमें आजीवन उनमें कमी नहीं आई।

जब वे जनता विधायक दल के नेता के रूप में राज्य के दूसरी बार 24 जून, 1977 को मुख्य मंत्री हुए, तो उन्होंने कहा "मैं एक आम आदमी की तरह कार्य करूँगा। बिना भेदभाव 'या अहं के।' इस ऐतिहासिक अवसर पर भी वे अपने स्वभाव के अनुरूप खादी की धोती, आधी बाँह का कुरता एवं चप्पल पहने हुए थे जो वे विगत 30 वर्षों से पहनते रहे थे। यही नहीं, उन्होंने अपने स्वभाव का परिचय तो तब दिया जब वे विधायक दल का नेता चुने जाने के तुरंत बाद पराजित उम्मीदवार के निवास स्थान पर मिलने गए। अगर उनमें थोड़ा भी अहम् होता, तो वे पराजित उम्मीदवार से मिलने नहीं जाते। आमतौर पर पराजित उम्मीदवार ही विजयी उम्मीदवार के पास जाता रहा है।

उनके मुख्य मंत्रित्व काल में प्रवेशिका तक की शिक्षा निःशुल्क कर दी गई। समता की भूख के अनुरूप कर्पूरी जी ने जातिवाद से त्रस्त राज्य बिहार में 128 पिछड़ी जातियों के लिए सरकारी नौकरियों में आरक्षण लागू किया। भूमि पर से अधिभार समाप्त किया और काम के लिए अनाज योजना लागू कर बिहार को सचमुच एक आदर्श राजय बनाने की कल्पना की गई।

डॉ० राममनोहर लोहिया ने वर्षों पहले राजनीति में वंशवाद का खात्मा चाहा था और उन्होंने तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू जी पर तीर का प्रहार किया था, मगर नेहरू परिवार में आजतक वंशवाद पनप रहा है और फल-फूल रहा है। हिंदुस्तान में कर्पूरी जी ही एक ऐसे राजनीतिज्ञ हुए जिनके जीवन काल में उनके परिवार का कोई भी सदस्य विधायक, मंत्री यहाँ तक कि जिला परिषद् का भी सदस्य नहीं हो सका।

सन् 1984 में कर्पूरी जी की पत्नी फलेश्वरी देवी के देहावसान के बाद उनके परिवार में दो पुत्र रामनाथ ठाकुर और डॉ० वीरेन्द्र के अतिरिक्त पुत्री रेणु कुमारी है। नीतीश कुमार के मुख्य मंत्रित्व काल में रामनाथ ठाकुर जनसंपर्क एवं विधिमंत्री हुए। फिर दूसरी पारी में रामनाथ जी को बिहार विधानसभा के चुनाव में पराजित होना पड़ा। दूसरे सुपुत्र वीरेन्द्र चिकित्सक हैं। वर्तमन भारतीय रानीति के राजनेताओं के लिए प्रेरणा का विषय है, जो राजनीतिक उपलब्धियों को अपने वंशवाद की विरासत समझते हैं।

मंत्री, मुख्यमंत्री होने के वाबजूद कर्पूरी जी ने न तो कोई महल खड़ा किया, न रेशम-पसमीना पहना और न कीमती कार खरीदी । ऐसा उदाहरण भारतीय राजनीति के नेताओं में विरले ही मिलेगा। पटना में रहने के कारण अनेक बार उन्हें सुनने का मौका तो मुझे मिला ही, गर्व का अनुभव मुझे इसलिए हुआ कि इस व्यक्तित्व का एक भी ऐसा बिहार में मुख्यमंत्री नहीं हुआ। हां भोला पासवान शास्त्री जी के व्यक्तित्व में कर्पूरी जी की सादगी, विनम्रता अवश्य देखने को मिली। जब-जब कर्पूरी जी से मेरी भेंट हुई, कार्यव्यस्तता के वाबजूद इनमें सौजन्यता की कमी मैंने कभी नहीं देखी।

कर्पूरी ने सन् 1952 में लेबनान, मिस्र, योगस्लाविया, इटली, फ्रांस, स्वीटजरलैंड, इंग्लैण्ड, प० जर्मनी तथा ऑस्ट्रेलिया में तीन महीनों तक की यात्रा करते रहे। पुनः 1959 में भी वे इजरायल, ग्रीस, इटली, हॉलैंड, बेलजियम, डेनमार्क, स्वीडेन, युगोस्लाविया और मिस्र गए। कई वर्षों तक लगातार भूख, गरीबी, बोरोजगारी, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक अन्याय के खिलाफ संघर्षरत रहने पर भी कर्पूरी जी में कभी कोई थकान नहीं, निराशा का भान नहीं। भारतीय राजनीति की लोक-सांस्कृतिक शैली को कर्पूरी जी ने कभी भी फूहड़ रास्ते से नहीं अपनाया। लोक-शैली में राजनीति करते हुए भी उन्होंने सच्ची आधुनिकताओं को गले लगाया और उन्हें अपनी आत्मा-व्यवहार में बसाया।

मेरी नजर में कर्पूरी जी मात्र एक व्यक्ति नहीं, बल्कि शोषितों, पीड़ितों और पिछड़ों के उत्थान के लिए एक संस्था बन गए, जिनका उद्देश्य इस देश की गरीबी का उन्मूलन और सामाजिक समता था। बिहार ही नहीं पूरे भारत की जनता इसके लिए उन्हें सदैव स्मरण करेगी और उनकी लोकप्रियता बनी रहेगी। कर्पूरी जी एक संगठित समाज की कल्पना कर रहे थे जिसमें छूआछूत, भेदभाव, आर्थिक विषमता तथा जाति के लिए कोई स्थान नहीं रहे। उनकी लड़ाई सदैव इन्हीं बुराइयों के खिलाफ रही। उन्होंने अपने जीवन में सामाजिक चेतना जागृत करने का प्रयास किया। साधारण जनता कर्पूरी जी की छवि में आज भी अपनी आकांक्षा का प्रतिरूप देखती है और अपने सुखमय भविष्य के सपनों को साकार होने की संभावना का शक्ति-संपन्न स्रोत समझती है। सन् 1952 से जीवन-पर्यंत लगातार नौ बार विधानसभा में निर्वाचित होने वाले कर्पूरी जी ने देश में एक कीर्तिमान स्तंभ स्थापित किया, जिसपर आज भी बिहार की जनता को गर्व है।

युगल किशोर चतुर्वेदी :
जो जीवन पर्यंत जीवन मूल्यों और सामाजिक सरोकारों के लिए संघर्षरत रहे

शौर्य, बलिदान और पराक्रम की पुण्यसलिला धरती राजस्थान सदा से ही महान विभूतियों एवं युग-पुरुषों को प्रादुर्भूत करती आई है। देश के स्वतंत्रता संग्राम से लेकर आधुनिक भारत के निर्माण में इस राज्य की महान विभूतियों एवं मनीषियों का अभूतपूर्व योगदान रहा है। उनके अथक प्रयास, अपूर्व ज्ञान तथा सत्यमय वाणी से जन-जन में नवजीवन का संचार हुआ है तथा मानव के सुसुप्त मस्तिष्क को उद्वेलित कर उन्हें अपने ज्ञान-आलोक की अनुपम रश्मियों से आलोकित किया है। इन्हीं विभूतियों कीशृँखला में थे पं० युगल किशोर चतुर्वेदी, जिन्होंने अपने सार्वजनिक जीवन में जिस सात्विक कठोर साधना के बल पर जो विमल यश एवं अनुपम गौरव अर्जित किया था, वह उनके विशाल व्यक्तित्व का स्वच्छ प्रतिबिंब है। सार्वजनिक जीवन के संघर्ष में निरंतर निरत रहते हुए जिस असाधारण धीरता और गंभीरता के साथ उन्होंने अपने गुरुत्तर दायित्वों का पालन सद्‌भाव से किया, वह वर्तमान युग में नितांत दुर्लभ है। उन्होंने जीवन पर्यंत जीवन मूल्यों और सामाजिक सरोकारों के लिए संघर्ष किया। सन् 1939 से लेकर 1947 में भारत के स्वाधीन होने के बाद तक का उनका जीवन घोर संघर्ष, मुश्किलों और भीषण चुनौतियों से परिपूर्ण रहा। उन्हें इस दौरान राजनीति के साथ-साथ आर्थिक मोर्चे पर भी जूझना पड़ा।

मथुरा जिले के ऐतिहासिक कस्बा सौख में 9 नवंबर, 1904 को चौबे मक्खनलाल के घर जन्में युगल किशोर चतुर्वेदी पर अपने उदारवादी एवं विघनुरागी पिता के विचारों और बचपन के संस्कारों का प्रभाव पड़ा था। उनके पिता चौबे मक्खनलाल जी भरतपुर रियासत की कुम्हेर तहसील के अंतर्गत कई गाँवों के पटवारी थे, पर अपनी सदाशयता, उदार विचारों, सुधारात्मक प्रवृत्ति के लिए वे पूरे क्षेत्र में प्रख्यात थे। उन्होंने अपने अंचल को पशुबलि आदि कई कुरीतियों से मुक्त कराया था। वे एक सरल सेवाभावी, धर्मपरायण व्यक्ति थे। अपने आत्मज युगल किशोर चतुर्वेदी की अभिरुचि को लक्ष्य कर वे 'संस्कृत शिक्षक', 'विदुरनीति', 'भृर्त

हरिशतक' आदि शिक्षा परक पुस्तकें अनुशीलनार्थ उन्हें लाकर दिया करते थे। पं० चतुर्वेदी जी में सार्वजनिक जीवन और पत्रकारिता के आरंभिक संस्कार उसी के अनुशीलन से उद्भुत हुए थे। चतुर्वेदी जी का रूझान बचपन से ही 'आल्हा उदल' की गाथा और अमर सिंह राठौड़ के वीरतापूर्ण कारनामों के किस्सों को सुनने-पढ़ने में विशेष अभिरुचि थी।

तत्कालीन राष्ट्रीयता की लहर से प्रभावित होकर पं० चतुर्वेदी जी छात्रावस्था से ही उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार प्रारंभ कर दिया था। वे शादी के वस्त्र छोटी उम्र में ही धारण करने लगे थे। गाँधी जी के चित्रों से युक्त टोपी पहनकर उन्होंने राष्ट्रीय चेतना का परिचय दिया। उनकी प्रारंभिक एवं हाई स्कूल तक की शिक्षा भरतपुर में ही हुई। फिर आगे की शिक्षा के लिए वे जयपुर आ गए।

जयपुर में न केवल चतुर्वेदी जी ने कॉलेज की शिक्षा ग्रहण की, बल्कि सार्वजनिक जीवन का प्रशिक्षण भी उन्होंने यहीं प्राप्त किया। वहाँ रहकर वे मथुरा से प्रकाशित पत्रिका 'माथुर हितैषी' में समाज-सुधार तथा संगठन संबंधी लेख लिखते थे। चतुर्वेदी जी बाल्यकाल से ही आर्य समाज से जुड़ गए थे जिसका संस्कार उनपर काफी जमा। उनकी इन शिक्षेतर सार्वजनिक कार्यों में सक्रियता का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि वे एफ. ए. की परीक्षा में सफल नहीं हो पाए। महाविद्यालयीय अध्ययन को अधूरा छोड़कर पुनः जयपुर से मथुरा आ गए और स्थानीय माथुर चतुर्वेदी विद्यालय में प्रधानाध्यापक के पद पर नियुक्त हो गए। वहाँ उन्होंने विद्यालय के शैक्षिक के साथ-साथ धार्मिक व आध्यात्मिक विकास की ओर विशेष ध्यान दिया। छात्र, अध्यापक सभी को सदाचारी, अनुशासनबद्ध होने की उन्होंने प्रेरणा दी। अपने सत्यप्रयासों से उन्होंने उस विद्यालय में रहते हुए भी सन् 1930 के 'सविनय आवज्ञा' तथा नमक सत्याग्रह आंदोलन में चतुर्वेदी जी ने सपत्नीक भाग लिया और सभा, जुलूस, प्रदर्शनों का आयोजन किया तथा पत्र-पत्रिकाओं में तत्संबंधी समाचार भेजकर महत्त्वपूर्ण दायित्व का निर्वहण किया। उनकी पत्नी प्रियवंदा जी महिलाओं के जत्थे में सम्मिलित होकर विदेशी वस्त्रों तथा शराब की दुकानों पर धरना देती थीं। इसी बीच कुछ माह तक चतुर्वेदी जी ने रेलवे में भी नौकरी की, किंतु स्वतंत्रचेता चतुर्वेदी जी को वहाँ का वातावरण रास नहीं आया, क्योंकि वहाँ के एक अँग्रेज अधिकारी, जो काँग्रेस का कट्टर विरोधी था, को चतुर्वेदी जी का खादी पहनना पसंद नहीं आता था। अपने अँग्रेज अधिकारी का ऐसा आचरण उन्हें नागवार लगा

था पर वे किसी तरह प्रतिवाद करते, उससे पूर्व ही उनका पद देशव्यापी छंटनी में समाप्त हो गया। बेकारी से जूझते हुए चतुर्वेदी जी को मथुरा के माथुर चतूर्वेदी विद्यालय के व्यवस्थापकों ने उन्हें पुन: प्रधानाध्यापक का पद देने की पेशकश की, पर अपने स्वाभिमानी स्वभाव के अनुरूप उन्होंने विनम्रतापूर्वक प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। फिर वे रिवाड़ी जाकर ट्यूशन करने लगे। ट्यूशन कार्य इतना बढ़ा कि उसमें उन्हें प्रात: 7 बजे से रात्रि 10 बजे तक व्यस्त रहना पड़ता तथा प्रतिदिन तकरीबन 10 मील पैदल भी जाना-आना पड़ता था। कहा जाता है कि ऐसी व्यस्तता के बावजूद उन्होंने सार्वजनिक गतिविधियों से नाता नहीं तोड़ा। स्थानीय आर्यसमाज के सभासद, मंत्री के रूप में वे उसके कार्यक्रमों में भाग लेते रहे और नागरी प्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में आयोजित कार्यक्रमों में भाग लेकर हिंदी के प्रचार-प्रसार में उन्होंने भरपूर योगदान दिया।

सन् 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के वक्त जब प्रजा परिषद ने भरतपुरा में पूर्ण हड़ताल की घोषणा की, तो चतुर्वेदी जी को हड़तालियों का नेतृत्व करते हुए गिरफ्तार किया गया और उन्हें केंद्रीय जेल में भेज दिया गया।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में हुए अनेक परिवर्तन में देशी राज्यों के एकीकरण और उन्हें राष्ट्र की मुख्य धारा में लाने के लिए तत्कालीन गृहमंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में देश के विभिन्न क्षेत्रों के राज्य-रजवाड़ों को मिलाकर संघों के निर्माण का जब नीतिगत निर्णय लिया गया, तो उसके अनुरूप अलवर, भरतपुर, धौलपुर, करौली राज्यों को मिलाकर मत्स्य संघ का निर्माण किया गया। श्री हीरालाल शास्त्री की सरकार के त्याग पत्र के बाद प्रदेश काँग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष जयनारायण व्यास जी को जब राज्य की बागडोर सौंपी गई, तब चतुर्वेदी जी को राज्य सरकार में सार्वजनिक निर्माण तथा शरणार्थियों के पुनर्स्थापन का गुरुतर भार सौंपा गया। परंतु जब नवस्थापित राज्य की विधानसभा का चुनाव हुआ, तो चतुर्वेदी जी उसमें सफल नहीं हो सके। इस स्थिति में उन्हें पुन: प्रदेश काँग्रेस का प्रधानमंत्री मनोनीत किया गया और प्रमुख दैनिक 'राष्ट्रदूत' के वे संपादक भी बने। दोनों महत्त्वपूर्ण पदों के दायित्व को चतुर्वेदी जी ने वर्षों तक सफलतापूर्वक निर्वहण किया। फिर 1956 में काँग्रेस ने उन्हें राज्यसभा के लिए प्रत्याशी बनाया, किंतु राजनीतिक कुचक्रियों के षड्यंत्र की वजह से चतुर्वेदी जी केवल एक मत के अंतर से राज्यसभा में प्रवेश करने से वंचित

रह गए। वर्ष 1957 में हुए राज्य विधानसभा के चुनाव में पं० चतुर्वेदी जी पहली बार विधायक चुने गए। सातवें दशक की शुरुआत में तीन दशक से अधिक तक के घनिष्ठ संबंध के पश्चात् चतुर्वेदी जी ने गुटबंदियों और दिनोदिन बढ़ रहे भ्रष्टाचार व पक्षपातपूर्ण कार्यों से हताश होकर काँग्रेस से त्याग पत्र दे दिया और राजनीति, समाज, संस्कृति को भ्रष्ट और प्रदूषित करने वाली प्रवृत्तियों के विरूद्ध जनजागरण का मोर्चा खोल दिया।

स्वतंत्रताकालीन मूल्यों की अवहेलना और जीवन में नैतिकता के ह्रास से चुतर्वेदी जी बहुत चिंतित और क्षुब्ध रहने लगे। मूल्यहीन राजनीतिक त्याग करने पर सहधर्मिणी प्रियंवदा के सुझाव को ध्यान में रखते हुए चतुर्वेदी जी ने विस्मृत होते गाँधीवादी मूल्यों और विचारधारा के प्रचार-प्रसार के लिए 'लोक शिक्षक' नाम्नी पाक्षिक पत्रिका प्रकाशित करने का निर्णय लिया। इस अनुष्ठान की प्रेरणा देने वाली प्रियंवदा जी 1973 में असाध्य रोग से पीड़ित हो गईं और मई, 1974 में स्वर्ग सिधार गईं। चतुर्वेदी जी को अपनी जीवनसंगिनी के विछोह से भीषण आघात् लगा। राजनीति से विराम लेने के बाद उनके जीवन में आई शून्यता को 'लोक शिक्षक' ने ही कुछ अंशों में पूरा किया था। जीवन पर्यंत चतुर्वेदी जी सामाजिक सरोकारों, राष्ट्रीय मुद्दों की लड़ाई 'लोक शिक्षक' के माध्यम से ही लड़ते रहे और अपनी प्रतिभा और परिश्रम से इस पत्रिका को अखिल भारतीय स्वरूप और स्तर प्रदान किया। उनकी लेखनी और वाणी अंत तक क्षीण, दुर्बल या ठकुरसुहाती नहीं हुई, उनके तेवर कभी ठण्डे नहीं पड़े। मगर एक सच्चे कर्मयोगी का जीवन जीने वाले चतुर्वेदी जी 23 जून, 1994 को 90 वर्ष की उम्र में अकस्मात् दुर्घटनावश अत्यधिक दग्ध हो जाने की वजह से उनका महाप्रयाण हो गया। मै इस माने में अपने को सौभाग्यमान मानता हूँ कि चतुर्वेदी जी द्वारा संपादित 'लोक शिक्षक' पत्रिका का मैं नियमित रूप से पाठक हूँ, क्योंकि चतुर्वेदी जी के सुपुत्र प्रो० (डॉ०) सत्येन्द्र चतुर्वेदी, जो इसके संपादक का दायित्व संभाल रहे हैं के सौजन्य से यह पत्रिका मुझ तक पहुँच रही है। स्व० चतुवेदी जी की पुत्रवधु राज चतुर्वेदी जी मेरे हर कदम के साथ हैं और वे दोनों भी अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों का निर्वहण बखूबी कर रही हैं।

राजनीति और समाज की विद्रूपताओं, विसंगतियों पर निरंतर अपनी लेखनी चलाने वाले और जीवन पर्यंत जीवन मूल्यों और सामाजिक सरोकारों के लिए संघर्षरत रहे युगल किशोर चतुर्वेदी जी आज

हमारे बीच नहीं हैं, किंतु ऐसे अमर स्वतंत्रता सेनानी, हिंदी के परम उपासक स्वनाम धन्य चतुर्वेदी जी के महान व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रेरणा लेनी की परमावश्यकता है, क्योंकि प्रेरणा से हमारी जर्जर व्यवस्था और नि:सत्व करने वाली अनैतिकता पर करारा प्रहार करेगी।

अमर स्वतंत्रता सेनानी, हिंदी के परम उपासक, स्वनामधन्य पं० युगल किशोर चतुर्वेदी की जन्म शती के अवसर पर जयपुर के परमानंद हॉल में एक समारोह आयोजित किया गया। इस अवसर पर राजस्थान के तीन पूर्व मुख्यमंत्री श्री शिवचरण माथुर, हीरालाल देवपूरा और जगन्नाथ पहाड़िया के सान्निध्य में पं० युगल किशोर चतुर्वेदी को भावभीनी श्रद्धाँजलि अर्पित की गई। नगर के अनेक गणमान्य व्यक्तियों में प्रसिद्ध साहित्यकार, हिंदी प्रेमी, न्यायविद् तथा पत्रकार समारोह में उपस्थित थे। पं० युगल किशोर चतुर्वेदी के योग्य सुपुत्र एवं सुपुत्री तथा परिवार के अन्य सदस्यों द्वारा आयोजित इस समारोह में वक्ताओं में पं० युगल किशोर चतुर्वेदी जी के बहुआयामी व्यक्तित्व का स्मरण करते हुए स्वतंत्रता संग्राम में उनकी उल्लेखनीय भूमिका को भावप्रवणता से रेखांकित किया। सभी वक्ताओं ने माना कि आज के परिदृश्य में पं. युगल किशोर चतुर्वेदी जी जैसे महान व्यक्तित्व की परमावश्यकता है। जीवन पर्यन्त जिन जीवन मूल्यों और सामाजिक सरोकारों के लिए वे संघर्षरत रहे, उन्हीं मूल्यों की रक्षा तथा आचरण से ही राष्ट्र प्रेम को सुनिश्चित किया जा सकता है। राजस्थान के बीकानेर स्थित अभिलेखागार में सुरक्षित रियासतकालीन विस्तृत दस्तावेज की निम्नांकित पंक्तियों को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर मैं तहेदिल से पं० युगल किशोर चतुर्वेदी जी की स्मृति को प्रणाम करता हूँ--

"चौबे युगल किशोर उन व्यक्तियों में से हैं जो शांत, बहिरंग के भीतर सुलगता हुआ ज्वालामुखी होते हैं . . . . . . ऊपर से शांत, साध मना संत दिखते हुए चौबे युगल किशोर एक विध्वंसकारी तूफान हैं।"

विश्वनाथ प्रताप सिंह : जिन्होंने राजनीति में शुचिता और पारदर्शिता लाने की कोशिश की

भारतीय राजनीति में बहुत कम ऐसे राजनेता हैं जो अपनी पहचान जनता के बीच बनाने में कामयाब होते हैं, मगर मंडल आंदोलन के मसीहा माने जाने वाले विश्वनाथ प्रताप सिंह ने गठबंधन की राजनीति का प्रयोग कर संयुक्त मोर्चा सरकार की अगुआई करने के साथ ही भारतीय राजनीति में अपना एक अलग मुकाम हासिल किया और नेहरू युग के अवसान के बाद उभरे राजनेताओं में इंदिरा गाँधी और जय प्रकाश नारायण के बाद उन्होंने एक इतिहास बनाने का श्रेय प्राप्त किया। सच कहा जाए, तो इंदिरा गाँधी की राजनीति अगर प्रत्यक्ष लोकतंत्र की प्रवृत्तियों की वाहक थी, तो जय प्रकाश नारायण ने संपूर्ण क्रांति आंदोलन के जरिए हमारे लोकतंत्र की सीमाओं की आलोचना प्रस्तुत की, मगर विश्वनाथ प्रसाद सिंह ने जाने-अनजाने जो कुछ किया उससे लोकतंत्र और भारतीय समाज के संबंध अंतिम तौर पर बदल गए। इस लिहाज से लोकतंत्र पर उनकी छाप अधिक स्थायी साबित हुई।

यह कहना यथोचित होगा कि विश्वनाथ प्रताप सिंह के व्यक्तित्व का एक पक्ष अपने निजी आचरण के जरिए दलगत राजनीति और शासन प्रक्रिया में शुचिता और पारदर्शिता लाने की कोशिश करता रहता था। जब व्यवस्था के निहित स्वार्थ बाधाएँ डालने लगते थे, तो उन्हें त्यागपत्र देने में देर नहीं लगती थी। आपको याद होगा उत्तर प्रदेश के अपने मुख्यमंत्री के कार्यकाल में जब उन्होंने दस्यु उन्मूलन अभियान चलाया था, तो तत्कालीन विपक्ष ने उनके खिलाफ एक जबर्दस्त आंदोलन चलाया था। जब उन्हें लगा कि डकैत विरोधी मुहिम की वजह से पिछड़े वर्ग के युवकों को कई स्थानों पर फर्जी मुठभेड़ों का शिकार होना पड़ रहा है, तो उन्होंने त्यागपत्र देने की ठानी। तभी डाकुओं ने उनके न्यायाधीश भाई को गोलियों से भून डाला। नतीजा यह निकला कि उनके त्याग पत्र को उसी दुखद घटना से जोड़कर देखा जाने लगा। इससे उनके व्यक्तित्व की चमक कुछ दिनों के लिए मंद जरूर हुई, पर दोबारा सत्ता का संसर्ग मिलते ही उन्होंने अपना आभामंडल फिर से प्राप्त कर लिया।

इसी प्रकार वी. पी. सिंह के व्यक्तित्व से जुड़े कई ऐसे संस्मरण हैं, जो इनके व्यक्तित्व की विशेषताओं को उजागर करते हैं। उदाहरण

के तौर पर लिया जाए तो देखते हैं कि राजीव गाँधी के नेतृत्व में बनी केंद्र सरकार में जब वी. पी. सिंह वित्त मंत्री बने तो उन्होंने बड़ी पूँजी के अलंबरदारों के सामने विकल्प प्रस्तुत किया कि अगर वे कानून का पालन नहीं करते, तो उन्हें जेल जाना पड़ेगा। नतीजा यह हुआ कि जिन उद्योगपतियों ने उनकी बात पर ध्यान न देते हुए उसे साधारण ढंग से लिया उन्हें प्रवर्तन निदेशालय, थाना, हवालात और जेल का सामना करना पड़ा। जाहिर है ऐसा व्यक्ति अधिक दिनों तक वित्त मंत्री नहीं रह सकता था। मगर राजीव गाँधी ने जिसं वी. पी. सिंह को वित्त मंत्रालय से हटाकर रक्षा मंत्री बनाया, उसी के फैसलों की वजह से राजीव जी की अपनी राजनीतिक साख ही सांसत में पड़ गई। रक्षा मंत्री की हैसियत से वी. पी. सिंह ने रक्षा सौदों में भ्रष्टाचार का सवाल उठाया। एच.डी. डब्ल्यू. पनडुब्बी और बोफोर्स तोप सौदे में कमीशनखोरी के प्रकरण सामने आते ही देश का राजनीतिक माहौल बदल गया। फिर क्या था विश्वनाथ प्रताप सिंह को काँग्रेस छोड़नी पड़ी और वे विपक्षी राजनीति के केंद्र बन गए। इलाहाबाद से ऐतिहासिक उपचुनाव जीतने के बाद उन्होंने जो राजनीति की उसके नतीजे के तौर पर उन्हें प्रधानमंत्री का पद तो मिला ही, एक पार्टी के तौर पर काँग्रेस के चालीस साल के वर्चस्व का अंत हो गया।

ठीक इसी प्रकार मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने का वी. पी. सिंह का फैसला युगांतकारी इस माने में साबित हुआ कि उनकी आवाज़ एक आमूल और जनोन्मुख आवाज़ थी और उनकी राजनीति परिवर्तन की सूचक थी। इस निर्णय के बारे में वे अक्सर कहा करते थे कि उनकी टांग भले ही टूट गई हो, किंतु गोल करने का श्रेय उनसे कोई नहीं ले सकता। मंडल आयोग की सिफारिश लागू होने के बाद इसके मुकाबले कमंडल रूपी रामजन्मभूमि आंदोलन का अस्त्र चलाया गया। नतीजतन देश की राजनीति सांप्रदायिकता और धर्मनिरपेक्षता की विचारधाराओं में बँटती चली गई। पिछड़ों को आरक्षण देने के कारण सवर्णो के अनुदारवादी तत्व उनसे नाराज़ हो गए और बाद में उन्होंने न केवल सरकार खोई, बल्कि एक वोट आकर्षित करने वाले नेता के तौर पर अपना काफी नुकसान किया। मगर सामाजिक समरसता के लिए किए गए उनके प्रयास तथा उनके योगदान को नहीं भुलाया जा सकता है। पिछड़े और सामाजिक एवं शैक्षणिक रूप से वंचित लोगों में वे सदैव याद किए जाएँगे, क्योंकि उन्हें समाज की मुख्यधारा से जोड़ने तथा अग्रणी भूमिका में स्थान लेने के लिए उन्होंने प्रेरित किया।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मंडल कमीशन की

सिफारिशों को लागू करने से न केवल मध्यवर्गीय परिवारों को जीने की नई राह मिली, बल्कि अमीरी-गरीबी के बीच खाई कम हुई और भारत के लोकतांत्रिक ढाँचे के लिए वी. पी. सिंह का यह फैसला मील का पत्थर साबित हुआ। साथ ही पिछड़े वर्ग को राजनीति में जगह मिली, जिसे कभी राजनीति का हिस्सेदार माना ही नहीं गया। इसी का नतीजा है कि अनुसूचित जाति और जनजाति के बीच भी जागरूकता का नया दौर प्रारंभ हुआ और वी. पी. सिंह देश की राजनीति में एक नया मोड़ देने वाले साबित हुए।

मांडा के राजा बहादुर रामगोपाल सिंह और श्रीमति बृजराज कुँवर के परिवार में 25 जून, 1931 को उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद में जन्में विश्वनाथ प्रसाद सिंह सन् 1969-71 ई. तक उत्तर प्रदेश विधानसभा के सदस्य रहे और फिर 1971 में वे पाँचवीं लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए। फिर 1980 ई. में उन्होंने उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री का पद संभाला और इस पद पर वे 1982 तक रहे जिसके बाद 1983 से 1988 तक राज्य सभा के सदस्य भी रहे और 1984 से 1987 तक राजीव गाँधी के प्रधानमंत्रित्वकाल में वे वित्त मंत्री तथा 1987 में रक्षा मंत्री रहे। वी. पी. सिंह 5 दिसंबर, 1989 से 10 नवंबर, 1990 तक देश के प्रधानमंत्री रहे। पिछले दो दशक से भारतीय राजनीति की दशा और दिशा बदलने वाले विश्वनाथ प्रताप सिंह लंबी बीमारी के बाद 77 वर्ष की उम्र में पिछले 4 दिसंबर, 2008 को दिल्ली के अपोलो अस्पताल में जिंदगी की जंग हार गए। वे पिछले 17 साल से रक्त कैंसर से पीड़ित थे। गाँव की पाठशाला के बाद वाराणसी के क्विंस कॉलेज और यू.पी. कॉलेज की शिक्षा प्राप्त करने के बाद वी.पी. सिंह ने पूरब के ऑक्सफोर्ड इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा ग्रहण की। वे इलाहाबाद छात्र संघ के उपाध्यक्ष भी रहे। मांडा के राजा से चर्चित विश्वनाथ प्रताप सिंह के परिवार में उनकी पत्नी और दो पुत्र अजेय और अभय हैं।

भ्रष्टाचार का उन्मूलन हो सके, इसके लिए विश्वनाथ प्रताप सिंह किसी के भी सामने मजबूती से खड़े हो सकते थे। यूँ तो भारतीय राजनीति में इधर पिछले दो दशक से काफी गिरावट आई है और भ्रष्टाचार पनपा है, फिर भी ईमानदार लोगों की संख्या भी है, पर बेईमानी और भ्रष्टाचार के खिलाफ मोर्चा खोलने वाले सीमित लोगों में वी.पी. सिंह सर्वोपरि थे। उन्हें सत्ता, संपत्ति से मोह नहीं था। विरासत में उन्हें पारिवारिक धन-दौलत तो मिली थी, किंतु उसे उन्होंने मुड़कर भी नहीं देखा। छात्र जीवन में ही वाराणसी में पढ़ाई करते वक्त उनके पूर्वजों ने पांडेयपुर मुहल्ले

में एक विशाल भवन लंबे परिक्षेत्र में बनाया था। उस भवन परिसर की देखरेख करने वालों ने उस पर कब्जा कर लिया। उस समय वी. पी. सिंह उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री थे। चाहते, तो उसे कुछ ही देर में खाली करा सकते थे, किंतु उन्होंने कभी ताकत का इस्तेमाल कर उस घर को खाली कराने के बारे में नहीं सोचा। यही उनकी व्यक्तित्व की एक बहुत बड़ी विशेषता थी। जिस किसी भी क्षेत्र से वी. पी. सिंह ने चुनाव लड़ा, वहाँ जातियों की सीमाएँ टूट जाती थीं। वह सामंती अहंकार को तोड़, सुख-वैभव को छोड़ सामान्यजन से उन्हीं की भाषा और उनके तौर-तरीके से उन्हीं के बीच के हो जाते थे। 1989 के मई-जून की तपती धूप में भी पूरा चुनाव अभियान उन्होंने मोटर साइकिल पर सवार होकर चलाया।

विश्वनाथ प्रताप सिंह की इसी संवेदना से जुड़े संस्मरण यहाँ प्रस्तुत करने के लोभ का संवरण मैं नहीं कर रहा हूँ पिछले एक दशक से दिल्ली में रहने की वजह से मुझे उनके कार्यक्रमों में उपस्थित होने तथा उन्हें सुनने-समझने का अनेक बार अवसर मिला जिसमें से एक कार्यक्रम की चर्चा करना मैं लाजमी समझता हूँ। घटना कुछ वर्ष पहले की है। नई दिल्ली के विष्णु दिगंबर मार्ग स्थित हिंदी भवन में भारत के पूर्व प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री के जन्म दिवस-समारोह के अवसर पर एक अखिल भारतीय कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया था जिसमें देशभर के जाने-माने कवि तो उपस्थित थे ही, मंच पर देश के पूर्व प्रधानमंत्री तथा साहित्यकार व कवि विश्वनाथ प्रताप सिंह भी उपस्थित थे। इनके अतिरिक्त शास्त्री जी के परिवार के सदस्यों में उनके सुपुत्र तथा अन्य कई लोग शामिल थे। मैं भी अपने सहयोगी तथा 'विचार दृष्टि' के सहायक संपादक उदय कुमार 'राज' के साथ वहाँ उपस्थित था। कार्यक्रम लगभग पाँच घंटे तक चला। देखा शास्त्री जी के परिवार के सदस्य बीच में ही उठकर चले गए, किंतु वी. पी. सिंह अंत तक मंच पर बैठे रहे और उन्होंने जो कविता सुनाई वह सभी श्रोताओं के दिल को छू गई इसलिए कि वह शास्त्री जी के व्यक्तित्व व कृतित्व से जुड़ी थी। सभी श्रोताओं की आँखों में आँसू भर आए और सभागार में सन्नाटा-सा छा गया। शास्त्री जी के प्रति श्रद्धा व सम्मान का भाव सभी के दिल में भर आया। कवि वी. पी. सिंह के द्वारा प्रस्तुत कविता की पंक्तियों का स्मरण कर मैं आज भी भाव विह्वल हो जाता हूँ। ऐसा था विश्वनाथ प्रताप सिंह का कवि-मन। ऐसे कवि-मन विश्वनाथ प्रताप सिंह के प्रति मैं अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

राजनारायण :
जिनका नारा था-'मारेंगे नहीं, पर मानेंगे नहीं'

समाजवादी आंदोलन के प्रणेता डॉ. राम मनोहर लोहिया के आदर्श व सिद्धांत पर चलने वाले राजनारायण लोहिया के जीवन काल में कई ऐतिहासिक सत्याग्रह और आंदोलन किए थे। उदाहरण के तौर पर सन 1956 में काशी विश्वनाथ मंदिर में दलित प्रवेश आंदोलन, रानी विक्टोरिया की काशी में लगी मूर्ति भंजन आंदोलन, गरीबों को रोटी दिलाने के लिए उत्तर प्रदेश विधानसभा में किया गया सत्याग्रह, जोतने वाले खेत को खेत का मालिक बनाने, बिना मुनाफा खेती की लगान माफी का आंदोलन आदि। सच तो यह है कि जहाँ भी नौजवान आंदोलन करते थे राजनारायण अविलंब बगैर बुलावे के पहुँच जाते और उनकी लड़ाई खुद लड़ते थे।

भारतीय राजनीति का यह अलबेला राजनेता राजनारायण शादीशुदा होने के बावजूद वह परिवार के बंधनों से मुक्त थे और काशी के साधु की सधुक्कड़ी उनकी जिंदगी थी। चलते-फिरते आंदोलन के रूप में सुपरिचित नेता राजनारायण की जन्मशती 23 नवम्बर, 2017 के दिन हम देशवासियों के साथ इसलिए मना रहे हैं कि जिस शख्स ने समाजवादी आंदोलन का झंडा सदैव अपने जीवन में बुलन्द किया वह समाजवाद और डॉ. लोहिया के प्राय: अधिकांश शीर्ष नेता मौजूदा दौर की भारतीय राजनीति में अप्रासंगिक हो गए हैं। अप्रासंगिक ही नहीं समाजवाद के आदर्शों व सिद्धांतों पर चलने वाले ज्यादातर नेता वंशवाद और परिवारवाद के पोषक तो दिख ही रहे हैं जातिवादी और भ्रष्टाचार के दलदल में भी फँसते नजर आ रहे हैं। ऐसे वक्त राजनारायण जी को याद करना इसलिए लाजिमी है, क्योंकि वह जन्म से अधिक कर्म के रिश्तों को बनाते और निभाते थे। संपत्ति और संतति के विभोही राजनारायण का जीवन भक्तिकाल के संत कबीर और छायावाद के कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' जैसा था। खादी का कुर्ता-धोती और सिर पर लाल या हरा साफा, हाथ में लकुठि-यही राजनारायण जी की पहचान थी। सत्याग्रह और आंदोलनों की निरंतरता के दस्तावेज राजनारायण के लोकशाही के चार लक्षणों में थे- लोकभाजन, लोकभाषा, लोकभूषा और लोकभवन।

20वीं सदी के औगढ़ बनारसी राजनारायण ने इस देश में एक विचित्र शैली हड़बोंग की राजनीति का दिग्दर्शन कराया था जिसका

किसी शब्दकोश में अर्थ नहीं मिलेगा, क्योंकि उनके शब्द विचित्र होते थे। जैसे वे चिरकुट, फेंचट, सुल्फियाना, डेमोगाग, छैला, हड़बोंग, बकुलिया, झबरी, लंगड़ी बिलार आदि शब्दोंवाले मुहावरें बोलते थे। नहाना-शौच छोड़कर उनका कुछ भी निजी नहीं था। रात में भी वह अपना दरवाजा खुला रखते थे। चलते-चलते गाड़ी रोककर वह कार्यकर्ता से मिल लेते थे। फोन करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता था। इंदिरा गाँधी को छोड़कर उनसे किसी को भी फोन करवा लिया जाता था।

इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में बनी केंद्र सरकार के मंत्री राजनारायण के नाम पर मुँह विचकाते थे, मगर राजनारायण से बात होने पर उनकी बात मंत्री काटते नहीं थे। कमलापति त्रिपाठी से तो वे बड़े अधिकार के साथ बात करते थे। दोनों के संबंध विरोधी होते हुए भी आत्मीय थे। एक बार दिल्ली के एक प्रसिद्ध वकील के बेटे को पाकिस्तान का वीजा नहीं मिल पा रहा था। वे आए और राजनाराण जी से अपनी मुश्किल का बयान किया। राजनारायण जी ने सुनाकर कहा- जिया उल हक को फोन लगाओ और मुझसे बात करवाओ। उसके थोड़े ही देर बाद पाक के राष्ट्रपति फोन लाइन पर। राजनारायण बोले, जिया भाई, यह हमारे दोस्त हैं। इनके बेटे को वीजा नहीं मिल रहा है। बस फिर क्या था, एक घंटे के अन्दर पाकिस्तान दूतावास से फोन आ गया और वीजा बन गया। आज की भारतीय राजनीति की जो मौजूदा स्थिति है, अब भला आप ही बताइए कौन करेगा अपने साथी के लिए फोन इतनी धमक के साथ?

आज दिनांक 23 नवम्बर, 2017 से सौ साल पहले 23 नवम्बर, 1917 को बनारस में गंगापुर के मोतीकोट में जन्में राजनारायण ने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से बीए, एल.एल.बी. की पढ़ाई की और सन् 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में मात्र 25 साल की आयु में भाग लिया और जेल भी गए। ब्रिटिश शासन से लेकर आजादी के बाद तक वे 80 से अधिक बार गिरफ्तार हुए और जेल गए। एक दौर में उनका यह नारा काफी चर्चित हुआ था-'एक पैर रेल में, दूसरा पैर जेल में।' उनके बारे में प्रसिद्ध था कि जितना अधिक जुल्म होता था, उससे बड़ा उनका विरोध होता था, क्योंकि उनका मानना था कि जहाँ कायर और दब्बू रहते हैं वहीं जालिम का जुल्म पलता है। बलूके छिपे नहीं, बल्कि निहत्थे बेजाप्ते घोषणा कर विरोध करते थे- हुंकार और ललकार के साथ। आखिर तभी तो बिना हथियार, मोटर-गाड़ी, रुपए-पैसे, कॉरपोरेट और मीडिया के सहयोग के बिना एक

निहत्थे राजनारायण ने अपने साहस और संकल्प शक्ति के बदौलत प्रधानमंत्री सहित पूरी सरकार और उसके अमले से टकराकर दो-दो बार जीत हासिल की। कौन जानता था कि पूरी दुनिया में ऐसी शख्सियत भी थी, जिसने कानून की अदालत में और जनता की अदालत मे किसी मजबूत प्रधानमंत्री को पराजित किया था? जी हाँ, राजनारायण ने 12 जून, 1975 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय के जरिए देश की सशक्त प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी का 1971 में रायबरेली सीट से जीत हुआ लोकसभा चुनाव रद्द करवाया था, क्योंकि प्रधानमंत्री को भ्रष्ट तरीके से चुनाव जीत का दोषी करार दिया था अदालत ने और उनपर छह साल के लिए चुनाव नहीं लड़ने से रोक लगा दी थी। यही नहीं, वही राजनारायण ने 1977 में इंदिरा गाँधी को रायबरेली लोकसभा चुनाव में हजारों वोटों से हराकर ऐतिहासिक चुनाव जीता था। इस प्रकार इतिहास के पन्नों में सिर्फ एक नाम है-राजनारायण का। कौन जानता था कि उनके संघर्षो का वह दौर भारतीय संसदीय लोकतंत्र का स्वर्णिम इतिहास बन जाएगा।

राजनारायण जी के जन्मदिन के संबंध में आपको एक और मजे की बात बताऊँ कि वे अपना जन्म दिन नहीं मनाते थे। काफी दिनों बाद उनके परिजनों ने संस्कृत विश्वविद्यालय के शोध छात्रों से पंचांग दिखवाकर इसकी सम्पुष्टि कर दी गई कि सन् 1917 को अक्षय नवमी अँग्रेजी की 23 नवम्बर को पड़ी थी। राजनारायण जैसी बड़ी हस्ती अपने आप में एक विचित्र राजनीतिक व्यक्तित्व थे। ग्रामीण वांग्मय लिए लोकतंत्र कानून, समाजवाद की गहरी समझ के साथ अपनी बनारसी और हिंदी के जरिए वे बड़ों-बड़ों को चुप करा देते थौ अँग्रेजी परस्तों कों चिढ़ाने के लिए वे अँग्रेजी की टांग तोड़कर बोलते थे। देश की शीर्ष अदालत सर्वोच्च न्यायालय तक में वे हिंदी में पैरवी करते थे। गाँव और गरीबों के मसीहा राजनारायण को समाज का हर वर्ग सम्मान की नजर से देखता था। आपातकाल के दौरान उनके संघर्ष और साहस से देश में लोकतंत्र स्थापित हुआ। एक संभ्रांत परिवार में पैदा होने के बावजूद उन्होंने पूरा जीवन गरीबों को समर्पित कर दिया। यह सच है कि सरकार और उसके विरोध के साथ ही लोकतंत्र का विकास हुआ है और भविष्य भी होता रहेगा, मगर जब-जब भारत के संसदीय लोकतंत्र के पन्नों को पलटा जाएगा, राजनारायण का नाम सुर्खियों में लिखा जाएगा। कुंवर 'बेचैन' की इन चार पंक्तियों से मैं उन्हें श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ-'तेरी हर बात चलकर यूँ भी / मेरे जी से आती है

कि जैसे याद की खुशबू /किसी हिचकी से आती है।'

पी.ए. संगमा : संघर्ष करना जिनकी रग-रग में था

लोकसभा के पूर्व अध्यक्ष पी. ए. संगमा पूर्वोत्तर क्षेत्र से आने वाले पहले लोकसभा अध्यक्ष थे जिनका पूरा नाम पूर्णो अगिटोक संगमा था। मेघालय के चपाथी गाँव में 1 सितंबर, 1947 को जन्में संगमा तुरा लोकसभा क्षेत्र से 1977 में पहली बार चुने गए सांसद थे। इस क्षेत्र से वह नौ बार सांसद चुने गए। 1988 से 1990 तक वह मेघालय के मुख्यमंत्री भी रहे और 1996 से 1998 तक 11वीं लोकसभा के अध्यक्ष पद पर आसीन रहे। इसके पूर्व 1973 में मेघालय युवा काँग्रेस के उपाध्यक्ष, 1974 में प्रदेश युवा काँग्रेस के महासचिव रहे पी. ए. संगमा ने 20 मई, 1999 को सोनिया गाँधी की नागरिकता को लेकर काँग्रेस से त्याग पत्र दे दिया था और शरद पवार के नेतृत्ववाली राष्ट्रवादी काँग्रेस पार्टी में सम्मिलित हुए। फिर 20 जून, 2012 को शरद पवार द्वारा राष्ट्रपति पद की उम्मीदवारी का विरोध किए जाने पर उन्होंने त्यागपत्र देकर प्रणव मुखर्जी के प्रतिद्वंद्वी के रूप में राष्ट्रपति का चुनाव लड़ा था। लंबे समय तक काँग्रेसी रहे संगमा राजीव गाँधी सरकार में मंत्री बने थे और बाद में नरसिंह राव सरकार में उन्हें श्रममंत्री बनाया गया था। इस प्रकार संगमा की राजनीतिक बिसात पर पारी लंबी और अनुभवों से भरी रही। लोकसभा अध्यक्ष के रूप में अपनी जिम्मेदारियों का निर्वहण करते हुए संगमा अधिकतर अवसरों पर अपनी हास-परिहास की प्रकृति, मिलनसार स्वभाव और निष्पक्षता के चलते सदस्यों से नियम का पालन करवाने में सफल रहे। ऐसा उन्होंने गर्मागर्म बहसों के बीच भी सफलतापूर्वक किया। सदन की गरिमा और परंपरा के प्रति उनकी निष्ठा ने सांसदों के बीच में उन्हें विशेष सम्मान दिलाया। विभिन्न दलों के नेता आज भी उनके दिल खोलकर लगाए जाने वाले ठहाकों, उत्साह और विवेकशीलता को याद करते हैं, जिनके चलते सदस्यों के लिए उनकी बात की अवज्ञा करना मुश्किल हो जाता था। मेघालय के एक छोटे से आदिवासी गाँव से निकलकर लोकतंत्र के प्रतिष्ठित पदों पर आसीन होना हँसी-खेल नहीं। उन्होंने यह काबिलियत पैदा की, क्योंकि उनके व्यक्तित्व पर नेताजी सुभाष चंद्र बोस का काफी गहरा प्रभाव था। संघर्ष करना उनकी रग-रग में था। यही वजह रही कि जिस वक्त पूर्वोत्तर के राज्य सियासी मानचित्र में अजनबी जैसे थे, वैसी वजह से

स्वीकार्य राजनीतिक पटल पर जमने में संगमा की स्वर्णिम शख्सियत को ही समृद्ध किया। दोस्ताना तरीके से कैसे चुनाव लड़ा जाता है और किस तरह से विपक्ष का दिल जीता जाता है, यह सलीका संगमा को ही आता था। उनमें संसदीय कार्यो की गज़ब की समझ थी। अगर किसी से संगमा का परिचय पूछें, तो बरबस ही उनके लोक सभा अध्यक्ष का कार्यकाल की याद तरोताजा हो जाती है। एक प्राध्यापक, अधिवक्ता और पत्रकार के साथ राजनीतिज्ञ रहे संगमा कई सामाजिक संगठनों से जुड़े और उन्होंने पिछड़ों, आदिवासियों तथा समाज के वंचित तबकों के उत्थान के लिए काम किया। कई अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भारत का प्रतिनिधित्व कर चुके संगमा ने शैक्षिक संस्थानों, खासकर पूर्वोत्तर में शिक्षा के विकास में अहम योगदान दिया था।

विगत 4 मार्च, 2016 को सुबह दिल का दौरा पड़ने से पी.ए. संगमा का निधन हो गया। 68 वर्षीय संगमा पिछले कुछ दशकों से भारत में उत्तर-पूर्वी राज्यों के जाने-माने प्रतिनिधि रहे और डॉ. मनमोहन सिंह की सरकार में इनकी पुत्री अगाथा संगमा सबसे युवा मंत्री बनी थीं। दूरदर्शन के माध्यम से घर-घर अपने चिरपरिचित मुस्कान बिखरने वाले संगमा भारतीय राजनीति में संख्या के लिहाज से बहुत महत्वपूर्ण स्थान न रखने वाले मेघालय से आने के बावजूद भारतीय राजनीतिक परिदृश्य की विविधता के अहम अंग थे। उनके निधन से न केवल पूर्वोत्तर की आवाज हमेशा के लिए रूखसत हो चुकी है, बल्कि देश के एक समर्पित समाज सुधारक, एक मुखर राजनीतिज्ञ और एक उत्कृष्ट नेता को खो दिया है। लेकिन उनकी जिंदादिली और नरम विचार को इस देश के लोग प्रशंसा करते रहेंगे। जनसाधारण के व्यक्ति संगमा अधिकारहीन लोगों के उद्धार के लिए लगातार काम करते रहे और आजीवन राष्ट्र में एकता एवं भाइचारे के लिए उन्होंने काम किया। उनके देहावसान से राजनीतिक जगत को अपूरणीय क्षति तो हुई ही देश के आम आदमी का एक रहनुमा के नहीं रहने का गम सताता रहेगा। संगमा जी को मैं भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ देवयानी भारद्वाज की 'बस एक चुप सी लगी है' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों से-

'और हाँ
बेहद उदास हूँ मैं
अपने समय को दर्ज करने का
मर्सिया नहीं आता
कैसी लाचारी भाषा कम पड़ जाती है।'

जे॰ जयललिता : जिन्होंने राजनीति में अपने परिश्रम और मेधा का लोहा मनवाया

तमिलनाडु की राजनीति में जयललिता एक बेहद लोकप्रिय नाम है, जिन्होंने पहले फिल्मों में अपनी जगह बनायी और फिर राजनीति में अपने परिश्रम व मेधा का लोहा मनवाया। तमिलनाडु में सबसे कम उम्र की मुख्यमंत्री का खिताब जयललिता के नाम है। विवादों में घिरीं, लेकिन हर चक्रव्यूह को तोड़ने का माद्दा उनमें था। विरोधियों की हर चाल को वह नाकाम करती रहीं।

24फरवरी, 1948 को मैसूर में मांडया जिले के पांडवपुरा तालुक के मेलुरकोट गाँव में जन्में जयललिता के पिता का नाम जयराम वेदवल्ली और माता का नाम वेदावती था। इसलिए जयललिता का पूरा नाम जयराम जयललिता है। उनके परिवार का संबंध मैसूर के राजसी खानदान से था। उनके दादाजी मैसूर दरबार में शाही चिकित्सक थे और उन्होंने अपने परिजनों के नाम के प्रारंभ में 'जय' शब्द लगाना प्रचलित किया था, ताकि लोगों को यह ज्ञात हो कि उनका सामाजिक संबंध मैसूर के राजा जयचमार राजेन्द्र वोडेयार से है। जयललिता जब दो वर्ष की थी तब उनके पिता का देहावसान हो गया। इसके बाद वे अपनी माता और नाना-नानी के साथ बेंगलुरू आ गयी थी।

जयललिता की प्रारंभिक शिक्षा चर्च पार्क कॉन्वेंट स्कूल और विशप कॉटन गर्ल्स स्कूल में हुई थी। फिर उनकी माता जी फिल्मों में नसीब आजमाने चेन्नई चली गयी थीं । इसलिए जयललिता ने आगे की पढ़ाई चेन्नई के चर्च पार्क प्रेजेंटेशन कान्वेंट और फिर स्टेला मारिस कॉलेज, चेन्नई से प्राप्त की। बचपन से ही जयललिता तेजस्वी छात्रा थी, लेकिन अपनी माँ के कहने पर जयललिता ने फिल्मों का रूख किया था।

जयललिता की पहली फिल्म एक अँग्रेजी फिल्म 'एपिसल' थी। महज 15 साल की उम्र में जयललिता ने अपने आपको प्रमुख अभिनेत्री के रूप में स्थापित कर लिया था। उन्होंने तमिल सिनेमा के मशहूर निर्देशक श्रीधर की फिल्म 'वेन्नीरादई' से अपना कैरियर शुरू किया था। शिवाजी गणेशन के साथ आयी उनकी फिल्म 'पट्टिकाडा पट्टनामा' में अभिनय के लिए उन्हें राष्ट्रीय पुरस्कार और फिल्म फेयर पुरस्कार दोनों मिला था।

जयललिता उस दौर की पहली ऐसी अभिनेत्री थी जिन्होंने स्कर्ट पहनकर भूमिका की थी। यह उस दौर में बड़ी बात थी। उन्होंने शुरुआती दौर में फिल्में बॉलीवुड अभिनेत्री रेखा के पिता शिवाजी गणेशन और एमजी रामचंद्रन के साथ की थी। एमजी रामचंद्रन के साथ उन्होंने दो दशक तक तमिल सिनेमा में काम किया था। फिल्मी कामयाबी के दौर में जयललिता ने 300 से ज्यादा तमिल, तेलगु, कन्नड़ और हिंदी फिल्मों में काम किया। जयललिता की सबसे पहली हिंदी फिल्म 'इज्जत' थी। जयललिता कामयाब अभिनेत्री ही नहीं, बल्कि कामयाब प्लेबैक सिंगर भी थी। उन्होंने दक्षिण की अनेक फिल्मों में बहुत से गीतों को अपनी आवाज दी। जयललिता के जीवन पर आधारित फिल्म भी बनी है जिसका नाम 'इरूवर' है। इसमें ऐश्वर्या राय बच्चन ने उनका किरदार निभाया था। जयललिता की पहली फिल्म को एडल्ट सर्टिफिकेट मिला था और टीनएजर होने के चलते वे खुद फिल्म देखने नहीं जा सकी थी।

एमजी रामचंद्रन ने जयललिता को अपने राजनीतिक दल एआइडीएमके में इसलिए लेकर आए थे, क्योंकि वह एक अच्छी वक्ता थी और अँग्रेजी फर्राटे के साथ बोलती थी। उनके भाषण में बहुत भीड़ जुटती थी। जयललिता भाषण को डायलॉग की तरह रट लेती थी। पार्टी के अंदर और सरकार में रहते हुए मुश्किल और कठोर फैसलों के लिए मशहूर जयललिता को तमिलनाडु में आयरन लेडी और तमिलनाडु की मार्गरेट थैचर भी कहा जाता है। जयललिता को अंधविश्वासी माना जाता था। वे ज्योतिष में काफी विश्वास करती थी और हरे रंग को अपने लिए भाग्यशाली मानती थी। जयललिता को गठिया की समस्या थी। इसलिए उनके लिए सागौन की लकड़ी की बनी खास कुर्सी डिजाइन की गई थी। इस कुर्सी की कीमत डेढ़ लाख रुपए बताई गई थी। जयललिता को आलोचना कतई पसंद नहीं थी। हालांकि उनके समर्थक उन्हें भगवान की तरह पूजते थे और उन्हें यह पसंद भी था। तमिलनाडु में वह 'अम्मा' के नाम से प्रसिद्ध थी। 2014 में जब जयललिता को जेल भेजा गया तो उनके कई समर्थकों ने आत्महत्या कर ली थी।

दरअसल, जयललिता की लोकप्रियता इसलिए भी ज्यादा रही है, क्योंकि उनकी योजनाएँ सीधे जनता से जुड़ती हैं और गरीबों के हित में रही हैं तथा खासबात यह कि जयललिता की योजनाओं को अम्मा ब्रांड कहा जाता है। अम्मा कैंटीन, अम्मा मिनरल वाटर, अम्मा फार्मेसी, अम्मा सिमेंट, अम्मा बेबीकेयर किट, अम्मा मोबाइल आदि उनके नाम पर चलता

रहा है। जयललिता की लोकप्रियता का अंदाजा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि उनकी बीमारी और फिर निधन को लेकर दुख और सदमें से 77 लोगों ने मौत को गले लगाया।

24 मार्च, 1984 को जयललिता को राज्यसभा के लिए नामांकित किया गया और उन्हें राज्य सभा में वही सीट दी गई जिसपर कभी 1963 में सांसद के रूप में सी एन अन्नादुरै बैठते थे। जयललिता के भाषण को लोग राज्यसभा में इसलिए सुनना पसंद करते थे, क्योंकि वह हिंदी भी अच्छी तरह जानती थी और हिंदी अथवा तमिल में उनके भाषण को उच्चारण की शुद्धता और शिष्ट गद्य के लिए सराहा गया था। राज्यसभा में उनके साथ सांसद रहे खुशवंत सिंह ने प्रशंसा में कहा था कि जयललिता बुद्धिमता और सौंदर्य का संगम है। प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी भी खासा प्रभावित हुई थीं।

जयललिता का राजनीतिक सफर कई कारणों से अनोखा रहा। एक तो अभिनेता से राजनेता बने एम जी रामचंद्रन के साथ काम करने का मौका मिला। एम जी आर का जयललिता की ओर शुरू से ही झुकाव था। एक बार रेगिस्तान में शुटिंग के दौरान रेत इतनी गर्म थी कि जयललिता उस पर चल नहीं पा रही थीं। तभी एम जी रामचन्द्रन ने उन्हें गोदी में उठा लिया था, ताकि उनके पैर न जलें। एम जी रामचंद्रन के कहने पर ही जयललिता फिल्मी दुनिया को छोड़कर राजनीति में आई थीं। 1983 में एम जी आर ने जयललिता को पार्टी का सचिव बनाया और राज्यसभा के लिए मनोनीत किया फिर जब दोनों के बीच मतभेद की खबरें आई तो 1984 में एमजीआर ने सचिव के पद से जयललिता को हटा दिया। इसी बीच एमजीआर गंभीर रूप से बीमार हो गए और फिर उनका देहावसान हो गया। एमजीआर के निधन के बाद जयललिता ने खुद को रामचन्द्रन की विरासत की उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। एमजीआर के निधन के बाद जयललिता 1987 में पूरी उभरकर सामने आई। जनता पर मजबूत पकड़ बनाने के साथ जयललिता पहली बार 1991 में विधानसभा चुनाव होने के बाद मुख्यमंत्री बनीं और उस समय राज्य की सबसे कम उम्र की मुख्यमंत्री थीं।

हालांकि 1996 में तमिलनाडु विधानसभा के चुनाव में जयललिता को हार का मुँह देखना पड़ा, लेकिन तबतक वह एक मजबूत राजनीतिक हस्ती बन चुकी थीं। इसलिए 2001 में जब चुनाव हुआ तो दोबारा सत्ता में आई और उन्होंने कठोर फैसले लिए। लॉटरी टिकट पर पाबंदी लगा दी। हड़ताल में जाने पर दो लाख कर्मचारियों को एक साथ नौकरी से निकाल

दिया। किसानों की मुफ्त बिजली पर रोक लगा दी और राशन की दुकानों में चावल की कीमत बढ़ा दी। 5000 रुपए से ज्यादा कमाने वालों के राशन कार्ड खारिज कर दिए और बस किराया बढ़ा दिया तथा मंदिरों में जानवरों की बलि पर रोक लगा दीं। लेकिन 2004 के लोकसभा चुनाव में बुरी तरह परजित होने के बाद उन्होंने पशुबली की अनुमति दे दी और किसानों की मुफ्त बिजली भी बहाल कर दी।

30 जून 2001 को तमिलनाडु के पूर्व मुख्यमंत्री करुणानिधि और केंद्रीय मंत्री मुरासोली मारन तथा टीआर बालू को फ्लाईओवर घोटाले के तहत जयललिता की सत्ता के वक्त गिरफ्तार कर लिया गया। यह आजाद भारत के इतिहास की पहली घटना थी जब किसी केंद्रीय मंत्री को गिरफ्तार किया गया था। इस मामले में चार्जशीट चार साल बाद यानी 2005 में दाखिल की गई।

जयललिता ने अपनी शर्त्तो पर राजनीति की। अन्नाद्रमुक पार्टी में शामिल होने से लेकर 2016 तक जयललिता के राजनीतिक जीवन का सफर ऐसे राजनीतिक गाथाओं से भरी है, जिनमें अच्छे और बुरे दोनों अंश हैं, परन्तु सीखने के लिए बहुत कुछ है। जब सर्वोच्च न्यायालय उन्हें मुख्यमंत्री पद संभालने की अनुमति नहीं दी थी, तो पूरा तमिलनाडु ही सड़कों पर उतरकर मातम मना रहा था। आत्महत्याएँ तक की गईं। आखिर मौजूदा भारत में ऐसी स्थिति किस नेता को प्राप्त है? तमिलनाडु में व्यक्तित्वों के प्रति अति गहरे भावनात्मक लगाव के उदाहरण हैं।

1989 में डीएमके के एक मंत्री ने विधानसभा में जयललिता के साथ बुरा बर्ताव किया था। आरोप तो यह भी लगा था कि उनकी साड़ी खींची गयी और वह गिर गई थी। जयललिता ने उसी समय कसम खायी थी कि वे विधानसभा में मुख्यमंत्री बनकर लौटेंगी। अपमानित जयललिता ने द्रौपदी की तरह प्रतिज्ञा ली कि अब उस सदन में तभी कदम रखेगी जब वह महिलाओं के लिए सुरिक्षत हो जाएगा। इसके बाद ही समर्थकों के बीच अम्मा के रूप में वह मशहूर हो गई। भारतीय राजनीति में बड़े-बड़े कटआउटों की संस्कृति तमिलनाडु में ही विकसित हुई थी, जिसे रोकने का काम भी दक्षिण से आए टी एन शेषण ने ही किया था। इस राज्य में जीवित समकालीन नेताओं, फिल्मी सितारों और खिलाड़ियों के मंदिर बनते हैं। उनकी पूजा होती है। दक्षिण की पुरुष-प्रधान राजनीति में जयललिता जैसा होना भी अचंभा है। उन्होंने साधारण परिवार में जन्म लिया, कठिन परिस्थितियों का सामना किया

और एक बार सत्ता की सीढ़ियों पर चढ़ी, तो चढ़ती चली गई।

वर्ष 1991 में जब जयललिता पहली बार मुख्यमंत्री बनीं, तो उन्होंने राजसत्ता का पूरा इस्तेमाल अपने प्रचार-प्रसार के लिए किया। जैसे सरकार का पहला साल पूरा होने पर 1992 में तमिलनाडु के शिक्षा मत्री ने घोषणा की कि हर जिले में श्रेष्ठ शिक्षा देने वालें आदर्श विद्यालय खोले जाएँगे, जिनका नाम जयललिता विद्यालय होगा। राज्य के कृषि वैज्ञानिकों ने नयी किस्म तैयार सुगंधित धान का नाम जया-जया 92 रखा गया। आवास मंत्री ने हर जिले में 'जया नगर' बसाने की घोषणा की। शहरों में जया के नाम से स्टेडियम, विवाह मंडप और न जाने क्या-क्या बनाने की घोषणाएँ होने लगी। मगर उनकी कम-से-कम 18 योजनाओं ने राज्य में गरीबों, स्त्रियों और समाज के दूसरे पिछड़े वर्गो के नागरिकों के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

1991 में जयललिता मुख्यमंत्री बनीं तो उनकी अनोखी पालना योजना सामने आयी। जयललिता ने कहा कि यदि बेटी आपको नहीं चाहिए तो हमें दे दीजिए, हम उन्हें पालेंगे। इन बेटियों को कहीं फेंकने की बजाय सरकारी आश्रय में देने का रास्ता खुला। आज इनमें से कई लड़कियाँ 20-25 साल की हो गई है और पढ़-लिखकर नौकरियों में लग गयी हैं। इस अनोखी 'बेटी बचाओ' मुहिम की वजह से सामज में बेटियों को संरक्षण देने की इच्छा भी बढ़ी और अब इन अनाथालयों में आने वाली बेटियों की संख्या भी काफी कम हो गई है। इसी प्रकार जयललिता की सबसे लोकप्रिय योजना 'अम्मा' नाम से चली जिसमें सबसे पहली थी एक रुपए में थाली। इस योजना की तर्ज पर आँध्रप्रदेश, राजस्थान और दिल्ली में भी सस्ते भोजन की योजनाएँ चलीं। 2013 में अम्मा पेय जल देने की योजना आई। अन्ना द्रमुक सरकार ने राज्य के सरकारी और सहायता प्राप्त विद्यालयों में पढ़नेवाले छात्रों को मुफ्त अम्मा लैपटॉप देने की योजना शुरू की। इसी तरह से 'अम्मा शिशु किट' हैं जिनमें सरकारी अस्पतालों में जन्म लेने वाले बच्चों को 16 तरह के बेबी प्रोडक्ट दिए जाते हैं जिनकी कीमत तकरीबन 1000 रुपए होती है। ऐसी ही 'अम्मा नमक', 'अम्मा सिमेंट', 'अम्मा ग्राइंडर-मिक्सी','अम्मा टेबलफैन' और किसानों के लिए 'अम्मा बीज' जैसी योजनाएँ हैं। सस्ते अनाज और सस्ती सब्जियों की व्यवस्था है। जनता के काम करने के लिए सर्विस सेंटर बनाए गए हैं। गाँवों में अम्मा कैंप लगाए जाते हैं। अम्मा माइक्रो लोन हैं, 'अम्मा अरोग्य थित्तम' के तहत स्वास्थ्य की जाँच होती है। स्वास्थ्य बीमा है। केवल 10 रुपए टिकट पर तमिल फिल्में देखने की व्यवस्था भी है। आखिर

तभी तो जयललिता ने तमिलनाडु की पाँच बार मुख्यमंत्री के पद पर रहकर उस राज्य की राजनीति करते हुए भी एक राष्ट्रीय नेता की हैसियत हासिल कर ली थी। दरअसल, आज की राजनीति में इस कद के जननेता का मिलना आसान नहीं है। क्षेत्रीय दलों का बोलबाला तो अब लगभग कई राज्यों में है, लेकिन जयललिता जैसी राजनीतिक शख्सियत और करिश्माई व्यक्तित्व के नेता कहाँ देखने को मिलते हैं। ऐसे बहुत कम सौभाग्यशाली होते हैं जिन्हें एक पूरा राज्य और देश की बड़ी आबादी 'अम्मा' कहकर पुकारे या माँ मानकर पूजे। यह मिथक नहीं, बल्कि वर्तमान का यथार्थ है कि सिनेमा के पर्दे से संघर्ष की शुरुआत करने वाली नायिका कैसे राजनीति के माध्यम से जन-सरोकारों से जुड़कर 'अम्मा' कहलाने लग गई।

जे. जयललिता अनुपातहीन संपत्ति रखने के मामले में दोषी पाए जाने पर जेल भी गई और फिर उन्हें चार साल की सजा भी हुई, बावबूद इसके न केवल उनकी लोकप्रियता बरकरार रही, बल्कि 2016 के विधानसभा चुनाव में इस मिथक को भी तोड़ा कि तमिलनाडु में कोई पार्टी लगातार दो बार चुनाव जीत सकती। यही नहीं इसके पूर्व 2014 के लोकसभा चुनाव में जब भाजपा ने पूरे भारत में बाजी मारी थी, तब भी जयललिता के नेतृत्व में अन्ना द्रमुक पार्टी को लोकसभा में भारी प्रतिनिधित्व मिला।

जिस तमिलनाडु की मुख्यमंत्री के तौर पर पूरी सख्ती के साथ बागडोर संभाली जयललिता ने उनका 5 दिसंबर, 2016 को साढ़े ग्यारह बजे रात में अपोलो अस्पताल, चेन्नई में देहावसान हो गया, मगर उनका नाम इतिहास में शानदार अक्षरों में दर्ज हो गया। जयललिता के निधन के साथ तमिलनाडु की राजनीति के एक उल्लेखनीय अध्याय का अंत हो गया। 22 दिसंबर, 2016 से अपोलो अस्पताल में वह भर्ती थी। 4 दिसंबर, 2016 की शाम उन्हें गंभीर दिल का दौरा पड़ा और दूसरे ही दिन यानी 5 दिसंबर को 11.30 बजे रात में उन्होंने दम तोड़ दिया। 68 वर्ष जनता के बीच लोकप्रिय और दक्षिण भारत की राजनीति में मजबूत पैठ रखने वाली जयललिता के निधन के साथ ही तमिलनाडु के सिर से 'अम्मा' का आँचल उठ गया, राजनैतिक गुरु एम जी रामचंद्रन की मरीना बीच स्थित समाधि के पास उनका पार्थिव शरीर को दफनाया गया। जयललिता की अंतिम यात्रा राजाजी हॉल से शुरू होकर मरीना बीच तक पहुँची थी जिसमें जयललिता के लाखों समर्थक शामिल थे। भारत के राष्ट्रपति सहित प्रधानमंत्री, उपराष्ट्रपति, काँग्रेस अध्यक्ष, गृहमंत्री तथा कई राज्यों के मुख्यमंत्री समेत कई फिल्म जगत

की शख्सियतों ने उनके निधन पर शोक प्रकट किया।

मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा 1991 में जयललिता को डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान की गई थी। खाना बनाने, लिखने, घुड़सवारी का शौक, राजनीति और फिल्मों में अभिनय करने के अलावा जयललिता को किताबें लिखने का भी शौक था। तमिल भाषा में लिखे गए कई लेख और उपन्यास अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। बला की खूबसूरत जयललिता को पढ़ाई तथा संगीत में रुचि थी। फिल्मों की ख्यातिप्राप्त इस हस्ती की मुलाकात ख्यातिप्राप्त अभिनेता एम जी रामचंद्रन से हुई, जिनकी नजदीकियों की वजह से जयललिता का जितना नाम हुआ उससे कहीं ज्यादा उन्हें बदनामी भी झेलनी पड़ी। कहा जाता है कि एमजी रामचंद्रन और जयललिता एक-दूसरे से प्रेम करते थे, लेकिन रामचंद्रन विवाहित थे और दो बच्चों के पिता भी, जिसके कारण उनकी और जयललिता की शादी नहीं हो सकती थी, इसलिए दोनों के रिश्तों को नाम नहीं मिला। एम जी रामचंद्रन के निधन के बाद जिस तरह से एमजीआर की पत्नी जानकी रामचंद्रन ने जयललिता के साथ व्यवहार किया था और उन्हें उनके पार्थिव शरीर से दूर रखा था उससे साफ हो गया था कि वाकई में जयललिता और रामचंद्रन के रिश्ते में वो नजदीकियाँ थीं जिन्हें उनकी पत्नी स्वीकार नहीं कर सकती थी। अपने अपमान के बाद भी जयललिता ने एमजीआर के पार्थिव शरीर के दर्शन किए थे और ऐसा रूप धारण किया था जैसे कि किसी विधवा का होता है।

पिछले तीन दशकों से तमिलनाडु की राजनीति में महत्वपूर्ण सितारा रहकर अपनी शर्तों पर राजनीति करने वाली जयललिता तमाम अड़चनों और भ्रष्टाचार के मामलों से झटके के बावजूद वापसी करने में सफल रही थीं। राजनीति में तमाम झंझावातों का सामना करते हुए उन्होंने अपनी बदौलत अपना मुकाम हासिल किया। शशिकला नटराजन जयललिता की सबसे करीबी रहीं। जयललिता के तीन शासनकाल के दौरान इनपर अकूत संपत्ति जमा करने का आरोप लगा। 7 दिसंबर, 1996 को कलर टीवी घोटाले में जयललिता के साथ इन्हें गिरफ्तार किया गया, हालांकि सर्वोच्च न्यायालय ने उन्हें बरी कर दिया। 19 दिसंबर, 2011 को जयललिता ने इन्हें व इनके परिवार को पार्टी से निकाल दिया था। जब शशिकला ने अपने परिवार के साथ सभी रिश्ते खत्म कर दिए, तो उन्हें जयललिता ने पार्टी में दोबारा शामिल कर लिया। जयललिता के अस्पताल में भर्ती होने के बाद से उनके सारे राजनीतिक कार्य शशिकला ही संभाल रही हैं। जैसे जयललिता

एमजीआर के शव के पीछे खड़ी रही थी, वैसे ही शशिकला जयललिता के शव के पास खड़ी रही और हर पल रहीं। इससे माना जा रहा है कि पार्टी की कमान उनके पास रहेगी।

दरअसल, जयललिता ने 'एकोअहम् द्वितीयों नास्ति' की तर्ज पर पार्टी को इस तरह खड़ा कर दिया कि उनके बाद कोई दूसरा व्यक्तित्व पनप ही नहीं सका। ओ. पन्नी सेल्वम का उन्होंने दोनों बार अपने हटने पर मुख्यमंत्री बनाया, परन्तु उनका व्यक्तित्व भी इतना बड़ा नहीं होने दिया कि पार्टी में कम-से-कम दूसरे स्थान के नेता के रूप में उनका व्यक्तित्व उभर सके।

जयललिता जब तमिल राजनीति के फलक पर आई जातीय राजनीति के चक्रव्यूह के हिसाब से किसी आयंगर ब्राह्मण का मुख्यमंत्री बनना आसान नहीं था। तब की द्रविड़ राजनीति में ब्राह्मण को मुख्यमंत्री बनाने का मतलब उत्तर का वर्चस्व, जिसे द्रविड़ राजनेता बर्दाश्त नहीं कर सकते थे, लेकिन अपनी जिद और धुन के चलते ही जयललिता हर समय शिखर पर रह पाई।

जयललिता आयंगर ब्राह्मण थीं। आयंगर ब्राह्मण में दाह संस्कार की प्रथा है, लेकिन जयललिता द्रविड़ पार्टी की प्रमुख थी। यहाँ नेताओं को दफनाने की प्रथा है। द्रविड़ आंदोलन में जुड़े नेता पेरियार, अन्ना दुरई और एम जी रामचंद्रन भी दफनाए गए थे। जब तमिलनाडु में जयललिता के न रहने पर विलाप करते जनसमूहों को देखा गया, तो उनकी लोकप्रियता का अहसास सभी लोगों को हुआ, खासकर महिलाओं में वे बेहद लोकप्रिय थीं। मैं इस बात को मानता हूँ कि लोककल्याणकारी योजनओं के क्रियान्वयन के साथ-साथ उनकी राजनीति में राष्ट्रीय सोच को भी तरजीह दी गई। उन्होंने सस्ती लोकप्रियता के लिए किसी ऐसे कदम को तरजीह नहीं दी जो अलगाव या बिखराव का सबब बने। यही वजह है कि उनके न रहने पर केवल तमिलनाडु ही नहीं, बल्कि पूरा देश दुखी हुआ। उनकी राजनीतिक लकीर पर उनके उत्तराधिकारी का सर्वसम्मति से चयन बताता है कि फिलहाल पार्टी में अलगाव का कोई खतरा भी नहीं है।

जयललिता अन्य मुख्यमंत्रियों की तरह आम लोगों से ज्यादा नहीं मिलती थीं, लेकिन फिर भी उन्होंने तमिलनाडु को भारत के सबसे विकसित और समृद्ध राज्यों में ला खड़ा किया। उनका कदम सही रहा या गलत, मगर उन्होंने अपने राज्य के हितों से कभी समझौता नहीं किया।

इस कड़ी में वह अपने समकालीन रहे लगभग सभी प्रधानमंत्री से टकरायीं।

जयललिता के निधन से विरोधी पार्टी डीएमके अब कुछ चैन की सांस ले सकती है, मगर इतना जरूर कहा जा सकता है कि ऑल इंडिया अन्ना द्रविड़मुनेत्रकषगम (एआईएडीएमके) के पास अब हमेशा एक ऐसे नेता की विरासत रहेगी, जिसने राजनीति में रुचि नहीं होने के बावजूद डीएमके के करुणानिधि जैसे धुरंधर नेता को पटखनी दी। मगर जयललिता के निधन के बाद अभी आलम यह है कि अन्ना द्रमुक के संस्थापक एमजी रामचंद्रन जैसा न तो कोई करिश्माई नेता है और न ही किसी के पास जयललिता जैसा नेतृत्व कौशल है। मगर अब यह साफ हो गया है कि तमिलनाडु में अभी सत्ता की कमान जयललिता के कट्टर वफादार ओ. पन्नीसेल्वम और अन्नाद्रमुक की बागडोर जयललिता की बेहद करीबी रहीं शशिकला नटराजन के हाथों में रहेगी। ओ. पन्नीसेल्वम को तो 5 दिसंबर, 2016 की रात डेढ़ बजे ही मुख्यमंत्री की शपथ दिला दी गई है इकतीस मंत्रियों के साथ। आगे आने वाले दिनों में भाजपा और अन्नाद्रमुक दोनों दलों की एक-दूसरे की निर्भरता बढ़ने की उम्मीद है, क्योंकि भाजपा को संसद में अन्नाद्रमुक सांसदों की जरूरत है।

निश्चित रूप से तमिलनाडु की राजनीति में जयललिता ने अपनी छवि बेहद बड़ी बना ली थी, कहा जाए तो अपने गुरु मार्गदर्शक एमजीआर से भी आगे। प्रशासनिक तौर पर जयललिता के फैसलों को लोगों ने खूब पसंद किया और सुनामी जैसे प्राकृतिक आपदा में उनके प्रशासन की आज तक मिसाल दी जाती है। उनके समर्थक उन्हें हर स्थिति में सर आँखों पर बिठाते रहे। बेशक पार्थिक रूप से वह हमारे बीच अब नहीं हैं, किंतु उनकी विरासत अन्नाद्रमुक के रूप में तमिलनाडु की जनता के सामने है। उनकी इस विरासत को अन्नाद्रमुक के नेता आगे ले जाते हैं अथवा 'एक नेता' की छवि पर आश्रित यह पार्टी लड़खड़ा जाती है, यह तो समय ही बताएगा। जो भी हो, किंतु अम्मा का स्थान इतिहास और तमिलनाडु के लोगों के मन-मस्तिष्क में लंबे अरसे तक सुरक्षित रहने वाला है, इसमें दो राय नहीं।

यह सच है कि जिंदगी और मौत के दौरान जयललिता के लिए लाखों लोगों की दुआओं का अंबार लगा हुआ था, मगर यह भी उतना ही सच है कि उन्हें इस कठिन दौर में अपनों का साथ नहीं मिला। जयललिता अपने आखिरी समय में अकेली थी और इसकी वजह थी कि उनका परिवार से कोई रिश्ता-नाता नहीं होना। अस्पताल में तकरीबन दो

महीने के दौरान उनके परिवार का कोई भी सदस्य उनके साथ नहीं था। हालांकि उनके भाई जयकुमार की बेटी दीपा ने पुलिसकर्मियों को अपनी पहचान बताई और उनसे मिलने की कोशिश की थी, लेकिन उन्हें जयललिता से मिलने नहीं दिया गया, कारण कि जयललिता और उनके परिवार के बीच एक खटास का माहौल बना हुआ था।

बताया जाता है कि परिवार की जयललिता से नाराजगी की वजह यह थी कि उन्होंने अपने दत्तक पुत्र वी.एन. सुधाकरन की शादी में करोड़ों रुपए पानी की तरह बहाया था। इसके बाद बेटे से भी जयललिता के मतभेद हो गए थे। हालांकि भाई जयकुमार की बेटी दीपा ने कई बार जयललिता से जुड़े रहने की कोशिश की, लेकिन सब नाकाम रहा। दीपा के मुताबिक जयललिता पारिवारिक समारोह में काफी कम जाती थीं, यहाँ तक कि उनकी शादी में भी वह नहीं आई थीं और तो और भाई जयकुमार के देहावसान के बाद संपन्न अंतिम संस्कार में भी जयललिता शामिल नहीं हुई थी, साथ ही दीपा की माँ यानी जयकुमार की पत्नी के 2013 में गुजर जाने के बाद भी जयललिता उनके घर नहीं गई।

दरअसल, मुझे ऐसा लगता है कि मुख्यमंत्री तौर पर अपने पहले कार्यकाल के दौरान अपने दत्तक मुँहबोले बेटे सुधाकरण की शादी चेन्नई में 50 एकड़ क्षेत्रफल में आयोजित कर अपने डेढ़ लाख मेहमानो को खिलाने-पिलाने से शादी में करोड़ों रुपए खर्च करना उनके परिवार के लोगों को नहीं भाया। हालांकि सबसे बड़े बैंक्वेट स्वागत का गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकॉर्ड उनके नाम हो गया था, परिवार से नहीं पटने का शायद यह भी एक कारण रहा। कहा जाता है अपने शौक के लिए जयललिता ने अपने गोद लिए बेटे सुधाकरन की शादी में महंगे आभूषण खरीदे। एक वक्त उनके 10500 साड़ियाँ थी जिनमें से कुछ तो बेहंद महंगी। साथ ही 750 जोड़ी जूतियाँ एवं चप्पले भी थे जिसके चलते उन्हें काफी विवाद भी झेलने पड़े।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि बतौर वेतन जयललिता मुख्यमंत्री पद पर रहते हुए मात्र एक रुपया प्रतिमाह लेती थीं दूसरी बात यह कि उस ब्राह्मण विरोधी पेरियार रामास्वामी नायकर के विचारों से अन्ना द्रमुक के नेता प्रेरित रहे हैं, जिसमें जाति, वर्ण और भेद की वाहक मान्यताओं को कोई जगह नहीं थी। बावजूद जयललिता के हर जाति और धर्म के लोगों में गहरी पैठ रही।

मुझे अच्छी तरह याद है कि 1998 में जयललिता ने केंद्र

की वाजपेयी सरकार को सशर्त समर्थन किया, जिसमें तमिलनाडु की द्रमुक सरकार की बर्खास्तगी शामिल थी। जब वाज़पेयी जी इस शर्त को पूरा नहीं कर पाए तो समर्थन वापसी लेने में जयललिता ने देर नहीं की और जिसकी वजह से वाजपेयी सरकार एक वोट से गिर गई। राजनीति की इस विशिष्ट अक्खड़ शैली के लिए उन्हें प्रदेश और केंद्र के इतिहास में वर्षो तक याद किया जाता रहेगा। हालांकि बाद में भाजपा से जयललिता के रिश्ते फिर से मधुर हो गए। उम्मीद की जाती है कि यह मधुरता नए मुख्यमंत्री पन्नीसेल्वम के नेतृत्व में कायम रहेगी। जिंदगी की पहली पारी में करिश्माई स्टार और दूसरी पारी में एक असली जयललिता जैसी राजनेता बॉलीवुड और राजनीति में कोई दिखाई देने में वक्त लगेगा।

दक्षिण भारतीय फिल्मों के महानायक रजनीकांत ने इस वर्ष 2016 के 12 दिसंबर को अपना 66वाँ जन्म दिवस जयललिता के निधन के बाद श्रद्धांजलि स्वरूप नहीं मनाया और उन्होंने अपने प्रशंसकों से उनका जन्मदिन नहीं मनाने और पोस्टर-बैनर नही निकालने का अनुरोध किया। रजनीकांत ने अपने 66वें जन्म दिवस के अवसर पर अम्मा की शोक सभा में कहा कि जयललिता के पास सोने का दिल था। वे कोहिनुर हीरे जैसी चमक बिखेरने वाली ममतामयी महिला थीं। उन्होंन पुरुषों के वर्चस्व को तोड़ते हुए साबित किया था कि वह भी राजनीतिक धरोहर हैं। तमिलनाडु की आन, वान और शान वह देश की ताकतवर महिला राजनेताओं में शुमार थीं।

एक राजनेता की मृत्यु सामान्य नही होती है, बल्कि वह हमें सोचने के लिए कुछ सवाल छोड़ जाती है। जयराम जयललिता की मृत्यु ऐसी ही मृत्यु है जिसके बारे में हम नए सिरे से जानने की कोशिश करते हैं और अपने ढंग से उसे याद करते हैं। मैं अपनी इन पंक्तियों से आखिरी जंग हार गई जयललिता की स्मृति को नमन करते हुए अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ-

'जया ने अपनी अड़सठ की आयु तक जिया
फिर भी ऐसा लगता बचा है बहुत कुछ अनजिया,
मैंने अपने इस संस्मरण में बहुत कुछ कहा
फिर भी ऐसा लगता बचा है बहुत कुछ अनकहा,
मैंने जया के बारे में अबतक बहुत कुछ है सुना
फिर भी ऐसा लगता सुनने के बाद भी बहुत कुछ है अनसुना

प्रियरंजन दास मुंशी :
जिन्होंने हमेशा जनता की राजनीति की

प्रियरंजन दासमुंशी ने अपनी राजनीति उस वक्त शुरू की, जब युवा काँग्रेस भारतीय राजनीति की एक महत्वपूर्ण ताकत थी। युवावस्था से ही राजनीति में आए प्रियरंजन दासमुंशी जल्दी ही काँग्रेस पार्टी के कद्दावर नेताओं में शुमार किए जाने लगे थे। प. बंगाल के शीर्ष नेताओं में शुमार और लगभग पाँच दशक तक काँग्रेस पार्टी तथा देश की सेवा करने वाले प्रियरंजन दास मुंशी लोगों में खासे लोकप्रिय थे और उनके ज्यादातर समर्थक उन्हें 'प्रिय-दा' के नाम से संबोधित करते थे। उन्होंने हमेशा जनता की राजनीति की और अंत तक करते रहे।

13 नवंबर, 1945 को पूर्वी बंगाल के चिरी बांदेर जो अब बांग्लादेश में है, में जन्मे प्रियरंजन दास मुंशी का वर्ष 1994 में 49 साल की उम्र में उनका विवाह दीपा दासमुंशी से हुआ था। 1970-71 के दौरान युवा काँग्रेस के प. बंगाल इकाई के वे अध्यक्ष बने और 1971 में ही कोलकाता दक्षिण लोकसभा सीट से चुनाव जीतकर सांसद बने। फिर 1984 और 1996 में हावड़ा लोकसभा सीट से निर्वाचित हुए। उनकी पत्नी 2009 से 2014 तक लोकसभा सदस्य और 2012 से 2014 तक केंद्र में शहरी विकास मंत्रालय में राज्य मंत्री रही हैं। डॉ. मनमोहन सिंह के मंत्रिमंडल में भारत सरकार के सूचना एवं प्रसारण मंत्री के तौर पर प्रियरंजन दास मुंशी वेस्टर्न टीवी नेटवर्क को प्रतिबंध करने के अपने फैसले से काफी चर्चा में रहे थे। इसके अंतर्गत उन्होंने आपत्तिजनक सामग्रियों का प्रसारण करने वाले एएक्सएन टी.वी. और फैशन टी.वी. जैसे चैनलों पर प्रतिबंध लगा दिया था।

प्रियरंजन दास मुंशी की खेलों में भी खास दिलचस्पी थी। वह करीब 20 साल तक ऑल इंडिया फुटबॉल फेडरेशन के अध्यक्ष भी रहे। वह 2006 में फीफा विश्व कप में मैच कमिश्नर का पद हासिल करने वाले पहले भारतीय थे। 1998 सें 2008 तक के दास मुँशी के कार्यकाल में एआईएफएफ का मुख्यालय फुटबॉल हाउस दिल्ली के द्वारका में बना। इसके पूर्व 1996 में उनके कार्यकाल में राष्ट्रीय फुटबॉल लीग की शुरुआत हुई थी जिसमें देश के शीर्ष क्लबों ने हिस्सा लेना शुरू किया था। 1999 में फीफा महिला विश्वकप में संचालन टीम का हिस्सा बनाया गया था। 2006 में भी

पुरुष विश्वकप की संचालन टीम का हिस्सा बने थे। इस प्रकार प्रियरंजन दास मुंशी न केवल बंगाल में, बल्कि पूरे देश के फुटबॉल को लोकप्रिय बनाने के उल्लेखनीय कार्य करते हुए फुटबॉल प्रशासन में उन्होंने काफी योगदान किया।

प. बंगाल में रायगंज से पाँच बार सांसद रहे प्रियरंजन दास मुंशी डॉ. मनमोहन सिंह के नेतृत्व में बनी केंद्र सरकार सप्रंग एक के संसदीय कार्य मंत्रालय में कैबिनेट मंत्री भी रहे। इसी के साथ वे संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार में बतौर सूचना प्रसारण मंत्री रहते हुए उन्हें मस्तिष्काघात हुआ था जिसके बाद वह कौमा में चले गए थे।

पिछले नौ साल यानी वर्ष 2008 से प्रियरंजन दास मुंशी लगातार बिस्तर पर थे। दिल्ली के अपोलो अस्पताल में ही विगत 19 नवम्बर, 2017 को दोपहर उन्होंने अंतिम सांस ली। खबरों के मुताबिक उनके शरीर के तंत्र ने काम करना बंद कर दिया था। हालांकि वह मशीन के सहारे सांस ले रहे थे, उनके गले से होते हुए पेट तक एक ट्रेचोस्टॉमी ट्यूब लगाई गई थी जिसके जरिए वह सांस ले रहे थे, लेकिन फिर भी आखिरकार करीब नौ साल बाद 72 वर्ष की उम्र में वह जिंदगी की जंग हार गए। मंगलवार यानी 20 नवम्बर, 2017 को उनका अंतिम संस्कार प. बंगाल के रायगंज में किया गया।

प. बंगाल के अपोलो अस्पताल में जब प्रियरंजन दास मुंशी का इलाज चल रहा था, तो आम चुनाव में काँग्रेस ने उनकी जगह उनकी पत्नी दीपा दास मुंशी को टिकट दिया। और उन्होंने यह चुनाव जिस आसानी से जीता, वह बताता है कि प्रियरंजन दास मुंशी का अपने मतमदाताओं पर किस तरह का असर था। 2009 के इस आम चुनाव के वक्त जब सत्ता में लंबा दौर गुज़ारने के बाद प. बंगाल में वामपंथी दल अपने सूर्यास्त की ओर बढ़ रहे थे और ममता बनर्जी की तृणमूल कांग्रेस का उदय हो रहा था तब भी उन्होंने काँग्रेस की प्रासंगिकता बनाए रखी।

प्रियरंजन दास मुंशी का महत्व यह था कि उन्होंने उस दौर में भी जब वामपंथी दलों का सूर्यास्त तथा तृणमूल काँग्रेस का सूर्योदय हो रहा था, प. बंगाल में न सिर्फ अपनी राजनीति, बल्कि अपनी काँग्रेस पार्टी की प्रासंगिकता बनाए और बचाए रखा। एक तरह से देखा जाए तो दास मुंशी जी का पूरा राजनीतिक जीवन ही इस तरह की विपरीत स्थितियों से लड़ते और उलझते हुए बीता और इसके साथ ही उनका राजनीतिक कद भी लगातार

बढ़ता चला गया। हालांकि यह भी सच है कि 34 साल तक प. बंगाल में वाम मोर्चे ने इस तरह राज किया कि काँग्रेस प. बंगाल में लगभग अप्रासंगिक हो चुकी थी, ऐसे वक्त भी दास मुंशी जी का राजनीतिक जीवन इस तरह की विपरीत स्थितियों से लड़ते और झगड़ते हुए बीता और इसके साथ ही उनका राजनीतिक कद भी लगातार बढ़ता चला गया।

मेरा तो यह मानना है कि प्रियरंजन दास मुंशी प. बंगाल के उन काँग्रेस नेताओं में नहीं थे, जो राज्य सभा के जरिए दिल्ली की राजनीति में सक्रिय होने के रास्ते तलाशते थे। दौर कैसा भी हो, वे सदैव जनता के हित की बात कहते और करते रहे। यहाँ तक कि माकपा और तृणमूल काँग्रेस की छापामार शैलीवाली राजनीति में भी उन्होंने न सिर्फ चुनाव लड़े, बल्कि जीत भी हासिल की। हाँ, 1977 के चुनाव अपवाद जरूर हैं, जब इंदिरा विरोधी लहर में उन्हें चुनाव हारना पड़ा, उसके बाद उन्होंने तकरीबन हर आम चुनाव में जीत दर्ज की। यह अलग बात है कि इस बीच उन्हें अपना चुनाव क्षेत्र बदलना पड़ा। यही वह दौर भी है कि जब प.बंगाल का राज काँग्रेस की झोली से निकल गया और फिर कभी नहीं लौटा। तृणमूल काँग्रेस के जमीन पकड़ने के बाद तो काँग्रेस वहाँ हाशिए का दल बनकर रह गया, लेकिन प्रियरंजन दास मुँशी कभी हाशिए में नहीं गए।

नि:संदेह मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं कि आज जब काँग्रेस को प्रियरंजन दास मुंशी जैसे समर्पित नेता की जरूरत थी उन्होंनें अपने जीवन से ही विदा ले ली है। उनके असामयिक निधन से न केवल काँग्रेस जैसी राष्ट्रीय पार्टी का ही नहीं, बल्कि पूरे देश का नुकसान हुआ है, क्योंकि वे ऐसे राजनेताओं में गिने जाते थे, जो किसी भी राजनीतिक पार्टी और विचार के नेता से संवाद स्थापित कर लेते थे। 2008 में जब डॉ. मनमोहन सिंह की सप्रंग सरकार के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव लाया गया था, तो उस समय प्रियरंजन दासमुंशी संसदीय कार्य मंत्री थे और उनके इसी गुण ने प्रस्ताव को मात देने में बड़ी भूमिका निभाई थी।

भोला प्रसाद सिंह : जो समाजवादी आंदोलन के शीर्षस्थ राजनेताओं में से एक थे

निजी जीवन हो या इतिहास का मामला, अतीत को न तो पूरी तरह भुलाया जा सकता है और ना हा पूरी तरह लौटाया जा सकता है। व्यक्तिगत जीवन की तरह इतिहास भी यादों और यादगारों का एक ढेर है, जिसमें से चुन-चुनकर कुछ चीजें और कोई ढर्रा समय-समय पर अपनाया जाता है। सब कुछ हासिल करने या सारा कुछ खोकर, अंत में किसी भी व्यक्ति के हाथ जो आता है वह केवल स्मृतियाँ हैं। और कुछ दूसरी चीजें उस तरह 'अपनी' नहीं होतीं जिस तरह की स्मृतियाँ। भरसक इसी वजह से अनुभव की स्मृति और स्मृति को संवेदना में बदलने का मैंने प्रयास किया है। कारण कि जीवन सिर्फ वर्तमान में चरितार्थ नहीं होता है वह तो शाश्वत है। हमारा अतीत यदि स्वर्णिम है तो उसकी स्मृति क्यों न रहे और स्मृति भी तो परोक्ष साक्षात्कार है। इसी कड़ी में मेरे जीवन के साथ समाजवादी आंदोलन के शीर्षस्थ राजनेता भोला प्रसाद सिंह की जो स्मृतियाँ जुड़ी हैं वे मेरी अमूल्य निधि हैं और मै संदैव उनसे प्रेरणा ग्रहण करता हूँ।

मैं यह संस्मरण सिर्फ भोला प्र. सिंह, जिन्हें डॉ. राममनोहर लोहिया के समर्थक आदर भाव से 'भोला बाबू' कहा करते थे, की स्मृति को समर्पित है। भोला बाबू का जन्म पैत्रिक गाँव बिहार राज्य के नालन्दा जिलांतर्गत सेवदह में न होकर 1 जनवरी, 1932 को पटना में हुआ था एक किसान परिवार में। कुछ इसी के चलते उनके जीवन का अधिकांश समय पटना में गुजरा और यहीं से वे दूसरी दुनिया के लिए प्रस्थान किए।

दिल्ली विश्वविद्यालय से बी.ए. ऑनर्स करने के बाद भोला प्रसाद सिंह ने पटना विश्वविद्यालय से बी.एल. किया। फिर कुछ वर्षों तक पटना उच्च न्यायालय में उन्होंने वकालत करने के बाद समाजवादी आंदोलन से आकृष्ट होकर डॉ. राममनोहर लोहिया के बताए रास्ते पर जो चलना शुरू किया उसे उन्होंने अपने जीवन के अंतिम क्षण तक निभाया। जननायक कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व में रहकर भोला बाबू ने समाजवादी आंदोलन की आवाज को बुलन्द किया। समाजवादी विचारधारा के इस करिश्माई नेता को समाज कल्याण में भी खासी रुचि रही। वक्तृत्व कला के धनी प्रतिभा संपन्न, संभावनाशील, हाजिरजवाबी और हरफनमौला राजनीतिज्ञ भोला बाबू अपने तीन भाइयों में

सबसे बड़े थे। इनके मंझले भाई महालेखाकार कार्यालय, राँची में मेरे सहकर्मी तथा छोटे भाई दूरसंचार विभाग में कार्यरत थे।

भोला बाबू ने जहाँ समाज के दबे-कुचले लोगों की आवाज को बुलन्द किया, वहीं समाज के कमजोर वर्गो को मुख्य धारा में लाने के लिए संघर्षरत भी रहे। अपने लंबे जीवन काल में समाजवाद और राजनीति के विभिन्न पक्षों को न केवल उन्होंने प्रभावित किया, बल्कि कमजोर वर्गों के हर कदम के साथी रहे।

भोला बाबू से मेरे पिताजी का निकट संबंध था, क्योंकि पिताजी अपने पंचायत के दो दशक तक मुखिया पद पर रहने की वजह से भोला बाबू की राजनीति से वे बहुत प्रभावित थे और जीवन पर्यन्त मेरे पिताजी ने उनका साथ दिया। पिताजी की वजह से ही भोला बाबू से मेरी भी अंतरंगता हो गई थी और मेरा भी उनका घर आना-जाना लगा रहता था। 1977 के हरनौत विधानसभा चुनाव में जहाँ हमारे पिताजी ने भोला बाबू का साथ दिया था, वहीं जे. पी. आंदोलन और संपूर्ण क्रांति की उपज नीतीश कुमार को मैंने सहयोग और समर्थन किया, मगर पिताजी की जीत और मेरी हार हो गई थी। भोला बाबू 1962, 1968 और 1998 में बिहार विधान परिषद के सदस्य तो रहे ही, साथ ही बिहार के मंत्री तथा बिहार नागरिक परिषद के मंत्री का दर्जा प्राप्त वरीय उपाध्यक्ष भी रहे।

भोला बाबू का राजनीतिक जीवन संघर्षो से भरा था। वे किसानों के सदैव हितैषी और ग्रामीण जनता के सुख-दुःख के साथ रहे। उन्होंने राजनीतिक समस्याओं के समाधान में अपने विलक्षण निर्णयों से राज्य की राजनीति को प्रभावित किया। भोला बाबू की कृतियों और बिहार के उत्थान में उनके योगदान को आज जब मैं याद करता हूँ तो वर्तमान दौर की बिहार की राजनीति में जयप्रकाश नारायण, कर्पूरी ठाकुर को छोड़कर कोई दूसरे नेता इनकी पंक्ति में खड़े नहीं दिखाई पड़ते। दरअसल, सुरेन्द्र मोहन, किशन पटनायक, नरेन्द्र देव, राजनारायण, डॉ. राम मनोहर लोहिया, आचार्य जे.बी. कृपलानी, सुचेता कृपलानी आदि नेताओं का जो दौर था उसके भोला प्रसाद सिंह भी एक सिपहसलार थे। सच तो यह है कि बागियों की अपनी जाति होती है और सरकारों की भी। बड़े शौक से आज भी बागी, अपने माथे पर लाठी खा लेते हैं, क्योंकि उसके मुआवजे में उन्हीं में से किसी बागी के माथे पर आगे चलकर मंत्री व मुख्यमंत्री का सेहरा भी बँध जाता है। भोला बाबू भी एक ऐसे ही शख्सियत थे जिनके सिर पर बिहार के लोकल स्वायत

शासन के मंत्री का सेहरा बँधा था। इतिहास इसी तरह अपने को दुहराता है।

सामान्य बातचीत और दूरभाष-चर्चाओं में भोला बाबू की प्रतिबद्धता तथा सक्रियता प्रायः देखी जाती रही है। वे बड़े कद के महत्वपूर्ण, किंतु परिवर्तनशील राजनेता थे। वे पूँजीवादी-साम्राज्यवाद और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के घोर विरोधी थे और देश-काल के मुताबिक उनके कार्यकलापों में राजनीतिक हस्तक्षेप की सघनता को विचार-विस्तार साफ-साफ देखा जा सकता है। चर्चित-अचर्चित की बाजारवादी मूल्यपरकता के स्वभावगत आश्रय से वे नितांत मुक्त थे। भोलाबाबू तथाकथित संभ्रांतता से मुक्त हमेशा आग, गुस्से और निडरता से भरे रहते थे। यही उनके व्यक्तित्व की मासूमियत भरी खास पहचान बन गई थी।

संस्मरण व्यक्ति के निजी आख्यान होते हैं जिनमें बहुधा बाहरी और भीतरी संसार को देख-समझ पाने का रास्ता छिपा होता है। हमने जो यह भोला बाबू पर संस्मरण लिखा है इसे पढ़ना उस गुजरे वक्त की समृद्ध झलक पाने जैसा है जो लौटकर पुनः आ तो नहीं सकता, लेकिन हमारे भीतर कुछ बेहतर की कामना जग सकती है। इस संस्मरण में मैंने भोला बाबू के विराट व्यक्तित्व को प्रामाणिकता और हार्दिकता से जानने जैसा हमारा दुर्लभ अनुभव है जिसमें मेरे हवाले से भोला बाबू जैसे सक्रिय और कर्मयोगी राजनेता के अंतिम दौर में विक्षिप्त हो जाने की करुण कथा भी आपको मिलते हैं। हाँ, 30 सितम्बर, 2017 को 68 साल की उम्र में जब भोला बाबू हम सबको छोड़ चले गए उसके पूर्व वे कई वर्षो तक अस्वस्थ अवस्था में शय्या पर पड़े रहे। बीच-बीच में मैं उनके स्वास्थ्य का हाल-चाल लेने के लिए उनके सरकारी निवास में जाया करता था। कई बार तो उनके आप्त सचिव रहे सुधीर कुमार जी दूरभाष पर मुझे सूचित किया करते थे कि भोला बाबू मुझे याद कर रहे हैं। दरअसल, मेरा उनसे पारिवारिक संबंध था और मेरे पिताजी के समय से ही यह संबंध चला आ रहा था जिसे मैंने भोला बाबू के साथ अंतिम वक्त तक निभाया। भोला बाबू अपने समय के महानायक सदृश राजनेताओं के व्यक्तित्व की विराटता के मद्देनजर उनमें मौजूद हिम्मत, विडम्बनाओं-विसंगतियों को मैं नहीं भूलता। पूरे जीवन में उन्होंने जो कुछ किया और इस राज्य के साथ राष्ट्र को दिया उसे बार-बार तलाशने की जरूरत है, क्योंकि उनके द्वारा निभाए गए दायित्व केवल दरवाजे खटखटाने वाले नहीं थे, बल्कि पूरी जिम्मेदारी से किए गए कर्म थे। आज जब मैं उनके व्यक्तित्व-कृतित्व को स्मरण कर रहा हूँ तो उनके वाद-विवाद-संवाद का समूचा परिदृश्य उपस्थित हो उठता है जो अब एक दस्तावेज की तरह भी उपयोगी है।

पी.के. सिन्हा :
जिन्होंने कभी मूल्यों से समझौता नहीं किया

नि:संदेह घर-भीतर अकेले अंतर्मूखी जीवन जी रहे इस देश के नागरिक जहाँ लोकतांत्रिक सरोकारों तथा आसपड़ोस से कटकर असामाजिक तत्व बनते जा रहे हैं और सूचना-क्रांति के होने से जहाँ दुनिया लोकतंत्र विमुख मानवता विरोधी एक-दूसरे के सुख-दुख से तटस्थ काठ बनती जा रही है, वहीं पटना जिला के विरौल गाँव में 1 जनवरी, 1936 में जन्में पी. के. सिन्हा जनता के मुद्दों के लिए आजीवन लड़ते रहे और कभी मूल्यों से समझौता नहीं किया, ताकि बाद की पीढ़ियों को बहुत कुछ सुनहरा मिल सके। आखिर तभी तो फुटपाथी दुकानदारों से लेकर वैसे तमाम जमातों की लड़ाई उन्होंने खूब लड़ी, जिनकी आवाज बनना शायद ही कोई चाहता है। 1958 से 1961 तक शिक्षक रहे पी. के. सिन्हा का 1961 में ही बिहार प्रशासनिक सेवा के लिए चयन हो गया और बिहार सरकार के उप समाहर्ता के विभिन्न पदों पर रहने के बाद 1980 में उन्होंने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया और बिहार की राजनीति में शामिल हो गए। 1984 में पी. के. सिन्हा जनता पार्टी के महासचिव बने और 1990 से 1993 तक समाजवादी पार्टी के अभियान समिति के वे अध्यक्ष रहे। फिर 1993 में ही समता पार्टी के प्रवक्ता बने। राजनीति में आने के बाद तो मानो जीवट के प्रतीक से बन गए। कोई साथ आया, तो ठीक, नहीं तो 'एकला चलो' के ठोस अंदाज के साथ बढ़ते गए। समता पार्टी को खड़ा करने में उन्होंने बड़ी भूमिका निभाई।

आज के परंपरागत समाज में जहाँ लोग आत्मकेंद्रित होते जा रहे हैं और जिस प्रकार स्वार्थ, वंशवाद, परिवारवाद तथा ऐन-केन-प्रकारेण धनार्जन कर जहाँ सत्ता की चाह ने राजनीतिक दलों एवं उसके राजनेताओं द्वारा समाज को व्यक्तिविहीन कर दिया जाता है और आम जनता सत्तातंत्र की बंदी हो जाती है, पी. के. सिन्हा ने आमजन के प्रति अपनी सदाशयता और उदारता के बल पर अपनी एक अलग पहचान बनाई। शायद इकबाल ने कभी लिखा था-

'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहां हमारा।'

वह न मिटने वाली हस्ती किस बात की रही होगी। शायद इससे

उनका आशय हिंदुस्तान के त्याग, बलिदान और उसकी आध्यात्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक ऊँचाई से रहा होगा। पर जहाँ वह हमारी हस्ती तो आज गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा, भ्रष्टाचार और मानव विकास के वैश्विक सूचकांक में हमें सबसे निचली पायदान पर हाँफती मिल रही है, किंतु वही पी. के. सिन्हा जी जैसे उदार मानसिकता और समाज की निचली पंक्ति पर खड़े लोगों के लिए कुछ कर गुजरने की तमन्ना से तो हमारी वर्षों और सदियों की हस्ती का भी पता चलता है, भले ही ऐसे लोगों की तायदाद गिनती के हों। यही आप देखिए न, मौजूदा दौर की जो राजनीति है उसमें लोकतंत्र की आड़ में अपनी सारी शक्ति जहाँ नेता अपने हाथ में कर लेना चाहते हैं और जनता को सब्जबाग दिखाते हैं, वहीं पी. के. सिन्हा जैसे भी राजनेता हुए जिनपर राजनीति में रहते हुए भी अथवा उपसमाहर्ता के पद पर सरकारी सेवा के दौरान भी किसी ने कभी ऊँगलियाँ नहीं उठाई। हमारी दृष्टि में नेता वही है, जिसके कर्म और वचन में कोई अंतर न हो। पी. के. सिन्हा ऐसे ही नेताओं में से एक थे जिनपर आजीवन किसी तरह के आरोप नहीं लगे। यही नहीं वे बराबर कहा करते थे कि कोई भी कानून केवल जनता पर ही नहीं, सरकार पर भी लागू किए जाने की जरूरत है। प्रभात कुमार सिन्हा जिन्हें लोग पी. के. सिन्हा के नाम से जानते थे कुछ महीनों से अस्वस्थ चल रहे थे, क्योंकि घर में ही पैर फिसल जाने की वजह से पैर में मोच आ गया था और उन्होंने बिछावन पकड़ लिया था। विगत 29 जून, 2017 को 80 वर्ष की उम्र में उनका देहावसान हो गया और हम जैसे हजारों शुभेच्छुओं, मित्रों, सहकर्मियों को छोड़ वहाँ चले गए जहाँ से कोई वापस नहीं आता।

आज जब पी. के. सिन्हा जी भौतिक रूप से तो हमारे बीच नहीं हैं, मगर उनके द्वारा आमजन के लिए किए गए कार्यों से वह हम सभी शुभेच्छुओं के मानस-पटल पर उनके चित्र उभरकर आ रहे हैं। मैं उनके पारिवारिक रूप से भी जुड़ा रहा, क्योंकि एक तो सिन्हा जी मुझे अनुजवत् मानते थे दूसरी यह कि उनकी माँ जो 'माताजी' के नाम से सुपरिचित समाज सेविका थीं मुझे पुत्रवत्-सा प्यार देती थीं और उनके चिकित्सक पिताजी का भी स्नेह अपार था।

आज जब मैं सिन्हा जी का स्मरण कर रहा हूँ, तो उनकी प्रगतिशीलता, उनकी विवेक दृष्टि, तार्किकता आदि उनके व्यक्तित्व के एक-से-एक गुणों को मैं विस्मृत नहीं कर सकता। भारतीय समाज की मूढ़ता, विवेकहीनता, स्वार्थपरता, क्षुद्रता, सांप्रदायिकता, जड़ता, अशिक्षा और धर्मांधता

को हटाकर उन्होंने उसे विवेकवान, दृष्टि-संपन्न, विचारवान, शिक्षित और समझदार बनाने का अकेले जो काम किया वह उनके समय से आज कितने लोग कर पा रहे हैं। उन्हें हम देखें और उन्हें याद कर आज के समय को देखें तभी हमें पी. के. सिन्हा का और नेताओं एवं राजनीतिक दलों आदि के महत्व का पता चलेगा।

इंसान की यह मनोदशा बन जाती है कि वह समय से बचने की चेष्टा करे। हमारा सारा जीवन इसी चेष्टा का उदाहरण बनता जाता है और एक दिन खत्म हो जाता है। पी. के. सिन्हा जी का जीवन इसी तरह का था। वह अपनी जीवन-यात्रा को दिशा देने, अर्थ देने की तरकीब ढूँढ़ निकालते थे। अपनी यात्रा पर उनका नियंत्रण होता था। समय में की गई उनकी ऐसी ही यात्राओं ने जीवन और समय को बदला है, जिंदगी को माने दिए हैं और यह सिखाया है कि वख़्त कोसने या पूजित होने की चीज नहीं है, बल्कि अपनी जिंदगी और सोच से उसे नया अर्थ दिया जाना चाहिए। मैंने प्रभात जी को इसी रूप में देखा है और उस दृढ़ इंसान की स्मृतियाँ हमारे अवचेतन में बसी हैं। मुझे आज लगता है कि अतीत में कोई वख़्त था जब किसी की जिंदगी ज्यादा सच्ची, ज्यादा आसान और ज्यादा मूल्यवान थी। हालांकि यह भी सच है कि हर वख्त या यों कहा जाए कि हर युग की अपनी जटिलताएँ और संघर्ष होते हैं। हर जमाने में इंसानों ने जिंदगी के कई-कई रंग देखे। पी. के. सिन्हा ने भी अपनी जिंदगी के कई-कई रंग देखे और इस इंसान को अपने अंतर्मन से भी जूझना पड़ा और अपने से बाहर फैली व्यवस्था, समाज और राजनीति गलियारे से भी। आखिर तभी तो उन्हें अपने दल के नेतृत्व से भी टकराना पड़ा और इतिहास की शक्तियों से भी संघर्ष करना पड़ा। उनकी जिंदगी इन्हीं संघर्षो की कहानी है। लोगों को इस बात की चेतना हो या न हो, पर प्रभात जी अपने जीवन में कई स्तरों पर समय से ही टकराए और चुनौतियों का उन्होंने सामना किया। उनका सारा जीवन इन्हीं संघर्षो और चुनौतियों का उदाहरण बना। आज जब वे हमारे बीच नहीं हैं उनके इसी संघर्ष और चुनौतियों को साहस के साथ सामना करने से हमें प्रेरणा लेनी है। बस अपने चंद इन्हीं शब्दों के साथ जोश मलीहाबादी की ग़ज़ल की इन दो पंक्तियों से उनकी स्मृति को मैं श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ-

'चल रहे हैं जिंदगी पर, चाँदनी के नश्तर,
चुभ रही है दिल में पुरवाई, किसे आवाज दूँ।'

शाहिद अली खान :

जो एक कुशल राजनेता और सरल-सौम्य व्यक्ति के तौर पर जाने जाते थे

बिहार सरकार के पूर्व मंत्री शाहिद अली खान लोकप्रिय राजनीतिज्ञ के साथ-साथ एक नेक दिल इंसान रहे हैं। वे कुशल राजनेता और सरल-सौम्य व्यक्ति के तौर सदैव जाने जाते रहे हैं। बिहार के सीतामढ़ी जिले के पुपरी निवासी 1990 से कई बार सीतामढ़ी, पुपरी और सुरसंड से विधायक चुने गए थे। मो. खान जीतन राम मांझी के नेतृत्ववाली बिहार सरकार में अल्पसंख्यक कल्याण और सूचना तकनीक मंत्री रहे थे। पूर्व में वे जद(यू) में थे। फिर 'हम' में शामिल हो गए थे। 2015 के बिहार विधान सभा चुनाव में उन्हें राजद के अबु दोजाना के हाथों हार का सामना करना पड़ा। उनका एक लंबा सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन रहा। हिंदुस्तानी आवाम मोर्चा (हम) के वे राष्ट्रीय कार्यकारी अध्यक्ष थे।

शाहिद अली खान का निधन अजमेर में दिल का दौरा पड़ने से हो गया। वह एक सरल और सभी के दिल में बसने वाले अलौकिक व्यक्तित्व के नेता थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके निधन से राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में अपूरणीय क्षति हुई है। 1990 में पहली बार सीतामढ़ी विधान सभा क्षेत्र से जनता दल के टिकट पर विधायक निर्वाचित होने वाले शाहिद अली खान उस समय बिहार से सबसे कम उम्र के विधायक थे। 2000 में राजद के टिकट पर सीतामढ़ी से चुनाव जीते और 2005 में जद(यू) के टिकट पर पुपरी तथा 2010 में सुरसंड से विधायक बने। 1995 से 2000 तक मो. खान लगातार वियाडा के भी अध्यक्ष के पद पर रहे। पाँच भाइयों मो. शाहिद अली खान दूसरे नम्बर पर थे। उनके अनुज डॉ. साजिद अली खान, ई. तारिक अली खान और बड़े भाई व पूर्व जिला पार्षद खालिद अली खान थे और मो. शाहिद अली खान की तीन पुत्रियाँ व पत्नी हैं। मो. शाहिद अली खान की दो पुत्रियाँ लखनऊ के मेडिकल कॉलेज से एमबीबीएस कर रही हैं। शाहिद अली खान ने राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में जो उपलब्धियाँ हासिल कीं उसे बिहार के लोग नहीं भूल पाएँगे। सरल स्वभाव एवं मृदुभाषी व्यक्तित्ववाले राजनेता होने की वजह से वे काफी लोकप्रिय तो थे ही, समाज के सभी लोगों से हमदर्दी और सहानुभूति रखने वाले इंसान भी थे। बहुत कम उम्र में ऐसा नेक दिल इंसान अल्लाह को प्यारे हो गए। उनकी स्मृति को नमन।

<u>माधव राव सिंधिया</u> :

जो काँग्रेस की एक बुलंद आवाज़ थे

विगत 30 सितंबर, 2001 ई० को दिल्ली से कानपुर जा रहे एक विमान के मैनपुरी के पास दुर्घटनाग्रस्त हो जाने के कारण वरिष्ठ नेता माधव राव सिंधिया का निधन हो गया। ग्वालियर के शाही परिवार में 10 मार्च, 1945 ई० को जन्मे स्व० माधव राव सिंधिया पहली बार महज़ 26 वर्ष की उम्र में जनसंघ समर्पित स्वतंत्र उम्मीदवार के तौर पर 1971 ई० में पाँचवीं बार लोकसभा के सदस्य चुने गए। फिर लगातार तेरहवीं लोकसभा तक कुल नौ बार निर्वाचित होते रहे। एक बार 1984 में ग्वालियर संसदीय निर्वाचन क्षेत्र से उन्होंने अटल जी जैसे दिग्गज नेता को भी दो लाख से अधिक मतों से पराजित किया था इस बीच वे केंद्रीय नागरिक उड्यन एवं पर्यटन मंत्री से लेकर मानव संसाधन विकास तथा रेल मंत्री भी रहे।

काँग्रेस के इस करिश्माई नेता को समाज कल्याण में ख़ासी रुचि रही। वे देश के उन साऱे नेताओं में से रहे, जिन्होंने शिक्षा, वन्य जीव संरक्षण और खेलकूद को प्रोत्साहन देने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी। निधन के पूर्व तक वे संसदीय दल के उपनेता थे, किंतु सोनिया की अनुभवहीनता की वजह से व्यावहारिक तौर पर वे नेता का ही काम कर थे।

इधर पिछले कई वर्षों में काँग्रेस के जितेन्द्र प्रसाद, राजेश पायलट तथा माधव राव सिंधिया जैसे प्रखर नेताओं के देहावसान से काँग्रेस पार्टी को विशेष रूप से न केवल अपूरणीय क्षति पहुँची है, बल्कि काँग्रेस के लिए स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण है। देश की जनता माधव राव सिंधिया को भावी प्रधानमंत्री के रूप में देख रही थी।

खेल के विकास में माधव राव सिंधिया की ख़ास दिलचस्पी थी। जबर्दस्त खेल-प्रेमी सिंधिया खुद भी क्रिकेट, ब्रिज तथा गोल्फ़ के अच्छे खिलाड़ी थे। 1990-91 से 1992-93 तक उन्होंने क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड के अध्यक्ष पद को संभाला और उनके नेतृत्व में क्रिकेट प्रशासन नई उँचाइयों को छुआ। उनके निधेन से देश के खेल विशेषकर क्रिकेट जगत ने एक शुभचिंतक खो दिया।

इस विमान दुर्घटना में माधव राव सिंधिया के अतिरिक्त

आजतक के विशेष संवाददाता गोपाल विष्ट, हिंदुस्तान टाइम्स की अंजू शर्मा, विशेष संवाददाता संजीव सिन्हा तथा माधव राव सिंधिया सिंह सहित पायलट विवेक गुप्ता एक महिला की भी मौत हो गई। ये चारों पत्रकार अपने पेशे के प्रति समर्पित थे।

माधव राव सिंधिया में आधुनिकता और परंपस का अद्भुत समन्वय था। ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय से शिक्षा पाए सिंधिया में नेतृत्व करने तथा प्रशासनिक क्षमता के कारण युवा पीढ़ी ने न केवल एक नायक खोया, बल्कि ईमानदार, गंभीर, जुझारू तथा लोकप्रिय नेता के रूप में माधव राव सिंधिया राजनीति में नैतिकता के पक्षधर थे तथा स्थितियों का सामना भी संयमपूर्वक करते थे। माधवराव सिंधिया अपनी पत्नी माधवी राव सिंधिया, पुत्र ज्योतिआदित्य, देश के हज़ारों शुभेच्छुओं को छोड़ गए हैं।

❖❖❖

प्रमोद महाजन : जिनका निधन पारिवारिक मूल्यों के टूटने का भयानक प्रतीक बना

सत्ता के गलियारे और राजनेताओं की भीड़ में प्रमोद महाजन एक अलग किस्म के बिल्कुल अलहदा व्यक्ति थे- ठीक वैसे ही जैसे राजेश पायलट, कुमार मंगलम, कृष्ण कांत, मधु लिमये, कर्पूरी ठाकुर, मधु दंडवते और माधव राव सिंधिया थे। वक्तृत्व कला के धनी, प्रतिभासंपन्न, संभावनाशील, हाज़िरजवाब और हरफ़नमौला राजनीतिज्ञ प्रमोद महाजन का आकस्मिक देहावसान किसी को भी आश्चर्य में डालने वाला था, ख़ासकर तब जब वे अपने सगे छोटा भाई प्रवीण महाजन की गोलियों का शिकार हुए, जिसे वह सबसे अधिक चाहते थे। कहा तो यहाँ तक जाता है कि प्रमोद महाजन अपने छोटा भाई प्रवीण को बाप-सा प्यार देते थे और उसे एक सामाजिक जीवन जीने का मौक़ा उन्होंने उपलब्ध कराया था। उनकी मृत्यु की यह घटना इस तथ्य को उजागर करती है कि यह दुर्घटना भारतीय समाज और राजनीति में बहुत-सी प्रवृत्तियों की एक घनीभूत अभिव्यक्ति है और प्रमोद महाजन का यह निधन पारिवारिक मूल्यों के टूटने का भयानक प्रतीक भी बना है।

परिवार, समाज व देश के सभी स्तरों पर आज जो असहिष्णुता दिखाई दे रही है, परिवार टूट रहे हैं, इसके दुष्परिणाम से तो भावी पीढ़ी को जूझना ही पड़ेगा और वे हमारे इस अपराध को कभी माफ़ नहीं करेंगे। दरअसल, भौतिकता की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि यह खंडित समाज के साथ-साथ खंडित चरित्र को भी जन्म देता है और उसे स्वार्थी एवं आत्मकेंद्रित भी बनाता है। आज के खंडित समाज में प्रवीण का खंडित चरित्र और उसके स्वार्थी एवं आत्मकेंद्रित होने का ही दुष्परिणाम है प्रमोद महाजन की जघन्य हत्या।

मुंबई जैसे आधुनिक और सुरक्षित तथा अमीरों के चर्चित इलाके वर्ली के वीआईपी बिल्डिंग पूर्णा में प्रवेश कर एक शख़्स रिवाल्वर से देश के रक्षा राज्यमंत्री रह चुके प्रमोद महाजन पर हिंदी फ़िल्मों की पटकथा के अंदाज़ में अँधाधुंध फ़ायरिंग से उसे छलनी करता है और स्वयं को वर्ली थाने में समर्पित कर देता है, यह अपने आप में एक आश्चर्यजनक घटना है जिसे परिवार और समाज के विघटन के रूप में देखा जा सकता है। श्री

वेंकटेश और श्रीमती प्रभा देवी महाजन के तीन पुत्रों में प्रमोद महाजन सबसे बड़े और प्रकाश एवं प्रवीण महाजन उनके मंझले और छोटे भाई थे। रेखा जी को प्रमोद महाजन ने सन् 1972 ई॰ में अपनी जीवनसंगिनी के रूप में वरण किया, जिनसे बेटा राहुल और बेटी पूनम दो संतानें हैं। दोनों बहनों में बहन प्रज्ञा का विवाह भाजपा के वरिष्ठ नेता गोपीनाथ मुंडे से हुआ है।

प्रमोद महाजन मुँह में चाँदी का चम्मच लेकर सम्पन्नता के बीच पैदा नहीं हुए थे। महाराष्ट्र के एक छोटे से गाँव अंबेजोगाई से निकलकर देश की सत्ता की चाबी अपने हाथों में लेने वाले वे अपने कठिन संघर्ष के दम पर ही ऊँचाइयों को छूते जा रहे थे और वे एक ऐसे एकलौते शख़्स थे, जो लंबे समय तक सत्ता में नीतिनिर्माता बने रहे। एक समय हँसते हुए उन्होंने कहा था, जब मैं प्रधानमंत्री बनूँगा, तो अंबेजोगाई का सबसे प्रसिद्ध शख़्स कहलाऊँगा। शायद प्रमोद महाजन महाराष्ट्र के अकेले ऐसे नेता हुए जो देश भर में जाने-पहचाने जाते थे और साथ ही लोगों पर अपना अच्छा- -ख़ासा असर भी रखते थे। सच कहा जाए तो व्यावहारिक राजनीति की सम्भावनाओं से भरा पुरुष, भाजपा का लक्ष्मण के साथ-साथ प्रमोद महाजन को एक अमेरिकी शब्द 'रेन मेकर' कहना ज़्यादा उपयुक्त लगता है, क्योंकि वे किसी भी विपरीत परिस्थिति को विजय में बदलने की लगभग जादुई क्षमता रखते थे और निर्विवाद रूप से भाजपा की दूसरी पंक्ति के नेताओं में से योग्यतम और सर्वाधिक प्रतिभासंपन्न व्यक्ति रहे।

मुझे अच्छी तरह याद है बिहार विधान सभा चुनाव 2005 के चुनाव-प्रचार के दौरान सासाराम जिलांतर्गत नोखा में पूर्व केंद्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्री रविशंकर प्रसाद को जब गोली लगी थी, तो उस वक़्त चुनावी सभा में उपस्थित प्रमोद महाजन ने जिस तरीक़े से चीज़ों को मैनेज किया और और अपनी बेहतर नेतृत्त्व क्षमता का परिचय दिया था वह वाक़ई क़ाबिले तारीफ़ था। यानी कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी उनकी धैर्य और मैनेज करने की क्षमता का सब कोई क़ायल था। वे दल के निचले स्तर के कार्यकर्ताओं के घर जाकर भोजन करना पसंद करते थे। वे हमेशा कहते थे कि राजनीतिक जीवन के अंतर्गत राजनीतिक विरोध को कभी व्यक्तिगत विरोध नहीं बनाना चाहिए।

1990 का वर्ष भारतीय राजनीति में उथल-पुथल का दौर था, क्योंकि यह मंडल और मंदिर का दौर था और काँग्रेस भारतीय राजनीति से दूर हो गई थी। इसी समय प्रमोद महाजन ने राजनीति में राष्ट्रीय स्तर पर

छलांग लगाई थी, क्योंकि उन्हें भारतीय जनता युवा मोर्चा के अध्यक्ष पद पर बैठाया गया था। युवा मोर्चा के अध्यक्ष के रूप में वे अपनी वाक्पटुता, चतुराई, ऊर्जा तथा राजनेताओं एवं औद्योगिक घरानों से संबंधों के चलते काफ़ी मशहूर हो चुके थे। उन दिनों उनकी व्यस्तता इतनी बढ़ गई थी कि वे अपना नाश्ता प्रधानमंत्री के साथ दिल्ली में, दोपहर का खाना जयललिता के साथ चेन्नई में तथा रात्रिभोज अंबानी के साथ मुंबई में करते थे। एक कुशल धनबटोरु बन पाने की क्षमता रखने वाले प्रमोद महाजन का पाँच सितारा होटलों में इस काम के लिए शक्तिशाली पूँजीपतियों से मिलना-जुलना उनके स्वभाव के पूर्णतः अनुरूप था।

प्रमोद महाजन की सबसे बड़ी राजनीतिक जीत तब हुई जब वर्ष 2003 में राजस्थान, मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ के विधान-सभाओं के चुनावों में बड़ी चतुराई से उम्मीदवारों का चयन किया और हर चुनावी क्षेत्र में घर-घर चुनावी प्रचार करके भाजपा को उन्होंने सत्ता दिलाई। मगर वर्ष 2004 के लोक सभा चुनावों को उसके समयावधि के आठ माह पूर्व ही कराकर 'इंडिया शाईनिंग' का उन्होंने जो नारा दिया उसमें भाजपा को मुँह की खानी पड़ी, क्योंकि मतदाताओं ने इसे 'जले पर नमक छिड़कना' समझकर भाजपा के ख़िलाफ़ अपने मत का प्रयोग किया जिसकी वजह से प्रमोद महाजन की छवि थोड़ी धूमिल इसलिए हुई कि उन्हीं की सलाह पर आठ माह पूर्व लोक सभा का चुनाव कराने की घोषणा तत्कालीन भाजपा नीत केंद्र में राजग की सरकार ने की थी। संभवतः 'भारत उदय' का नारा भी उन्हीं का था। फिर भी अत्यधिक स्पष्टवादिता और निहित जोखिमों को तुरत समझने की क्षमता के चलते वे चीज़ों को जल्दी-जल्दी सीख लेते थे और संचार माध्यमों से निबटने की उन्होंने एक विवेकी विधि अपना ली थी। मगर अपनी सारी दुनियावी समझदारी के बावजूद उनकी सोच पूरी तरह से सांप्रदायिक बनी रही जबकि आज के परिवेश में सांप्रदायिक राजनीति में लोगों की कोई रुचि नहीं रह गई है। फिर भी पता नहीं क्यों सांप्रदायिक प्रणाली पर आधारित भारतीय राजनीति के पुनर्गठन के विचार या एक बहुधार्मिक-बहुसांस्कृतिक भारतीय पहचान के विरोध को उन्होंने कभी नहीं त्यागा। संभवतः संघ परिवार से हमेशा उनका मधुर संबंध भी इसका कारक रहा होगा।

ख़ैर जो हो, भारतीय युवापीढ़ी के प्रेरणास्रोत प्रमोद महाजन ने मात्र 57 साल की कम उम्र में ही जैसी राजनीतिक सफलता और ख्याति अर्जित की वह विरले लोग ही हासिल कर पाते हैं और सबसे बड़ी बात तो

यह है कि ये समस्त उपलब्धियाँ उन्होंने एक साधारण परिवार और ग्रामीण परिवेश से निकलकर स्वयं के बलबूते प्राप्त की थी। सच मानिए तो सच्चे अर्थों में ऊर्जावान, प्रतिभाशाली और गतिशील राजनीतिज्ञ प्रमोद महाजन न केवल अपनी वाक्‌पटुता और सांगठनिक क्षमता के लिए लंबे समय तक याद किए जाएँगे, बल्कि दलगत राजनीति से ऊपर उठकर महाराष्ट्र से बाहर राष्ट्रीय राजधानी से लेकर देश के प्राय: सभी क्षेत्रों में मित्र और संबंध बनाने के लिए जाने जाएँगे। भाजपा के थिंकटैंक और मुख्य कार्यकारी पदाधिकारी के रूप में चर्चित जिस शख़्स ने भाजपा जैसी राष्ट्रीय पार्टी का देश भर में प्रबंधन किया वह अपने ही घर-परिवार का प्रबंधन करने में असमर्थ रहा, कम से कम इनके साथ हुई घटना से तो यही उजागर होता है। हालांकि उनका राजनीतिक जीवन संभावनाओं से भरा था जिसे उनके सगे भाई प्रवीण ने केवल इसलिए धराशाई कर दिया कि प्रमोद उसे अपेक्षित मदद नहीं करते थे। प्रवीण से पूछ-ताछ, जाँच और छान-बीन के बाद निष्कर्ष चाहे जो निकले, मगर प्रवीण द्वारा गोली चलाने के पीछे का कारण उसकी मदद नहीं करना इस देश की जनता के गले के नीचे आज भी नहीं उतर पा रहा है।

महाराष्ट्र के एक छोटे-से गाँव में 30 अक्टूबर, 1949 ई० में जन्मे प्रमोद महाजन ने भौतिक विज्ञान में स्नातक की पढ़ाई पूरी करने के बाद राजनीति विज्ञान में स्नातकोत्तर किया, फिर पत्रकारिता में डिप्लोमा लेने के बाद मराठी दैनिक 'तरुण भारत' में बतौर उप संपादक उन्होंने पत्रकारिता की शुरुआत की और 57 वर्ष की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते भाजपा जैसी पार्टी के शीर्ष पर पहुँचने ही वाले थे कि खुदा ने उन्हें अपने यहाँ बुला लिया। यहाँ तक कि उनकी सलामती के लिए देश भर में की गई पूजा-अर्चना, महामृत्युंजय यज्ञ और सिद्धिविनायक की प्रार्थना भी जगन्नियंता ने स्वीकार नहीं किया। शायद, उन्हें उनकी अधिक ज़रूरत रही होगी। और तो और आठ सौ लीवर और पाँच दिन के बच्चे का लीवर प्रत्यारोपित कर गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड में अपना नाम दर्ज करा चुके अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त लंदन के डॉ० मोहम्मद रेला सहित ऑस्ट्रेलिया एवं भारत के विशेषज्ञ चिकित्सक की युद्धरत टीम भी महाजन को बचाने के लिए दिन-रात लगी रही। पर मौत पर आज तक किसी की जीत हो पाई है क्या?

सो यूरोप, अमेरिका, चीन और दक्षिण-पूर्व एशिया की सघन यात्रा कर चुके और ज़मीनी हकीकत से पैदा होकर हमेशा ज़मीन से जुड़े भाजपा के क़द्दावर और चमत्कारी नेता प्रमोद महाजन को अपने सगे

भाई की गोली का शिकार होकर मौत का मुँह देखना पड़ा और इस प्रकार राष्ट्रनिर्माण में एक प्रमुख भूमिका निभाने वाले शख़्सियत को खोकर राष्ट्र महरूम हो गया। पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने प्रमोद महाजन के असामयिक निधन पर ठीक ही कहा – "बिना बादल के बिजली गिरने की कहानियाँ हमने सुनी थीं, लेकिन आज खुद देख लिया। भारत की तरुणाई को पूरी तरह विकसित होने से पहले ही कालचक्र ने उसे हमसे छीन लिया।"

सचमुच भाजपा की राजनीति के एक शीर्ष शिल्पकार, जुझारू नेता और गठबंधन पर आधारित आधुनिक व्यावहारिक राजनीति में माहिर प्रमोद महाजन का न रहना भारतीय राजनीति को हमेशा खलता रहेगा। राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन को अस्तित्व में लाने का श्रेय प्रमोद महाजन को जाता है, जब उन्होंने जॉर्ज फर्नांडीस और ममता बनर्जी जैसे तेजतरार नेता को राजग का हमसफ़र बना दिया था, और भिन्न लोक समूहों को एक मंच पर लाने में उनकी सिद्धहस्तता सराहनीय थी। विवादों से निकल आने में उनका कोई जवाब नहीं था। वर्ष 2009 ई॰ का चुनाव प्रमोद महाजन का लक्ष्य था। नीतिनिर्माण कला का यह महारथी उस लक्ष्य की ओर बढ़ ही रहा था कि जीवन के सफ़र से 3 मई, 2006 को ही उसने विदा ले ली। बड़े गौर से सुन रहा था ज़माना, तुम्हीं सो गए दास्ताँ कहते-कहते। राजनीति का सचिन तेंदुलकर बनने के इच्छुक इस करिश्माई नेता को 'विचार दृष्टि' परिवार की ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि।

❖❖❖

गुरुसहाय लाल :

जो सामाजिक व राजनीतिक चेतना के प्रहरी थें

"जागरण हैं प्राण मेरा, क्रांति मेरी जीवनी हैं"

सामाजिक व राजनीतिक चेतना के प्रहरी गुरु सहाय लाल जी के संदर्भ में जब मैं जन चेतना के कवि केदारनाथ अग्रवाल की उपर्युक्त पंक्ति पर गौर करता हूँ, तो कविता की यह पंक्ति उनपर सटीक बैठती है, क्योंकि गुरुसहाय बाबू ने भी क्रांति और जागरण से बिहार के विशेष तौर पर नालंदावासियों की दिशाओं को घनघना दिया था। उनकी जीवनासक्ति को आज जब हम शहीद दिवस के अवसर पर 11 अगस्त को उन्हें स्मरण कर रहे हैं, तो इस बात पर विचार किया जाना चाहिए कि क्या पिछली सदी में उनके जैसा दूसरा बड़ा सामाजिक चेतना का हस्ताक्षर बिहार में पैदा हुआ था, जो अपनी धरती और अपने समाज से न सिर्फ प्यार करता हो, जुड़ा हो, बल्कि उसे पल-पल जीता रहा हो। बाबू गुरु सहाय लालजी को बिहार और उसके मगध अँचल से बहुत प्यार था और उनका अंत भी 1 नवंबर, 1949 को अपनी जनमभूमि नालन्दा जिलांतर्गत बादी गाँव जाते वक्त रास्ते में घोसरावाँ (पावापुरी) में हृदयगति के रूक जाने से अकस्मात् हो गया। 11 अगस्त, 1889 को जब से गुरु सहाय लाल जी का नालंदा जिला के गिरियक प्रखंड स्थित बादी गाँव के एक मध्यवर्गीय किसान परिवार में बुद्ध की पावन धरती पर अवतरण हुआ तब से वहाँ की मिट्टी की सोंधी गंध को अपने में समेटे और अबतक उनकी स्मृति को संजोए वहाँ के लोग उनके लोक जीवन से रिश्ता बनाए बैठे हैं।

कहना नहीं होगा कि बिहार सामाजिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक चिंतन, धार्मिक जीवन एवं विचार स्वातंत्र्य-संबंधी विशिष्टताओं के लिए प्रसिद्ध रहा है। भारत के राजनैतिक इतिहास में जहाँ देशरत्न डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, लोकनायक जयप्रकाश नारायण, डॉ० श्रीकृष्ण सिंह, वीरचंद पटेल, जननायक कर्पूरी ठाकुर, भोला पासवान शास्त्री, मजहरूल हक जैसे राजनीतिज्ञों का अवतरण हुआ, वहीं भारतीय इतिहास के वैदिक युग में ही यहाँ जनक एवं याज्ञवल्क्य जैसे चिंतनशील महापुरुषों तथा मैत्रेयी जैसी सुयोग्य विदुषी महिलाओं का आविर्भाव हुआ था और महर्षि विश्वामित्र जैसे क्रांत द्रष्टा ऋषि भी हुए थे। तीर्थंकर महावीर ने भी यहीं जन्म धारण किया था, तो भगवान बुद्ध ने भी यहाँ के बोध गया में ज्ञान प्राप्त कर बिहार को

ही अपना प्रधान कार्यक्षेत्र बनाया था। कालांतर में भगवान बुद्ध और महावीर की इस पावन धरती पर बाबू गुरु सहाय लालजी का आविर्भाव हुआ जिनके सफल कायों का महत्त्व आज तक वर्तमान दिखाई देता है। बिहार में ऐसे परिपक्व और राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना से भरपूर राजनेताओं की एक लंबी सूची है, जिन्होंने स्वतंत्रता-संग्राम में बढ़-चढ़कर अपनी भागीदारी का निर्वह्ण किया, जो अपने समय में काफी ख्यात थे, लेकिन काल-प्रवाह के थपेड़ों में पड़कर आज अतीत के गर्त में समाहित हो गए हैं। बाबू गुरुसहाय लाल जी भी ऐसे ही राजनेताओं में से एक थे, जिनके कार्यों का सर्वेक्षण एवं गहन अध्ययन राजनीतिक-सामाजिक इतिहास के लिए अत्यंत अपेक्षित है। बिहार के राजनीतिक इतिहास से यदि अल्पज्ञात इन राजनीतिज्ञों तथा सार्वजनिक जीवन जीने वालों के इतिहास को निकाल दिया जाए, तो उसकी काया वस्तुतः दुर्बल और निस्तेज हो जाएगी। इन राजनीतिज्ञों में अल्पज्ञात नेता गुरु सहाय लाल जी ने बिहार के ख्यात राजनीतिज्ञों की तरह ही जीवन की बाह्याम्यंतर शुद्धता और निर्मलता पर जोर दिया जिनसे विशृंखलित सामाजिक जीवन को पुनस्संघटित करने की प्रेरणा मिलती है। वे जीवन की समग्रता पर दृष्टि रखते हुए मनुष्य को जीने के योग्य और राजनेताओं को सही मार्ग दिखाते हैं। गुरु सहाय लाल जी द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श और विचार ही जन साधारण का पथ-प्रदर्शन और नियमन करता रहा है, मगर अभी संभवतः इनके संबंध में बहुत-सी ऐसी अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्रियाँ भी अँधेरे के गर्त में हैं, जिसकी ओर राजनीति व समाज के विद्वानों का पूरा ध्यान आकृष्ट नहीं हो सका है। अतः इसमें तनीक संदेह नहीं कि गुरुसहाय लाल जी के व्यक्तित्व व कृतित्व पर मेरे द्वारा किया जा रहा संस्मरण के रूप में समुचित प्रयत्न अत्यंत परिणामों का आधार बन सकेगा। लेखक व संपादक के नाते इनके व्यक्तित्व और कृतित्व को यहाँ संक्षिप्तः उजागर करने में मैं अत्यंत गर्व का अनुभव करता हूँ।

मगह अँचल की भूमि में जन्मे गुरु सहाय लाल राजनीतिक - सामाजिक साहित्य के एक ऐसे पुष्प हैं, जिनकी गँध से वह भूमिखंड आज भी सुवासित है। जो उन्हें जानते हैं उनका नाम सुनते ही अपनी संकुचित सीमाओं को त्यागकर उनके रंग में रंग जाते हैं और क्षण-भर के लिए ही सही, विदेह बन जाते हैं। इस महान हस्ताक्षर की खोज से संबद्ध जितनी सूचनाएँ मिलीं, उनसे केवल इतना ही सुनिश्चित हो पाया कि उनका मगध अँचल के नालन्दा जिलातंर्गत बादी ग्राम के एक किसान परिवार में हुआ था। बिहार के मगध क्षेत्र को ही उन्होंने अपनी कर्मभूमि बनाया। श्री मेघराज महतो

इनके पिता थे, जो अपने इलाके के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति तो थे ही, सोगरा स्टेट के मैनेजर भी थे।

हिंदी और फारसी भाषा के माध्यम से स्कूली पढ़ाई करने के बाद पटना कॉलेजियट से सन् 1908 में प्रथम श्रेणी में प्रवेशिका की परीक्षा उन्होंने उर्तीर्ण की। फिर पटना कॉलेज से उन्होंने 1910 में विज्ञान में इंटरमेडियट और 1912 में बी.एससी. पास किया। बाद फिर उसके कानून की बी.एल.डिग्री प्राप्त कर सन् 1916 से ही पटना में उन्होंने वकालत का पेशा अपनाया, क्योंकि आत्मसम्मानी होने की वजह से ब्रिटिश शासन के तहत नौकरी करना उन्होंने गंवारा नहीं समझा। वकालत करते वक्त उन्होंने सिर्फ धन आर्जित करना अपना लक्ष्य नहीं बनाकर समाज के कमजोर वर्गों में जागृति उत्पन्न कर शोषित, पीड़ित एवं दलित तथा पिछड़े-समूह को शोषण के खिलाफ आवाज उठाई।

गुरु सहाय लाल जी सन् 1924 में सक्रिय राजनीति में आए और बिहार उड़ीसा विधान परिषद के चुनाव में सफलता हासिल करने के बाद किसानों की समस्याओं को सरकार तक पहुँचाने तथा बिहार टेनेन्सी एक्ट में संशोधन वास्ते किसानों को गोलबंद करना उन्होंने प्रारंभ किया जिसका परिणाम यह हुआ कि टेनेन्सी एक्ट के दफा 112 के तहत किसानों को जमीन्दारों से राहत दिलाया। फिर 1937 में मुहम्मद यूनुस के मंत्रिमंडल में गुरुसहाय बाबू राजस्व मंत्री बने। इसके पूर्व 1922 से लगातार लंबी अवधि तक वे पटना जिला परिषद के चेयरमैन पद पर रहकर गाँव-गाँव में विद्यालय की स्थापना कर शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया।

बाबू गुरु सहाय लाल की बौद्धिक-सामाजिक क्रांति ने नि:संदेह न केवल उस अवधि में, बल्कि आज भी प्रकाश स्तंभ का काम कर रही है। नालंदा जिले के छात्र आज जो सूचना प्रौद्योगिकी से लेकर अभियंत्रण, मेडिकल तथा भारतीय प्रशासनिक सेवाओं में प्रत्येक वर्ष काफी संख्या में सफलता प्राप्त कर रहे हैं उसका बहुत कुछ श्रेय गुरु सहाय लालजी को इसलिए जाता है कि उन्होंने प्रारंभ से ही वहाँ के लोगों को परिश्रमी, परोपकार, अँधकार से रहित शिक्षा देकर चेतना फैलायी। ऐसे साहस, दृढ़ प्रतिज्ञता के सम्मुख सबकुछ जनमानस के दर्पण में प्रतिबिंबित होने की तरह सुस्पष्ट हो जाता है। वे सामाजिक भेदभाव के विरोधी थे और असमानता को समाज से उखाड़ फेंकना चाहते थे। यही कारण है कि ज्ञान को पढ़े-लिखे उच्च वर्ग की बपौती मानने वाले सामान्यजन में उन्होंने आत्मविश्वास का

संचार करने के लिए जी-तोड़ परिश्रम किया। धर्म की आड़ में अनपढ़ जनता को ठगने वाले, जन-भावनाओं को लूटने वालों के खिलाफ जनरुचि को परिष्कृत करने के लिए उन्होंने आचरण शुद्धि पर बल दिया। उसी का नतीजा है कि नालंदावासियों को विरासत के रूप में आचार, शील, चरित्र जैसी संपदा आज मिली हुई है। आखिर नालंदा देश का वह केंद्र है जहाँ गौरवशाली इतिहास की झलक मिलती है और जिसकी चर्चा विश्वभर में होती रही है। गुरुसहाय लालजी नालंदा के राजनीतिक विरासत की एक मजबूत कड़ी थे। दुर्भाग्य से नालंदा की समृद्ध ऐतिहासिक विरासत मिट चुकी है, किंतु नालंदा के प्राचीन गौरव को लौटाने के लिए बिहार की नीतीश सरकार के द्वारा नालंदा अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय बनाने की दिशा में प्रयास युद्ध स्तर पर जारी है जिसका स्वागत किया जाना चाहिए।

गुरु सहाय लाल अपनी तरह के अकेले राजनेता थे जिनकी राजनीति को वर्तमान राजनीति के प्रतिमानों से नापने की हर कोशिश ओछी ही साबित होगी, क्योंकि परंपरा पर अपनी गहरी और जरूरी पकड़ के बावजूद वे अपने भाव-संवेदन और विचार-स्वातंत्र्य की वजह से आधुनिकों के भी आधुनिक थे। आखिर तभी तो आज से तकरीबन आठ दशक पूर्व ही शिक्षा के प्रचार-प्रसार पर उन्होंने जोर दिया था। उनके इस योगदान को उनकी पहचान के रूप में रेखांकित किया जाना जरूरी है, क्योंकि शिक्षा निश्चित रूप से मनुष्य को उसकी संपूर्णता में संदर्भित और मुखरित करती है। गुरुसहाय बाबू ने जीवन के सुरताल और समाज की चेतना की लय को बखूबी जाना था। शिक्षा के प्रति उनका लगाव उनकी सामाजिक चेतना का परिचायक है। उनके कार्यकलाप हमारे समाज की विडंबनाओं एवं त्रासदियों से सीधे साक्षात्कार करते हुए जिस तरह से अपने परिवेश में यहाँ के आदमी को विसंगतियों से उबारने एवं उसकी पहचान बनाने का कार्य किया उसकी मिसाल बिहार की राजनीति और सार्वजनिक जीवन से जुड़े लोगों में दूसरी नहीं मिलती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उनके जीवन के ठोस अनुभवों के साथ-साथ उस समय के परिवेश का एक विशिष्ट बांकपन सामने आया है, जो अप्रतिम है।

मैं इस माने में अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ कि पटना विश्वविद्यालय से सन् 1962 में स्नातकोत्तर की परीक्षा में उतीर्ण होने के बाद लगभग एक वर्ष तक पटना के नाला रोड स्थित गुरु सहाय लालजी के नाम पर निर्मित गुरु सराय लॉज में मुझे रहने का मौका मिला था, जहाँ गुरुसहाय बाबू की धर्मपत्नी का सान्निध्य मुझे प्राप्त हुआ। सच मानिए, उस अवधि में

उनका माता-तुल्य स्नेह पाकर मैं अभिभूत हुआ। उनके हाथ का बना खाना आज भी मुझे अच्छी तरह याद है और जिसे मैं अपने जीवन की सार्थकता मानता हूँ। उन दिनों को जब भी मैं याद करता हूँ, तो पाता हूँ कि मानवसंबंध अद्भुत है। गुरुसहाय बाबू की प्रिया पत्नी का जब देहावसान हो गया, तब भी उनके निधन के उपरांत मैंने काफी लंबे अरसे तक गुरुसहाय लॉज से अपना संबंध जोड़े रखा, क्योंकि उसी के प्रांगण में उनका पौत्र डॉ. नरेन्द्र अपने दोनों भाईयों के साथ रहते थे, जिन्हें अपना स्नेह देकर मैं गौरव का अनुभव करता रहा। मगर इधर हाल के बरसों में लेखन, संगठन तथा पत्रकारिता के कार्यों को लेकर दिल्ली प्रवास में रहने की वजह से वहाँ जाना नहीं के बराबर है। वैसे मैं सुनता हूँ कि वह लॉज आज बिल्कुल उदास है और जिस लॉज में रहकर मैंने गुरुसहाय बाबू की यादों को संजोए रखा आज वह बिल्कुल ही उदास है और उनके परिवार के सदस्य कुछ पूछने पर मौन हो जाते हैं, मगर मेरे मन के कोने में गुरुसहाय बाबू के अतीत का दस्तावेज अभी शेष है, जो हमारे हृदय की गलियों में घूमती रहती हैं और जब मैंने 'हमें अलविदा ना कहें' के लिए संस्मरणात्मक निबंध लिखना शुरू किया, तो वे यादें ताजा हो आईं, जो शब्दबद्ध होकर आपके सामने हैं। अंतस्तल से अविर्भूत होने के कारण पंक्ति-पंक्ति में मैंने अपने भाव-प्रवाह को बिखेरा है और शब्द-प्रयोग में सावधानता का ध्यान रखा है।

गुरु सहाय बाबू के जीवनादर्शों व विचारों से जो मुझे प्रेरणा मिली और उनकी धर्मपत्नी से जो स्नेह-भरा सान्निध्य, उसे साहिर लुधियानवी की शायरी के इस शेर से मैं व्यक्त कर रहा हूँ-

''दुनिया ने तजुरबात- ओ हवादिस की शक्ल में
जो कुछ मुझे दिया है वो लौटा रहा हूँ मैं।''

दरअसल लेखन ही ऐसी कला है जिसमें लेखक अपने को छुपा नहीं सकता । गुरु सहाय बाबू के बारे में सुनते हुए ऐसा लगता है कि मेरे भीतर से इस शेर के जरिए मेरी आवाज आ रही है। सच मानिए, गुरु सहाय बाबू का सारा जीवन बेहतर इंसान की तलाश में बीता। अगर वह अपने इस उद्देश्य में सफल हो पाए, तो इसका एक कारण उनका निजी एवं भोलापन जीवन था। उन्होंने अपने कार्यकलापों के लिए ऊर्जा किसी राजनीतिज्ञों से नहीं प्राप्त करते थे, बल्कि इस देश व बिहार राज्य की मिट्टी एवं आम जनता की पीड़ाओं से ऊर्जा ग्रहण करते थे। वह नालंदावासियों की पीड़ा को केवल महसूस ही नहीं करते थे, बल्कि स्वयं जीते भी थे। उनके

कार्य जगत में वे बेशुमार लोग शामिल थे जिनके लिए यह दुनिया काँटों भरी है। देश व राज्य को संवारने में पीढ़ियों की 'कुर्बानियाँ' देने वाले लोग गुरुसहाय लाल जी के लिए महत्त्वपूर्ण थे। वे चकाचौंध भरी दुनिया के हिमायती नहीं थे, क्योंकि उन्होंने देश के टूटते हुए सपनों को देखा था। आजादी के बाद बिखरे हुए मोतियों की तरह आम जनता के सपने बिखर गए। गरीबी लगातार बढ़ती गई। बेरोजगारी का आलम यह कि करोड़ों-करोड़ जवान हाथ बेकार हो गए। जिन हाथों से फसल उगाई जा सकती थी, कपड़े बुने जा सकते थे और कल-कारखाने चलाए जा सकते थे वे हाथ आज या तो बेकार पड़े हैं या उन हाथों में बंदूकें हैं। वह भी किसी-विदेशी शत्रु के लिए नहीं, बल्कि अपने देश के भीतर ही छुपे उन शत्रुओं के लिए, जो अपना बनकर निरीह गर्दनों पर खंजर चला रहे हैं। गुरु सहाय लाल जी की चिंता यह थी कि कैसे उन जवान हाथों को बंदूक के बदले काम मिले, मजदूर-किसानों को उनका हक मिले और देश आम आदमी के लिए भी जीने लायक बने।

आज जब गुरु सहाय लालजी हमारे बीच नहीं हैं उनके सपने को साकार करने के लिए अगर कुछ परिवर्तन संभव है, तो उसके लिए स्वयं ही प्रयास करना होगा, क्योंकि गरीबों के लिए अब कोई सबेरा लाने वाला भगवान इस धरती पर नहीं है। अगर वर्तमान में अँधेरा है, तो इस अँधेरे को ही जीने लायक बनाना है यही गुरुसहाय बाबू के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी और इसी से उनके प्रति सच्चा सम्मान भाव हम व्यक्त कर सकते हैं। बस इन पंक्तियों से गुरु सहाय लालजी की स्मृति को मैं नमन करता हूँ-

जाग उठेगा यह देश निद्रा से एक दिन
निरंकुश सत्ता के अवशेषों पर लिखा जाएगा
गुरु सहाय लाल का नाम उस दिन।

किशन पटनायक :
जो समाजवाद के प्रति समर्पित चिंतक थे

ओडिशा के कालाहांडी जिलांतर्गत भवानी पाटना में किशन पटनायक का जन्म 1929 को हुआ। उनकी जन्म तिथि का ठीक-ठीक पता नहीं। सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता और प्रखर विचारक किशन पटनायक 32 वर्ष की उम्र में सन् 1962 से 1967 तक लोकसभा के सदस्य रहे और उन्होंने देश की मूल समस्याओं यथा गरीबी, अभाव, कुपोषण से जुड़े सवालों को संसद में मजबूती से उठाया। जीवनपर्यंत वह देश की भ्रष्ट राजनीति, समाजनीति और अर्थनीति के खिलाफ लगातार बोलते, लिखते और आंदोलन करते रहे। एक युवा समाजवादी नेता के रूप में अखिल भारतीय समाजवादी युवजन सभा के वे अध्यक्ष भी चुने गए थे। 1969 में समाजवादी आंदोलन के दिग्भ्रमित और अवसरवादी होने पर वह संसोपा से अलग हुए और तब से मुख्यधारा की राजनीति का एक सार्थक विकल्प बनाने के प्रयास से जुटे रहे। कई साथियों के साथ 1972 में लोहिया विचार मंच की उन्होंने स्थापना की और 1975 में आपातकाल के विरोधी आंदोलन में भाग लेने पर वे बंदी बनाए गए। 1975 में ही जनांदोलनों के समन्वय की प्रक्रिया के दौरान समाजवादी जन परिषद नाम के एक राजनैतिक दल की जब स्थापना हुई तो वे उसके प्रथम अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 27 सितंबर, 2017 को पटनायक पटना के पटेल सेवा संघ, बिहार के सभागार में समाजवादी जन परिषद, बिहार द्वारा किशन पटनायक स्मृति व्याख्यानमाला के अंतर्गत 'चंपारण सत्याग्रह को हम क्यों याद करें' विषय पर आयोजित 13वीं पुण्यतिथि के अवसर पर मुझे भी उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

1977 से लगातार पटना से प्रकाशित समाजवादी पत्रिका 'सामयिक वार्ता' के किशन पटनायक आजीवन प्रधान संपादक रहे। हिंदी और ओडिया में उन्होंने कविताएँ भी लिखीं। उनकी रचनाओं के प्रकाशित चार निबंध संग्रहों में- भारत शूद्रों का होगा, विकल्पहीन नहीं है दुनिया, भारतीय राजनीति पर एक दृष्टि और किसान आंदोलन: दशा और दिशा महत्वपूर्ण हैं। किशन पटनायक की अधूरी आत्मकथा, लोकसभा में उनके द्वारा उठाए गए मुद्दों, उनके कुछ पत्र, कुछ लेख और उनकी कविताओं के जरिए उनके व्यक्तित्व एवं आत्म अन्वेषण को प्रकट करने की कोशिश में अशोक

सेकसरिया और संजय भारती के संयुक्त संपादन में रोशनाई प्रकाशन कांचरापाड़ा, प. बंगाल द्वारा 'किशन पटनायक- आत्म और कथ्य' नाम्नी पुस्तक का लोकार्पण विगत 27 सितंबर, 2017 को उनकी 13वीं पुण्य तिथि के अवसर अंगस्त क्रांति के योद्धा सीताराम सिंह द्वारा किया गया।

मैंने अनुभव किया है कि किशन पटनायक जी ने राजनैतिक आंदोलन में भागीदारी तथा बौद्धिक स्तर पर विलक्षण सक्रियता दिखाने के साथ जो सबसे बड़ा काम किया, वह है कार्यकर्ता प्रशिक्षण का। जिस दौर में सारे राजनीतिक दल इस काम को भूल गए हैं उसमें तकरीबन 35 साल तक उन्होंने लगातार यह काम किया। हजारों कार्यकर्ता तैयार किए, अध्ययन केंद्र चलाए, प्रशिक्षण शिविर लगाए, विभिन्न विषयों पर संगोष्ठियाँ की। आखिर तभी तो समाजवादी जन परिषद, बिहार द्वारा उनकी 13वीं पुण्य तिथि पर उनकी स्मृति में 27 सितंबर, 2017 को पटना के पटेल सेवा संघ, बिहार के सभागार में व्याख्यान का आयोजन किया गया, तो उसमें अधिकांश कार्यकर्ता से लेकर श्रोता तक बिहार के विभिन्न जिलों से लोग उपस्थित थे। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि राजनीति में गिरावट के चलते हो या किसी और वजह से राजधानी के बहुत कम लोगों को उसमें भागीदारी थी। पटेल सेवा संघ सो जुड़े कुछ कार्यकर्ताओं सहित मेरे जैसे कुछ राजनीति में दिलचस्पी रखने वाले लोग ही देखे गए। हाँ, किशन जी के दो-चार सहयोगियों और समाजवादी विचारधारा के लोगों में कुछ राजनेता और समाजवादी विचारधारा के कार्यकर्ता अवश्य मौजूद थे जिनसे मैं भी अपेक्षा करता था, लेकिन कुल मिलाकर देखा जाए तो राजधानी के लोगों की अपेक्षित उपस्थिति नगण्य थी। जहाँ एक ओर राजनेताओं की स्वार्थपरता की सूचक मानता हूँ, वहीं दूसरी ओर देशवासियों के मन में देश के लिए मर-मिटने वालों और कुछ कर गुजरने वालों के प्रति उदासीनता का द्योतक भी।

किशन पटनायक कालाहांडी रजवाड़ा के दीवान पिता चिंतामणि पटनायक की तीसरी पत्नी सत्यवती के दूसरे पुत्र थे। उनकी प्राथमिक शिक्षा तो भवानी पाटना के काशीपुर में हुई थी, मगर बी.ए. और एम.ए. की पढ़ाई करने के लिए नागपुर चले गए थे। राजनीतिशास्त्र में उन्होंने एम.ए. किया था। आजीवन उनके विचारों में एक ताजगी रही। अद्यतन और नवीनतम सूचनाओं से लैस किशन पटनायक के विश्लेषण में बागीपन नहीं आता था। उनका चिंतन दिन-ब-दिन धारदार होता गया, उनका व्यवहार और कर्म तेज होता गया। उनका निश्चय डिगने की जगह दृढ़ होता गया।

भूमंडलीकरण और उपभोगक्तावाद के दौर में जब पिछले कई दशकों से समाजवादी और समाजवादी चिंतन दोनों को एक तरह से त्याज्य समझ लिया गया है, विमर्श की दुनिया से उठाकर उन्हें हाशिए पर फेंक दिया गया है और यहाँ तक कि इन पर बहस 'पिछड़ापन', 'बौद्धिक जड़ता', 'वैचारिक रूढ़िवादिता', आदि की संज्ञा दी जाती है, समाजवाद के प्रति समर्पित चिंतक किशन पटनायक ने समाजवाद पर बहस और विचार-विमर्श करना अनवरत रूप से जारी रखा और 'सामयिक वार्ता', के माध्यम से तथा देश के विभिन्न क्षेत्रों में आयोजित विचार-संगोष्ठियों, परिचर्चाओं एवं सम्मेलनों के ज़रिए समाजवाद के झंडे को बुलंद रखने का प्रयास किया। वैश्विक पूँजीवाद और बाज़ारवाद के वातावरण, हाइटेक अर्थव्यवस्था, इंफारमेंशन हाइवे, हाईटेक मीडिया जैसे विषयों ने समाजवादी चिंतन के 'कल, आज और कल' की प्रासंगिकता पर ही जहाँ प्रश्न चिह्न लगा दिया गया हो इस पृष्ठभूमि में किशन पटनायक ने अपना चिंतन जारी रखा और मनुष्य व समाज से जुड़े बुनियादी सरोकारों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता का परिचय दिया।

मुझे अच्छी तरह स्मरण है एक बार जब श्री पटनायक किसान-मज़दूरों के सवालों पर पटना में आयोजित एक रैली में पधारे थे और मैं उनसे प्रो० विनोद सिंह के चाणक्या कॉलोनी निवास जहाँ वे ठहरे हुऐ थे, पर मिलने गया था। कारण कि 'राष्ट्रीय विचार मंच' के द्वारा उन्हें 'विचार भूषण' से सम्मानित करने की घोषणा की गई थी और यह सम्मान मंच की ओर से नई दिल्ली में वैचारिक क्रांति को केंद्र में रखकर आयोजित दो-दिवसीय अधिवेशन में उन्हें प्रदान किया जाना था, किंतु अस्वस्थता की वजह से इसे ग्रहण करने नई दिल्ली वे नहीं पधार पाए थे। मैंने उनसे अनुरोध किया था कि वे एक निर्धारित कार्यक्रम में यह सम्मान ग्रहण करें और उन्होंने अपनी स्वीकृति भी दी थी। तद्नुसार 31 अक्टूबर, 2004 ई० को नई दिल्ली में मंच की ओर से आयोजित लौह पुरुष सरदार पटेल के 129वीं जयंती-समारोह के अवसर पर उन्हें यह सम्मान प्रदान किया जाना था, किंतु इसी बीच विगत 27 सितंबर, 2004 ई० को बीमारी के कारण भुवनेश्वर के एक निजी अस्पताल में उनका निधन हो गया और एक मात्र अपनी विधवा पत्नी वाणी मंजरी दास सहित हमारे जैसे देश भर के हज़ारों शुभेच्छुओं और समाजवादी विचारधाराओं में आस्था रखने वाले कार्यकर्ताओं को छोड़ गए, उनकी कोई संतान नहीं है। मंच द्वारा निर्णय लिया गया कि आयोजित सरदार पटेल जयंती समारोह में उनकी विचारधारा के समर्थक तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के

हिंदी प्राध्यापक प्रो० प्रेम सिंह के माध्यम से वह 'विचार भूषण' सम्मान मरणोपरांत उन्हें प्रदान किया जाए।

जब मैं उनके देहावसान के बाद अपनी पत्रिका के लिए श्रद्धांजलि अर्पण स्वरूप उनपर संस्मरण लिखना शुरू किया, तो मेरे समक्ष आज भी यह सवाल एक टीस की तरह खड़ा दिखाई देता है कि आख़िर बीती सहस्राब्दि में इस देश में समाजवाद और साम्यवाद सहित अनेक बात पर चिंतन क्यों नहीं हो सका जबकि समाजवादी परंपरा यानी प्लेटो के साम्यवाद से लेकर उस काल-यात्रा के सहयात्री 'मोर का यूटोपिया', 'कैंपानेला का सूर्यनगर', 'मेबली का समतावाद', 'बैकूफ़ की क्रांतिकारी दृष्टि', 'रूसो का ऐतिहासिक दर्शन व अर्थशास्त्र', 'गाडविन का अराजकतावाद', 'वामपंथी युवा का ही गोलवाद', 'बाबर बंधुओं का समाजवाद', 'मलेशिया के मज़दूरों का विद्रोह' तथा 'वाइटलिंग का काल्पनिक साम्यवाद' आदि सहयात्रियों की एक लंबी सूची है। क्या समाज व्यवस्था या राज्य व्यवस्था से जुड़े सवालों का संबंध भौतिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं से है? इन चिंतकों-विचारकों के माध्यम से ज्ञात होता है कि यूरोपीय समाज विमर्श और सवालों से भरपूर रहा है, लेकिन भारतीय समाज इस प्रक्रिया से क्यों वंचित रहा? क्या इसके लिए बाहरी हमलावरों व शासकों को दोषी ठहराया जाना चाहिए? मुझे तो ऐसा लगता है कि इस प्रक्रिया के नहीं होने के पीछे भारतीय समाज की आंतरिक संरचना में निहित वर्ण तानाशाही को कठघरे में खड़ा किया। शृंगारवाद, रूपवाद तथा हताशावाद आदि में ही हमने संतोष किया और इस अवधि में हम सामंतवाद, वर्णवाद में चिंतक-विचारक पैदा नहीं कर सके। देश का कोई भी शासक बाबरनामा जैसा सेल्फ क्रिटिकल आत्मचरित्र नहीं लिख सका। इसी प्रकार सरवांतीस का उपन्यास 'डॉन क्विग्जोट' जैसा समाज को उघेड़ने वाला उपन्यास (सोलहवीं सदी) नहीं लिखा जा सका। निश्चित ही यह दुःखद एवं चिंताजनक स्थिति है।

ऐसी स्थिति में किशन पटनायक इन सवालों से टकराते हुए इसके समर्थन में उन्होंने तर्क और विवेक का प्रयोग किया। यह उनका भावनात्मक चयन था। वे सदैव भूमि, कर्ज़, किसान-मज़दूरों की समस्या तथा ग़रीबों की ज़रूरतों से संबंधित हिदायतें देते रहे और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अपनी आवाज़ बुलंद करते रहे। उन्होंने धर्मगुरुओं, संतों तथा महापुरुषों के वचनों में समाजवाद तथा लोकतंत्र के अंकुर तलाशने की कोशिश की। जयप्रकाश नारायण ने सन् 1974 ई० में जब भ्रष्टाचार एवं निरंकुश शासन के ख़िलाफ़ आंदोलन छेड़ा और संपूर्ण क्रांति का बिगुल

बजाया तब किशन पटनायक ने इस आंदोलन में अपनी प्रमुख भूमिका निभाई। संपूर्ण क्रांति के सपने अधूरे रहने पर आज जब पूरे राजनीतिक परिदृश्य पर भ्रष्टाचार और घोटाले का बोलबाला हो गया है और मौजूदा हालात में संसद की सार्थकता ही ख़तरे में दिख रही है, किशन पटनायक ने छात्र और युवा को राजनीतिक भूमिका अदा करते हुए वक़्त का हथियार बनने की बजाय हाथ बनने का आह्वान किया था। छात्र राजनीति पर चिंता व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा था कि यह आज छात्रों को महज़ राजनीतिक गिरोहबंदी और विश्वविद्यालीय राजनीति तक केवल सिमटकर रह गई है। छात्र और युवा दिग्भ्रमित हो गए हैं और वे राष्ट्रीय राजनीति का मोहरा बन रहे हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में यह कहना यथोचित होगा कि डॉ० लोहिया के बाद समाजवादी परंपरा के सबसे मौलिक चिंतक किशन पटनायक हुए। सुप्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री योगेन्द्र यादव का मानना है कि किशन पटनायक जी के समाजवादी आंदोलन से जुड़ने की प्रेरणा डॉ० लोहिया भले ही न रहे हों, मगर समाजवादी राजनीति और चिंतन की दीक्षा उन्होंने ही दी थी। इस लिहाज़ से डॉ० राम मनोहर लोहिया और किशन पटनायक में गुरु-शिष्य का रिश्ता था। डॉ० लोहिया के निधन के बाद किशन जी ने 'लोहिया विचार मंच', 'समाजवादी जन परिषद्', 'जनांदोलन समन्वय समिति' नामक कई संगठन के माध्यम से एक समर्थ और जनतांत्रिक स्वरूपवाली वैकल्पिक राजनीति की तलाश करते रहे। बापू की अहिंसा और आधुनिकता के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया' अपनी पुस्तक में किशन पटनायक ने लिखा है कि "भारत के बाहर गाँधी का प्रभाव नगण्य होते हुए भी उल्लेखनीय इसलिए है कि हथियारों के ख़िलाफ़ गोरे लोग और अत्याचार के ख़िलाफ़ काले लोग-रंगीन लोग जब मुक़ाबला करते हैं, तो गाँधी की अहिंसा के बारे में सोचते हैं। आधुनिक सभ्यता से लड़ने का मुद्दा भारतीय मस्तिष्क में होना चाहिए, क्योंकि भारतीय चेतना में एक वैकल्पिक सभ्यता के तत्त्व उजागर होते रहते हैं।"

किशन पटनायक का अचानक चला जाना एक अत्यंत दु:खद घटना है और समाजवादी आंदोलन के लिए बहुत बड़ा नुकसान जिसकी पूर्ति बहरहाल दिखती नहीं। किंतु उनकी यादगार को ताज़ा रखने हेतु समाजवादी विचारधारा के सजग नागरिकों का यह दायित्व है कि वे उनके द्वारा प्रज्ज्वलित मशाल को जनता के बीच ले जाकर उन्हें जागृत करें। यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

खंड-पाँच

समाजसेवी

स्वामी सहजानंद सरस्वती:
जो किसान-मजदूरों के रहनुमा और वर्ग-संघर्ष के सच्चे हिमायती थे

राष्ट्रपिता बापू ने जनता को संबोधित करते हुए कहा था -- "तुम्हें एक जंतर देता हूँ। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ-- जो सबसे, गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुँचेगा?" सच कहा जाए तो गाँधी जी का यह वाक्य आज ज्यों-का-त्यों प्रासंगिक है जब हम किसान-मजदूरों के रहनूमा और वर्ग-संघर्ष के सच्चे हिमायती स्वामी सहजानंद सरस्वती को उनकी 125वीं जयंती पर स्मरण करते हैं।

दरअसल, यह कमजोर आदमी कौन है? गरीब किसान-मजदूर, दलित और स्त्री ही तो इस श्रेणी में आते हैं। इन तबकों पर इस देश के नेता कितना ध्यान दे रहे हैं, यह विचारणीय है। इस संदर्भ में जब हम स्वामी सहजानंद जी को याद करते हैं, तो पाते हैं कि अपने समय-समाज की समस्याओं, विकृतियों, दुष्प्रवृत्तियों और चुनौतियों से दो-चार होते हुए कुछ नया कदम बढ़ाने का स्वभाव स्वामी जी को समकालीन संतों, सन्यासियों और नेताओं से निश्चित रूप से अलग करता है। गाँधी जी की इसी कसौटी पर जब हम स्वामी सहजानंद जी को तौलें, तो हमें यह देखना पड़ेगा कि अपने समकालीन नेताओं, सन्यासियों की तुलना में किसान-मजदूरों और अपने अधिकारों से वंचित लोगों की गरिमा को बचाने के लिए उन्होंने क्या कुछ नहीं किया। उनकी वाणी आज भी इसीलिए प्रासंगिक दिखाई पड़ती है, क्योंकि उसमें तत्कालीन समाज के साथ-साथ आज का समय भी झाँकता दिखाई देता है। यही स्वामी जी की ताकत भी रही। आज हमारी लड़ाई भूख, बेरोजगारी, अशिक्षा, बलात्कार

जैसी महामारियों के खिलाफ़ है। इसलिए गाँधी जी का वही मंत्र और उसी मंत्र को आत्मसात करने वाले स्वामी सहजानंद पर खरा उतारता है, क्योंकि ऐसे गरीब और कमजोर आदमी को ध्यान में रखकर उन्होंने काम किया। आखिर तभी तो उन्होंने किसान आंदोलन में नेतृत्वकारी भूमिका अदा की। चाहे कोई दल हो या नेता कोई सिद्धांत हो या विचार-सबकी असलियत जाँचने की एक ही कसौटी उनके पास थी--वर्ग दृष्टिकोण। वर्गदृष्टि और वर्ग संघर्ष की राह पर अविचल रहकर ही उन्होंने विराट जागरण का ज्वार पैदा किया और किसान आंदोलन को सही दिशा दी। हालांकि यह सच है कि प्रारम्भ में सार्वजनिक जीवन की शुरुआत उन्होंने अखिल भारतीय किसान सभा तथा भूमिहार ब्राह्मण महासभा के माध्यम से किसानों-मजदूरों की दशा में सुधार और जाति सुधार से जरूर किया था, किंतु शीघ्र ही उनकी सीमाओं और संकीर्णताओं से वाकिफ़ हो गए और अंततः वे उस घेरे से निकल ही नहीं आए, बल्कि उन्होंने भूमिहार ब्रह्मण महासभा को भंग कर दिया तथा अखिल भारतीय किसान महासभा को छोड़ दिया। बिहार काँग्रेस कमेटी के नेताओं को उन्होंने चुनाव के अवसर पर खुलेआम जातिवाद करते देखा और इसके खिलाफ संघर्ष किया था। सन् 1948 में वे काँग्रेस से हमेशा के लिए अलग हो गए और 1949 में अखिल भारतीय संयुक्त समाजवादी सभा का गठन किया जिसमें समाजवादियों को छोड़कर शोषणमुक्त समाजवादी भारत के लिए किसान-मजदूर राज्य के लिए और व्यापक वामपंथी एकता के लिए जूझते रहे।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि जिस किसान सभा को अपने खून-पसीना से स्वामी जी ने खड़ा किया उसी के संबंध में सन् 1944 में विजयवाड़ा में आयोजित अखिल भारतीय किसान सभा के आठवें अधिवेशन को संबोधित करते हुए अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा, --"मध्यम और बड़े किसान आज किसान सभा का इस्तेमाल अपने फायदे के लिए कर रहे हैं जबकि हम उसका उपयोग सबसे गरीब और छोटे किसान तबकों में वर्ग चेतना जगाने के लिए करना चाहते हैं। हमारे विचार से किसान वही है जो या तो बिल्कुल भूमिहीन है या जिनके पास बहुत कम जमीन है। ऐसे ही सर्वहारा लागों का संगठन किसान सभा है और आखिर में वैसे ही लोग असली किसान सभा बनाएँगे।"

सन् 1948 में तो अपनी पुस्तक -- 'महारुद्र का महातांडव' में स्वामी जी ने यहाँ तक लिख डाला, -- "ग्रामीण सर्वहारा वर्ग अपने अधि

कारों के प्रति जागरूक हो रहा है। जब वह पूरी तरह से सचेत हो जाएगा तब महा तांडव की शुरुआत होगी और आज की ग्रामीण शोषक व्यवस्था का विध्वंस हो जाएगा।'' जहाँ तक राजनीति में जातिवाद और सांप्रदायिकता का सवाल है उसकी ओर स्वामी सहजानंद ने बार-बार संकेत करते हुए कहा था कि इन दोनों एक ही अचूक दवा उनकी दृष्टि में है --वर्ग संघर्ष। मुझे लगता है कि मौजूदा दौर की राजनीति में जिस प्रकार सांप्रदायिकता और जातिवाद को बढ़ावा मिल रहा है और सामाजिक सद्‌भाव एवं समरसता को रौंदकर सामाजिक एकता के साथ राष्ट्रीय एकता को खण्डित करने की साजिश चल रही है स्वामी सहजानंद जी के सिद्धांतों एवं उनके द्वारा वर्गसंघर्ष के रास्ते पर चलकर ही हम देश व राज्य को न केवल विकास की ओर अग्रसर कर सकेंगे, बल्कि अपनी राष्ट्रीय एकता को भी बरकरार रख सकते हैं। कारण कि स्वस्थ समाज के बगैर सबल राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए वक्त का तकाजा है कि सांप्रदायिकता और जातिवाद की चुनौतियों का सामना धर्मनिरपेक्ष और समतामूलक समाज के निर्माण की ओर अग्रसर होना होगा और सहजानंद सरस्वती के विचारों के प्रति कृतसंकल्प होकर उनके जीवन संघर्ष और कार्यों से प्रेरणा लेनी होगी।

10 मार्च, 1889 को उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिलांतर्गत देवा ग्राम के एक किसान परिवार में जन्में नवरंग राय गाजीपुर मिशन स्कूल में मैट्रिक में पढ़ने के दौरान ही घर-बार छोड़कर सन्यासी बन गए। तकरीबन एक साल तक प्रयाग, चित्रकूट, ओंकारेश्वर, हरिद्वार, बद्रीनारायण, ऋषिकेष, केदारनाथ आदि तमाम तीर्थों में भ्रमण करने के पश्चात् नवरंग राय जिनका नाम बदलकर स्वामी सहजानंद सरस्वती रखा गया, क्योंकि तमाम तीर्थों से वापस लौटने के बाद उन्होंने काशी में रहकर व्याकरण, वेदांत, न्याय, मींमासा आदि का गहन अध्ययन किया। ऐसा सन्यासी जिसने वर्षों तक ध र्मशास्त्रों का गहन अध्ययन किया हो अपने जीवन के अंत में इस नतीजे पर पहुँच गया कि आज दैववाद प्रगति के पथ में बाधा है। उन्होंने धर्म के संदर्भ में अपनी पुस्तक 'मेरा जीवन संघर्ष' में लिखा --''मुनि लोग तो स्वामी बनकर अपनी ही मुक्ति के लिए सकांतवास करते हैं, लेकिन मैं ऐसा हरगिज नहीं कर सकता। सभी दुख्यिों को छोड़ मुझे सिर्फ अपनी मुक्ति नहीं चाहिए। मैं तो इन्हीं के साथ रहूँगा, जीऊँगा और मरूँगा।''

सच कहा जाए, तो मौजूदा दौर में जब धर्म के क्षेत्र में आसाराम बापू, प्रबुद्धवर्ग के क्षेत्र में तरुण तेजपाल तथा न्याय के क्षेत्र में

अशोक कुमार गांगुली जैसे लोग जब दुष्कर्म के आरोपी हो रहे हैं, तब स्वामी सहजानंद सरस्वती का धर्म के संदर्भ में उपर्युक्त चिंतन कितना सटीक जान पड़ा है। उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि जो प्रगति चाहते हैं उन्हें दैववाद और संगठित धर्म का विरोध करना चाहिए। अपनी पुस्तक- 'गीता दृश्य' में तो उन्होंने इतना तक लिखा कि -- "आज जबकि शोषण के विरूद्ध लोगों की चेतना जगती है, तो आस्तिकता नास्तिकता का झगड़ा बेमानी है। पहले लोगों के इहलोक को सुधारने की आवश्यकता है न कि उन्हें परलोक के सपने दिखाने की जरूरत है।" सच मानिए मैं तो स्वामी सहजानंदजी के इस विचार का कायल ही नहीं हूँ, बल्कि मैं कहूँगा कि धर्म के नाम पर जो लोग पाखण्ड करने के साथ आम जनता को दिग्भ्रमित कर रहे हैं उन्हें अब चेतने की जरूरत है। इस संदर्भ में मैं कहना चाहूँगा कि बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड के अपने अध्यक्ष के कार्यकाल में या उसके बाद जब कभी स्वामी सहजानंद सरस्वती जी की जयंती अथवा पुण्य तिथि के अवसर पर आयोजित समारोह में मुझे अपनी श्रद्धा व सम्मान अर्पण करने का मौका मिला, तो मैं अपने को धन्य मानते हुए प्रसन्नता का अनुभव करता रहा। कारण कि किसान-मजदूरों के जागरण के जिस महानायक ने कदम-कदम पर अपने आप के संघर्ष से, अपने संस्कारों और रुढ़िग्रस्त मान्यताओं से संघर्ष किया, घर परिवार की मोहमाया, अपनी जाति-बिरादरी के बहुमान्य राजनीतिक दलों के नेताओं सहित जातिवाद, सांप्रदायिकता, व्यक्ति पूजा और वर्ग सामंजस्य जैसी प्रवृत्तियों से संघर्ष किया। ऐसा आत्मसंघर्ष और व्यक्तित्व का ऐसा रूपांतरण बहुत कम नेताओं अथवा सन्यासियों में देखने को मिलता है।

'मेरा जीवन संघर्ष' 'गीता दृश्य' तथा 'महारूद्र का महातांडव' के अतिरिक्त स्वामी सहजानंद सरस्वती ने और अनेक पुस्ताकें की रचना की। स्वामीजी की रचनाओं में यों तो समाज के सभी पहलुओं को रेखांकित किया गया है, किंतु अधिकांश में किसान-मजदूरों के अनेक पहलुओं का चित्रण है और उनकी समस्याओं के निदान के लिए किसानों का क्रियाशीलता पर बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त कई रचनाओं में सामंती और सरकारी भ्रष्टाचार को खत्म करने की बातें कही गई हैं।

स्वामी सहजानंद सरस्वती निर्भीक, स्वाभिमानी एवं दूरदर्शी थे। ढोंग उन्हें कतई पसंद नहीं था। रूढ़िवादी परंपरा और जमींदारी प्रथा पर उन्होंने जहाँ करारी चोट की थी, वहीं दूसरी ओर नारी के प्रति समाज को जवाबदेह बनाना उनके जीवन का उद्देश्य था। यही नहीं भ्रष्टाचार के विरोध

में भी उन्होंने आवाज उठाई और कर्मठता, सजगता एवं ईमानदारी को अपने जीवन की पूँजी माना। आधुनिकता की चकाचौंध में आज नेताओं ने किसान और मजदूरों को जाति, सांप्रदायिकता व क्षेत्रीयता के दायरे में जिस प्रकार बाँट रखा है उससे स्वामी सहजानंद के सिद्धांतों को धक्का लगता है। स्वामीजी के आदर्शों पर नहीं चलने के कारण ही आज किसान और मजदूर फटेहाल हैं। किसानों को स्वामी सहजानंद के बताए रास्ते और आदर्शों पर चलना होगा, तभी उनके अस्तित्व को बचाया जा सकेगा। इसके लिए जरूरी है कि किसान जात-पात और धर्म से ऊपर उठकर संगठन से जुड़ें तथा अपने अस्तित्व व स्वाभिमान के लिए आवाज बुलंद करें। लेकिन सबसे दुखद बात तो यह है कि मौजूदा राजनीतिक-सामाजिक परिदृश्य में जनहित की अदम्य लालसा से भरपूर स्वामी सहजानंद के नाम पर आयोजित समारोहों में जो भीड़ जुटाई जाती है वह सिर्फ जातिगत गोलबंदी के इर्द-गिर्द होती है जो समावेशी विकास और प्रगतिशील समाज के लिए शुभ संकेत नहीं है, क्योंकि स्वामीजी का पूरे देश में एक लड़ाकू किसान नेता के रूप में जो पहचान मिली थी वह उनकी निस्पृहता, ईमानदारी एवं सत्ता से टकराने के हौसले की वजह से न कि एक जाति विशेष के कारण। दकियानुसी ख्यालातों से सदैव दूर रहने वाले क्रांतिकारी स्वामी सहजानंदजी कभी समझौता परस्त नहीं हुए। राष्ट्रवादी आंदोलन में वे हमेशा गरम दल के समर्थक रहे। यही कारण है कि राष्ट्रीय आंदोलन में वे सांप्रदायिक शक्तियों को शामिल करने के पक्षधर कभी नहीं रहे और साथ ही धर्म आधारित राजनीति के विरोधी भी। यहाँ तक कि स्वामीजी महात्मा गाँधी के धार्मिक दृष्टिकोण के आलोचक तो थे ही राजनीति में धर्म की घुसपैठ को लेकर उन्होंने गाँधीजी की बार-बार आलोचना की। वे धर्म को मात्र व्यक्तिगत चीज मानते थे और उसे राजनीति से अलग रखने के पक्षधर थे, गाँधी जी के सर्वधर्म समभाव की तुलना में स्वामीजी का दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्षता की सच्ची अवधारणा के अधिक निकट था। भारतीय राजनीति में आज जिस प्रकार धर्म की नंगी राजनीति चल रही है उसी का परिणाम है कि देश के समक्ष एक ओर जहाँ सांप्रदायिक शक्तियाँ पुन: सक्रिय हो गई हैं, वहीं दूसरी ओर तुष्टीकरण की नीति और जातिवाद के खतरे भी बढ़ गए हैं।

क्रांतिकारी विचारों की वजह से ही स्वतंत्रता संग्राम की राजनीति को लेकर गाँधीजी के साथ स्वामी सहजानंद सरस्वतीजी का मतभेद था: क्योंकि स्वमीजी को यह कतई विश्वास नहीं था कि अहिंसा और

सत्याग्रह से देश को स्वतंत्रता मिल सकती है। उनकी दृष्टि से संघर्ष ही भारत को आजादी दिला सकता है। उनका मानना था कि जब जमींदार अपना छोटा-मोटा स्वार्थ भी बिना संघर्ष के छोड़ने को तैयार नहीं, तो अँग्रेज अपना इतना बड़ा साम्राज्य अहिंसा और सत्याग्रह से छोड़ देंगे यह दिवास्वप्न के अलावा कुछ नहीं, बिना संघर्ष के आजादी मिल भी जाती है तो वह स्थायी नहीं होगी। संघर्ष से मनुष्य तपता और आजादी का महत्त्व समझता है। आखिर तभी तो स्वामी जी अपने को नेताजी सुभाषचंद्र बोस के नजदीक पाए, क्योंकि उन्हें तेजस्वी नायक की छवि नेताजी में दिखाई दे रही थी। उनकी दृष्टि में स्वतंत्रता संग्राम की लड़ाई महाभारत की तरह महायुद्ध था जिसके संचालन के लिए स्वामीजी को युद्धिष्ठिर नहीं अर्जुन चाहिए था। त्रिपुरा क्राँग्रेस में नेताजी सुभाष को दोबारा अध्यक्ष चुने जाने तथा अध्यक्ष पद से उनके त्याग-पत्र देने तक की घटनाओं ने स्वामीजी को नेताजी के काफी निकट ला दिया। और वह सुभाषचंद्र बोस के काफी अंतरंग हो गए, मगर द्वितीय विश्वयुद्ध में अँग्रेजों को कोई सहयोग न देने को लेकर छिड़े आंदोलन में स्वामीजी की प्रमुख भूमिका के कारण उन्हें जेल जाना पड़ा और नेताजी सुभाषचंद्र बोस का भारतीय परिदृश्य से बाहर हो जाने की वजह से दोनों का संपर्क नहीं हो सका। दूसरी बात यह कि स्वामीजी नेताजी से वैचारिक स्तर पर भी इसलिए दूर होते चले गए, क्योंकि भारत की मुक्ति के लिए हिटलर से सहयोग लेने का कोई भी प्रयास स्वामीजी की दृष्टि में भ्रमजाल था। स्वामी जी की यह समझ थी कि इससे स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी चूल्हे से निकलकर भट्ठी में जा गिरने का भय था। दूसरी बात यह कि स्वामीजी अधिनायकवाद के विरूद्ध थे चाहे वह अधिनायकवाद वामपंथ का हो या दक्षिणपंथ का। इन्हीं सब कारणों से स्वामीजी को नेताजी सुभाष से भी निराश होना पड़ा। सन् 1942 में जेल से रिहा होने के बाद उनका किसान संगठन कमजोर होता चला गया और आजादी के बाद जो निष्प्राण हुआ वह आजतक निष्प्राण ही रहा, क्योंकि आजादी के बाद सरकार में व्याप्त भयंकर भ्रष्टाचार और राजनीतिक नेताओं की स्वार्थ सिद्धि का साधन बनते जाने के कारण राजनीति पर से ही उनका विश्वास उठ गया और 21, फरवरी 2001 को पक्षाघात की बीमारी से उनका निधन हो गया। धरा पर कभी-कभी मानवरूप में ऐसी युगांतरकारी चेतनाएँ अवतरित हो जाती हैं जो अपने महत व सत् कार्यों की सुगंध से संपूर्ण परिक्षेत्र को सुवासित कर देती हैं। वेशक जिंदगी तो सभी लोग जीते हैं, पर जीवन जीने का सही सलीका कम लोगों को ही

मालूम होता है। ऐसे ही कम लोगों में से एक थे स्वामी सहजानंद सरस्वती, जिन्हें जीवन जीने का सही सलीका मालूम था, क्योंकि जिंदगी के थपेड़ों पर इन्होंने जीत हासिल कर ली थी। आखिर तभी तो सन् 1904 में शादी होने के बाद सन् 1905 में द्विरागमन और मात्र एक वर्ष के बाद ही सन् 1906 में जिस व्यक्ति की पत्नी की मृत्यु हो गई हो उसने वैराग्य धारण कर सन्यास ग्रहण कर लिया और शेष जिंदगी के सफ़र में आए उतार-चढ़ाव, संकट और चुनौतियों से जूझते हुए प्रतिकूल परिस्थिति में अपनी क्षमता से निपटते हुए किसान-मजदूरों की जिंदगी की वास्तविकताओं को समझा और उसे स्वीकार कर वे आजीवन सेवा में लगे रहे। स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान स्वामी सहजानंद सरस्वती ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया जिसके परिणमस्वरूप उन्हें अप्रैल, 1940 से 8 मार्च, 1942 तक दो साल हजारीबाग सेन्ट्रल जेल की सजा भुगतनी पड़ी। जेल में रहकर उस अवधि में उन्होंने मेरा जीवन संघर्ष, किसान कैसे लड़ते हैं, किसान सभा के संस्मरण, किसान क्या करे, खेत मजदूर झारखण्ड के किसान, क्रांति और संयुक्त मोर्चा तथा गीता दृष्य -- कुल आठ पुस्तकें लिखीं।

असाधारण व्यक्तित्व के धनी स्वामी सहजानंद सरस्वती किसानों के मसीहा और आजादी की लड़ाई के मजबूत स्तंभ तो थे ही उन्होंने किसानों को अपने अधिकार के लिए एकजुट हो संघर्ष करने को प्रेरित किया। स्वामीजी को उम्मीद थी कि आजादी के बाद किसानों की बदहाली दूर होगी, लेकिन उनकी स्थिति जस की तस है। स्वामीजी का जन्म भले ही उत्तर प्रदेश में हुआ, लेकिन उन्होंने अपनी कर्मभूमि बिहार को बनाया। बिहार से ही अपने विचार का प्रचार-प्रसार पूरे देश-विदेश में किया। वे केवल शिक्षाविद् ही नहीं थे, बल्कि एक लेखक, सामाजिक कार्यकर्ता और राजनीतिक नेता भी थे।

उन्होंने गुलाम और अशक्त भारत को नई राह दिखाई वे दुनिया में अपने चरित्र और कार्यों के कारण इस देश में एक नई रोशनी की तरह लगे। ऐसे ही चंद विलक्षण भारतीयों में से एक थे स्वामी सहजानंद सरस्वती। किसी भी देश के लिए ऐसे ही महापुरुष का जीवन राष्ट्रीय समारोह का विषय होना चाहिए जिसके बहाने अभियान चलाकर ऐसे लोगों की स्मृति को पुनर्जीवित और उनके चरित्र एवं जीवन के प्रेरक प्रसंगों को गाँव-गाँव, घर-घर पहुँचाकर कोई भी देश या समाज अपना कायाकल्प कर सकता है, अपने पतन को रोक सकता है। भारतीय राजनीति में ही नहीं समाज के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में आई गिरावट और लूट, बेईमानी, बिना परिश्रम किए धन से

नेता, शासक-वर्ग पाँच सितारा जीवन भोग रहे हैं ऐसे समय में स्वामी जी के जीवन से हमें प्रेरणा लेकर ही भारत को प्रगति के रास्ते पर ले जा सकते हैं, क्योंकि उन्होंने अपने चरित्र और आचरण का नमूना पेश किया और राजनीति तथा सार्वजनिक जीवन में एक स्तरीय प्रतिमान बनाए।

सामाजिक चेतना से ओत-प्रोत स्वामी सहजानंदजी ने सामाजिक, राजनीतिक तथा किसान-मजदूरों की समस्याओं पर खुले तौर पर अपने विचार व्यक्त किए। इनके समूचे लेखन की रचनात्मक ऊर्जा का मूल्याँकन गहरे अर्थ-बोध की क्षमता और उसे समग्रता में ग्रहण करने की प्रतिबद्धता के बिना मुश्किल है। नैतिकता सिर्फ शब्दों का खेल नहीं, अपितु एक भाव संवेग है और एक तपस्या है। दुखियों में भी उन्होंने आत्म-गौरव की भावना जागृत करने का निरंतर प्रयास किया। आखिर तभी तो राष्ट्रकवि 'दिनकर' जी ने स्वामीजी को अपनी इन पंक्तियों द्वारा 'दलितों का सन्यासी' कहा --

''हवन पुतकर में सदंड ले, मंडित चाल विरागी
आया है नव पथ दिखलाने, दलितों का सन्यासी।''

दलितों के इस सन्यासी ने जीवन पर्यंत किसान-मजदूरों को अपने अधिकारों के लिए आंदोलित किया। अखिल भारतीय किसान सभा के माध्यम से उनके संगठित प्रयास का ही परिणाम था कि तत्कालीन अँग्रेज सलतनत को जमींदारी के जूल्मों के खिलाफ कानून बनाना पड़ा। इसी का प्रतिफल हुआ कि किसानों को फसल में 18-22 के अनुपात में रैयत अधिकार मिला, उन्हें रसीद दी जाने लगी और रैयत जमीन की बिक्री का अधिकार भी मिला, मगर मौजदा दौर में किसानों की जो दयनीय स्थिति है। वोट की राजनीति के कर्णधार अक्सर उनकी आँखों में धूल झोंकने का काम कर रहे हैं और सही नेतृत्व के अभाव में उन्हें असंगठित होने का दंश झेलना पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में स्वामी जी का दर्शन और उनके बताए रास्ते पर चलकर ही उन्हें नई रोशनी मिल सकती है। सरल, सहज और निश्छल इस व्यक्तित्व के प्रति मैं श्रद्धान्वत् हूँ और जिसने प्रगतिशील विचारधारा का शंखनाद किया उनके प्रति कवि सत्यनारायण की उन पंक्तियों, जो स्वामीजी पर सटीक बैठती हैं, उनकी 125 वीं जयंती के पुनीत अवसर पर उनकी स्मृति को प्रणाम करते हुए मैं अपना सम्मान-भाव निवेदित करता हूँ--

''कौन थे वे लोग जिन्होंने,
इन पत्थरों को दे गए जिंदगी के छंद,
आसमान से ऊँचे जिनके हौसले थे।''

गुरुगोंविंद सिंह जी :
जिन्होंने सिख ग्रंथ की दशम खंड की रचना कर खुद को अमर कर दिया

गुरुगोविंद सिंह जी का व्यक्तित्व एक संपूर्ण आदर्श था, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य न सिर्फ जीवन के उच्चत्तम उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है, बल्कि जीवन की आम समस्याओं से निपटने के लिए भी मार्गदर्शन हासिल कर सकता है। मुगल शासकों के अत्याचार से मुक्ति के लिए उन्होंने जिस खालसा सेना की स्थापना की थी उसका मूलमंत्र आज भी जन-जन को याद है। वह कहते थे---

'सवा लाख से एक लड़ाऊँ'
चिड़ियों से मैं बाजतड़ाऊँ
तब गोविंद सिंह नाम कहाऊँ

भारतीय संस्कृति में मान्यता है और गीता में श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि जब-जब धर्म का ह्रास होता है तब-तब सत्य एवं न्याय का विघटन भी होता है। इसी प्रकार खालसा सेना की स्थापना के समय गुरु गोविंद सिंह जी ने भी कहा था कि--

'जब-जब होत अरिष्ट अपारा
तब-तब देह धरत अवतारा।'

22 दिसंबर, 1666 को बिहार के पटना सीटी में जन्मे गुरु गोविंद सिंह ने 7 अक्टूबर 1708 में नादेड़, महाराष्ट्र में अंतिम सांस ली थी। मात्र 42 साल की उम्र में ही उन्होंने सिखों की सैनिक संगति, खालसा सृजन, सिख कानून को सूत्रबद्ध करना और सिख ग्रंथ की दशम खंड की रचना कर खुद को अमर कर दिया।

गुरुगोविंद सिंह को अरबी, फारसी, संस्कृत और पंजाबी भाषा का ज्ञान था। उन्होंने देश, धर्म और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए सिखों को संगठित किया और सैनिक परिवेश में ढाला। उनके बलिदान को इस अर्थ में समझा जा सकता है कि उनके दो पुत्र अजीत सिंह और जुझार सिंह चमकौर युद्ध में शहीद हो गए और दो पुत्रों फतेह सिंह और जोरावर सिंह को जिंदा दीवार में चुनावा दिया गया। इसी शोक में माता गुजरी चल बसीं। बावजूद इसके वे धर्म पर अडिग रहकर संघर्षरत रहे और महान कर्मयोगी होने का प्रमाण दिया। सन् 1699 में बैशाखी के दिन केशवगढ़ साहब में श्री

गुरु गोविंद सिंह ने एक विचित्र नाटक किया। खुले मैदान में खड़े हो उन्होंने एक शीश माँगा लोग हैरत में थे लेकिन लाहौर का दयाराम खत्री, दिल्ली का धर्मदास जाट, द्वारिका का मोखमचंद ढेबी, बीदर के निकट एक-एक करके पाँच जांबाजों ने शीश देने को आगे आए और गुरुगोविंद सिंह जी के आह्वान को चरितार्थ किया। यही पाँच प्यारे कहलाये जो देश के विभिन्न भागों व अलग-अलग जाति व संप्रदाय के थे। उन्हें एक ही कटोरे में अमृत पिलाकर गुरुगोविंद सिंह ने एक बना दिया। पंच पियारा ने उन्हें गुरु का दर्जा दिया और स्वयं उनके शिष्य बन गए। दस वर्ष की अल्प आयु में अपने पिता और चार पुत्रों की बलिदान गाथा संजोए हुए संघर्षपूर्ण जीवन की कहानी सिख धर्म के दशम गुरु गुरुगोविंद सिंह जी महाराज के प्रेरणादायी सोपानों का सतत स्मरण करवाती है।

गुरु गोविंद सिंह जी का व्यक्तित्व एक संपूर्ण आदर्श था, जिससे प्रेरित होकर मनुष्य न सिर्फ जीवन के उच्चत्तम उद्येश्यों को प्राप्त कर सकता है, बल्कि जीवन की आम समस्याओं से निपटने के लिए भी मार्गदर्शन हासिल कर सकता है। मुगल शासकों के अत्याचार से मुक्ति के लिए उन्होंने जिस खालसा सेना की स्थापना की थी उसका मूलमंत्र आज भी जन-जन को याद है। वह कहते थे-

'सवा लाख से एक लड़ाऊँ
चिड़ियों से मैं बाजतड़ाऊँ
तब गोविंद सिंह नाम कहाऊँ।'

भारतीय संस्कृति में मान्यता है और गीता में श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि जब-जब धर्म का ह्रास होता है, तब-तब सत्य एवं न्याय का विघटन भी होता है। इसी प्रकार खालसा सेना की स्थापना के समय गुरु गोविंद सिंह जी ने भी कहा था कि-

'जब-जब होत अरिस्ट अपारा
तब-तब देह धरत अवतारा।'

22 दिसंबर, 1666 को बिहार के पटना सिटी, जिसका नामकरण अब पटना साहिब हो गया है, में जन्में गुरुगोविंद सिंह ने 7 अक्टूबर, 1708 में महाराष्ट्र के नांदेड़ में अंतिम सांस ली थी। मात्र 42 साल की उम्र में ही उन्होंने सिखों की सैनिक संगति, खालसा सृजन, सिख कानून को सूत्रबद्ध करना और सिख ग्रंथ दसम खंड की रचना कर खुद को

अमर कर दिया। गुरु गोविंद सिंह को अरबी, फारसी, संस्कृत और पंजाबी भाषा का ज्ञान था। उन्होंने देश, धर्म और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए सिखों को संगठित किया और सैनिक परिवेश में ढाला। उनके बलिदान को इस अर्थ में समझा जा सकता है कि उनके दो पुत्र- अजीत सिंह और जुमार सिंह चमकोठ के युद्ध में शहीद हो गए और दो पुत्रों फतेह सिंह और जोरावर सिंह को जिंदा दीवार में चुनवा दिया गया। इसी शोक में माता गुजरी चल बसी। बावजूद इसके वे धर्म पर अडिग रहकर संघर्षरत रहे और महान कर्मयोगी होने का प्रमाण दिया। सन् 1699 में वैशाखी के दिन केशगढ़ साहब में श्री गुरु गोविंद सिंह ने एक विचित्र नाटक किया। खुले मैदान में खड़े हो उन्होंने एक सिर माँगा, लोग हैरत में थे, लेकिन लाहौर का दयराम खत्री, दिल्ली का धर्मदास जाट, द्वारिक का मोखम चंद धोबी, बीदर का साहिबचंद्र दर्जी, जगन्नाथपुरी का हिम्मत भिश्ती- ये एक-एक करके पाँच जांबाज शीश देने को आगे आए और गुरु गोविंद सिंह के आह्वान को चरितार्थ किया। यही पंच प्यारे कहलाये जो देश के विभिन्न मार्गो व अलग-अलग जाति व संप्रदाय के थे। उन्हें एक ही कटोरे में अमृत पिलाकर गुरु गोविंद सिंह ने एक बना दिया पंच पियारा और उन्हें गुरु का दर्जा दिया और स्वयं उनके शिष्य बन गए।

दस वर्ष की अल्प आयु में अपने पिता और चार पुत्रों की बलिदान गाथा संजोए हुए संघर्षपूर्ण जीवन की कहानी सिख धर्म के दसम गुरु गुरु गोविंद सिंह जी महाराज के प्रेरणादायी सोपानों का सतत स्मरण करवाती है।

न्यायमूर्ति बी॰ एल॰ यादव :

जिन्होंने प्रवहमान धारा को नई दिशा में मोड़ने का प्रयास किया

इतिहास की सार्थकता इसी में है कि वह अपने में विस्तार को समाहित करता है। इस दृष्टि से देखा जाए, तो न्यायमूति श्री बनबारी लाल यादव ने इतिहास को विस्तार दिया। उन्होंने अपनी व्यक्ति गत्त प्रतिमा और अध्ययन के अनुरुप तथा समय की आवश्यकतानुसार प्रवहमान धारा को नई दिशा में मोड़ने का प्रयास किया । हिंदी एवं संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ न्यायमूर्ति श्री यादव व्यक्तिगत रूप से सत्यं शिवं और सुंदरम् की साक्षात प्रतिमूर्ति थे। उनकी गौरांग, स्वस्थ और सुंदर काया महामानव के दिव्य आलोक से अभिमण्डित थी। उनकी सहज और मृदुल मुस्कान में उषाकालीन लालिमा मुखरित होती रहती थी। उनकी स्मृति-शक्ति विलक्षण एवं अदभुत थी। वे आज भी हमारे मानस-पटल में जीवित हैं। वे न्यायजगत कि गौरवमय शिक्षर होकर भी सदृदय इंसान थे। उनके व्यक्तिव व कृतित्व ने देश व समाज को ही नहीं बल्कि प्रत्येक व्यक्ति के मन को उनके जीवनादर्श कर्त्तव्यनिष्ठा और सच्चाई के साथ अपने कर्मोन्मुख जीवन को भव्य, बनाना रहा है। वे सत्य एवं निष्ठा के साथ अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करते थे।

न्यायमूर्ति श्री बी॰एल॰यादव ने राष्ट्रीय विचार मंच की दिल्ली इकाई के न केवल अध्यक्ष पद को सुशोभित किया, बल्कि मंच राष्ट्रीय अध्यक्ष पद पर अल्पकाल तक रहकर उसकी राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सभी पदाधिकारियों एवं सदस्यों का अपने स्वभाव अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा से दिल जीता और उसकी बैठकों के संचालन में जिस कुशलता और क्षमता का परिचय दिया उसके सब लोग कायल है।

हिंदी व संस्कृत साहित्य के विकास के लिए न्यायमूर्ति श्री यादव ने सतत् रचनात्मक काम करने की आवश्यकता पर बल दिया। इसके साथ ही सभी भारतीय भाषाओं की समृद्धि के लिए सदैव प्रर्यत्नशील रहे। राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्था राष्ट्रीय विचार मंच की नई दिल्ली के पंडार रोड में भारत सरकार के द्वारा इन्हें नाम से आवंटित क्वार्टर में जब राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था कि

भारत की भाषाएँ एक हैं और उनका उद्गत स्रोत एक ही है। एक-दूसरे की भाषाएँ नहीं जानने के कारण ही लोगों का अलग-अलग वर्गीकरण हो गया।

न्यायमूर्ति श्री यादव का समाज के प्रति प्रतिबद्धता बेमिसाल थी। उन्होंने सामाजिक समस्याओं को सदैव राजनीतिक भावनाओं से ऊपर उठकर देखा। एक जागरुक और निर्भीक न्यायमूर्ति के रूप में उन्होंने न्याय जगत में अपनी अमिट छाप छोड़ी है। कानून की गुत्थियों को समझने में वे माहिर थे। यही कारण है कि न्याय-संसार में वे श्रद्धा के पात्र बने। वे एक गंभीर न्यायशास्त्री होने के अतिरिक्त चिंतनशील निबंधकार तथा कर्मठ एवं निरपेक्ष विचारक थे। आखिर तभी तो पटना उच्च न्यायाधीश थे, तो इनके निवास में विधि संबंधी पुस्तकों के अतिरिक्त साहित्य, राजनीति, समाज तथा अध्यात्म की पुस्तकों का अंबार लगा रहता था। उन्होंने हमेशा इस बात को प्रतिपादित करने की सलाह दी कि जाति, प्रेम और राष्ट्र प्रेम मानव प्रेम में परिणत हो इसी में शांति है और इसी में आनंद है। इनके व्यक्तित्व में सबसे बड़ी विशेषता मुझे यह देखने को मिली कि उनमें किसी प्रकार का दुख-प्रपंच नहीं था। इसीलिए वे सभी को अपना आत्मीय समझते थे। गोरा देह, लंबा कद, सुंदर मुखाकृति और ओठ पर मीठी मुस्कान का भाव हर हमेशा उनके चेहरे पर झलकता था। न्यायाधीश के पद पर हो या केंद्रिय मंत्री का दर्जा प्राप्त भारत सरकार के पिछड़ा वर्ग आयोग के अध्यक्ष पद पर आसीन हों, शिष्टाचार का हमेशा ख्याल रखते थे।

दिल्ली के पंडारा रोड स्थित क्वाटर में राष्ट्रीय विचार मंच की बैठक आयोजित करने तथा बैठक के अंत में सभी सदस्यों को अपने हाथों से अल्पाहार की सामग्रियों को परोसने में जिस आत्मीय सहदयता का परिचय वे देते थ उससे सभी सदस्य रोमांचित हो जाते थे। वे जिस किसी से भी मिलते थे, तो सदा अपना स्नेह बाँटते थे। अपनी मदृता, सुरुचि और अंतदृष्टि के कारण उन्होंने एक सूक्ष्म सौंदर्यबोध भी अर्जित कर लिया था। उनकी कर्मठता, सज्जनता और मानव मल्यों के प्रति उनकी निष्ठा सदा स्मरणीय रहेगी।

इतिहास, संस्कृति सभ्यता और कानून जैसे विषयों पर उनकी प्रतिभा उन्मुक्त रूप से उजागर हुई है। हालांकि बनबारी बाबू मूलतः इलाहाबाद के थे और इलाहाबाद उच्च न्यायालय में कई वर्षे तक वे न्यायाधीश रहे, किंतु पटना उच्च न्यायालय में उनका स्थानांतरण होने पर कई वर्षो तक उनका कर्मक्षेत्र बिहार की राजधानी पटना रहा और फि पिछड़ा वर्ग आयोग के अध्यक्ष पद पर नियुक्ति होने पर उनका कर्मक्षेत्र राष्ट्रीय राजधानीं नई दिल्ली रहा।

उनके सान्निध्य में तकरीबन एक दशक से अधिक समय तक रहने पर मैंने यह महसूस किया कि उनका आध्यात्म प्रेम युवा वर्ग को विघटन से हटाकर स्वदेश चिंतन का संदेश देता है और उनके विचार सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन की दिशा में कुछ सोचने की प्रेरणा देते हैं। उनमें प्राचीन भारतीय साहित्य वेद पुराण एवं उपनिषद् की गहन पैठ थी। कुछ इन्हीं सब गणों की वजह से वे राष्ट्रीय विचार मंच और दिल्ली से प्रकाशित उसके मुख पर 'विचार दृष्टि' से वे जुड़े। यद्यपि शादी के बंधन सूत्र में नहीं बधने कारण उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन ब्रह्मचारी रूप में बिताया, तथापि संपूर्ण समाज को ही उन्होंने अपना परिवार समझकर उसकी सेवा की। किसी भी विषय के प्रतिपादन में उनकी सक्षमता, लेखक के गहरे अध्ययन मनन और हृदय-मंथन की सच्ची साधन की सफल और सफल सिद्धि है। संकीर्णता और स्वार्थ में लिप्त आज के समाज में वे एक उदाहरण थे, क्योंकि उन्होंने किसी 'वाद' में अपने को आबद्ध नहीं किया। उन्होंने विचार और विवेक को अत्युच्यय स्थान दिया, क्योंकि उनका मानना था कि विचार किसी की बपौती नहीं है। उसका स्वतंत्र विकास होता रहता है। फूल मुरझा जाते हैं, पर विचार मुरझाते नहीं। हर विचार का स्रोत मनुष्य के मस्तिष्क की उपज है जिसका आधार ईश्वर और जीवन हे। उनका मानना था कि अगर व्यक्ति विचारशील, शिष्ट और व्यवहार-कुशल है, तो वह आपके कार्य का ठीक से निर्वहण करेगा अन्यथा उसके अपने कार्य में कठिनाइयाँ होगी।

न्यायमूर्ति श्री यादव उदार एवं खुले दिल के इंसान तो थे ही, वे स्वाभिमानी भी थे, किुतु मिथ्या अहंकारी नहीं। वे अपने व्यक्तिगत जीवन में स्नेहशील और सौहार्द सौमनस्य से ओत-प्रोत थे। वे अपने काम में धुन के पक्के थे, तभी तो पटना उच्च न्यायालय से अवकाश प्राप्त करने के बाद जब उन्होंने उच्च न्यायालय में प्रैक्टिस करना प्रारंभ किया, तो उनकी प्रैक्टिस काफी चली। मुझे यह कहने में तनीक संकोच नहीं कि अपने व्यक्तित्व और उपलब्धियों की गारिमा से उन्होंने राष्ट्रीय विचार मंच और 'विचार दृष्टि' पत्रिका को गौरवान्वित और मण्ठित किया। उनकी अनवरत साधना का सहज परिणाम था कि वे आत्मसम्मान के धनी थे और उससे उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। मुझे अच्छी तरह याद है कि न्यायमुर्ति श्री बी॰एल॰यादव जी से मेरी पहली मुलाकात तब हुई जब मैं सरदार पटेल के जयंती-समारोह का उद्घाटन करने का अनुरोध-पत्र के साथ बेली रोड स्थित उनके सरकार निवास पर पहुँचा और बड़ी सहजता से उन्होंने हमारा आमंत्रण

स्वीकार कर जयंती-समारोह का उद्घाटन किया तथा अपने उदबोधन से सभी श्रोताओं को अपनी ओर आकृष्ट किया। फिर क्या था उन्होंने कुछ ही दिन बाद मुझे अपनी आवास में खाने पर आमंत्रित कर घंटो मुझसे बातचीत की और पहली बार उन्होंने एक पत्रिका निकालने का एक प्रस्ताव मेरे समक्ष प्रस्तुत किया। हमारी हिचकिचाहट के वाबजूद उन्होंने हमसे यह कहलवा लिया कि मैं पत्रिका निकालने पर विचार करूँ, भले ही उसे निकालने में एक-दो वर्ष का समय लगे। सच मानिए यह उनकी ही प्रेरण थी। जब 1998 में 'राष्ट्रीय विचार पत्रिका' नाम से एक वैचारिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। बाद में आर॰एन॰आई॰, नई दिल्ली द्वारा पत्रिका का नाम पत्रिका आज तक दिल्ली से नियमित रूप से प्रकाशित हो रही है यह न्यायमूर्ति श्री बी॰एल॰ यादव जी की प्रेरणा का प्रतिफल है। उनकी संवेदनशीलता, स्नेह और उदाशयता के प्रति मैं तहे दिल से आभार व्यक्त करता हूँ।

बनबारी बाबू ऐसे पुरुष थे जिनका कोई शत्रु न था। पहनावे, बोल-चाल से लेकर आचार-व्यवहार तक में उनकी सृरुचि और संभ्रांतता स्पष्ट मुसकती थी। अनुशासन के साथ स्नेह एवं सहदयता का विलक्षण समन्वय अनके जीवन का व्रत था। उनके लिए सिद्धांत केवल कोरे शब्द नहीं, बल्कि जीवन के व्यवहारिक आधाार थे। आध्यात्मिक भक्ति में उनकी अन्न्य आस्था थी। सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी न्यायामूर्ति श्री यादव स्वाबलंबी तथा अपने जीवन के स्वयं निर्माता थे। अपनी विद्वता और गणों के कारण वे सामान्य स्थिति से उच्च पदों पर पहुँचे। व्यक्तित्व, कर्त्तव्य और वक्तव्य का मणिकांचन संयोग उनके जीवन में था। अपने जीवन में वे चाहे जिस पद पर रहे उसकी का गरिमा को बड़ी शालीनता से निभाया। जितनी हिंदी के प्रति उनकी आस्था थी संस्कृत के प्रति भी उतने ही सारस्वत विद्वान थे। आखिर तभी तो भारत में पहली बार उन्होंने न्यायाधीश के पद पर रहकर संस्कृत में अपना फैसला दिया था। उनका मानना था कि प्रगति एवं विकास के लिए राजनीतिक स्वाधीनता से अधिक सांस्कृतिक स्वाधीनता आवश्यक होती है। यही कारण है कि देश में सब कुछ होते हुए भी सुख-शांति समृद्धि, स्थिरता नहीं है तथा सर्वत्र अनाचार, पक्षपात, जातीयता, सांप्रदायिकता का बोलबाला है। जीवन की आस्था खण्डित हो गई है और मूल्य विघटित हो गए है। शोषितो पीड़ितो की मुक्ति उनका सर्वोपरि लक्ष्य था। उनकी इसी भावना को देखते हुए भारत सरकार ने उन्हें पिछड़ा वर्ग आयोग के अध्यक्ष पद पर नियुक्त किया था।

न्यायामूर्ति श्री बी॰एल॰यादव के दिल में खोट तथा मन में कुठा नहीं थी। वे स्पष्टवादी भी उतने ही थे। अपनी बात वे बड़ी सफाई से सामने रखते थे। जब कभी वे बोलते थे, तो कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद को जरुर उकृत करते थे। वे बराबर कहा करते थे कि आज समाज में जो विद्रपताएँ तथा विषमताएँ है उनके समाधान प्रेमचंद ने आज से कई दशक पूर्व अपने उपन्यास कर्मभूमि, योगदान निर्मला तथा कई कहानियों में दे रखा था। दो-टूक बात कहने में उन्हें तनीक संकोच नहीं होता था। बनबारी बाबू का व्यक्तित्व ही ऐसा था कि उनकी स्मृति आज हमलोगों के लिए प्रेरणा का अक्षम स्रोत है। उनका जीवन समाज को सदैव आलोकित करता रहेगा। उनके जीवन में प्राय: एक सीधे-सादे ग्रामीण का संस्कार साफ रूप से झलकता था। उन्हें आडम्बर एवं चापलूसी जरा भी पसंद नहीं थी। किसी भी स्तर से किसी तरह का कठमुल्लापन उन्हें नापसंद था और यदा-कदा उनके अंतर का आक्रोश उफन पड़ता था। बनबारी बाबू का मेरे प्रति सहज सदभाव का भाव था। उनसे ज्यों-ज्यों परिचय बढ़ता गया, परस्पर आदर-भाव में वृद्धि होती गई। 10 फरवरी, 2002 को नई दिल्ली के पंडारा रोड स्थित उनके सरकारी निवास में आयोजित मंच की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक उन्हीं की अध्यक्षता में हुई थी। मेरे लिए कदाचित वही अंमि भेट थी। बीच में गुजरात में हुई हिंसा प्रतिहिंसा के विरोध में राष्ट्रीय विचार मंच की ओर से नई दिल्ली के राजघाट स्थित समता स्थल के प्रांगण से आयोजित सद्‌भावना व शांति मार्च में न्यायामूर्ति श्री बी॰एल॰ यादव से सभी सदस्यों को संकल्प दिलाने तथा मार्च का नेतृत्व करने के सिलसिले में उनसे जब मेरी बातचीत हुई थी, तो उन्होंने बड़ी सहजता से अपनी स्वीकृति प्रदान की थी, पर जगन्नियंता को वह मंजूर नहीं था। दूसरी दिन अहले सुबह जब मैंने उनसवे दूरभाष पर संपर्क किया, तो उन्होंने मुझे बताया कि वे अस्वस्थ है और अपने स्वास्थ्य की जाँच कराने के लिए इलाहाबाद जानेवाले है। वैसे मंच की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के एक सम्मानित सदस्य डॉ॰ दिनेश चंद यादव जी से एक दो दिन पूर्व जब मैंने उनके निवास पर मिला था, तो न्यायमुर्ति श्री बी॰एल॰यादव की अस्वस्थता की शिकायत उन्होंने मुझसे की थी। फिर इलाहाबाद जाने के बाद में ही न्यायमूर्ति श्री यादव की दृदयगति रूक जाने की वजह से वे हम सबों से छीन लिए गए। इस आशय की सूचना जब मुझे मेरे सुपुत्र सुधीर रंजन ने दी तो मुझ पर क्या गुजरा आप इसकी कल्पना कर सकते हैं। मैं और मेरे परिवार के सभी सदस्य इस दुखद समाचार को सुनकर

मर्माहत हुए जैसे हमारे अपने परिवार का एक सदस्य अचानक उठ गया। उन्होंने अपने जीवन काल में जो कुछ किया, उसकी वजह से उनकी स्मृति चिरकाल तक बनी रहेगी। उनकी पावन स्मृतियों के तार आज भी मेरे मन-प्राणों को झंकृत कर जाया करते हैं। उनसे जो भी एक बार मिला उनका हो गया। बस एक ही मुलाकत अपनापन भर देने के लिए काफी होती थी।

समाजवाद के मूक समर्थक स्व यादव जी माँ, मातृभूमि और मातृभाषा का हृदय से आदर और सम्मान करते थे। ऐसे सरस व्यक्तित्व की जब मार्गदर्शन के लिए मुझे जरुरत थी, तब अपनी विवेकशीलता और प्रगतिशीलता का संदेश देकर वे विदा हो गए। अब तो बस उनके अमूल्य अवदानों को स्वीकार कर उनके पदचिन्हों पर चलना ही हमारे सामने एक विकल्प है। वे हमारे बीच अब नहीं हैं, पर उनकी दृष्टि और उनके विचार अभी जीवित है जिन्हें लेकर चलना हमारा परम कर्त्तव्य हो जाता है। जब कभी मेरे समक्ष समस्याएँ आ खड़ी होती हैं बरबस एक जीवंत मूर्ति मेरी आँखों के सामने आ जाती है। न्यायमूर्ति स्व॰बी॰एल॰ यादव के रूप में। सच मानिए विश्वास नहीं होता कि वे आज हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन सच को तो स्वीकारना पड़ेगा, क्योंकि बागों में पुष्प पुष्पित और पल्लवित होते हैं। कुछ समय तक अपना सौदर्य और सुरभि विखेरते है फिर अपना अस्तित्व खोकर मिट्टी में मिल जाते हैं। कालचक्र से कौन बचा है आया है सो जाएगा, राजा, रंक फकीर एक सिंहासन चढ़ि चले, एक बँधा जंजीर।

एक सहृदयी मार्गदर्श स्वर्गीय होकर अपने जीवित हमारा ही को खंडहर बना देता है-टूटी संवेदनाओं की अमुगूँजित स्मृतियाँ और लुढ़क-लुढ़क कर आँसूओं की अविराम श्रृँखला की धार। भरे पूरे दे दीप्य चेहरे पर सहज मुस्कान की एक बंकिम रेखा खिंची रहना स्व0 यादव जी की खास पहचान थी, जिसमें एक सम्मोहन, एक चुंबकीय ऊर्जा होती, अपनत्व का जिसमें प्रवाह होता और यह काफी थी किसी को अपने में समेटे लेने के लिए विगत तकरीबन एक दशक से वे जीवंत और मुखरक्षण स्मृतियों की घाटियों में अनवरत गूँज जाते हैं। स्मृतियों के भरोखे से जब मैं झाँकने की कोशिश करता हूँ, तो ये पंक्तियाँ

बड़े शौक से सुन रहा था जमाना,
तुम्हीं सो गए दास्तां कहते-कहते

मेरे मानस-पटल पर उभर आती हैं। बस इन्हीं चंद शब्दों से मैं उनकी स्मृति को नमन करते हुए उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

शरद जोशी :

जो किसानों को फसल का लाभकारी मूल्य दिलाने के लिए देश भर में कई आंदोलन का नेतृत्व करने वाले किसान नेता थे

शरद जोशी देश के ऐसे प्रख्यात किसान नेता थे जिन्होंने किसानों को फसल का लाभकारी मूल्य दिलाने के लिए देश भर में कई आंदोलनों का नेतृत्व किया। वह स्विटजरलैंड स्थित इंटरनेशनल ब्यूरो ऑफ यूनिवर्सिटल पोस्टल यूनियन के दशक भर के आकर्षक कार्य को छोड़कर 1977 में भारत लौटे थे और फिर से किसानों का मुद्दा उठाया था। जोशी जी ने 1979 में 'शेतकारी संगठन' का गठन कर महाराष्ट्र राज्य में असंगठित क्षेत्र के किसानों का आंदोलन चलाया था। यहाँ चाकन में अपना किसान संगठन बनाने के बाद वह नासिक जिले में प्याज उत्पादक किसानों के आंदोलन का नेतृत्व कर चर्चा में आए, जिसके हिंसक रूप ले लेने के बाद वह गिरफ्तार कर लिए गए। शीघ्र ही उन्होंने अपनी गतिविधियों का दायरा बढ़ाया और गन्ना, धान, कपास, तंबाकू तथा दूध जैसे कृषि वस्तुओं के लिए लाभकारी मूल्य का मुद्दा उठाया। उन्होंने 1982 में सभी किसान संगठनों की एक गैर राजनीतिक समन्वय समिति को गठित करने के लिए उत्तर भारत के किसान नेता महेन्द्र सिंह टिकैत से हाथ मिलाया। अपने गृह राज्य महाराष्ट्र से आंदोलन शुरू करने वाले जोशी ने बाद में अपना आंदोलन अन्य राज्यों में भी फैलाया।

उदार एवं प्रगतिशील विचारों के जोशी ने किसानों के मुद्दे को महिला सशक्तीकरण से भी जोड़ा और नासिक के चंदवाड़ में 1986 में महिला किसानों एवं खेतीहर मजदूरों की एक विशाल रैली निकाली, जिसमें करीब दो लाख महिलाओं ने हिस्सा लिया। राजनीति में प्रवेश करते हुए जोशी जी 1994 में 'स्वतंत्र भारत' पार्टी बनाई। इसके पूर्व वे 1990-91 में कैबिनट दर्जे के साथ केंद्र सरकार की कृषि परामर्श समिति के अध्यक्ष भी रहे। जोशी भाजपा और शिवसेना के समर्थन से 2004 से 2010 तक के कार्यकाल के लिए राज्यसभा के लिए चुने गए थे। उस दौरान उन्होंने करीब 16 सदस्यीय समितियों में काम किया था।

हालांकि, जोशी जी राज्यसभा के एकमात्र सदस्य थे,

जिन्होंने महिला आरक्षण विधेयक का विरोध किया था, क्योंकि उनका विचार था कि आरक्षण से महिलाओं का सशक्तीकरण नहीं होगा। उन्होंने संभ्रांत वर्ग के 'इंडिया' तथा जड़, जमीन, और मूल्यों से जुड़े आम आदमी के 'भारत' के बीच अंतर को स्पष्ट तरीके से सामने लाने की कोशिश की। उन्होंने कृषि अर्थव्यवस्था और महिला सशक्तीकरण से जुड़े मुद्दों पर अँग्रेजी और मराठी में कई पुस्तकें भी लिखीं। उन्होंने भूमि अधिग्रहण विधेयक के मुद्दे पर किसानों के मुद्दे में सक्रिय भूमिका निभाने की भी इच्छा जाहिर की थी। यह पूछे जाने पर कि महिला आरक्षण विधेयक के खिलाफ रूख अख्तियार करने के लिए जोशी को किस बात ने प्रेरित किया था, शेतकारी संगठन के मौजूदा नेता रघुनाथ पाटिल ने बताया कि हालांकि उन्होंने महिला सशक्तीकरण की हिमायत की, लेकिन उनका मानना था कि आरक्षण की प्रणाली से वांछित फल नहीं मिलेगा और महिलाओं का सशक्तीकरण नहीं होगा। पाटिल ने बताया कि वह सामाजिक और आर्थिक न्याय में विश्वास रखते थे, लेकिन विभिन्न क्षेत्रों में आरक्षण का समर्थन नहीं करते थे।

जोशी जी वृद्धावस्था के रोगों से ग्रसित रहने के बावजूद अपने जीवन के आखिरी समय तक सक्रिय थे। विगत 12 दिसंबर, 2015 को अपने आवास में ही उन्होंने 81 वर्ष की उम्र में अंतिम सांस ली।

एस. एन. तिवारी : जिसने अपनी मस्ती से आसपास को जीवन्त बनाया

अवर अभियन्ता संघ, बिहार के पूर्व महासचिव तथा निर्माता–निदेश के पूर्व सम्पादक श्री हृषीकेश पाठक ने मुझे एस. एन. तिवारी पर संस्मरण लिखने को कहा और मैंने तुरंत अपनी स्वीकृति दी कारण कि तिवारी जी से मेरा मन मिलता था, दोनों के विचार एक से थे।

मुझे ठीक–ठीक याद नहीं कि कबसे मैं उनसे परिचित था, पर इतना अवश्य याद है कि राँची से स्थानांतरण के बाद जब मैं पटना आया तो उन दिनों महालेखाकार के कार्यालय पटना के विभिन्न क्षेत्रों के लगभग सात–आठ भवन में स्थित थे और मैं बिहार सिविल ऑडिट एण्ड एकाउन्ट्स एशोसियेशन का महासचिव निर्वाचित हुआ था। इसलिए सभी कार्यालयों की गतिविधि को लेकर सन्ध्या समय पटना रेलवे स्टेशन के सामने बस पड़ाव के समीपवाली दुकान पर अपने संघ के साथियों के साथ विचार–विमर्श करता था। वहीं मेरी मुलाकात एस. एन. तिवारी जी से हुई और अन्तिम क्षण तक हमदोनों एक दूसरे के दु:ख–सुख के साक्षी रहे।

तिवारी जी की अपनी दुनिया में यों तो अवर अभियन्ता संघ के सहकर्मियों की आवाजाही अधिक थी, किन्तु आम आदमी के प्रति भी वे बहुत खुले हुए व्यक्ति थे। उनके मानवीय व्यवहार में कहीं भी कट्टरता नहीं दिखाई पड़ती थी। मध्यम वर्गीय परिवार में जन्में तिवारी जी का मन परिवेश के अनेक धरातलों पर विचरण करता रहा। उनका जीवन एक खुली किताब, जिसे सब कोई आसानी से पढ़ सकता था। उनके खुलेपन की वजह से ही मैं उनसे लगातार जुड़ता चला गया। लगा कि वह व्यक्ति मेरे खुलेपन का भी सम्मान करता है। उनकी अपनी दुनिया होने के बावजूद वे मुझे अपनी दुनिया का समझते थे और मेरी प्रगतिशील अंतर्दृष्टि को वे बड़ी बारीकी से झांकते थे। यों तो वे नौकरी में थे, पर नौकरी उनके स्वाभिमान के आड़े कभी नहीं आई। जीवन जीने के लिए आज नौकरी कितना बड़ा आधार है, इसे सब जानते हैं पर इसे उन्होंने गम्भीरता से नहीं लिया। हमेशा उनमें एक मस्ती दिखाई देती थी। वह अपनी मस्ती से अपने आसपास को जीवन्त बनाए रखते थे। वे तन और मन दोनों से बहुत स्वस्थ व्यक्ति थे। अक्सरहाँ नहीं बल्कि कहा जाय तो प्राय: प्रतिदिन बस स्टैन्ड के समीप चाय दुकान के पास जब शाम के वक्त हमलोग मिलते थे, वह अपने

घर-परिवार की पीड़ा घर पर ही छोड़ आते थे। सभा सोसायटी हो या मित्रों व सहकर्मियों का साहचर्य, वह एक सामाजिक चेतना की लय से सराबोर होते थे। आज भी तिवारी जी के बोलने का खिलदंड़ अंदाज और चुटकियां मेरे मानस-पटल पर गूंज रही हैं। लगता है-वह सामने मित्रों के बीच खड़े हैं- हँसते हुए, विनोद की फूलझड़ियाँ छोड़ते हुए, चाय पीते हुए...।

मृत्यु न केवल जिन्दगी में एक दर्दनाक घटना है, वरन् वह चिरंतन सत्य है जिसे स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि उस दुःखद अंधेरे से ही सुख की रोशनी फूटती है। अमंगल कभी नहीं पसीजता, आत्मीयता से भी नहीं। जब तक हम जीवित रहते हैं, मात्र यादें ही बच जाती हैं। स्मृतियाँ घुलनशील होती हैं। पर आज उन पर धूल की परत नहीं सिर्फ उजास के गीले कण सब कुछ बिल्कुल साफ होकर उभर रहा है। तिवारी जी में अपूर्व धैर्य, साहस और तितिक्षाओं का मेल था। अस्तु उन्होंने अपने दुःख क्लेश और आँसूओं को अन्दर ही अन्दर सहा, उन्हें प्रकट नहीं होने दिया और न किसी हीनभावना को अपने पास फटकने दिया। वस्तुतः जीवनभर संवेदना का संबल लेकर पनपने वाले अक्षयवर तिवारी जी ने संघर्षमय परिस्थितियों एवं कंटकाकीर्ण मार्गों में अपनी दृढ़ता को बनाए रखा।

जातस्य हिध्रुवं मृत्यु ध्रुवं जन्ममतस्य च

अर्थात जन्म लेने की मृत्यु और मरने वाले का जन्म सुनिश्चित है। इस ब्रह्मसत्य को स्वीकार करना ही आस्तिकता है। सो तिवारी जी अनन्त में विलीन हो गए हैं। विश्वास तो नहीं होता, पर सत्य कठोर होता है। इनके निधन के समाचार ने मुझे भीतर से झकझोर दिया था। वेदना की टीस ऐसी है कि आँसूओं के भी उपर है। जीवन में चन्द लोग होंगे जिन्हें हमने देखा-समझा और अच्छा पाया। जिनमें अपनापन पाया उनमें तिवारी जी एक थे। उनकी कर्मठता, पौरुष और सामाजिकता के सामने मैं नतमस्तक हूँ।

तन-मन से इतना स्वस्थ व्यक्ति चला गया और छोड़ गया अपने लोगों की दुनिया में अपनी खुली हँसी, जीवत चुटकियाँ और यादें और यादें। उनकी याद भर से आँखों में आँसू भर आते हैं-

सुख के आँसू दुखी
मित्रों की जाया के
भर आए आँखों में
एस. एन की माया से।

जैनसंत आचार्यश्री महाप्रज्ञ : जिनकी सर्जनात्मकता से संपूर्ण मानवता लाभान्वित हुई

महान दार्शनिक तथा युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के योग्तम उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाप्रज्ञ जैन समाज की तेरापंथी धारा के श्वेताम्बर अनुयायियों के 10वें गुरु थे। जिन्हें 12 नवंबर 1978 में आचार्य महाप्रज्ञ की उपाधि दी गई थी। राजस्थान के झुंझनु जिलांर्गत टमकौर गाँव में 14 जून, 1920 को जन्में नथमल जब महज ढाई साल के थे तभी उनके पिता तोलाराम का निध न हो गया था। दस साल की उम्र में कही उन्होंने सन्यास ग्रहण कर लिया। संयमी जीवन उनका बीजमंत्र बना और बाल्यकाल में ही वे मुनि नथमल हो गए। सौम्य आकृति, सरल स्वभाव, तीव्र मेधाशक्ति के धनी मुनि नथमल को आचार्यश्री तुलसी का सान्निध्य और शिक्षा मिली। आचार्यश्री तुलसी से ही उन्हें दर्शन, न्याय, व्याकरण, कोष, मनोविज्ञान, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों के अध्ययन का अवसर मिला। यही कारण है कि वे आगे चलकर भारतीय दर्शन के सफलतम व्याख्याकार सिद्ध हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने विज्ञान और अध्यात्म को परस्पर पर्याय के रूप में प्रस्तुत किया। धार्मिक क्षेत्र में यह पूर्णत: नया सिद्धांत है जिसने धर्म के संदर्भ में नई दिशा दी। इनके पूर्व तक इन दोनों को दो ध्रुव माना जाता रहा है। इन्होंने विविध विषयों पर शताधिक ग्रंथ लिखे है जिनमें उनका मौलिक चिंतम प्रस्फुटित हुआ है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ एक साहित्कार ही नहीं, संवेदनशील कवि, समाज, सुधारक, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व एवं अहिंसा के प्रचारक, सत्य, ज्ञान के मार्ग पर चलने वाले सरल एवं ऊँचे विचार से परिपूर्ण महान पुरुष थे। जैन धर्म अनुयायियों के साथ ही संपूर्ण विश्व को जैन धर्म के आदर्शो तथा शिक्षाओं से अवगत कराने वाले आचार्यश्री महाप्रज्ञ की तर्क शैली इतनी सम्मोहक होती थी कि मुझे भी उनके सान्निध्य में आने का अवसर तब मिला जब नई दिल्ली के महरौली स्थित साधना सभागर में आयोजित चतुर्मास में मुझे इनसे मिलवाया गया। दरअसल, भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग के कार्यालय, प्रधान महालेखाकार (लेखा परीक्षा), बिहार, पटना से वरिष्ठ लेखा अधिकार पद से मैंने जब व्यापक व तृहत्तर समाज एवं

राष्ट्रहित में स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति लेकर राष्ट्रभाषा हिंदी तथा पत्रकारिता की सेवा करने हेतु नई दिल्ली में रहना प्रारंभ किया, तो वहाँ गाँधी शांति प्रतिष्ठान एवं गाँधी दर्शन समिति के अतिरिक्त डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद अकादमी तथा अणुव्रत भवन स्थित अणुव्रत एवं तेरापंथी के अधिकारियों व सदस्यों से मुझे मिलने का मौका मिला।

यों तो मेरे परिवार की मेरी पीढ़ी तक के सभी सदस्य शुद्ध रूप से शाकाहारी रहे हैं और अहिंसा में सभी का विश्वास रहा है फिर भी भगवान महावीर व महात्मा गाँधी के बताए रास्ते अहिंसा पर अपने भाव व्यक्त करने का नशा मुझ पर तब चढ़ा जब 16 एवं 17 नवंबर 2002 को नई दिल्ली में राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्था 'राष्ट्रीय विचार मंच' द्वारा वैचारिक क्रांति को केंद्र में रखकर आयोजित दो-दिवसीय राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ॰ धर्मेन्द्रनाथ 'अमन' के सौजन्य से मुनिश्री सुखलाल सहित अनेक मुनि संतो के सान्निध्य में मैं आया और अहिंसा के बारे में मुझे कुछ और अधिक जानने-समझने का अवसर मिला। सच मानिए अहिंसा यात्रा के प्रवर्तक आचार्यश्री महाप्रज्ञ की विलक्षण क्षमता और वक्तृत्व कला का मुझ पर जैसे जादू चढ़ गया। उनके आचरण, वेश-भूषा, सादगी और देश की वर्तमान समस्याओं पर उनके विचारों से मैं दिन-ब-दिन रू-ब-रू होता रहा। इसी क्रम में जब अणुव्रत महासमिति के अध्यक्ष पद का दायित्व आचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा डॉ॰ महेन्द्र कर्णावत के सबल कंधों पर दिया गया तो उन्होंने भी मुझे अणुव्रत महासमिति की राष्ट्रीय कार्यकारिणी में सदस्य के रूप में रखा। दरअसल, मैंने भी 'राष्ट्रीय विचार मंच' और उसके मुख-पत्र 'विचार दृष्टि' के उद्देश्यों को अणुव्रत आंदोलन के अनुरूप पाया। डॉ॰ धर्मेन्द्रनाथ 'अमन' और डॉ॰ महेन्द्र कर्णावट के आमंत्रण पर जब अणुव्रत महासमिति तथा चतुर्मास के आयोजन में मैं शामिल हुआ कई कंठ से 'संयममय जीवन हो.......' अणुव्रत गीतो को सुमधुन स्वर में सुनकर मैं काफी अभिभूत हुआ। मुझे प्रसन्नता यह देख-सुनकर हुई कि जिस उद्देश्य को लेकर हम अपनी संस्था और पत्रिका का संचालन कर रहे हैं, अणुव्रत महासमिति और अणुव्रत न्यास द्वारा भी उसे ही मूर्त रूप कदया जा रहा है।

इस प्रकार मैंने देखा कि दोनों का लक्ष्य एक वैचारिक क्रांति का अलख जगाना है। दोनों का मानना है कि वैचारिक क्रांति के बिना आचार-क्रांति संभव नहीं। फिर हम भी चल पड़े उसी रास्ते जिसे आचार्य श्री तुलसी और उनके उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने दिखाया। जीवन में मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए प्रतिपादित अणुव्रत आंदोलन को जन-जन तक

पहुँचाने के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञ द्वारा वर्ष 2001 से 2006 की अवधि में अहिंसा यात्रा की गई जो मात्र एक पद-परिक्रमा ही नहीं, बल्कि राष्ट्र की समस्याओं को जगाने का अभियान था। आचार्यश्री महाप्रज्ञ का यह अभियान निरंतन गतिमान रहा। मुझे इस बात की खुशी है कि उनकी इस अहिंसा यात्रा के दौरान सूरत में आयोजित चतुर्मास के सम्मेलन होने का मौका मिला जिसमें 'अहिंसक समाज की संरचना में लेखकों की भूमिका' विषय पर हुई संगोष्ठी की अध्यक्षता को मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। मुझे लगा कि अहिंसा यात्रा की इस पावन अवधि में ही साक्षात् महावीर के समक्ष मिला और बाद में अपने उन्हीं भावों को जापानी विधा सेन्र्यू छंदों में मैंने बाँधा और अपने काव्य संग्रह 'जागरण के स्वर' में संजोया।

भारत सहित पूरे विश्व में तनाव, आतंक, हिंसा एवं बर्वादी के चलते हो रही तबाही से पूरी मानव जाति को बचाने का आज एक ही रास्ता बचा है कि हम लौट चले अहिंसा की ओर-जिसके लिए भगवान महावीर, आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ के बताए रास्ते पर चलकर एक ओर जहाँ संयममय जीवन जीना होगा, वहीं दूसरी ओर असत्य पर विजन पाने के लिए संघर्ष भी करना होगा, क्योंकि अँधकार के विरुद्ध संघर्ष भी जरुरी है। जाति, वर्ण, भाषा, क्षेत्रीयता और धर्म का भेदभाव न रखते हुए मनुष्य को भी सदाचार की ओर आकृष्ट कर बचाया जा सकता है। इसी प्रकार का प्रयास अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने अहिंसा यात्रा द्वाराज जन-जन में संदेश पहुँचा कर किया। आज की भयावह परिस्थिति में नैतिक मूल्यों का विकास और अहिंसक चेतना का जागरण जरुरी है। वैसे भी देशवासयिों के समक्ष सदा से त्याग, संयम और संघर्ष का आदर्श रहा है। देश की आजादी भी तो हमने इसी के बल पर हासिल की। इसलिए मनुष्य के भीतर जो हिंसा और असत्य-भाव हैं उसकी सफाई करनी होगी, अहिंसा के प्रति आस्था जगानी होगी।, क्योंकि हिंसा स्वयं तो एक समस्या है ही, साथ ही अनेक समस्याओं की जननी भी है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने इसी का संदेश दिया और अहिंसक जीवन शैली का प्रयोग किया। उन्होंने अहिंसा के संदोशों के क्रम में इच्छाओं का संयम, पारिवाहरक एवं सामाजिक समस्याओं के मूल में बैठे संयम का सहिष्णुता, उदारता, सहृदयता और त्याग-भावना को आधार माना। बल्कि सच तो यह है कि उनका व्यावहारिक जीवन समभाव और विषमता को दूर कर समता के भाव को प्रश्रय देता है। इसलिए उनका हर संदेश हर इंसान और हर जमान के लिए है। अणुव्रत

महासमिति के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ॰ धर्मेन्द्र नाथ अमन तथा डॉ॰ महेन्द्र कर्णावट दो ऐसे सहृदयी तथा अहिंसा के अनुरागियों के स्नेह और सदिच्छा ने अणुव्रत की ओर मुझे खींचा और इस दौरान मुझे मुनि सुखलाल जैसे कई संत मुनियों के संपर्क में आने और उनके विचारों से अवगत होने का मौका मिला। फिर तो अणुव्रत महासमिति की राष्ट्रीय कार्यकारिणी में सदस्य के रूप में मनोनीत कर असिा के प्रचार-प्रसार तथा भगवान महावीर के बताए रास्ते पर चलने में मुझे गर्व का अनुभव होने लगा। फिर क्या था दिल्ली से लेकर राजस्थान, गुजरात के कई चतुर्मास के दौरान आयोजित अहिंसा से संबंधित विविध विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत करने हेतु मुझे आमंत्रित किया जाता रहा। एक दौर फिर ऐसा भी आया जब आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने स्वयं मुझे अपने पास बुलाकर अहिंसा समवाय के राष्ट्रीय संयोजक का दायित्व दे डाला जिस दायित्व को मैंने बड़ी निष्ठा और ईमानदारी से कई वर्षो तक निभाया। इस अवधि में जैसे-जैसे मैं आचार्यश्री महाप्रज्ञ के समीप और सान्निध्य में आता गया उनकी प्रतिभा और जीवन शैली से उतना ही प्रभावित होगा गया। मुझे अच्छी तरह याद है एक बार जब वे प्रवचन कर रहे थे उन्होंने कहा था--"मानवीय इतिहास के तीव्रतम विभाजन के इस दौर ने वस्तुतः हमारे समाज तथा गहन भावनात्मक संबंधों को भी प्रभावित किया है। हमारी मानसिकता भयग्रस्त है। जीवन में विकर्षण और वितृष्णा पैदा होती जा रही है। यांत्रिक जीवन-जन्य हताशा और कुंठा से हम अवसादग्रस्त हैं। इम नकारे होते जा रहे हैं, क्योंकि हम अपने शाश्वत मूल्यों को तिलांजलि दे पाश्चात्य की भोगवादी संस्कृति के मोहपाश में जकड़ गए है। ऐसी विषम परिस्थितियों में जैन धर्म की शिक्षाएँ हमारा मार्ग दर्शन कर सकती हैं।" आचार्यश्री के पवचन इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में काफी सहायक हो सकते है, क्योंकि जैन धर्म की शिक्षाएँ काल सापेक्ष तथा शाश्वत मूल्यबोध से परिपूर्ण हैं। मुझे याद है कि राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने उनकी इसी प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हें आधुनिक विवेकानंद कहा था। यही नहीं भारत के पूर्व प्रधाानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी भी सार्वजनिक सभाओं में बहुधा कहा करते थे कि मैं महाप्रज्ञ-साहित्य का प्रेमी हूँ। यह कहना यथोचित होगा कि आचार्यश्री महाप्रज्ञ के दिव्य गुणों में विनम्रता, दया, करुणा, समझ, विवके, धैर्य और विश्व-भ्रातृत्व प्रमुख हैं। वे संसार में भारत के सांस्कृतिक एवं प्रारंपरिक मूल्यों के प्रचारक थे। अहिंसा, नैतिकता, शांति, सामाजिक, धार्मिक, सौहार्द, आध्यात्मिकता, जीवन विज्ञान, प्रेक्षाध्यान आदि पर उनकी व्याख्या बेमिसाल थी।

गुरु-शिष्य परंपरा पर महाप्रज्ञ का मानना था कि प्राचीन काल में शिक्षा और साधना की पूरी व्यवस्था गुरुकुलों में होती थी। गृरुकुल में रहनेवाले विद्यार्थी और साधक गुरु के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित रहते थे। उनकी दिनचर्या नियमित रहती थी। गुरु के प्रति शिष्य का जो श्रद्धा और समर्पण का भाव होता, उससे अनायास ही शिष्य को शक्ति-जागरण का अवसर मिल जाता था। श्रद्धा और समर्पण के अभाव में न तो शिक्षा का समुचित विकास हो सकता है और न साधनाकार गृरु पर शिष्य के सर्वागीण विकास का दायित्व रहता है, इसलिए वह उसकी हर वृति और प्रवृति पर ध्यान रखता है। जहाँ दायित्व नहीं होता, वहाँ ध्यान रखने की बात भी प्राप्त नहीं होती। जैन संत आचार्यश्री महाप्रज्ञ का पिछले 9 मई 2010 को राजस्थान के चुरू जनपद के सरदार शहर में 90 वर्ष की उम्र में महाप्रयाण हो गया और 10 मई को उनका अंतिम संस्कार किया गया। वे पिछले कुल दिनों से अस्वस्थ थे और सददार शहर स्थित आश्रम में ही उनका उपचार किया जा रहा था। उनके महाप्रयाण से न केवल जैन धर्म के अनुयायियों, बल्कि अहिंसा और मानव धर्म के भी समर्थक हैं उन्हें गहरा धक्का लगा है और मैंने अपना एक प्रतिभावान मार्गदर्शक खोया है।

आधुनिक शांतिदूत के नाम से विख्यात आचार्यश्री महाप्रज्ञ को सन् 2002 में इंदिरा गाँधी शांति पुरस्कार और 2005 में मदर टेरेसा पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। अहिंसा के इस पुजारी ने अहिंसा को प्राणिमात्र में एक समग्र जीवन देखने का अंतरदर्शन माना और अहिंसा की इबादत को समग्र इंसानियत की इबादत। यही नहीं अहिंसा को विश्व धर्म की धूरी मानते हुए इसे उन्होंने, मानवता की मुँडेर पर मोहब्बत का जलता हुआ चिराग कहा। अहिंसा को अक्षुण्ण रखने के लिए सबको अपनी पवित्र आहूतियाँ देनी होगी। अपरिग्रह और अनेकांत इन दोनों को आचार्यश्री महाप्रज्ञ न दो हाथ माना। अपरिग्रह जहाँ हमें निर्वस्त्र नहीं करता, वहीं सबके लिए रोटी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था भी अपरिग्रह है। भगवान महावीर के समस्थ शास्त्रों और सिद्धांतों को नदियों के दो किनारों की तरह अहिंसा और विवके को माना गया है। विवके यदि साधना है, तो अहिंसा साध्य। विवके किसी व्यक्ति की हथेली पर रखा हुआ वह दीपक है, जो अहिंसा के मार्ग को आलोककित और प्रदर्शित करता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ जीवनपर्यत अपनी नैतिकता, अहिंसा, विवके, शाश्वत परंपरा, समृद्ध संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने पर बल देते रहें। आज वे हमारे बीच नहीं है। मैं उनकी स्मृति को प्रणाम करते हुए उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

सिद्धेश्वर प्रसाद :

जो न सिर्फ हमारे हमनाम थे, बल्कि हमसफ़र भी

हमारे वक्त के सामाजिक कार्यकर्ता सिद्धेश्वर प्रसाद सौम्य एवं शालीन, व्यवहार कुशल एक ऐसे कर्मठ सचेतक थे जिनके भीतर आजीवन समाज के प्रति लगाव रहा और उन्हें अहिंसा एवं सत्याग्रह की विचारधारा ने आकर्षित किया। वे न सिर्फ हमारे हमनाम थे, बल्कि हमसफ़र भी। मुख्य रूप से सिद्धेश्वर प्रसाद एक सुलझे हुए सामाजिक कार्यकर्ता थे जो समाज के बारे में सोचते और महसूस करते थे। महसूस करने वाले संवेदनशील नागरिक होते हैं। लिखने-पढ़ने का भी उन्हें शौक था। कहा जा सकता है कि सामाजिक कार्यकर्ता की भूमिका में वे अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के साथ न्याय करते थे। आखिर तभी तो अपने समय के नेताओं की निष्ठा पर वे कभी संदेह करने की बात सोच नहीं सकते थे।

हालांकि सिद्धेश्वर प्रसाद हमसे 20 साल बड़े थे, फिर भी उनसे हमारा बहुत पटता था और वे हमारे अग्रज सरीखे थे। बिहार के नालंदा जिलांतर्गत इस्लामपुर थाना स्थित बरडीह गाँव के मध्यवर्गीय एक किसान परिवार में उनका जन्म 24 अगस्त, 1920 में हुआ था। वैसे शिक्षा तो उन्होंने 1942 में मैट्रिक पास करने के बाद 1943 में प्रयाग से विशारद, 1955 में साहित्यरत्न तथा 1964 में देवघर से साहित्यालंकार की उपाधि प्राप्त की थी। मात्र तेरह वर्ष की उम्र से ही राजनीति, सेवा कार्य और साहित्य सेवा करना उन्होंने 1933 से प्रारंभ कर दिया था। आखिर तभी तो 1933 में हरनौत की महासभा में स्वयं सेवक और 1940 में रामगढ़ में आयोजित काँग्रेस के अधिवेशन में उन्होंने भाग लिया था। यही नहीं अतासराय में आर्य समाज के वे मंत्री रहे तथा सन् 42 की क्रांति में उन्होंने जेल यात्रा की थी और 1943 जेल से मुक्त होने के बाद नारायणपुर मगध विद्यापीठ में एक शिक्षक की हैसियत से उन्होंने अपनी सेवा प्रदान की थी। इसी प्रकार 1944-45 में नालंदा कॉलेज, बिहार शरीफ में अध्ययन के दौरान हिंदी परिषद के मंत्री पद पर रहकर उन्होंने हिंदी की सेवा की थी। फिर 1946 से 1948 तक वैदिक साहित्य विद्यालय में शिक्षा तथा 1949 में औंगारी हाई स्कूल में शिक्षक तथा थाना काँग्रेस कमिटी, इस्लामपुर में मंत्री थे। फिर 1950 में वे पटना जिला

काँग्रेस कमिटी के मंत्री हुए और फिर नासिक में आयोजित अखिल भारतीय काँग्रेस अधिवेशन में उन्होंने भाग लिया था।

सिद्धेश्वर प्रसाद जी की अभिरुचि पंचायत में गहरी थी जिसके परिणामस्वरूप भागलपुर स्थित मुखिया-सरपंच प्रशिक्षण संस्थान में वे प्रशिक्षक बने। उनकी दिलचस्पी भारतीय भाषाओं सहित मगही भाषा में काफी रुचि थी जिसका प्रतिफल यह हुआ कि मगही भाषा की पत्रिका 'मागधी' के वे प्रबंध-संपादक और 'नया गाँव' नामक पत्रिका के संपादक भी रहे। राजनीति में उनकी अभिरुचि की वजह से 1967 में श्यामसुन्दर प्रसाद जी के राज्य मंत्री होने पर सिद्धेश्वर प्रसाद उनके आप्त सचिव हुए और जब उस पद से मुक्त हुए तो 1970 में वे पटना में वे मुखिया सरपंच प्रशिक्षण संस्थान के प्राचार्य पद पर नियुक्त किए गए जहाँ उन्होंने अपनी प्रतिभा और क्षमता के बल पर सफलता पाई और अपनी एक अलग पहचान बनाई।

सिद्धेश्वर प्रसाद से हमारी इतनी अंतरंगता थी कि हमदोनों बराबर कहीं न कहीं एक-दूसरे से मिलकर विभिन्न विषयों पर खुलकर बात किया करते थे। इसी बातचीत में मुझे अच्छी तरह याद है वे कहा करते थे कि आजादी की लड़ाई में ग्रामीणों की भूमिका सर्वोपरि थी। क्रांतिकारी, सत्याग्रही और जान देने वाले आंदोलनकारी गाँवों की ही उपज थे। सरदार भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद, राम प्रसाद विस्मिल और सरदार वल्लभभाई पटेल आदि क्रांतिकारी नेता गाँवों की भूमि में ही जन्में, पले-बढ़े और देश के लिए ताकत बने। उस समय गाँव अँग्रेजी हुकूमत के विरूद्ध बगावत के अड्डे बन गए थे। पटेल का वारदोली किसान आंदोलन, स्वामी सहजानन्द सरस्वती का किसान संगठन और गाँधी जी का ग्राम स्वराज ग्रामोत्थान के लिए ही था, लेकिन आजादी के बाद इन नेताओं के देहावसान के बाद गाँवों के हालात दुरूह हो गए। सिद्धेश्वर बाबू इस बात को लेकर चिंतित रहा करते थे कि गाँव नेपथ्य में चले गए और किसान औद्योगिकीकरण एवं शहरीकरण के पर्याय बन गए। मुझे अच्छी तरह याद है सिद्धेश्वर जी ने राष्टकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की कविता की पंक्ति सुनाते हुए दिल्ली के संदर्भ में कहा था-'सात बरस हो गए राह में अटका कहाँ स्वराज।' ऐश्वर्य की प्रतीक दिल्ली की हुकूमत पर राष्ट्रकवि ने सवाल खड़ा कर दिया था। दिल्ली में रोशनी और शेष भारत में अँधियारा है। सुख-सुविधा, रोजगार के लिए पलायन करना गाँवों के लोगों की विवशता बन गई, जो गाँव छोड़ गए वह वापस आने में अपनी तौहीनी समझने लगे। जिनके पूर्वजों के पास खेत-खलिहान

थे, पास-पड़ोस में पहचान थी, उनके गाँव के घर-पड़ोसियों के जानवरों के बथान बन गए।

मुझे अच्छी तरह याद है सिद्धेश्वर जी की वे बातें जिसमें उन्होंने कहा था कि 'अपने ही गाँव में शहर में जा बसने वाले लोग विदेशी बन गए।' मौजूदा दौर की स्थिति तो यह है कि दस लाख की आबादीवाला दिल्ली आज ढाई करोड़ से ज्यादा लोगों का शहर बन गया। अन्य शहरों के हालात भी यही हैं। गाँव उजाड़ हैं और नगर-महानगर बीमार।

सिद्धेश्वर जी अपना अधिकांश काम खुद ही करते थे और वे अत्यंत व्यवस्थित व्यक्ति थे। जब वे मुझे अक्सर काम में डूबे देखते थे, तो हमारे कार्यालय, महालेखाकार जो उन दिनों बिस्कोमान भवन में स्थित था, में आकर वे बैठते थे और दिलचस्प गप्पें करके मेरा मन बहलाते थे। वे शराबनोशी से तो सख्त परहेज रखते थे, मगर चाय की लत से परेशान रहते थे जबकि उन्हें मधमेह ने अपना शिकार बना लिया था। उन दिनों मुझे चाय से परहेज था और आज भी मुझे चाय की आदत नहीं है, हाँ जब कोई मेरे अतिथि के लिए घर पर चाय बनती है तो श्रीमति जी एक प्याली चाय देकर मुझे मेरी थकावट दूर करने का प्रयास करती हैं। जब मैं सिद्धेश्वर बाबू को चाय नहीं पीने की चेतावनी देता था, तो वे झट से कह बैठते थे कि ' आप के बदले मैं चाय पीता हूँ।' लेकिन विधाता का विधान भी विचित्र है। चाय की इसी आदत ने उनकी जान ले ली, क्योंकि मधुमेह की बीमारी ने उन्हें हमसे एक दिन छीन ही लिया और वे हमसे इतनी दूर चले गए जहाँ से आना उनके लिए मुमकीन नहीं।

सिद्धेश्वर जी को किताबें पढ़ने का शौक था और वे अपनी पढ़ी किताबों का विवरण हमें सुनाया करते थे। और जब वे भौतिक रूप से हमारे समक्ष नहीं हैं तो किताब पढ़कर सुनाने वाले वैसे अग्रज की कमी मुझे बहुत खल रही है। जब भी मुझे उनकी यादें मेरे मानस पटल पर उभर आती हैं मेरी आँखें गिली हो जाती हैं। वही एक ऐसे मेरे अभिभावक थे जो राजनीति की भीतरी दुनिया के छल के सच खोलते थे। सच मानिए, वे हमारे परिवार के एक सदस्य सरीखे थे जो देश और काल की यात्रा सुनाया करते थे और अपने संवाद में जिस खुले सत्य से परिचित कराते थे, वह महज मेरे लिए नहीं, बल्कि बहुतों के लिए थे। उनका संवाद हमारे समय का एक अत्यंत जरूरी संवाद बन गया था जो मेरे लिए ही नहीं बहुतों के लिए मुखर बन गया था, क्योंकि वे मंजे हुए कथाकार की तरह उस वेग के साथ हमारे

समक्ष रखते थे जिसका कोई जवाब नहीं। संवाद के वे सभी बिंब उभर हमारी आँखों के सामने आ जाते हैं।

सिद्धेश्वर जी जो भी कहते थे निर्भीक होकर कहते थे। उनके कथन के प्रवाह में सच बखूबी सामने आता था। समय और समाज में उनके संवाद की वास्तविकता का स्तर ऊँचा था जो मुझे बाँध लेता था। यथार्थ को अनेक नजरियों से देखने की कला उनके पास थी। मुझे याद आते हैं मेरे सामने उनके वे तथ्य कि जनतंत्र से भीड़ तंत्र में बदल गए समाज में सही और गलत का फर्क किस तरह उलझने लगता है। वह ऊपरी तौर पर भले ही लोगों को सिरफिरे से नजर आते हों, लेकिन उनकी बातों में गहरी विवेकशीलता रहती थी।

व्यवस्था से सीधा लोहा लेना सिद्धेश्वर जी की फितरत में था। यह काम आसान नहीं है। इसके लिए लेखकीय और कथनीय निर्भीकता के साथ ईमानदारी बेहद जरूरी है जो उनके व्यक्तित्व में मौजूद थी। उसी के बल पर वे धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र के ढोंग का पर्दाफ़ाश तो करते ही थे उस प्रयास को भी रेखांकित करने से वे बाज नहीं आते थे जो उनको ही भीड़ का हिस्सा बना देना चाहती थी।

आज का जो माहौल है चाहे वह सामाजिक हो या राजनीतिक, टूटता हुआ भरोसा है और छूटती हुई जनता की पकड़ है। ऐसी विपरीत परिस्थितियों में सिद्धेश्वर प्रसाद की हिम्मत और जिम्मेदार अंदाज काबिलेगौर है, क्योंकि हमें एक अत्यंत आत्मीय भरोसा जगाता है। नि:संदेह उनकी मृत्यु के बीच भीड़तंत्र का खुलारूप उजागर हुआ है और वह है समाज की बेचैनी।

आज जब सिद्धेश्वर जी जैसे अग्रज हमारे बीच नहीं हैं जो जीवन और सामाजिक सच्चाई को प्रभावी ढंग से लोगों के सामने प्रस्तुत करते थे और सरोकारों के स्तर पर निर्भीकता और बेबाकी से अपना कथ्य और तथ्य पेश करते थे, मुझे लगता है कि उनकी विचारधारा को लोगों के समक्ष लाने की आवश्यकता है, ताकि सामाजिक गतिविधि में तीव्रता आ सके। मैं कवि सुधीर सक्सेना की निम्न पंक्तियों से अपने अग्रज सिद्धेश्वर प्रसाद की स्मृति को नमन करते हुए अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ-

'रोते हुए कितनी रात जागेंगे
बबलू और पिंकी
गुब्बारे के इंतजार में।'

आचार्य बनारसी सिंह 'विजयी': जिन्होंने आजीवन अपनी भावनाओं एवं विचारों को महत्व दिया

किसी भी व्यक्ति का निर्माण उसकी भावनाओं एवं विचारों की पृष्ठभूमि पर होता है। जैसा वह सोचता, समझता और विचार करता है, प्राय: वैसा ही वह बन जाता है। भलाई की भावना लोगों को उच्च स्तर की ओर, महानता की ओर अग्रसर करती है। हमारे वरिष्ठ सहयात्री आचार्य बनारसी सिंह 'विजयी' जी एक ऐसे ही व्यक्ति थे, जिन्होंने आजीवन अपनी भावनाओं और विचारों को महत्व दिया और उसी के अनुरूप कर्म किया। जो भी काम उन्होंने किया शुद्ध हृदय से किया। बड़े से बड़ा काम भी उन्होंने हीन-भावना से ग्रस्त होकर कभी नहीं किया, क्योंकि वह जानते थे कि हीन भावना से किए गए काम की कोई कीमत नहीं होती। इसीलिए इनकी सफलता में इनकी दृढ़भावना, उच्चत्तम उद्येश्य के लिए अन्यतम कष्ट सहिष्णुता ही मुख्य वजह रही। वैसे भी जीवन में किसी सद्उद्येश्य की सफलता के लिए दृढ़ निश्चय होना परमावश्क है। आखिर तभी तो चाहे समाज सेवा का क्षेत्र हो या आर्य समाज अथवा आध्यात्मिक बनारसी बाबू के विचार तर्कसंगत थे।

बनारसी बाबू को भारतीय संस्कृति में अटूट श्रद्धा व विश्वास था। पटना के मेरे 'बसेरा' निवास में वे बराबर अपनी उपस्थिति और भारतीय संस्कृति पर अपने विचारों से हमें समृद्ध करते थे। वे कहा करते थे कि लोग आधुनिकता के सम्मोहन में भारतीय संस्कृति की विधियों एवं परंपराओं को धीरे-धीरे भूल रहे हैं। परंपराओं को भूलने से हमारी संस्कृति तो खतरे में पड़ेगी ही, हमारा समाज भी नष्ट हो जाएगा। इस संस्कृति को बचाए रखने में शिष्टाचार-व्यवहार को वे बहुत महत्वपूर्ण समझते थे, क्योंकि वे मानते थे कि शिष्टाचार-व्यवहार ही वह रीति-नीति है, जिसमें व्यक्ति और समाज की आंतरिक सभ्यता और संस्कृति के दर्शन होते हैं। परस्पर बातचीत के संबोधन, आचार-व्यवहार से लेकर दूसरों की सेवा, आदरभाव, सम्मान - ये सभी शिष्टाचार के अंतर्गत आते हैं। दरअसल, शिष्टाचार को वे व्यक्ति के आचरण और व्यवहार का एक नैतिक मापदंड और आधार मानते थे, जिसपर सभ्यता और संस्कृति के भवन का निर्माण होता है। एक-दूसरे के प्रति सद्भावना, सहानुभूति, सहयोग ही शिष्टाचार के मूल आधार हैं।

15 मई, 1928 को बिहार के सारण जिलांतर्गत पिरारीडीह गाँव के एक किसान परिवार में जन्में बनारसी बाबू के पिता का नाम रामचरित्र सिंह तथा माता का नाम शीतला देवी था। सन् 1944 में सारण जिले के ही पंचपतरा गाँव के जगन्नाथ सिंह की सुपुत्री स्वर्ण कुमारी देवी से इनका विवाह हुआ था। 1946 में प्रवेशिकोतीर्ण होने के बाद बनारसी बाबू 1947 से 1951 तक कोलकता विश्वविद्यालय के छात्र रहे और कोलकाता विश्वविद्यालय से स्नातक करने के बाद पटना सचिवालय के गृह विभाग में सहायक के पद पर 1952 में नियुक्त हुए तथा 1954 में परिवहन विभाग में सहायक के पद पर आसीन हो सहायक सचिव के पद पर उन्होंने प्रोन्नति पाई और 31 मई, 1986 को उन्होंने अवकाश ग्रहण किया।

बनारसी बाबू के व्यक्तित्व की एक विशेषता यह रही कि अपनी सेवावधि में भी सामाजिक मानसिकता की वजह से वे आर्य समाज, बौद्ध परिषद, अम्बेडकर शोध संस्थान तथा वैदिक आश्रम जैसे सामाजिक संगठनों से न केवल जुड़े रहे, बल्कि उसके संचालन में आर्थिक सहयोग के साथ-साथ उसके प्रत्येक कार्यक्रम में भाग लेते रहे। बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा के तो वे प्रमुख स्तंभ ही माने जाते थे।

मिलजुलकर रहने की बात तभी बनती है जब परिवार के सभी सदस्य अपने स्वार्थो को दूसरे की प्रगति पर उत्सर्ग करने का प्रयत्न करें और उसका मुखिया सदस्यों के साथ भेदभाव न करें। बनारसी बाबू में यह गुण विद्यमान था। स्वयं कठिनाई सहते हुए भी अपने पुत्र-पत्रियों को स्वस्थ-सुयोग्य बनाने एवं उन्हें प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते रहे। अपने कम दूसरों के लिए अधिक की नीति के वे कायल थे। यही भावना उस उर्बरता का काम करती है, जिसके आधार पर फूँस के छप्परों में भी स्वर्ग का अवतरण होता है। बनारसी बाबू ने अपने परिवार के सभी सदस्यों के साथ यही नीति अपनाते हुए सदाशयता का न केवल शिक्षा दी, बल्कि उन्हें उन विशिष्टताओं का अभ्यास कराया। परिवार में हर किसी की महत्वाकांक्षा तो पूरी नहीं हो सकती, पर चाहने वालों को यह तो समझाया जा सकता है कि अनुचित माँग के लिए आग्रह करने से व्यक्तित्व की कीमत गिरती है। इनकी सदाशयता का प्रतिफल यह देखने को मिला कि इनके पाँचों पुत्र और दोनों पुत्रियाँ सभी पढ़-लिखकर अच्छे-अच्छे पदों पर प्रतिष्ठित हैं। इनके सबसे बड़े सुपुत्र आनंद कृष्ण जहाँ चिकित्सक हैं, वही दूसरे विनोद कृष्ण टिस्को में अभियंता और तीसरे मनोज कृष्ण भारतीय राजस्व सेवा के सीमा शुल्क

एवं केंद्रीय उत्पाद विभाग में इन दिनों मुंबई में आयुक्त के पद पर आसीन हैं। इसी प्रकार चौथे विनय कृष्ण पटना उच्च न्यायालय में अधिवक्ता तथा पाँचवे अजय कृष्ण मुंबई की एक कंपनी में प्रबंधक हैं। दोनों पुत्रियों की शादी सुखी संपन्न एवं शिक्षित परिवार में हो गई है। इस प्रकार बनारसी बाबू का यह पुण्य-प्रताप ही रहा कि उनके परिवार के प्रायः सभी सदस्यों ने उनकी विरासत को न केवल सहेज कर रखा है, बल्कि उसकी गरिमा को भी बरकरार रखा है। सच कहा ज़ाए तो यह सब बनारसी बाबू के आर्य समाज की विकास यात्रा में उनकी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का ही प्रतिफल माना जाएगा, क्योंकि उसके माध्यम से वे अपनी मान्यताओं को दृढ़तापूर्वक आजीवन बढ़ाते रहे। इस नाते भी हम उनके क्रांतिकारी विचारों से भी काफी प्रभावित रहे हैं और उनकी विचारधारा को लोगों तक पहुँचाते रहे हैं।

सच मानिए तो बनारसी बाबू का व्यक्तित्व सरलता और शुचिता से निर्मित था। आजीवन सृजनशील रहे बनारसी बाबू की सृजनधर्मिता, शिक्षा, राजनीति और आर्य समाज की साहित्य में अपनी पूरी आस्था के साथ पल्लवित और पुष्पित हुई। वह सोद्येश्य, सेवामय और सार्थक जिंदगी जीकर विगत 21 अप्रैल, 2015 को अनंत में समाहित हो गए।

आर्य समाजी होने की वजह से बनारसी बाबू बाह्याडंबर से कोसों दूर तो थे ही, अँधविश्वासी और पाखंडी भी नही थे। इसके साथ ही वे कलम के भी धनी थे। इनके आलेख मौर्य संदेश, शोषित साप्ताहिक, अर्जक साप्ताहिक, बौद्ध परिषद् पत्रिका तथा आर्य समाज द्वारा प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशित होते रहे हैं। मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरे संपादकत्व में दिल्ली से प्रकाशित राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक पत्रिका 'विचार दृष्टि' में यदा-कदा इनकी रचनाएँ प्रकाशित होती रही हैं।

शोषितों, दलितों तथा समाज के हाशिए पर खड़े लोगों के प्रति बनारसी बाबू के दिल में एक दर्द था और उनकी पीड़ा को वे महसूस करते हुए वैसे लोगों को यहाँ आर्य समाजी पद्धति से श्राद्ध एवं विवाह संस्कार संपन्न कराकर एक बौद्धिक चेतना का संचार करते रहे। बनारसी बाबू के साथ बड़ी आत्मीयता और हार्दिकता से जुड़े रहने के चलते ये मार्मिक उद्‌गार आज भी मुझमें धड़क रहे हैं, किंतु आज के इस पत्थर समय में यह तरलता बड़ी तेजी से तिरोहित होती जा रही है। उनके सान्निध्य के मेरे वैयक्तिक आयाम का व्याप इतना अधिक है कि उसे समेटना और वह भी इस संस्मरण में मेरे वश की बात नहीं। इसलिए मैंने कुछ कांकड़-पाथर भर की चर्चा की

है। बनारसी बाबू के साथ मैं समग्र मानवीय अंतरंगता, सौहार्द एवं ममत्व का भोक्ता रहा हूँ और 'तरूवर फल नही खात है, सरवर पियै न पान' जैसे उनके सर्वग्राही संपोषक व्यक्तित्व का मैं साक्षी भी हूँ।

बनारसी बाबू आज भौतिक रूप से हमारे बीच नहीं हैं, पर वे इतने दिलों में हैं और उनकी सहजता, सहृदयता एवं जिंदादिली बार-बार इस कदर याद आती हैं कि वे कभी भुलाए नहीं जा सकेंगे। बनारसी बाबू जैसे बड़े भाई के जीवन और कामकाज का अवगाहन, आसानी से पूरा कहाँ होता है। अभी भी कितना कुछ है जो मैं कहाँ जान और पढ़ सका हूँ पर यही चीज तो पीढ़ियों को 'विजयी' जैसे व्यक्तियों के प्रति आकर्षित करती है और उनकी जीवन-कथा और सृजन-कथा में एक दिलचस्पी सदैव बनाए रखती है।

अपने कार्यक्रमों, विचारों एवं भावों से समाज को जीवंत बनाने वाले बनारसी बाबू मात्र 87 वर्ष की अवस्था में गत 21अप्रैल, 2015 को इस दुनिया को अलविदा कह गए। उनके जाने के बाद पटना के यारपुर महल्ले के शिवाजी पथ स्थित 'वैदिकाश्रम' का वह स्तंभ टूट गया जो आचार्य 'विजयी' जी यह कभी वैदिकाश्रम के लिए ही नहीं समाज के लिए भी एक अपूरणीय क्षति है। वह इसलिए कि बनारसी बाबू का वह वैदिकाश्रम बहुरूप के जरिए नई पीढ़ी में समाज के लिए बेहतर सोच का निर्माण करता रहा। बनारसी बाबू के बाद हुआ खालीपन एकाएक और गहरा हो गया है। यह तो कहिए कि उनके द्वारा दिए गए संस्कार के चलते चारों सुपुत्रों के सद्प्रयास से बनारसी बाबू की पहली पुण्यतिथि 21 अप्रैल, 2016 को आर ब्लॉक स्थित डाकतार मनोरंजन क्लब के सभागार में एक आयोजन के अवसर पर एक स्मृति-ग्रंथ का प्रकाशन किया गया जिसमें बनारसी बाबू की स्मृतियों को सहेजा गया है। उनके अनन्य मित्रों एवं शुभेच्छुओं ने अपने संस्मरण के माध्यम से अपनी भावनाओं को बड़ी मार्मिकता और उनके संघर्ष का मौलिक चित्रण किया गया है। दरअसल, जब बनारसी बाबू का लोगों के बीच संवाद होता था, तो समाज की मानसिकता और ढोंग बेनकाब होता था। उनकी नजर में ढकोसला, दिखावा और आडंबर आदि नकारात्मक मार्ग हमेशा रहे।

बनारसी बाबू संवेदनशील और दूसरों की फिक्र करनेवाले इंसान थे। वे अपने लेखों एवं संवादों से अपनी बेचैनी एवं भावुकता व्यक्त कर देते थे जिससे श्रोता भी बेचैनी का अनुभव करने लगते थे, क्योंकि वे सच का आईना दिखाते थे। उन्होंने आर्य समाज की संस्कृति को अपने जीवन की वास्तविकता में पिरो लिया था। यही वजह है कि उनके विचारो-भावों

को लोगों ने दिल से अपनाया और उनकी ओर खींचे चले गए। समाज के घिनौने सच को सदैव उजागर करने का प्रयत्न किया। उन्हें अपने इसी दुनिया के लिए जीना था। चाहे इसको आगे लेकर चलने की बात हो या फिर एक विचार एक देने की, उनकी जगह अभी तक कोई ले न सका। दरअसल, 'वैदिकाश्रम' उनके लिए एक माध्यम था, लोगों में एक सोच विकसित करने का। एक ऐसी सोच जो समाज के भले के लिए हो। उनके जाने के बाद जो खालीपन हुआ है उसे उसी सोच के लोग भरेंगे जिस सोच को उन्होंने विकसित किया था। उनकी यादगार में प्रकाशित स्मृति-ग्रंथ को बनारसी बाबू के आदर्शो के अनुरूप जारी रखना ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी। उनकी खाली जगह को भरना अभी बाकी है।

बनारसी बाबू सत्य क जिन विविध रूपों को आर्यसमाज अथवा वैदिकाश्रम में जीवंत बना गए हैं, आर्य समाजी तथा उनके परिवार के सदस्यों सहित उनके शुभेच्छु एवं साथी लोग उनकी जगाई अलख को उसी रौ में जिलाए रखने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होना होगा। मेरी शुभकामना उनके साथ होगी। कुछ इन्हीं चंद शब्दों के साथ अग्रज सदृश्य आचार्य बनारसी बाबू की स्मृति को मैं नमन करता हूँ तथा कवि अशोक शाह की कविता की इन पंक्तियों से उन्हें श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ-

"जब छिन्न-भिन्न हो जाता विचार
दिन-रात के अंतरालों जैसे
जन्म और मृत्यु लगते अलग
नदी के दो पाटों जैसे। "

प्रो. विनय कंठ :
जो बिहार में नागरिक अधिकार आंदोलन के स्तंभ थे

यों तो पटना विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त प्रो. विनय कंठ गणित के प्राध्यापक थे, लेकिन वे विज्ञान, गणित के साथ ही ज्ञान की अन्य शाखाओं समाजशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, संस्कृति, पर्यावरण और शैक्षणिक क्षेत्र की गहरी जानकारी रखते थे। यही नहीं वे गुणवत्तापूर्ण स्कूली शिक्षा के प्रबल पक्षधर थे। उनका मानना था कि शिक्षा के बाजारीकरण को शिक्षक ही रोक सकते हैं।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी प्रो. कंठ मानवाधिकार संरक्षण के लिए पिपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टी सेल से लगातार जुड़े रहे। वे उसके राष्ट्रीय उपाध्यक्ष थे। शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन के लिए उन्होंने चार दशक पहले 'ईस्ट एंड वेस्ट एजुकेशनल सोसाइटी' का गठन किया था। इसके साथ शिक्षा में गुणात्मक सुधार के लिए वॉलिंटरी फोरम ऐजुकेशन, बिहार एवं आईटी फोरम आदि से जुड़े रहे।

बहुआयामी प्रतिभा के धनी प्रो. कंठ जितने कुशल शिक्षक थे, उतने ही अच्छे सामाजिक कार्यकर्ता। वह बिहार में शिक्षा आंदोलन के पुरोधा थे। वे छात्रों एवं युवाओं को आगे बढ़ने के लिए हमेशा प्रेरित करते थे। ज्ञानी होने के बावजूद उनका व्यक्तित्व सरल था। सामाजिक गतिविधियों में उनकी भागीदारी देखने को मिलती थी। युवाओं के साथ समाज की बेहतरी के लिए हमेशा वे दो कदम आगे चलते थे। उनके विचारों से हमारा विचार मिलता-जुलता था। इस मायने में हमदोनों एक ही राह के राहगीर थे। कई मंचों से न केवल उन्हें सुनने का मुझे मौका मिला, बल्कि मंचों के शेयर कर मुझे भी कुछ अपने विचार व्यक्त करने के अवसर मिला।

दरअसल, प्रो. विनय कंठ का विश्वास सभी को साथ लेकर चलने में था। समाज को साथ लेकर शिक्षा में कैसे सुधार किया जा सके, इस पर वे हमेशा बल देते रहते थे। उन्होंने विभिन्न संगठनों का निर्माण कर उसे अपने परिश्रम से सशक्त बनाया। विभिन्न मंचों से सार्वजनिक मसलों पर अपनी बेबाक बात रखते थे। उनकी उपस्थिति से लोकतांत्रिक शक्तियों को काफी बल मिलता था।

देश के जाने-माने शिक्षाविद, समाजसेवी, मानवाधिकार कार्यकर्ता और गणित के प्राध्यापक प्रो. विनय कंठ का 66 साल की उम्र में दिल्ली के एक अस्पताल में इलाज के दौरान निधन हो गया और वहीं निगम बोध घाट पर उनका अंतिम संस्कार किया गया।

प्रो. विनय कंठ का पूरा जीवन देश और समाज के लिए समर्पित रहा। इसीलिए रेलवे में पाँच साल तक वरिष्ठ अधिकारी के पद पर रहने के बाद उन्होंने त्यागपत्र दे दिया था और पटना विश्वविद्यालय के बी. एन. कालेज में गणित के शिक्षक बने। वे सच्चे गाँधीवादी थे। उनका कहना था कि भारत को समझना है तो पहले गाँधी को पढ़ो। गाँधी के विचारों पर बढ़कर ही देश की समस्याओं का समाधान हो सकता है।

बहुआयामी व्यक्तित्व के प्रो. कंठ सबसे ज्यादा शिक्षा के प्रसार और उसकी गुणवत्ता के लिए सोचते रहे। वे एक ही साथ गाँवों में भी सक्रिय थे। वहीं कभी सरकार के साथ मिलकर, तो कभी सरकार के समानांतर नीतियाँ बनाते रहे। समय के पाबंद प्रो. कंठ 1978 में पटना विश्वविद्यालय से जुड़े थे। कॉलेज में पढ़ाने के अतिरिक्त समाज के विविध क्षेत्रों में सक्रिय रहे। बाद में उनका ध्यान पूरी तरह शिक्षा पर हो गया। सन् 1988 में साक्षरता कार्यक्रम शुरू होने पर सक्रियता के साथ जुड़े। पटना जिला के फतुहा और खुसरूपुर के दर्जनों गाँवों में उन्होंने व्यस्क शिक्षा के केंद्र बनाए। इस पर होने वाला खर्च ज्यादातर वे स्वयं उठाते थे। आठवें दशक में उन्होंने संघ लोक सेवा आयोग, बिहार लोक सेवा आयोग की तैयारी के लिए संस्थान स्थापित किया, जिसकी देश भर में प्रतिष्ठा थी। तब दिल्ली तक से छात्र यहाँ पढ़ने आते थे। आज भी उनके पढ़ाए छात्र देशभर के सचिवालयों में सचिव और उच्च पदों पर कार्यरत हैं और पूरी तरह स्कूली बच्चों पर जोर देने लगे। बच्चों के लिए केंद्र सरकार के सहयोग से उन्होंने ज्ञान-विज्ञान पत्रिका निकाली, जो काफी लोकप्रिय थी। पटना के राजेन्द्र नगर में उन्होंने जो ईस्ट व वेस्ट स्कूल खोला उसे वे बाद में बिहटा के समीप गाँव में ले गए, ताकि ग्रामीण छात्रों को लाभ मिल सके।

प्रो. विनय कंठ की मानसिकता और उनके कार्य करने की शैली से मैं प्रभावित रहा, क्योंकि वे भी इस ख्याल के थे कि ज्ञान को समझने का जरिया जब ज्ञान की जगह सत्ता हो जाए, अर्थात सत्ता जो बोले वही ज्ञान हो, तो ज्ञान के बड़े-बड़े केंद्रों के बावजूद वह वस्तुत: विस्थापित होता है। सत्ता ही तब ज्ञान होती है, ज्ञान सत्ता के उपकरण में सीमित हो

जाता है। बस अब इन्हीं चंद शब्दों के साथ विराम देते हुए प्रो. विनय कंठ की स्मृति को प्रणाम करता हूँ और मानवाधिकार के लिए प्रयत्नशील प्रो. कंठ को कवि राजेन्द्र नागदेव की 'जन्मसिद्ध अधिकार' नाम्नी कविता की निम्न पंक्तियों से अपना श्रद्धासुमन अर्पित करता हूँ-

'हम मनुष्य हैं
मनुष्य रहना चाहते थे
सुना है स्वतंत्रता
जन्म-सिद्ध अधिकार है मनुष्य का होगा
उससे पहले मनुष्य होने का अधिकार
हमें कौन कब देगा?'

मथुरा प्रसाद सिन्हाः
सौम्यता एवं सरलता जिनके रग-रग में बसी थी

किसी व्यक्ति की पहचान उसके आचरण और चिंतन से होती है। महालेखाकार कार्यालय, राँची और पटना में पैंतीस वर्षो तक हमारे वरीय सहकर्मी रहे मथुरा प्रसाद सिन्हा के आचरण, व्यवहार का कायल केवल हम ही नहीं, बल्कि उनका हर शुभेच्छु एवं सहकर्मी है। उन्होंने जीवन को तराशा नहीं, बल्कि उसकी अनगढ़ता में जीवन देखा, सुंदरता देखी। सौम्यता एवं सरलता उनके रग-रग में बसी थी। राँची स्थित महालेखाकार कार्यालय में तो मैं उनके साथ था ही, पटना के कार्यालय में भी मैं उनका अनुजवत् रहा। संयोग ऐसा कि पटना में हमदोनों का निवास भी आसपास, चाहे मीठापुर-पुरन्दरपुर हो या ए.जी. कॉलोनी में हमदोनों एक-दूसरे के पड़ोसी रहे। हमदोनों एक-दूसरे के यहाँ जाते-आते रहे और घंटों चाय की चुस्की के साथ आत्मीयता से भरी बातें होती रहीं। न कोई दुराव न छिपाव। खुलकर बातें होती थीं। बातचीत के दौरान जो वे विचार व्यक्त करते थे, उनके उद्‌गार याद दिलाते हैं कि जबतक मनुष्य के पास अतीत की यादें हैं, वर्तमान का चिंतन है और भविष्य के सपने हैं तबतक दुनिया जिंदी है। जाने-अनजाने उनके शब्द उनके ये विचार उनके जज़्बात हमारे मानस-पटल पर आज भी उभर आते हैं।

अपने समकालीनों में मथुरा बाबू एक मात्र ऐसे सहकर्मी थे जिन्होंने आधुनिकता को अपने पास फटकने नहीं दिया। सादा जीवन उच्च विचार को पूर्णतः उन्होंने उसकी संपूर्णता में चाहा, जिससे लोक व जीवन के प्रति उनका राग, उनका भाव--बोध दूसरों से अधिक गौरवान्वित हुआ। उनके अंदर नया देने की ललक नहीं, बल्कि नए के प्रभाव से स्वयं को बचाने की उनकी कोशिश जरूर रही और उनमें वे आजीवन सफल रहे। मथुरा बाबू के पिता अनन्त प्र. सिन्हा पटना जी.पी.ओ में नौकरी करते थे।

मार्च 1934 में भोजपुर (बिहार) जिले के अख्तियारपुर गाँव में जन्में मथुरा बाबू की शिक्षा आरा के जैन कॉलेज में हुई फिर उन्होंने एम. कॉम, पटना विश्वविद्यालय से किया। 1962 में वैशाली जिला के नंदलालपुरं गाँव के सियाशरण प्र. सिन्हा की सुपुत्री शशि प्रभा सिन्हा से मथुरा प्रसाद सिन्हा की शादी हुई। मथुरा बाबू के तीन लड़के हैं जिनमें सबसे

बड़े प्रसून कुमार सिन्हा बड़ौदा के ओएनजीसी में डी.जी.एम हैं, वहीं दूसरे प्रवीण कुमार सिन्हा अपनी माँ की देखरेख ए.जी. कॉलोनी में रहकर करते हैं तथा तीसरे नम्बर पर हैं प्रणय कुमार सिन्हा जो राउरकेला के एलआईसी हाउसिंग में प्रबंधक के पद पर पदस्थापित हैं।

मथुरा बाबू के जीवन में मैंने एक चारित्रिक स्पष्टता देखी। अपनी कमियों, कमजोरियों और आदतों को लेकर इनमें न तो कोई खास दुराव रहा और न ही अपराध-बोध। इसी प्रकार इनके आचरण-व्यवहार इनके नैतिकता बोध और गहरे भारतीय संस्कारों से जुड़े रहे। अपनी जिंदगी में उच्च आदर्शों को ओढ़ने वाले सादगी-करुणा की प्रतिमूर्ति मथुरा बाबू सही मायने में सत्यान्वेषी थे जिनके लिए अपनी आत्मा की आवाज सर्वोपरि थी और जिसका पालन उन्होंने मरते दम तक किया। विचारों को व्यक्ति का आईना माना जाता है। जीवन में विचार और चिंतन का अपना एक विशेष महत्व है। मथुरा बाबू के व्यक्तित्व की यह विशेषता रही कि उनके विचार न केवल अच्छे थे, बल्कि उनके संपूर्ण जीवन में सार्थक विचारों का एक खास महत्व था। मैंने देखा और ऐसा अनुभव भी किया कि व्यर्थ की सोच के पचड़े में पड़कर ये कभी तनवाग्रस्त नहीं हुए। इनकी सोच सदैव सार्थक और सकारात्मक होती थी। इन्होंने मानवता के धर्म से बड़ा कोई धर्म नहीं माना। भारतीयता की मूल प्रवृत्ति ही सबके लिए प्रमुख की कामना है- सर्वे भवन्तु सुखीनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।

मानवीय जीवन शुचिता और सार्वजनिक जीवन पारदिर्शता पर ये सर्वाधिक बल देते रहे। इनके स्वयं के जीवन में भी ये गुण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते थे जिसे केवल मैं ही नहीं, बल्कि इनके समकालीन भी महसूस करते रहे। इनकी नैतिक शक्ति और चारित्रिक पवित्रता बड़ी-से-बड़ी भौतिक शक्ति को अपने आगे झुकाने की ताकत रखती थी, क्योंकि निष्ठा और ईमानदारी इनमें कूट-कूटकर भरी थी। बंधन-मुक्त जीवन, सच्चाई, सरलता, सहजता, निर्मलता और सदाशयता को इन्होंने अपने जीवन में सदैव आत्मसात् किया। इन्हीं सब कारणों से इनके साथ मेरा संबंध अनवरत रूप से प्रगाढ़ रहा। स्नेह के अपार सागर थे मथुरा बाबू जिसे उन्होंने न केवल मुझपर, बल्कि इनके सत्संग में आए सभी लोगों को दिया। इनके स्नेह की शीतल छाया तले कोई भी सुख की नींद सो सकता था। इनसे मिलना सुख और संतुष्टि से भर जाना होता था। हमारे घर इनका आना घर के सदस्य का उपस्थित होना था। ए.जी. कॉलोनी में वे हमारा साथ न दे सके, क्योंकि

राष्ट्रीय चेतना की वैचारिक संस्था-राष्ट्रीय विचार मंच और दिल्ली से प्रकाशित उसके मुख पुत्र- 'विचार दृष्टि' के क़ाम से मैं दिल्ली में था कि 6 फरवरी, 2002 को हृदयगति रूक जाने के कारण 68 वर्ष की आयु में वे हमें छोड़ चल बसे।

'विचार दृष्टि' पत्रिका के सदस्य तथा अपने वरीय सहकर्मी होने के साथ-साथ पड़ोसी मथुरा बाबू से विगत 35 वर्षों के अविस्मरणीय क्षणों को यादकर हमारा भाव-विह्वल होना स्वाभाविक है, कारण कि भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग के महालेखाकार कार्यालय में वे हमारे हर कदम-दर-कदम पर साथी थे।

मृत्यु न केवल एक दर्दनाक घटना है, बल्कि हमारे भारत की बहुत सारी चीजों का मर्त्य अहसास भी है। किंतु मात्र यादें ही बच जाती हैं। मथुरा बाबू की न जाने कितनी ही स्मृतियाँ एक साथ मेरे मानस-पटल पर उभरकर मन को उद्वेलित कर रही हैं। उनके चेहरे पर सदैव जो सहज भाव होता था वह बार-बार हमारी आँखों के समक्ष अभी भी उभर आता है। उनकी साफगोई अपने रंग और ढंग की थी और इनके भीतर छिपा एक कोमल इंसान। कार्यालय में अपने सेवाकाल के दौरान न तो कभी किसी से हमने इन्हें उलझते देखा और न ही किसी पर बिगड़ते। जिस प्रकार ये अपने अधिनस्थ लेखा-परीक्षकों के साथ स्नेह-भाव मिल-जुलकर काम करते रहे उसी प्रकार इनके उच्चस्थ अधिकारी भी इन्हें अपना स्नेह देते रहे और वे सबके चहेते बने रहे जिसका उदाहरण आज भी लोग प्रस्तुत करते हैं।

मानव अपने जीवन के निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो भी कर्म करता है उसमें उसका 'परिश्रम' ही उस कर्म को निर्धारित करता है और उसे गति प्रदान करता है तभी वह अपने लक्ष्य तक पहुँच पाता है। जो मानव सार्वभौमिक भाव से कर्म करता है वही चिरकाल तक प्रसिद्धि स्थापित करता है। मथुरा बाबू के कार्य भी इसी वर्ग में आते हैं। सार्वभौमिक भाव से अपने कर्म में तल्लीन यही तो उनकी विशेषता रही, जिसके लिए वे आने वाले दिनों में स्मरण किए जाएँगे।

आज मथुरा बाबू हमारे बीच भौतिक रूप से तो नहीं हैं फिर भी हम उन्हें याद कर रहे हैं, क्योंकि उनके विचार, उनका अवदान और उनके आचरण मौजूद हैं जो उन्हें अमरता प्रदान करेंगे। दरअसल, हर व्यक्ति अपने पीछे एक परंपरा छोड़ जाता है। मथुरा बाबू ने भी अपने पीछे एक परंपरा छोड़ी है और वह है उनकी सौम्यता, सहजता, सदाशयता और

सरलता। मथुरा बाबू ऐसा निष्कपट, सीधा, निस्संकोची व्यक्तित्व जिनकी अगाध विद्वता नौसिखियों से बात करने में रूकावट नहीं बनती थी, मैंने अपने सहकर्मियों में से किसी में नहीं पाया। इनके साए में और व्यक्तित्व से बहुतों ने बहुत कुछ सीखा। मैं तो खैर इनके व्यक्तित्व का कायल ही रहा। विचार, मत और धर्म की भिन्नता होते हुए भी एक-दूसरे के प्रति सम्मान और सहयोग का भाव इनमें कूट-कूट कर भरा था। यही साझी विरासत तो हमारे राष्ट्र की विशेषता है जो इनके व्यक्तित्व में हमें देखने को मिलती थी। इन्होंने लोगों के बीच धर्म, पंथ, जाति, क्षेत्र और भाषा के आधार पर भेदभाव किए बिना उनमें परस्पर भाई-चारा, एकता और समन्वय की भावना भरी थी। बातचीत में वे कहा करते थे कि सांप्रदायिक सद्भाव भारतीय संस्कृति की पहचान है और ताकत भी। इसी पहचान और ताकत के बूते ही अल्लामा इकबाल कह गए-

'कुछ.बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी
सदियों रहा है दुश्मन दौरे-जमा हमारा।'

मथुरा बाबू ने इस विरासत को बड़े सलीके से अपने पूरे जीवन में संभांला। मुझे इस बात का गर्व है कि जिस साझी विरासत और सांस्कृतिक सद्भाव की अटूट परंपरा की बात उन्होंने की, कभी-कभी उगने वाले कैक्टस तथा नफरत की आँधियाँ इसका कुछ बिगाड़ नहीं पाएगीं। उनकी इस बात से मैं काफी प्रभावित रहा हूँ, मगर जब मेरी नजर वर्तमान पीढ़ी के लोगों पर जाती है तो थोड़ी निराशा होना स्वाभाविक है।

मथुरा बाबू के साथ जो मेरा रिश्ता रहा उसे जब मैं याद कर रहा हूँ तो सुप्रसिद्ध ग़ज़लकार जौन एलिया की ये दो पंक्तियाँ सुनाई पड़ती हैं-

'मेरे अंदर ही तू कहीं गुम है
किससे पूछूँ निरा निशां जानां।

मथुरा बाबू के देहावसान के बाद आज जब मैं उनका संस्मरण लिखने बैठा हूँ तो मेरी आँखें गिली हो चुकी हैं और स्नेह के दो आँसू कागज के पन्नों पर टपक पड़े हैं। आज जब वे हमारे बीच नहीं हैं तो उनके न रहने पर एक रिक्तता का एहसास हो रहा है। ऐसा लगता है कि हमारे बीच से कोई आडंबरहीन व्यक्तित्व हमारी आँखों से ओझल हो गया सदा-सदा के लिए। मैं इस मायने में अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ कि मथुरा प्रसाद सिन्हा जैसे हमें अग्रजवत् सहकर्मी मिले जिनकी वजह से मेरे भीतर के

स्फूरण और स्पंदन जीवित रहते थे। वैसे भी मथुरा बाबू का अपने अधिकारियों और सहकर्मियों के साथ अटूट और गहरा संबंध था। क्रोध तो उनके चेहरे पर हमने कभी देखा ही नहीं। सहिष्णुता और करुणा भी उनमें कूट-कूटकर भरी थी। मूल्य-मर्यादाओं की प्रेरणा मैंने उन्हीं से ग्रहण की तथा लोकचेतना जगाने का प्रोत्साहन भी, क्योंकि वे हमे हमेशा इसके लिए प्रोत्साहित करते रहते थे। उनकी यादों को संजोए और उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन के बल पर अपने रचना-कर्म को गति प्रदान कर रहा हूँ।

मथुरा प्रसाद सिन्हा जैसे सादगी पसंद और सहज-सरल इंसान जिन्होंने सौजन्यता और मानवीय मूल्य को कभी आँखों से ओझल नहीं होने दिया, उनकी स्मृति को नमन करते हुए कवि राजेन्द्र नागदेव की कविता 'जन्मसिद्ध अधिकार' की इन पंक्तियों से मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ-

'हम मनुष्य हैं
मनुष्य रहना चाहते थे
सुना है स्वतंत्रता
जन्मसिद्ध अधिकार है मनुष्य का
होगा
उससे पहले मनुष्य होने का अधिकार
हमें कौन कब देगा?'

◆◆◆

सिद्धेश्वर : एक नज़र

नाम : सिद्धेश्वर प्रसाद

पिता का नाम : स्व. इन्द्रदेव प्रसाद

माता का नाम : स्व. फूलझार प्रसाद

पत्नी का नाम : श्रीमति बच्ची प्रसाद

जन्म तिथि : 18 मई, 1941

जन्म स्थान : ग्राम+पत्रा.-बसनियावाँ, भाया-हरनौत, जिला-नालंदा, बिहार (भारत)

सरकारी सेवा : भारतीय लेखा एवं लेखा परीक्षा विभाग के कार्यालय, महालेखाकार, राँची एवं पटना में लेखा परीक्षक से प्रोन्नति प्राप्त करते हुए वरिष्ठ लेखा परीक्षा अधिकारी के पद पर 36 वर्षों तक सेवा।

सार्वजनिक सेवा : 1.भारतीय रेलवे के रेलवे हिंदी सलाहकार समिति के सदस्य 2. बिहार संस्कृत शिक्षा बोर्ड के राज्यमंत्री का दर्जा प्राप्त अध्यक्ष पद पर 15 सितंबर, 2008 से 14 सितंबर, 2011 तक कार्यरत।

संपर्क : 'दृष्टि', यू. 207, शकरपुर, विकास मार्ग, दिल्ली-92, दूरभाष: 011-22530652, मो.-9431037221

'संस्कृति' ए-164, पार्क रोड, ए.जी. कॉलोनी, शेखपुरा

पत्राचार : आशियाना नगर, पटना-800025, मो.: 9431037221

9472243949

विदेश यात्रा : 13-15 जुलाई, 2007 तक अमेरिका के न्यूयॉर्क में आयोजित 8वें विश्व हिंदी सम्मेलन में बिहार सरकार की ओर से भारतीय प्रतिनिधिमंडल में शामिल होकर सम्मेलन के शैक्षिक सत्र में 'वैश्वीकरण, मीडिया और हिंदी' विषय पर आलेख पाठ एवं परिचर्या में सक्रिय भागीदारी।

संप्रति : राष्ट्रीय महासचिव, राष्ट्रीय विचार मंच, दिल्ली संस्थापक संपादक, 'विचार दृष्टि', दिल्ली

जीवनी-साहित्य : 1.'सिद्धेश्वर:व्यक्तित्व और विचार'-प्रो. रामबुझावन सिंह 2.'सिद्धेश्वर: अंकों से अक्षर तक' डॉ. ब्रह्मचारी सुरेन्द्र कुमार

रचनाएँ प्रकाश्य : साक्षात्कार

1 'हिंदी के जीवंत हस्ताक्षर', डॉ. बलराम तिवारी द्वारा संपादित
2. 'इंसानियत की धुँआती आँखें'
3. 'राष्ट्रीय राजनीति'
4. 'उम्मीद जताते न्यायिक एवं आर्थिक फैसले'
5. 'वैश्विक कूटनीति'
6. 'आम आदमी की आवाज'
7. 'मेरी यादगार यात्राएँ'
8. 'जीवन-रागिनी' तथा हाइकु में 'मेरी जीवन-यात्रा'
9. 'हमें अलविदा ना कहें'
10. 'जो जीवित हैं हमारे जेहन में'

नाम
पिता
माता
पत्नी
जन्म
जन्म
सरक
सार्व
संपव
पत्रा

लेखक के सहयोगी एवं शुभेच्छु

प्रकाशक - सरदार पटेल साहित्य प्रकाशन
दिल्ली-92